नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर-गुरुभ्यो नमः

सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

भाग 02



आगम - ०१

'आचार' मूलं एवं वृत्तिः २

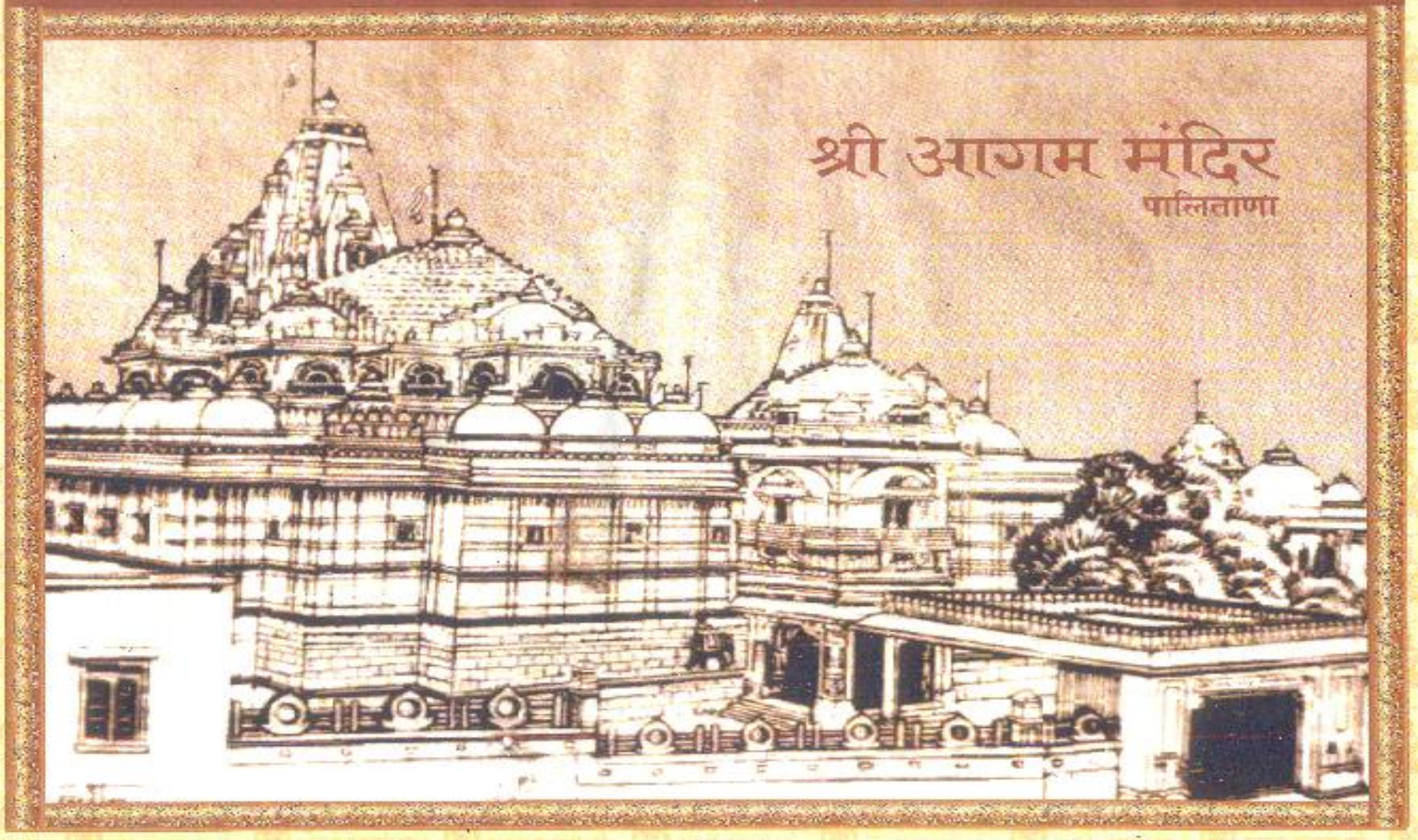
मूल संशोधक :- पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

अभिनव-संकलनकर्ता :- आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

पूज्य शासनप्रभावक आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से

'वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था' पालिताणा

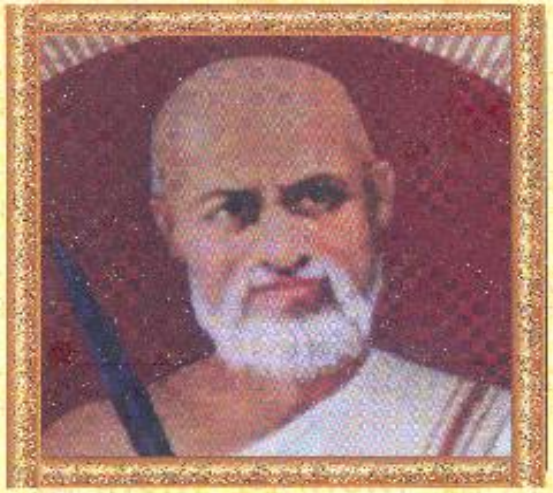
ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता



नमो नमो निम्मलदंसणस्स

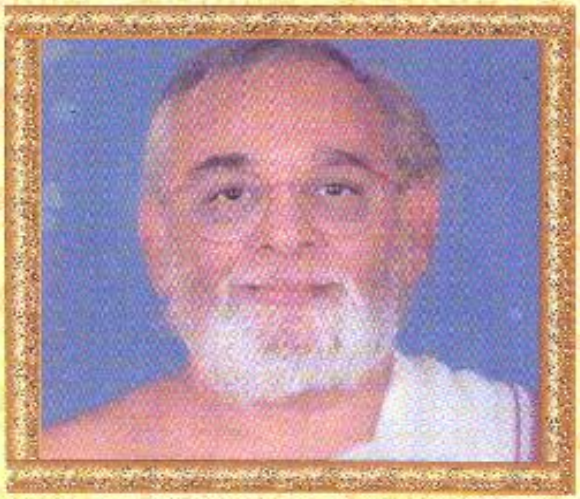
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

अभिनव-संकलनकर्ता



आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275



आगम

वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य श्रीआनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

“आचार” मूलं एवं वृत्ति:

[मूलं + भद्रबाहुस्वामी कृत् निर्युक्ति; + शिलांकाचार्य रचित वृत्ति:]

श्रुतस्कन्ध- १, अध्ययन- ३ से ९ एवं श्रुतस्कन्ध- २

[आद्य संपादक: - पूज्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागर सूरीश्वरजी म॰ सा॰]

(किञ्चित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

पुन: संकलनकर्ता→ मुनि दीपरत्नसागर **(M.Com., M.Ed., Ph.D.)**

28/07/2017, शुक्रवार, २०७३ श्रावण शुक्ल ५

‘सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि’ श्रेणि भाग-१

श्री आगमोद्धारक-वाचना-शताब्दी-वर्ष-निमित्त ‘आगम-वृत्ति-मुद्रण-प्रोजेक्ट’

सामाचारी-संरक्षक, ज्ञानधनी, आगम-संशोधक, तीव्र-मेधावी, समाधिमृत्यु-प्राप्त, बहुमुखीप्रतिभाधारक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

◆ जिन्होने शुद्ध-श्रद्धा, सम्यक्-श्रुत आराधना, यथाख्यातचारित्र के प्रति गति और अंत समय देह-ममत्व के त्याग के द्वारा कायोत्सर्ग नामक अभ्यंतर-तप कि मिशाल कायम कि है ऐसे बहुश्रुत आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी महाराज का परिचय कराना मेरे लिए नामुमकिन है, फ़िर भी गुरुभक्ति बुद्धि से श्रद्धांजली स्वरुप एक मामुली सी झलक पैस करने का यह प्रयास मात्र है |

◆ चारित्र-ग्रहण के बाद अल्प कालमे जो अपने गुरुदेव की छत्रछाया से दूर हो गये, तो भी गुरुदेव के स्वर्ग-गमन को सिर्फ़ कर्मो का प्रभाव मानकर अपने संयम के लक्ष्य प्रति स्थिर रहते हुए अकेले ज्ञान-मार्ग कि साधना के पथ पर चले | पढाई के लिए ही कितने महिनो तक रोज एकासणा तप के साथ बारह किल्लोमिटर पैदल विहार भी किया | लेकिन अपने मंझिल पे डटे रहे, और परिणाम स्वरुप संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का, प्राचीन लिपिओ का, व्याकरण-न्याय-साहित्य आदि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया | जैन आगमशास्त्रो के समुद्र को भी पार कर गए|

◆ एक अकेला आदमी भी क्या नहीं कर शकता? इस प्रश्न का उत्तर हमें इस महापुरुष के जीवन और कवन से मिल गया, जब वे चल पड़े देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्थापित पथ पर. बिना किसी सहाय लिए हुए सिर्फ अकेले ही "जैन-आगम-शास्त्रो" को दीर्घजीवी बनाने के लिए अनेक हस्तप्रतो से शुद्ध-पाठ तैयार किये | दो वैकल्पिक आगम, कल्पसूत्र और निर्युक्तिओ को जोड़कर ४५ आगम-शास्त्रो को संशोधित कर के संपादित किया | फिर पालीताणामें आगम मंदिर बनवाकर आरस-पत्थर के ऊपर ये सभी आगम-साहित्य को कंडारा, सूरतमें ताम्रपत्र पर भी अंकित करवाए और "आगम मंजूषा" नाम से मुद्रण भी करवा के बड़ी बड़ी पेटीमें रखवा के गाँव गाँव भेज दिए | वर्तमानकालमे सर्व प्रथमबार ऐसा कार्य हुआ |

◆ सिर्फ मूल आगम के कार्य से ही उन के कदम रुके नही थे, उन्होंने आगमो की वृत्ति, चूर्णि, निर्युक्ति, अवचूरी, संस्कृत-छाया आदि का भी संशोधन-सम्पादन किया | उपयोगी विषयो के लिए उन्होंने एक लाख श्लोक प्रमाण संस्कृत-प्राकृत नए ग्रंथो की रचना भी की | कितने ही ग्रंथो की प्रस्तावना भी लिखी | ये सम्यक्-श्रुत मुद्रित करवाने के लिए आगमोदय समिति, देवचंद लालभाई इत्यादि विभिन्न संस्था की स्थापना भी की |

◆ ज्ञानमार्ग के अलावा सम्मेतशिखर, अंतरीक्षजी, केशरियाजी आदि तीर्थरक्षा कर के सम्यक-दर्शन-आराधना का परिचय भी दिया | राजाओं को प्रतिबोध कर के और वाचनाओ द्वारा अपनी प्रवचन-प्रभावकता भी उजागर करवाई | बालदिक्षा, देवद्रव्य-संरक्षण, तिथि-प्रश्न इत्यादि विषयोमे सत्य-पक्षमें अंत तक दृढ़ रहे | जैनशासन के लिए जब जरुरत पड़ी तब अदालती कारवाईंओ का सामना भी बड़ी निडरता से किया था |

◆ सागरानंदजी के नाम से मशहूर हो चुके पूज्य आनंदसागरसूरीश्वरजीने अपने परिवार स्वरुप ७०० साधू-साध्वीजी भी शासन को भेट किये |

...ये थे हमारे गुरुदेव "सागरजी"... ***.....मुनि दीपरत्नसागर...***

संयमैकलक्षी, उपधान-तप-प्रेरक, चारित्र-मार्ग-रागी, प्रवचन-पटु, सुपरिवार-युक्त

पूज्य गच्छाधिपतिआचार्यदेव श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी महाराज साहेब

*** परमपूज्य आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी के पाट-परंपरामे हुए तिसरे गच्छाधिपति थे पूज्य आचार्य श्री देवेन्द्रसागरसूरीश्वरजी, जो एक पून्यवान् आत्मा थे, दीक्षा ग्रहण के बाद अल्पकालमे ही एक शिष्य के गुरु बन गये | फ़िर क्या ! शिष्यो कि संख्या बढती चली, बढ़ते हुए पुन्य के साथ-साथ वे आखिर 'गच्छाधिपति' पद पे आरूढ़ हो गए | इस महात्मा का पुन्य सिर्फ शिष्यों तक सिमित नही था, वे जहा कहीं भी 'उपधान-तप' की प्रेरणा करते थे, तुरंत ही वहां 'उपधान' हो जाते थे | प्रवचनपटुता एवं पर्षदापुन्य के कारण उन के उपदेश-प्राप्त बहोत आत्माओने संयम-मार्ग का स्वीकार किया | खुद भी संयमैकलक्षी होने के कारण चारित्रमार्ग के रागी तो थे ही, साथसाथ ज्ञानमार्ग का स्पर्श भी उन का निरंतर रहेता था | आप कभी भी दुपहर को चले जाइए, वे खुद अकेले या शिष्य-परिवार के साथ कोई भी ग्रन्थ के अध्ययन-अध्यापनमें रत दिखाई देंगे |

*** ये तो हमने उनके जीवन के दो-तीन पहेलु दिखाए | एक और भी अनुसरणीय बात उन के जीवनमें देखने को मिली थी- 'आराधना-प्रेम'. कैसी भी शारीरिक स्थिति हो, मगर उन्होंने दोनों शाश्वती ओलीजी, [पोष}दशमी, शुक्ल पंचमी, त्रिकाल देववंदन, पर्व या पर्वतिथि के देववंदन आदि आराधना कभी नहीं छोड़ी | आखरी सालोमें जब उन को एहसास हो गया की अब 'अंतिम-आराधना' का अवसर नजदीक है, तब उन के मुहमें एक ही रटण बारबार चालु हो गया- "*अरिहंतनुं शरण, सिद्धनुं शरण, साधुनुं शरण, केवली भगवंते भाखेला धर्मनुं शरण*" इसी चार शरणो के रटण के साथ ही वे समाधि-मृत्यु-रूप सम्यक् निद्रा को प्राप्त हुए थे | ऐसे महान् सूरिवर को भावबरी वंदना |

*** मुनि दीपरत्नसागर...

◆◆◆ श्री वर्धमान जैन आगम मंदिर संस्था, पालिताणा ◆◆◆

पूज्यपाद आनंदसागर-सूरीश्वरजी की बौद्धिक-प्रतिभा का मूर्तिमंत स्वरुप ऐसी इस संस्था की स्थापना विक्रम-संवत १९९९ मे महा-वद ५ को हुइ| *पूज्य आचार्य हर्षसागरसूरिजी की प्रेरणा से* जिन की तरफ़ से इस *सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि* के लिए संपूर्ण द्रव्य-सहाय की प्राप्ति हुइ |

शिल्प-स्थापत्य, शिलोत्कीर्ण आगम और समवसरण स्थित नयनरम्य ४५ चौमुख जिन-प्रतिमाजी से सुशोभित ऐसा ये 'आगममंदिर' है, जो शत्रुंजय-गिरिराज कि तलेटीमे स्थित है | वर्तमान २४ जिनवर, २० विहरमान जिनवर और १ शाश्वत मिलाकर ४५ चौमुखजी यहा बिराजमान है | जहां ४० समवसरण की रचना मेरु पर्वत के तिनो काण्ड के वर्णो के अनुसार चार अलग-अलग रंगो के आरस-पत्थर से बना है, देवो द्वारा रचित समवसरण के शास्त्र वर्णन-अनुसार आगम-मंदिर कि समवसरण का स्थापत्य है | ऐसी अनेक विशेषता से युक्त ये आगममंदिर है |

**** मुनि दीपरत्नसागर...*

'सागर-समुदाय-एकता-संरक्षक, तीर्थ-उद्धार-कार्य-प्रवृत्त, गुणानुरागी'

इस "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' श्रेणि भाग १ से ४० के संपूर्ण अनुदान के प्रेरणादाता

पूज्य शासनप्रभावक आचार्य श्री हर्षसागरसूरिजी महाराज साहेब

पूज्यपाद स्व॰ गच्छाधिपति देवेन्द्रसागर-सूरीश्वरजी के विनयी शिष्य एवं दो गच्छाधिपतिओ के मुख्य सहायक के रुपमे 'सागर समुदाय' के सुचारु संचालक पूज्य हर्षसागरसूरिजी, जिन की प्रेरणा से ये "सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि" के मुद्रण के लिए संपूर्ण द्रव्यराशि प्राप्त हुई, उनका अत्यल्प परिचय यहां करेंगे | समुदाय-एकता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हुए ये महात्मा *समुदाय के साधु-साध्वीजी* की आवश्यकताओकी पूर्ती के लिए भी प्रवृत्त रहेते है, प्राचीन-अर्वाचीन तीर्थो के जीर्णोद्धार एवं विकाश के लिए भी उत्साहित रहेते है, ज्ञान-क्षेत्र अछूता न रहे इसीलिए अनुमोदना, अनुदान एवं समय मिलने पर शास्त्र-वांचनमें भी रूचि रखते है | समुदाय के जरूरतमंद साध्वीजी भगवंतो के आवास का विषय हो या साध्वीजी के विहारमें मजदूर का वेतन चुकाना हो, ऐसे छोटे-छोटे कार्यो के प्रति भी उन का लक्ष्य रहेता है | दर्शन-शुद्धि के लिए जब उन्होंने समग्र भारतवर्ष के १०० साल तक के पुराने जिनालयो में १८ अभिषेक की प्रेरणा की, उस वक्त लगभग सभी अभिषेक-सामग्री की द्रव्य-शुद्धि का ख़याल रखते हुए अपनी मेधावी बुद्धि का परिचय दिया था, साथमे अनुकंपा भाव से पुजारी या विधि करानेवाले को यत्किंचित् बहुमान प्रगट करते हुए कुछ धन-राशि प्रदान करवाई |

ऐसे बहुगुण-संपन्न महात्मा पूज्य आचार्यश्री हर्षसागर-सूरिजी को हम भावभरी वंदना करते हुए इस श्रुतकार्य का प्रारंभ करने जा रहे है |

**** मुनि दीपरत्नसागर*

[कात्रेज]पूना, शंखेश्वर, कपडवंज, प्रभासपाटण आदि स्थानोमे आगममंदिर के प्रेरक, कर्मग्रंथ अभ्यासु, निस्पृह महात्मा

पूज्यपाद गच्छाधिपति आचार्य श्री दौलतसागर-सूरीश्वरजी महाराज साहेब

(एवं) अजातशत्रु, स्वाध्याय-रसिक, प्रशांतमूर्ती और अपने गुरु के प्रीतिपात्र

परम पूज्य आचार्य श्री नंदीवर्धनसागर-सूरिजी महाराज साहेब

इस पवित्र श्रुत-कार्यमे दोनो सूरिवरो का स्मरण करते हुए कोटि कोटि वंदना के साथ

.....मुनि दीपरत्नसागर

मूलां	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
—	श्रुतस्कंध- १	०१२	१४३	--उद्देशक: २ धर्मप्रवादीपरीक्षणं	०७७	२२०	--उद्देशक: ३ अंगचेष्टाभाषित:	२६२
❖-❖	अध्ययनं १ शस्त्रपरिज्ञा		१४७	--उद्देशक: ३ निरवद्यतप:	०९१	२२४	--उद्देशक: ४ वेहासनादिमरणं	२६७
००१	--उद्देशक: १ जीवअस्तित्वं		१५०	--उद्देशक: ४ संयमप्रतिपादनं -वचनं	०९८	२२९	--उद्देशक: ५ ग्लानभक्तपरिज्ञा	२७४
०१४	--उद्देशक: २ पृथ्विकाय					२३१	--उद्देशक: ६ इंगितमरणं	२७९
०१९	--उद्देशक: ३ अप्काय:		❖-❖	अध्ययनं ५ लोकसार:	१०६	२३६	--उद्देशक:७ पादपोपगमनमरणं	२८७
०३२	--उद्देशक: ४ अग्निकाय:		१५४	--उद्देशक: १ एकचर्या	१०६	२४०	--उद्देशक: ८ उत्तममरणविधि:	२९३
०४०	--उद्देशक: ५ वनस्पतिकाय:		१५९	--उद्देशक: २ विरतमुनि	१११	❖-❖	अध्ययनं ९ उपधानश्रुतं	३०७
०४९	--उद्देशक: ६ त्रसकाय:		१६४	--उद्देशक: ३ अपरिग्रह	१३१	२६५	--उद्देशक: १ चर्या:	३०७
०५६	--उद्देशक: ७ वायुकाय:		१६९	--उद्देशक: ४ अव्यक्त:	१४३	२८८	--उद्देशक: २ शय्या:	३२७
❖-❖	अध्ययनं २ लोकविजय:		१७३	--उद्देशक: ५ ह्रदोपम:	१४४	३०४	--उद्देशक: ३ परिषह:	३३४
०६३	--उद्देशक: १ स्वजन:		१७९	--उद्देशक: ६ कुमार्गत्याग:	१४७	३१८	--उद्देशक: ४ रोगातंक:	३३९
	--उद्देशक: २ अदृढत्वम्		❖-❖	अध्ययनं ६ द्युतं	१७८	—	श्रुतस्कंध- २	३५०
	--उद्देशक: ३ मदनिषेध:		१८६	--उद्देशक: १ स्वजनविधुननं	१७९		► चूडा-१ ◄	३५०
	--उद्देशक: ४ भोगासक्ति:		१९४	--उद्देशक: २ कर्मविधुननं	१९४	❖-❖	अध्ययनं १ पिण्डैषणा	३५६
	--उद्देशक: ५ लोकनिश्रा		१९८	--उद्देशक: ३ उपकरण एवं . शरीर-विधुननं	२०१	३३५	-- (उद्देशका: १...११)	३५७
	--उद्देशक: ६ अममत्वं						आहारग्रहण विधि: एवं निषेध: आहारार्थे गमनविधि:,सङ्खडी-दोष:,पानकग्रहण विधि:,भोजन ग्रहण विधि: इत्यादि:।	------
❖-❖	अध्ययनं ३ शीतोष्णीयं	०१२	२०१	--उद्देशक: ४ गौरवत्रिकविधुननं	२१२			
१०९	--उद्देशक: १ भावसुप्त:	०१७	२०७	--उद्देशक: ५ उपसर्ग-सन्मान . विधुननं	२२२			
११५	--उद्देशक: २ दु:खानुभव:	०३१						
१२५	--उद्देशक: ३ अक्रिया	०४३	❖-❖	"अध्ययनं ७ व्युच्छिनम्"	-------	❖-❖	अध्ययनं २ शय्यैषणा	४३२
१३४	--उद्देशक: ४ कषायवमनं	०५५	❖-❖	अध्ययनं ८ विमोक्षं	२३३	३९८	-- (उद्देशका: १...३)	४३३
❖-❖	अध्ययनं १ सम्यक्त्वं	०६४	२१०	--उद्देशक: १ कुशीलपरित्याग:	२४३		शय्या-वसति ग्रहणे निषेध: व विधि:, संस्तारक प्रतिमा	-----
	--उद्देशक: १ सम्यकवाद:	०६५	२१५	--उद्देशक: २अकल्प्यपरित्याग:	२५४			

मूलाङ्का: ५५२	आचाराङ्ग सूत्रस्य विषयानुक्रम भाग-१ और २		निर्युक्ति गाथा: ३५६						
मूलांक	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक	मूलांक:	विषय:	पृष्ठांक:
	श्रुतस्कंध- २ चूडा-१	-----	❁-❁	अध्ययनं ६ पात्रैषणा	५१२	४९९	सप्तैकक ३ उच्चार-प्रश्रवणं	५३२
❁-❁	अध्ययनं ३ इर्य्या	४६३	४८६	-- (उद्देशका: १, २)	५१२	५०२	सप्तैकक ४ शब्द:	५३७
४४५	-- (उद्देशका: १...३)	४६४		पात्रस्वरूपं, पात्रग्रहण विधि:-	-----	५०५	सप्तैकक ५ रूप:	५४२
	विहार निषेध: व विधि:	------		निषेधश्च, पात्र पडिमा, पात्र		५०६	सप्तैकक ६ परक्रिया	५४२
	वर्षा-वास:, गमनागमन			प्रमार्जना, पात्र परिग्रहणम्		५०७	सप्तैकक ७ अन्योन्यक्रिया	५४६
	विधि: व निषेध:,पथिना सह		❁-❁	अध्ययनं ७ अवग्रह प्रतिमा	५१८		► चूडा-३ ◄	५५०
❁-❁	अध्ययनं ४ भाषाजातं	४८४	४९५	-- (उद्देशका: १, २)	५१८	५०९	भगवन् महावीरस्य च्यवन,जन्म,	-----
४६६	--उद्देशक: १ वचनविभक्ति:	४८५		अवग्रह आदि याचनाविधि:	-----		दीक्षादि वर्णनम्, पंच महाव्रतस्य	
४७०	--उद्देशक: २ क्रोधोत्पतिवर्जनं	४९२		एवं अवग्रह पडिमा(७)			प्ररूपणा, तस्य पंच-पंच भावना	
❁-❁	अध्ययनं ५ वस्त्रैषणा	४९९		► चूडा-२ ◄	५२८		► चूडा-४ ◄	५७२
४७५	--उद्देशक: १ वस्त्रग्रहणविधि:	४९९	४९७	सप्तैकक १ स्थानं	५२८	५४१-	अनित्यभावना, मुने:हस्ति आदि	-----
४८३	--उद्देशक: २	५०८	४९८	सप्तैकक २ निषिधिका:	५30	-५५२	उपमा,अन्त्कृत्+मोक्षगामी मुनि०	

आचाराङ्ग सूत्रस्य संक्षिप्त विषयानुक्रम: परिसमाप्त:

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित.....आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

[आचार- मूलं एवं वृत्तिः] इस प्रकाशन की विकास-गाथा

यह प्रत सबसे पहले "आचाराङ्गसूत्र" के नामसे सन १९१६ (विक्रम संवत १९७२) में आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित हुई, इस के संपादक-महोदय थे पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्यदेव श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी (सागरानंदसूरिजी) महाराज साहेब |

इसी प्रत को फिर अपने नामसे 'जिनशासन आराधना ट्रस्ट' की तरफ से आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने छपवाई, जिसमे उन्होंने खुदने तो कुछ नहीं किया, मगर इसी प्रत को ऑफसेट करवा के, ऊपर अपना नाम एवं अपनी प्रकाशन संस्था का नाम छाप दिया. यह स्पष्ट रूपसे एक प्रकारसे अदत्तादान ही है, ऐसी अनेक प्रतो के अगले दो पेज पलटकर या नए डालकर उन्होंने अपने नामसे छपवाइ है, इस तरह वो अपने आपको बड़ा आगम संरक्षक साबित करनेकी अनुचित चेष्टा कर चुके है |

इसी आचारांग सूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से आचार्य श्री नयचंद्रसागरसूरिजीने भी छपवाया है, समुदाय की वफादारी निभाते हुए इस पूज्यश्रीने पूज्य सागरानंदसूरीश्वरजी महाराजश्री का नाम बड़ी इज्जत के साथ अपनी जगह पे ही रखा है, और खुदका नाम पुनः संपादक रूप से पेश किया है | अपनी प्रस्तावनामें नयचंद्रसागरसूरिजी ने भी मेरी तरह उक्त बात का उल्लेख किया है|

इसी आचारांगसूत्र की प्रत को ऑफसेट की मदद से पूज्य जम्बूविजयजी महाराजजीने श्री मोतीलाल बनारसीदास की तरफसे प्रकाशित करवाई है, जो की पुस्तक रूपसे बाईंडेड है, और परिशिष्टमें पूज्य श्री पुन्यविजयजी संकलित शुद्धि-वृद्धि पत्रक दिया है|

✣ - हमारा ये प्रयास क्यों? -✣ आगम की सेवा करने के हमें तो बहोत अवसर मिले, ४५-आगम सटीक भी हमने ३० भागोमे १२५०० से ज्यादा पृष्ठोमें प्रकाशित करवाए है, किन्तु लोगो की पूज्य श्री सागरानंदसूरीश्वरजी के प्रति श्रद्धा तथा प्रत स्वरुप प्राचीन प्रथा का आदर देखकर हमने इसी प्रत को स्केन करवाई, उसके बाद एक स्पेशियल फोरमेट बनवाया, जिसमे बीचमे पूज्यश्री संपादित प्रत ज्यों की त्यों रख दी, ऊपर शीर्षस्थानमे आगम का नाम, फिर श्रुतस्कंध-अध्ययन-उद्देशक-मूलसूत्र-निर्युक्ति आदि के नंबर लिख दिए, ताकिँ पढ़नेवाले को प्रत्येक पेज पर कौनसा अध्ययन, उद्देशक आदि चल रहे है उसका सरलतासे ज्ञान हो शके, बायीं तरफ आगम का क्रम और इसी प्रत का सूत्रक्रम दिया है, उसके साथ वहाँ 'दीप अनुक्रम' भी दिया है, जिससे हमारे प्राकृत, संस्कृत, हिंदी गुजराती, इंग्लिश आदि सभी आगम प्रकाशनोमें प्रवेश कर शके| हमारे अनुक्रम तो प्रत्येक प्रकाशनोमें एक सामान और क्रमशः आगे बढते हुए ही है, इसीलिए सिर्फ क्रम नंबर दिए है, मगर प्रत में गाथा और सूत्रों के नंबर अलग-अलग होने से हमने जहां सूत्र है वहाँ कौंस [-] दिए है और जहां गाथा है वहाँ ||-|| ऐसी दो लाइन खींची है| हर पृष्ठ के नीचे विशिष्ठ फूटनोट लिखी है |

शासनप्रभावक पूज्य आचार्यश्री हर्षसागरसूरिजी म०सा० की प्रेरणासे और श्री वर्धमान जैन आगममंदिर, पालिताणा की संपूर्ण द्रव्य सहाय से ये 'सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि' भाग-१ का मुद्रण हुआ है, हम उन के प्रति हमारा आभार व्यक्त करते है | .....मुनि दीपरत्नसागर.

.

प्रत सूत्रांक [१०४]

दीप अनुक्रम [१०८]

अथ तृतीयमध्ययनं शीतोष्णीयं ।

उक्तं द्वितीयमध्ययनं, साम्प्रतं तृतीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, तत्र शस्त्रपरिज्ञायामस्यार्थाधिकारोऽभाणि, यथा शीतोष्णयोरनुकूलप्रतिकूलपरिषहयोरतिसहनं कर्त्तव्यं, तदधुना प्रतिपाद्यते, अध्ययनसम्बन्धस्तु शस्त्रपरिज्ञोक्त-महाव्रतसम्पन्नस्य लोकविजयाध्ययनप्रसिद्धसंयमव्यवस्थितस्य विजितकषायादिलोकस्य मुमुक्षोः कदाचिदनुलोमप्रति-लोमाः परीषहाः प्रादुष्यन्ति, तेऽविकृतान्तःकरणेन सम्यक् सोढव्या इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राप्यध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः, उद्दे-शार्थाधिकारप्रतिपादनार्थं तु निर्युक्तिकार आह—

पढमे सुत्ता अस्संजयत्ति १ बिइए दुहं अणुहवंति २। तइए न हु दुक्खेणं अकरणयाए व समणुत्ति ३ ॥१९८॥
उद्देसंमि चउत्थे अहिगारो उ वमणं कसायाणं। पावविरईओ विउणो उ संजमो इत्थ मुक्खुत्ति ४ ॥ १९९ ॥

प्रथमोद्देशकेऽयमर्थाधिकारो, यथा–भावनिद्रया सुप्ताः–सम्यग्विवेकरहिताः, के?–असंयताः–गृहस्थास्तेषां च भावसु-प्तानां दोषा अभिधीयन्ते, जाग्रतां च गुणाः, तद्यथा—'जरामच्चुवसोवणीए नरे' इत्यादि १, द्वितीये तु त एवासंयता यथा भावनिद्रापन्ना दुःखमनुभवन्ति तथोच्यते, तद्यथा—'कामेसु गिद्धा निचयं करंति' २, तृतीये तु 'न हु' नैव दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणः अकरणतयैव–अक्रिययैव संयमानुष्ठानमन्तरेणेत्यर्थः, वक्ष्यति च—'सहिए दुक्खमायाय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय-अध्ययनं "शीतोष्णिय" आरब्धः,

तेणेव य पुट्ठो नो झंझाए' ३, चतुर्थोद्देशके त्वयमधिकारो, यथा–कषायाणां वमनं कार्यं, पापस्य च कर्म्मणो विरतिः, 'विदुषो' विदितवेद्यस्य संयमोऽत्रैव प्रतिपाद्यते, क्षपकश्रेणिप्रक्रमात् केवलं भवोपग्राहिक्षयान्मोक्षश्चेति गाथाद्वयार्थः ॥ नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे शीतोष्णीयमध्ययनमतः शीतोष्णयोर्निक्षेपं निर्दिदिक्षुराह—

नामं ठवणा सीयं दव्वे भावे य होइ नायव्वं । एमेव य उण्हस्सवि चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥ २०० ॥

सुगमा । तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यशीतोष्णे दर्शयितुमाह—

दव्वे सीयलदव्वं दव्वुण्हं चेव उण्हदव्वं तु । भावे उ पुग्गलगुणो जीवस्स गुणो अणेगविहो ॥ २०१ ॥

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यशीतं शीतगुणोपेतं गुणगुणिनोरभेदात् शीतकारणं वा यद्द्रव्यं द्रव्यप्राधान्याच्छीतलद्रव्यमेव द्रव्यशीतं–हिमतुषारकरकादि, एवं द्रव्योष्णमपीति । भावतस्तु द्वेधा–पुद्गलाश्रितं जीवाश्रितं च, गाथाशकलेनाचष्टे–तत्र पुद्गलाश्रितं भावशीतं पुद्गलस्य शीतो गुणो गुणस्य प्राधान्यविवक्षयेति, एवं भावोष्णमपि, जीवस्य तु शीतोष्णरूपोऽनेकविधो गुणः, तद्यथा–औदयिकादयः षड् भावाः, तत्रौदयिकः कर्म्मोदयाविर्भूतनारकादिभवकषायोत्तिलक्षणः उष्णः, औपशमिकः कर्म्मोपशमावासासम्यक्त्वविरतिरूपः शीतः, क्षायिकोऽपि शीत एव, क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रादिरूपत्वाद्, अथवाऽशेषकर्म्मदाहान्यथानुपपत्तेरुष्णः, शेषा अपि विवक्षातो द्विरूपा अपीति॥ अस्य च जीवभावगुणस्य शीतोष्णविवेकं स्वत एव निर्युक्तिकारः प्रचिकटयिषुराह—

सीयं परीसहपमायुवसमविरई सुहं चउण्हं तु । परीसहतवुज्जमकसाय सोगाहिवेयारई दुक्खं ॥ २०२ ॥ दारं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'शीत'मिति भावशीतं, तच्चेह जीवपरिणामस्वरूपं गृह्यते, स चायं परिणामो–मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः 'प्रमादः' कार्यशैथिल्यं शीतलविहारता 'उपशमो' मोहनीयोपशमः, स च सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतिलक्षणः, उपशमश्रेण्याश्रितो वा, तत्क्षयो वेति, 'विरति'रिति प्राणातिपातादिविरत्युपलक्षितः सप्तदशविधः संयमः 'सुखं च' सातावेदनीयविपाकाविर्भूतमिति । एतत् सर्वं परीषहादि शीतमुष्णं च गाथाशकलेनाह–परीषहाः–पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाः तपस्युद्यमो–यथाशक्ति द्वादशप्रकारतपोऽनुष्ठानं 'कषायाः' क्रोधादयः 'शोक' इष्टाप्राप्तिविनाशोद्भवः आधिः 'वेदः' स्त्रीपुंनपुंसकवेदोदयः 'अरतिः' मोहनीयविपाकाच्चित्तदौःस्थ्यं 'दुःखं च' असातावेदनीयोदयादीनि, एतानि परीषहादीनि पीडाकारित्वादुष्णमिति गाथासमासार्थः । व्यासार्थं तु निर्युक्तिकारः स्वत एवाचष्टे–तत्र परीषहाः शीतोष्णयोर्द्वयोरप्यभिहिताः, ततो मन्दबुद्धेरनध्यवसायः संशयो विपर्ययो वा स्याद् अतस्तदपनोदार्थमाह—

इत्थी सक्कारपरीसहो य दो भावसीयला एए । सेसा वीसं उण्हा परीसहा हुंति नायव्वा ॥ २०३ ॥

स्त्रीपरीषहः सत्कारपरीषहश्च द्वावप्येतौ शीतौ, भावमनोऽनुकूलत्वात्, शेषास्तु पुनर्विंशतिरुष्णा ज्ञातव्या भवन्ति, मनसः प्रतिकूलत्वादिति गाथार्थः ॥ यदिवा परीषहाणां शीतोष्णत्वमन्यथा आचष्टे—

जे तिव्वप्परिणामा परीसहा ते भवंति उण्हा उ । जे मंदप्परिणामा परीसहा ते भवे सीया ॥ २०४ ॥ दारं ।

तीव्रो–दुःसहः परिणामः–परिणतिर्येषां ते तथा, य एवम्भूताः परीषहास्ते उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामास्ते शीता इति, इदमुक्तं भवति–ये शरीरदुःखोत्पादकत्वेनोदीर्णाः सम्यक्सहनाभावाच्चाधिविधायिनस्ते तीव्रपरिणामत्वादुष्णाः, ये पुन-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रुदीर्णाः शारीरमेव केवलं दुःखमुत्पादयन्ति महासत्त्वस्य न मानसं ते भावतो मन्दपरिणामाः, यदिवा ये तीव्रपरिणामाः–प्रबलाविर्भूतस्वरूपास्ते उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामाः–ईषल्लक्ष्यमाणस्वरूपास्ते शीता इति । यत्परीषहानन्तरं प्रमादपदमुपन्यस्तं शीतत्वेन यच्च तपस्युद्यम इत्युष्णत्वेन तदुभयं गाथयाऽऽचष्टे—

धंमंमि जो पमायइ अत्थे वा सीअलुत्ति तं बिंति । उज्जुत्तं पुण अन्नं तत्तो उण्हंति णं बिंति ॥ २०५ ॥ द्वारं ।

'धर्म्मे' श्रमणधर्म्मे यः 'प्रमाद्यति'नोद्यमं विधत्ते 'अर्थे वा' अर्थ्यत इत्यर्थो–धनधान्यहिरण्यादिस्तत्र तदुपाये वा शीतल इत्येवं तं 'ब्रुवते' आचक्षते, उद्युक्तं पुनरन्यं ततः–संयमोद्यमात् कारणादुष्णमित्येवं ब्रुवते, णमिति वाक्यालङ्कार इति गाथार्थः ॥ उपशमपदव्याचिख्यासयाऽऽह—

सीईभूओ परिनिव्वुओ य संतो तहेव पण्हाणो (ल्हाओ)। होउवसंतकसाओ तेणुवसंतो भवे जीवो ॥२०६॥ दारं।

उपशमो हि क्रोधाद्युदयाभावे भवति, ततश्च कषायाद्युपशमात् शीतीभूतो भवति, क्रोधादिज्वालानिर्वाणात् परिनिर्वृतो भवति, चः समुच्चये, रागद्वेषपावकोपशमादुपशान्तः, तथा क्रोधादिपरितापोपशमात् 'प्रह्लादितः' आपन्नसुखो, यतो ह्युपशान्तकषाय एव एवम्भूतो भवति तेनोपशान्तकषायः शीतो भवतीति, एकार्थिकानि वैतानीति गाथार्थः ॥ अधुना विरतिपदव्याख्यामाह—

अभयकरो जीवाणं सीयघरो संजमो भवइ सीओ। अस्संजमो य उण्हो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥२०७॥ दारं।

अभयकरण शीलः, केषां?–जीवानां, शीतं–सुखं तद्गृहं–तदावासः, कोऽसौ?–संयमः सप्तदशभेदः, अतोऽसौ शीतो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवति, समस्तदुःखहेतुद्वन्द्वोपरमाद्, एतद्विपर्ययस्त्वसंयम उष्णः, 'एष' शीतोष्णलक्षणः संयमासंयमयोः पर्यायोऽन्यो वा सुखदुःखरूपो विवक्षावशाद्भवतीति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं सुखपदविवरणायाह—

निव्वाणसुहं सायं सीईभूयं पयं अणाबाहं । इहमवि जं किंचि सुहं तं सीयं दुक्खमवि उण्हं ॥ २०८ ॥

सुखं शीतमित्युक्तं, तच्च समस्तद्वन्द्वोपरमादात्यन्तिकैकान्तिकानाबाधलक्षणं निरुपाधिकं परमार्थचिन्तायां मुक्तिसुखमेव सुखं नापरम्, एतच्च समस्तकर्म्मोपतापाभावाच्छीतमिति दर्शयति—'निर्वाणसुख'मिति, निर्वाणम्—अशेषकर्म्मक्षयस्तदवाप्तौ वा विशिष्टाकाशप्रदेशः तेन तत्र वा सुखं निर्वाणसुखम्, अस्य चैकार्थिकानि—सातं शीतीभूतं पदमनाबाधमिति । इहापि संसारे यत्किञ्चित् सातावेदनीयविपाकोद्भूतं सातं—सुखं तदपि शीतं मनआल्हादाद्, एतद्विपर्यस्तु दुःखं, तच्चोष्णमिति गाथार्थः ॥ कषायादिपदव्याचिख्यासयाह—

डज्झइ तिव्वकसाओ सोगभिभूओ उइन्नवेओ य । उण्हयरो होइ तवो कसायमाईवि जं डहइ ॥ २०९ ॥

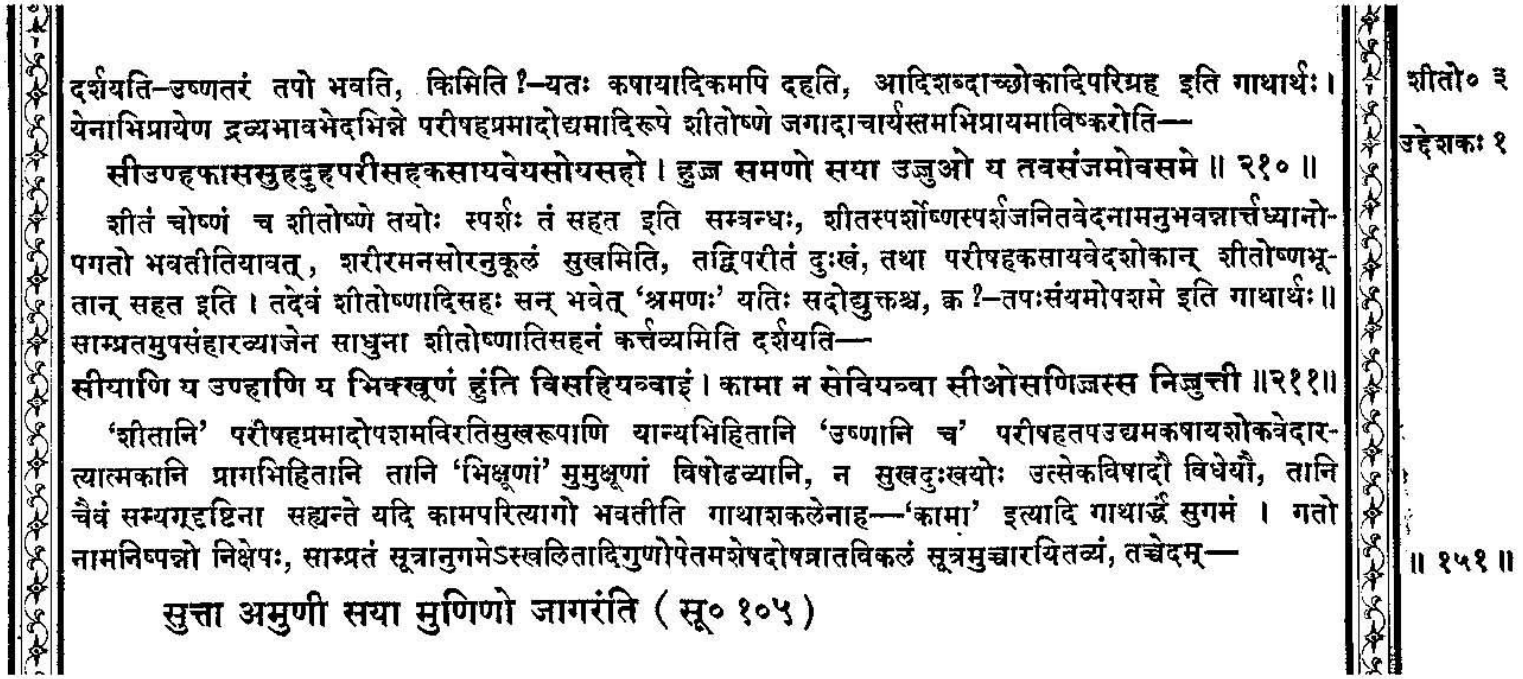
'दह्यते' परिपच्यते, कोऽसौ ?—'तीव्रा' उत्कटा उदीर्णा विपाकानुभवेन कषाया यस्य स तथा, न केवलं कषायाग्निना दह्यते, 'शोकाऽभिभूतश्च' इष्टवियोगादिजनितः शोकस्तेनाभिभूतः तिरोहितशुभव्यापारोऽसावपि दह्यते, तथा उदीर्णोविपाकापन्नो वेदो यस्य स तथा, उदीर्णवेदो हि पुमान् स्त्रियं कामयते, साऽपीतरं, नपुंसकस्तूभयमिति, तत्साध्यभावे काङ्क्षोद्भूतारतिदाहेन दह्यते, चशब्दादिच्छाकामाप्राप्तिजनितारतिपावकेन दह्यते, तदेवं कषायाः शोको वेदोदयश्च दाहकत्वादुष्णः, सर्वं वा मोहनीयमष्टप्रकारं वा कर्म्मोष्णं, ततोऽपि तद्दाहकत्वादुष्णतरं तप इति गाथाशकलेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१०४]

दीप अनुक्रम [१०८]



श्रीआचा-राङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ १५१ ॥

दर्शयति–उष्णतरं तपो भवति, किमिति ?–यतः कषायादिकमपि दहति, आदिशब्दाच्छोकादिपरिग्रह इति गाथार्थः। येनाभिप्रायेण द्रव्यभावभेदभिन्ने परीषहप्रमादोद्यमादिरूपे शीतोष्णे जगादाचार्यस्तमभिप्रायमाविष्करोति—

सीउण्हफाससुहदुहपरीसहकसायवेयसोयसहो। हुज्ज समणो सया उज्जुओ य तवसंजमोवसमे ॥ २१० ॥

शीतं चोष्णं च शीतोष्णे तयोः स्पर्शः तं सहत इति सम्बन्धः, शीतस्पर्शोष्णस्पर्शजनितवेदनामनुभवन्नार्त्तध्यानोपगतो भवतीतियावत्, शरीरमनसोरनुकूलं सुखमिति, तद्विपरीतं दुःखं, तथा परीषहकसायवेदशोकान् शीतोष्णभूतान् सहत इति। तदेवं शीतोष्णादिसहः सन् भवेत् 'श्रमणः' यतिः सदोद्युक्तश्च, क्व ?–तपःसंयमोपशमे इति गाथार्थः॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन साधुना शीतोष्णातिसहनं कर्त्तव्यमिति दर्शयति—

सीयाणि य उण्हाणि य भिक्खूणं हुंति विसहियव्वाइं। कामा न सेवियव्वा सीओसणिज्जस्स निज्जुत्ती ॥२११॥

'शीतानि' परीषहप्रमादोपशमविरतिसुखरूपाणि यान्यभिहितानि 'उष्णानि च' परीषहतपउद्यमकषायशोकवेदारत्यात्मकानि प्रागभिहितानि तानि 'भिक्षूणां' मुमुक्षूणां विषोढव्यानि, न सुखदुःखयोः उत्सेकविषादौ विधेयौ, तानि चैवं सम्यग्दृष्टिना सह्यन्ते यदि कामपरित्यागो भवतीति गाथाशकलेनाह—'कामा' इत्यादि गाथार्द्धं सुगमं। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतमशेषदोषव्रातविकलं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो जागरंति (सू० १०५)

शीतो० ३ उद्देशकः १ ॥ १५१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय-अध्ययने प्रथमं-उद्देशक: 'भावसुप्त' आरब्ध:,

अस्य चानन्तरसूत्रेण सम्बन्धो वाच्यः, स चायम्–इह दुःखी दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तत इत्युक्तं, तदिहापि भावसुप्ता अज्ञानिनो दुःखिनो दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तन्ते इति, उक्तं च—"नातः परमहं मन्ये, जगतो दुःखकारणम् । यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम् ॥ १ ॥" इत्यादि, इह सुप्ता द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र निद्राप्रमादवन्तो द्रव्यसुप्ताः, भावसुप्तास्तु मिथ्यात्वाज्ञानमयमहानिद्राव्यामोहिताः, ततो ये 'अमुनयः' मिथ्यादृष्टयः सततं भावसुप्ताः सद्विज्ञानानुष्ठानरहितत्वात्, निद्रया तु भजनीयाः, मुनयस्तु सद्बोधोपेता मोक्षमार्गादचलन्तस्ते सततम्–अनवरतं 'जाग्रति' हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वते, अतो द्रव्यनिद्रोपगता अपि क्वचिद्वितीयपौरुष्यादौ सततं जागरूका एवेति ॥ एनमेव भावस्वापं जागरणं च विषयीकृत्य निर्युक्तिकारो गाथां जगाद—

सुत्ता अमुणिओ सया मुणिओ सुत्तावि जागरा हुंति । धम्मं पडुच्च एवं निद्दासुत्तेण भइयव्वं ॥ २१२ ॥

सुप्ता द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र निद्रया द्रव्यसुप्तान् गाथान्ते वक्ष्यति, भावसुप्तास्त्वमुनयो–गृहस्था मिथ्यात्वाज्ञानावृता हिंसाद्यास्रवद्वारेषु सदा प्रवृत्ताः, मुनयस्त्वपगतमिथ्यात्वादिनिद्रतयाऽवाप्तसम्यक्त्वादिबोधा भावतो जागरूका एव, यद्यपि क्वचिदाचार्यानुज्ञाता द्वितीयपौरुष्यादौ दीर्घसंयमाधारशरीरस्थित्यर्थं निद्रावशोपगता भवन्ति तथापि सदा जागरा एव, एवं च धर्म्मं प्रतीत्योक्ताः सुप्ता जाग्रदवस्थाश्च । द्रव्यनिद्रासुप्तेन तु भाज्यमेतद्–धर्म्मः स्याद्वा न वा, यद्यसौ भावतो जागर्त्ति ततो निद्रासुप्तस्यापि धर्म्मः स्यादेव, यदिवा भावतो जाग्रतो निद्राप्रमादावष्टब्धान्तःकरणस्य न स्यादपि, यस्तु द्रव्यभावसुप्तस्तस्य न स्यादेवेति भजनार्थः । अथ किमिति द्रव्यसुप्तस्य धर्म्मो न भवतीति ?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १५२ ॥

उच्यते, द्रव्यसुप्तो हि निद्रया भवति, सा च दुरन्ता, किमिति ?, यतः स्त्यानर्द्धिनिद्रोदये सम्यक्त्वावाप्तिर्भवसिद्धिकस्यापि न भवति, तद्बन्धश्च मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोरनन्तानुबन्धिबन्धसहचरितः, क्षयस्त्वनिर्वृत्तिबादरगुणस्थानकालसंख्येयभागेषु कियत्स्वपि गतेषु सत्सु भवति, निद्राप्रचलयोरपि उदये प्राग्वदेव, बन्धोपरमस्त्वपूर्वकरणकालसंख्येयभागान्ते भवति, क्षयः पुनः क्षीणकषायद्विचरमसमये, उदयस्तूपशमकोपशान्तमोहयोरपि भवतीत्यतो दुरन्तो निद्राप्रमादः । यथा च द्रव्यसुप्तो दुःखमवाप्नोत्येवं भावसुप्तोऽपि (इति) दर्शयितुमाह—

जह सुत्त मत्त मुच्छिय असहीणो पावए बहुं दुक्खं । तिव्वं अपडियारंपि वट्टमाणो तहा लोगो ॥ २१३ ॥

सुप्तो निद्रया मत्तो मदिरादिना मूर्च्छितो गाढमर्म्मप्रहारादिना अस्वाधीनः–परायत्तो वातादिदोषोद्भवग्रहादिना यथा बहु दुःखमप्रतीकारमवाप्नोति, तथा भावस्वापे–मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायादिकेऽपि 'वर्त्तमानः' अवतिष्ठमानो 'लोकः' प्राणिगणो नरकभवादिकं दुःखमवाप्नोतीति गाथार्थः ॥ पुनरपि व्यतिरेकदृष्टान्तद्वारेणोपदेशदानायाह—

एसेव य उवएसो पदित्ते पयलाय पंथमाईसुं । अणुहवइ जह सचेओ सुहाइं समणोऽवि तह चेव ॥ २१४ ॥

'एष एव' पूर्वोक्त उपदेशो यो विवेकाविवेकजनितः, तथाहि–सचेतनो विवेकी प्रदीप्ते सति प्रपलायमानः सुखमनुभवति, पथिविषये च सापायनिरपायविवेकज्ञः, आदिग्रहणादन्यस्मिन्वा दस्युभयादौ समुपस्थिते सति, यथा विवेकी सुखेनैव तमपायं परिहरन् सुखभाग् भवति, एवं श्रमणोऽपि भावतः सदा विवेकित्वाज्जाग्रदवस्थामनुभवन् समस्तक-

शीतो० ३
उद्देशकः १

॥ १५२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०५]

दीप अनुक्रम [१०९]

ल्याणास्पदीभवति । अत्र च सुप्तासुप्ताधिकारगाथाः—"[१]जागरह णरा णिच्चं जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी । जो सुअइ न सो धण्णो जो जग्गइ सो सया धन्नो ॥ १ ॥ सुअइ सुअंतस्स सुअं संकियखलियं भवे पमत्तस्स । जागरमाणस्स सुअं थिरपरिचिअमप्पमत्तस्स ॥ २ ॥ नालस्सेण समं सुक्खं, न विज्जा सह निद्दया । न वेरग्गं पमाएणं, नारंभेण दयालुया ॥ ३ ॥ जागरिआ धम्मीणं आहम्मीणं तु सुत्तया सेआ । वच्छाहिवभगिणीए अकहिंसु जिणो जयंतीए ॥ ४ ॥ सुयइ य अयगरभूओ सुअंपि से नासई अमयभूअं । होहिइ गोणब्भूओ नट्ठंमि सुए अमयभूए ॥ ५ ॥" तदेवं दर्शनावरणीयकर्म्मविपाकोदयेन क्वचित्स्वपन्नपि यः संविग्नो यतनावांश्च स दर्शनमोहनीयमहानिद्रापगमाज्जाग्रदवस्थ एवेति । ये तु सुप्तास्तेऽज्ञानोदयाद्भवन्ति, अज्ञानं च महादुःखं, दुःखं च जन्तूनामहितायेति दर्शयति—

लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति (सू० १०६)

'लोके' षड्जीवनिकाये 'जानीहि' परिच्छिन्द्या दुःखहेतुत्वाद्दुःखम्—अज्ञानं मोहनीयं वा तदहिताय—नरकादिभ-

१ जाग्रत नरा नित्यं जाग्रतो वर्धते बुद्धिः । यः स्वपिति न स धन्यः यो जागर्ति स सदा धन्यः ॥ १ ॥ स्वपिति स्वपतः श्रुतं शङ्कितस्खलितं भवेत्प्रमत्तस्य । जागरतः श्रुतं स्थिरपरिचितमप्रमत्तस्य ॥ २ ॥ नालस्येन समं सौख्यं न विद्या सह निद्रया । न वैराग्यं प्रमादेन नारम्भेण दयालुता ॥ ३ ॥ जाग्रत्ता धर्मिणां अधर्मिणां तु सुप्तता श्रेयसी । वत्साधिपभगिन्या अकथयत् जिनो जयन्त्याः ॥ ४ ॥ स्वपिति चाजगरभूतः श्रुतमपि तस्य नश्यत्यमृतभूतम् । भविष्यति गोभूतो नष्टे श्रुतेऽमृतभूते ॥ ५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वध्यसनोपनिपाताय, इह वा बन्धवधशारीरमानसपीडायै जायत इत्येतज्जानीहि, परिज्ञानाच्चैतत्फलं यदुत–द्रव्यभाव-स्वापादज्ञानरूपाद्दुःखहेतोरपसर्पणमिति, किं चान्यत्—'समय'मित्यादि, समयः–आचारोऽनुष्ठानं तं लोकस्यासुमद्वा-तस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतो भवेदित्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धो, लोको हि भोगाभिलाषितया प्राण्युपमर्दादिकषायहेतुकं क-र्म्मोपादाय नरकादियातनास्थानेषूत्पद्यते, ततः कथञ्चिदुद्वृत्त्यावाप्य चाशेषक्लेशव्रातघ्नं धर्म्मकारणमार्यक्षेत्रादौ मनुष्य-जन्म पुनरपि महामोहमोहितमतिस्तत्तदारभते येन येनाधोऽधो व्रजति, संसारान्नोन्मज्जतीति, अयं लोकाचारस्तं ज्ञात्वा, अथवा समभावः समता तां ज्ञात्वा, 'लोकस्ये'ति सप्तम्यर्थे षष्ठी, ततश्चायमर्थो—'लोके' जन्तुसमूहे 'समतां' समशत्रु-मित्रतां समात्मपरतां वा ज्ञात्वा, यदिवा सर्वेऽप्येकेन्द्रियादयो जन्तवः सदा स्वोत्पत्तिस्थानरिरंसवो मरणभीरवः सुखे-प्सवो दुःखद्विष इत्येवम्भूतां समतां ज्ञात्वा, किं कुर्यादित्याह—'एत्थ सत्थोवरए', 'अत्र' अस्मिन् षट्कायलोके शस्त्रा-द्द्रव्यभावभेदादुपरतो धर्म्मजागरणेन जागृहि, यदिवा यद्यत्संयमशस्त्रं प्राणातिपाताद्यास्रवद्वारं शब्दादिपञ्चप्रका-रकामगुणाभिष्वङ्गो वा तस्माद्य उपरतः स मुनिरिति, आह च—'जस्सिमे' इत्यादि, यस्य मुनेरिमे–प्रत्यात्मवेद्याः समस्तप्राणिगणेन्द्रियप्रवृत्तिविषयभूताः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा मनोज्ञेतरभेदभिन्ना 'अभिसमन्वागता' इति, अभिः–आ-भिमुख्येन सम्यग्–इष्टानिष्टावधारणतयाऽन्विति–शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागताः–ज्ञाताः परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भ-वन्ति स लोकं जानातीति सम्बन्धः, इदमुक्तं भवति–इष्टेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषम्, एतदेवाभिसमन्वागमनं तेषां नान्यदिति, यदिवेहैव शब्दादयो दुःखाय भवन्त्यास्तां तावत्परलोक इति, उक्तं च—"रक्तः शब्दे हरिणः स्पर्शे

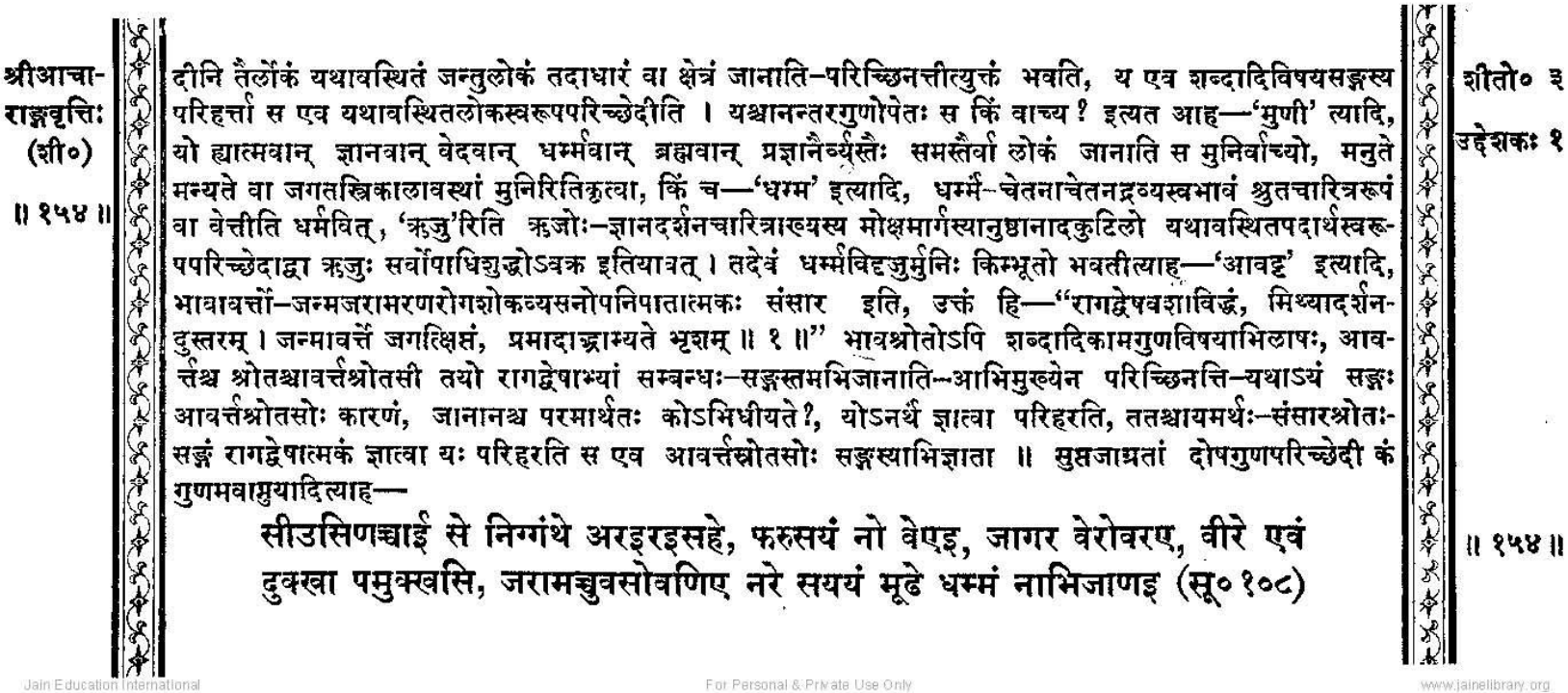
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नागो रसे च वारिचरः । कृपणपतङ्गो रूपे भुजगो गन्धे ननु विनष्टः ॥ १ ॥ पञ्चसु रक्ताः पञ्च विनष्टा यत्रागृहीतपरमार्थाः । एकः पञ्चसु रक्तः प्रयाति भस्मान्ततामबुधः ॥२॥" अथवा शब्दे पुष्पशालाद्रुद्रा ननाश रूपे अर्जुनकतस्करः गन्धे गन्धप्रियकुमारः रसे सौदासः स्पर्शे सत्यकिः सुकुमारिकापतिर्वा ललिताङ्गकः, परत्र च नारकादियातनास्थानभयमिति ॥ एवं शब्दादीनुभयदुःखस्वभावानवगम्य यः परित्यजेदसौ कं गुणमवाप्नुयादित्याह—

से आयवं नाणवं वेयवं धंमवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वुच्चे, धम्मविऊ उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणइ (सू० १०७)

यो हि महामोहनिद्रावृते लोके दुःखमहिताय जानानो लोकसमयदर्शी शस्त्रोपरतः सन् शब्दादीन् कामगुणान् दुःखैकहेतूनभिसमन्वागच्छति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याचष्टे 'स' मुमुक्षुरात्मवान्–आत्मा ज्ञानादिकोऽस्यास्तीत्यात्मवान्, शब्दादिपरित्यागेन ह्यात्माऽनेन रक्षितो भवति, अन्यथा नारकैकेन्द्रियादिपाते सत्यात्मकार्याकरणात्कुतोऽस्यात्मेति, पाठान्तरं वा 'से आयवी नाणवी' आत्मानं श्वभ्रादिपतनरक्षणद्वारेण वेत्तीत्यात्मवित्, तथा ज्ञानं–यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदकं वेत्तीति ज्ञानवित्, तथा वेद्यते जीवादिस्वरूपम् अनेनेति वेदः–आचाराद्यागमः तं वेत्तीत्ति वेदवित्, तथा दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावं स्वर्गापवर्गमार्गं धर्म्मं वेत्तीति धर्म्मवित्, एवं ब्रह्म–अशेषमलकलङ्कविकलं योगिशर्म्म वेत्तीति ब्रह्मवित्, यदिवा अष्टादशधा ब्रह्मेति, एवम्भूतश्चासौ प्रकर्षेण ज्ञायते ज्ञेयं यैस्तानि प्रज्ञानानि–मत्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १५४ ॥

दीनि तैर्लोकं यथावस्थितं जन्तुलोकं तदाधारं वा क्षेत्रं जानाति–परिच्छिनत्तीत्युक्तं भवति, य एव शब्दादिविषयसङ्गस्य परिहर्त्ता स एव यथावस्थितलोकस्वरूपपरिच्छेदीति । यश्चानन्तरगुणोपेतः स किं वाच्य ? इत्यत आह—'मुणी' त्यादि, यो ह्यात्मवान् ज्ञानवान् वेदवान् धर्म्मवान् ब्रह्मवान् प्रज्ञानैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा लोकं जानाति स मुनिर्वाच्यो, मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थां मुनिरितिकृत्वा, किं च—'धम्म' इत्यादि, धर्म्मं–चेतनाचेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित्, 'ऋजु'रिति ऋजोः–ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्ठानादकुटिलो यथावस्थितपदार्थस्वरूपपरिच्छेदाद्वा ऋजुः सर्वोपाधिशुद्धोऽवक्र इतियावत् । तदेवं धर्म्मविदृजुर्मुनिः किम्भूतो भवतीत्याह—'आवट्ट' इत्यादि, भावावर्त्तो–जन्मजरामरणरोगशोकव्यसनोपनिपातात्मकः संसार इति, उक्तं हि—"रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम् । जन्मावर्त्तं जगत्क्षिप्तं, प्रमादाद्भ्राम्यते भृशम् ॥ १ ॥" भावश्रोतोऽपि शब्दादिकामगुणविषयाभिलाषः, आवर्त्तश्च श्रोतश्चावर्त्तश्रोतसी तयो रागद्वेषाभ्यां सम्बन्धः–सङ्गस्तमभिजानाति–आभिमुख्येन परिच्छिनत्ति–यथाऽयं सङ्गः आवर्त्तश्रोतसोः कारणं, जानानश्च परमार्थतः कोऽभिधीयते ?, योऽनर्थं ज्ञात्वा परिहरति, ततश्चायमर्थः–संसारश्रोतःसङ्गं रागद्वेषात्मकं ज्ञात्वा यः परिहरति स एव आवर्त्तस्रोतसोः सङ्गस्याभिज्ञाता ॥ सुप्तजाग्रतां दोषगुणपरिच्छेदी कं गुणमवाप्नुयादित्याह—

सीउसिणच्चाई से निग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागर वेरोवरए, वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि, जरामच्चुवसोवणिए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ (सू० १०८)

शीतो० ३
उद्देशकः १
॥ १५४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितः सन् शीतोष्णत्यागी सुखदुःखानभिलाषुकः शीतोष्णरूपौ वा परीषहावतिसहमानः संयमासंयमरत्यरतिसहः सन् परुषतां–कर्कशतां पीडाकारितां परीषहाणामुपसर्गाणां वा कर्मक्षपणायोद्यतः साहाय्यं मन्यमानो 'नो वेत्ति' न तान् पीडाकारित्वेन गृह्णातीत्युक्तं भवति, यदिवा संयमस्य तपसो वा परुषतां शरीरपीडोत्पादनात् कर्म्मलेपापनयनाद्वा संसारोद्विग्नमना मुमुक्षुर्निराबाधसुखोन्मुखो 'न वेत्ति' न संयमतपसी पीडाकारित्वेन गृह्णातीतियावत् । किं च—'जागर' इत्यादि, असंयमनिद्रापगमाज्जागर्तीति जागरः, अभिमानसमुत्थोऽमर्षावेशः परापकाराध्यवसायो वैरं तस्मादुपरतो वैरोपरतो, जागरश्चासौ वैरोपरतश्चेति विगृह्य कर्म्मधारयः, क एवम्भूतो?—'वीरः' कर्म्मापनयनशक्त्युपेतः, एवम्भूतश्च त्वं वीर! आत्मानं परं वा दुःखाद्दुःखकारणाद्वा कर्म्मणः प्रमोक्ष्यसीति । यश्च यथोक्ताद्विपरीतः आवर्त्तश्रोतसोः सङ्गमुपगतोऽजागरः स किमाप्नुयादित्याह—जरा च मृत्युश्च ताभ्यामात्मवशमुपनीतो 'नरः' प्राणी 'सततम्' अनवरतं 'मूढो' महामोहमोहितमतिर्द्धर्म्म–स्वर्गापवर्गमार्गं नाभिजानीते–नावगच्छति, तत् संसारे स्थानमेव नास्ति यत्र जरामृत्यू न स्तः, देवानां जराऽभाव इति चेत्, न, तत्राप्युपान्त्यकाले लेश्याबलसुखप्रभुत्ववर्णहान्युपपत्तेरस्त्येव च तेषामपि जरासद्भावः, उक्तं च—"देवा णं भंते! सव्वे समवण्णा?, नो इणट्ठे समट्ठे, सेकेण ट्ठेणं भंते! एवं

१ देवा भदन्त! सर्वे समवर्णाः?, नैषोऽर्थः समर्थः, तत् केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते?, गौतम! देवा द्विविधाः–पूर्वोत्पन्नकाश्च पश्चादुपपन्नकाश्च । तत्र ये ते पूर्वोत्पन्नकास्तेऽविशुद्धवर्णाः, ये पश्चादुत्पन्नास्ते विशुद्धवर्णाः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुनः संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१०८]

दीप अनुक्रम [११२]

वुच्चइ?, गोयमा! देवा दुविहा–पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य। तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णयरा, जे णं पच्छोववण्णगा ते णं विसुद्धवण्णयरा" एवं लेश्याद्यपीति, च्यवनकाले तु सर्वस्यैवैतद्भवति, तद्यथा—"माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः। दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥ १ ॥" यतश्चैवमतः सर्वं जरामृत्युवशोपनीतमभिसमीक्ष्य किं कुर्यादित्याह—

पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं, पास आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणा पमुच्चई, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने, जे पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजायसत्थस्स खेयन्ने, अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ, कम्मं च पडिलेहाए (सू० १०९)

स हि भावजागरस्तैस्तैर्भावस्वापजनितैः शारीरमानसैर्दुःखैरातुरान्–किंकर्त्तव्यतामूढान् दुःखसागरावगाढान् प्राणानभेदोपचारात् प्राणिनो 'दृष्ट्वा' ज्ञात्वाऽप्रमत्तः परिव्रजेद्–उद्युक्तः सन् संयमानुष्ठानं विदध्यात्। अपि च—'मंता' इ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०९]

दीप अनुक्रम [११३]

त्यादि, हे मतिमन्!–सश्रुतिक! भावसुप्तातुरान् पश्य, मत्वा चैतज्जाग्रत्सुप्तगुणदोषापादनं मा स्वापमतिं कुरु, किं च—'आरंभज'मित्यादि, आरम्भः–सावद्यक्रियानुष्ठानं तस्माज्जातमारम्भजं, किं तद्?–दुःखं तत्कारणं वा कर्म्म । 'इद'मिति प्रत्यक्षगोचरापन्नमशेषारम्भप्रवृत्तप्राणिगणानुभूयमानमित्येतत् 'ज्ञात्वा' परिच्छिद्य निरारम्भो भूत्वाऽऽत्महिते जागृहि । यस्तु विषयकषायाच्छादितचेता भावशायी स किमाप्नुयादित्याह—'माई' इत्यादि, मध्यग्रहणाच्चाद्यन्तयोर्ग्रहणं, तेन क्रोधादिकषायवान् मद्यादिप्रमादवान्नारकदुःखमनुभूय पुनस्तिर्यक्षु गर्भमुपैति । यस्त्वकषायी प्रमादरहितः स किम्भूतो भवतीत्याह—'उवेह' इत्यादि, बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो गम्यते, शब्दरूपादिषु यौ रागद्वेषौ तावुपेक्षमाणः–अकुर्वन् ऋजुर्भवति–यतिर्भवति, यतिरेव परमार्थत ऋजुः, अपरस्त्वन्यथाभूतः रुग्यादिपदार्थान्यथाग्रहणाद्वक्रः, किं च–स ऋजुः शब्दादीनुपेक्षमाणो मरणं मारस्तदभिशङ्की–मरणादुद्विजंस्तत्करोति येन मरणात् प्रमुच्यते । किं तत्करोतीत्याह—'अप्पमत्त' इत्यादि, कामैर्यः प्रमादस्तत्राप्रमत्तो भवेत् । कश्चाप्रमत्तः स्याद्?, य कामारम्भकेभ्यः पापेभ्य उपरतो भवतीति दर्शयति —'उवरओ' इत्यादि, उपरतो मनोवाक्कायैः, कुतः?–पापोपादानकर्म्मभ्यः, कोऽसौ?–वीरः, किम्भूतो?–गुप्तात्मा, कश्च गुप्तो भवति?, यः खेदज्ञो, यश्च खेदज्ञः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह—'जे पज्जव' इत्यादि, शब्दादीनां विषयाणां पर्यवाः–विशेषास्तेषु–तन्निमित्तं जातं शस्त्रं पर्यवजातशस्त्रं–शब्दादिविशेषोपादानाय यत्प्राण्युपघातकार्यनुष्ठानं तत्पर्यवजातशस्त्रं तस्य पर्यवजातशस्त्रस्य यः खेदज्ञो–निपुणः सोऽशस्त्रस्य–निरवद्यानुष्ठानरूपस्य संयमस्य खेदज्ञो, यश्चाशस्त्रस्य संयमस्य खेदज्ञः स पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः, इदमुक्तं भवति–यः शब्दादिपर्यायानिष्टानिष्टात्मकान् तत्प्राप्तिपरिहारानुष्ठानं च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०९]

दीप अनुक्रम [११३]

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १५६ ॥

शस्त्रभूतं वेत्ति सोऽनुपघातकत्वात्संयममप्यशस्त्रभूतमात्मपरोपकारिणं वेत्ति, शस्त्राशस्त्रे च जानानस्तत्प्राप्तिपरिहारौ विधत्ते, एतत्फलत्वात् ज्ञानस्येति, यदिवा शब्दादिपर्यायेभ्यस्तज्जनितरागद्वेषपर्यायेभ्यो वा जातं यज्ज्ञानावरणीयादि कर्म्म तस्य यच्छस्त्रं दाहकत्वात् तपस्तस्य यः खेदज्ञः तज्ज्ञानानुष्ठानतः सोऽशस्त्रस्य संयमस्यापि खेदज्ञः, पूर्वोक्तादेव हेतोः, हेतुहेतुमद्भावाच्च योऽशस्त्रस्य खेदज्ञः स पर्यवजातशस्त्रस्यापि खेदज्ञ इति, तस्य च संयमतपःखेदज्ञस्यास्रवनिरोधादनादिभवोपात्तकर्म्मक्षयः । कर्म्मक्षयाच्च यद्भवति तदप्यतिदिशति—'अकम्मस्स' इत्यादि, न विद्यते कर्म्माष्टप्रकारमस्येत्यकर्म्मा तस्य 'व्यवहारो न विद्यते' नासौ नारकतिर्यग्नरामरपर्याप्तकापर्याप्तकबालकुमारादिसंसारिव्यपदेशभाग् भवति । यश्च सकर्म्मा स नारकादिव्यपदेशेन व्यपदिश्यत इत्याह—'कम्मुणा' इत्यादि, उपाधीयते–व्यपदिश्यते येनेत्युपाधिः–विशेषणं स उपाधिः कर्म्मणा–ज्ञानावरणीयादिना जायते, तद्यथा–मतिश्रुतावधिमनःपर्यायवान् मन्दमतिस्तीक्ष्णो वेत्यादि, चक्षुर्दर्शनी अचक्षुर्दर्शनी निद्रालुरित्यादि, सुखी दुःखी वेति, मिथ्यादृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिः स्त्री पुमान्नपुंसकः कषायीत्यादि, सोपक्रमायुष्को निरुपक्रमायुष्कोऽल्पायुरित्यादि, नारकः तिर्यग्योनिक एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियः पर्याप्तकोऽपर्याप्तकः सुभगो दुर्भग इत्यादि, उच्चैर्गोत्रो नीचैर्गोत्रो वेति, कृपणस्त्यागी निरुपभोगो निर्वीर्यः, इत्येवं कर्म्मणा संसारी व्यपदिश्यते । यदि नामैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—'कम्मं च इत्यादि, कर्म्म–ज्ञानावरणीयादि तत्प्रत्युपेक्ष्य बन्धं वा प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकं पर्यालोच्य, तत्सत्ताविपाकापन्नांश्च प्राणिनो यथा भावनिद्रया शेरते तथाऽवगम्याकर्म्मतोपाये भावजागरणे यतितव्यमिति, तदभावश्चानेन प्रक्रमेण भवति, तद्यथा–अष्टविधसत्कर्म्मापूर्वादिकरणक्ष-

शीतो० ३ उद्देशकः १

॥ १५६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पकश्रेणिप्रक्रमेण मोहनीयक्षयं विधायान्तर्मुहूर्त्तमजघन्योत्कृष्टं कालं सप्तविधसत्कर्म्मा, ततः शेषघातित्रये क्षीणे चतुर्विध-भवोपग्राहिसत्कर्म्मा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशानां पूर्वकोटिं यावत्, पुनरूर्द्धं पञ्चह्रस्वाक्षरोद्गिरणकालीयां शैले-श्यवस्थामनुभूयाकर्म्मा भवति । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनां सदसत्कर्म्मताविधानमुच्यते–तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययोः प्रत्येकमुपात्तपञ्चभेदयोश्चतुर्दशस्वपि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकेषु च मिथ्यादृष्टेरारभ्य केवलिगुणस्थानादारतोऽपरविक-ल्पाभावात् पञ्चविधसत्कर्म्मता। दर्शनावरणस्य त्रीणि सत्कर्म्मतास्थानानि, तद्यथा–नवविधं निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयस-मन्वयाद् एतत् सर्वजीवस्थानानुयायि, गुणस्थानेष्वप्यनिवृत्तिबादरकालसङ्ख्येयभागान् यावत् १, ततः कतिचित्सङ्-ख्येयभागावसाने स्त्यानर्द्धित्रयक्षयात् षट्सत्कर्म्मतास्थानं २, ततः क्षीणकषायद्विचरमसमये निद्राप्रचलाद्वयक्षयाच्चतुः-सत्कर्म्मतास्थानं, तस्यापि क्षयः क्षीणकषायकालान्त इति ३। वेदनीयस्य द्वे सत्कर्म्मतास्थाने, तद्यथा—द्वे अपि साता-साते इत्येकं, अन्यतरोदयारूढशैलेश्यवस्थेतरद्विचरमक्षणक्षये सति सातमसातं वा कर्म्मेति द्वितीयं २। मोहनीयस्य पञ्चदश सत्कर्म्मतास्थानानि, तद्यथा–षोडश कषाया नव नोकषाया दर्शनत्रये सति सम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिः १, सम्यक्त्वो-द्वलने सम्यग्मिथ्यादृष्टेः सप्तविंशतिः २, दर्शनद्वयोद्वलनेऽनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः ३, सम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिसत्क-र्म्मणोऽनन्तानुबन्ध्युद्वलने क्षपणे वा चतुर्विंशतिः ४, मिथ्यात्वक्षये त्रयोविंशतिः ५, सम्यग्मिथ्यात्वक्षये द्वाविंशतिः ६, क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः ७, अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्षये त्रयोदश ८, अन्यतरवेदक्षये द्वादश ९, द्वितीयवेद-क्षये सत्येकादश १०, हास्यादिषट्कक्षये पञ्च ११, पुंवेदाभावे चत्वारि १२, सञ्ज्वलनक्रोधक्षये त्रयः १३, मानक्षये द्वौ १४,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१०९]

दीप अनुक्रम [११३]

मायाक्षये सत्येको लोभः १५, तत्क्षये च मोहनीयासत्तेति । आयुषो द्वे सत्कर्म्मतास्थाने सामान्येन, तद्यथा–परभवायुष्कबन्धोत्तरकालमायुष्कद्वयमेकं १, द्वितीयं तु तद्बन्धाभाव इति । नाम्नो द्वादश सत्कर्म्मतास्थानानि, तद्यथा–त्रिनवतिः १ द्विनवतिः २ एकोननवतिः ३ अष्टाशीतिः ४ षडशीतिः ५ अशीतिः ६ एकोनाशीतिः ७ अष्टसप्ततिः ८ षट्सप्ततिः ९ पञ्चसप्ततिः १० नव ११ अष्टौ १२ चेति, तत्र त्रिनवतिः–गतयश्चतस्रः ४ पञ्च जातयः ५ पञ्च शरीराणि ५ पञ्च सङ्घाताः ५ बन्धनानि पञ्च ५ संस्थानानि षट् ६ अङ्गोपाङ्गत्रयं ३ संहननानि षट् ६ वर्णपञ्चकं ५ गन्धद्वयं २ रसाः पञ्च ५ अष्टौ स्पर्शा ८ आनुपूर्वीचतुष्टयं ४ अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योताः षट् ६ प्रशस्तेतरविहायोगतिद्वयं २ प्रत्येकशरीरत्रसशुभसुभगसुस्वरसूक्ष्मपर्याप्तकस्थिरादेययशांसि सेतराणीति विंशतिः २० निर्म्माणं तीर्थकरत्वमित्येवं सर्वसमुदाये त्रिनवतिर्भवति ९३, तीर्थकरनामाभावे द्विनवतिः ९२, त्रिनवतेराहारकशरीरसङ्घातबन्धनाङ्गोपाङ्गचतुष्टयाभावे सत्येकोननवतिः ८९, ततोऽपि तीर्थकरनामाभावेऽष्टाशीतिः ८८, देवगतितदानुपूर्वीद्वयोद्वलने षडशीतिः ८६, यदिवा अशीतिसत्कर्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतः तद्गत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्कबन्धकस्य षडशीतिः, देवगतिप्रायोग्यबन्धकस्य वेति, ततो नरकगत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्टयोद्वलनेऽशीतिः ८०, पुनर्मनुष्यगत्यानुपूर्वीद्वयोद्वलनेऽष्टसप्ततिः ७८, एतान्यक्षपकाणां सत्कर्म्मतास्थानानि । क्षपकश्रेण्यन्तर्गतानां तु प्रोच्यन्ते, तद्यथा–त्रिनवतेर्नरकतिर्यग्गतितदानुपूर्वीद्वयैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणरूपैर्नरकतिर्यग्गतिप्रायोग्यैस्त्रयोदशभिः कर्म्मभिः क्षपितैरशीतिर्भवति, द्विनवतेस्त्वेभिस्त्रयोदशभिः क्षपितैरेकोनाशीतिः, याऽसावाहारकचतुष्टयापगमेनैकोननवतिः सञ्जाता

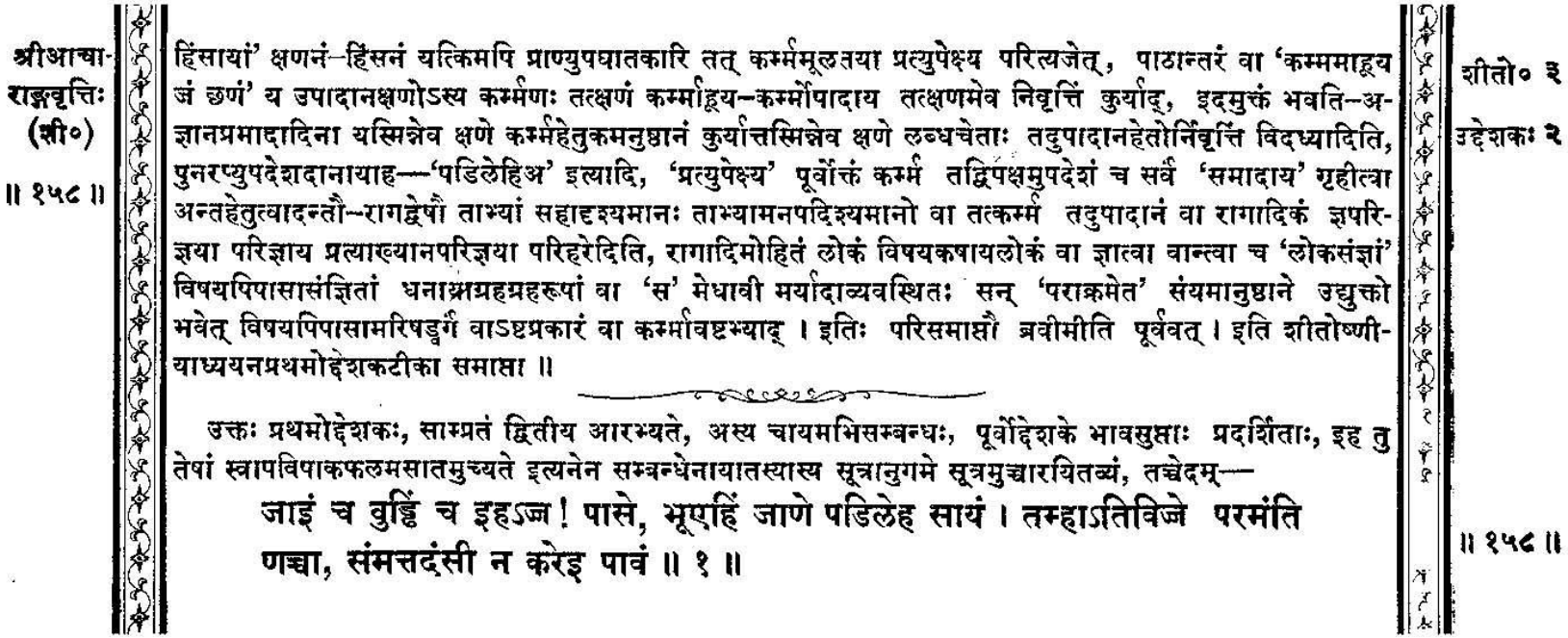
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततस्त्रयोदशनाम्नि क्षपिते षट्सप्ततिर्भवति, तीर्थकरनामाभावापादिताऽष्टाशीतिः, अष्टाशीतेस्त्रयोदशनामाभावे पञ्चसप्ततिः, तत्राशीतेः षट्सप्ततेर्वा तीर्थकरकेवलिशैलेश्यापन्नद्विचरमसमये तीर्थकरनाम्नः प्रक्षेपात् वेद्यमाननवकर्म्मप्रकृतिव्युदासेन क्षयमुपगते शेषनाम्नि अन्त्यसमये नवसत्कर्म्मतास्थानं, ताश्च वेद्यमाना नवेमाः, तद्यथा–मनुजगति १ पञ्चेन्द्रियजाति २ त्रस ३ बादर ४ पर्याप्तक ५ सुभगादेय ६–७ यशःकीर्त्ति ८ तीर्थकररूपाः ९, एता एव शैलेश्यन्त्यसमये सत्तां बिभ्रति, शेषास्तु एकसप्ततिः सप्तषष्टिर्वा द्विचरमसमये क्षयमुपयान्ति, एता एव नव अतीर्थकरकेवलिनस्तीर्थकरनामरहिता अष्टौ भवन्ति, अतोऽन्त्यसमयेऽष्टसत्कर्म्मतास्थानमिति । सामान्येन गोत्रस्य द्वे सत्कर्म्मतास्थाने, तद्यथा–उच्चनीचगोत्रसद्भावे सत्येकं सत्कर्म्मतास्थानं, तेजोवायूच्चैर्गोत्रोद्वलने कालंकलीभावावस्थायां नीचैर्गोत्रसत्कर्म्मतेति द्वितीयं, यदिवा अयोगिद्विचरमसमये नीचैर्गोत्रक्षये सत्युच्चैर्गोत्रसत्कर्म्मता, एवं द्विरूपगोत्रावस्थाने सत्येकं सत्कर्म्मतास्थानमन्यतरगोत्रसद्भावे सति द्वितीयमित्येवं कर्म्म प्रत्युपेक्ष्य तत्सत्तापगमाय यतिना यतितव्यमिति । किं च—

कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिन्नाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मेहावी परिक्कमिज्जासि (सू० ११०) त्तिबेमि ॥ शीतोष्णीयोद्देशः १ ॥

कर्मणो मूलं–कारणं मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः, चः समुच्चये, कर्म्ममूलं च प्रत्युपेक्ष्य 'यत्क्षण'मिति 'क्षणु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १५८ ॥

हिंसायां' क्षणनं–हिंसनं यत्किमपि प्राण्युपघातकारि तत् कर्म्ममूलतया प्रत्युपेक्ष्य परित्यजेत्, पाठान्तरं वा 'कम्ममाहूय जं छणं' य उपादानक्षणोऽस्य कर्म्मणः तत्क्षणं कर्म्माहूय–कर्म्मोपादाय तत्क्षणमेव निवृत्तिं कुर्याद्, इदमुक्तं भवति–अज्ञानप्रमादादिना यस्मिन्नेव क्षणे कर्म्महेतुकमनुष्ठानं कुर्यात्तस्मिन्नेव क्षणे लब्धचेताः तदुपादानहेतोर्निवृत्तिं विदध्यादिति, पुनरप्युपदेशदानायाह—'पडिलेहिअ' इत्यादि, 'प्रत्युपेक्ष्य' पूर्वोक्तं कर्म्म तद्विपक्षमुपदेशं च सर्वं 'समादाय' गृहीत्वा अन्तहेतुत्वादन्तौ–रागद्वेषौ ताभ्यां सहादृश्यमानः ताभ्यामनपदिश्यमानो वा तत्कर्म्म तदुपादानं वा रागादिकं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति, रागादिमोहितं लोकं विषयकषायलोकं वा ज्ञात्वा वान्त्वा च 'लोकसंज्ञां' विषयपिपासासंज्ञितां धनाग्रग्रहग्रहरूपां वा 'स' मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः सन् 'पराक्रमेत' संयमानुष्ठाने उद्युक्तो भवेत् विषयपिपासामरिषड्वर्गं वाऽष्टप्रकारं वा कर्म्मावष्टभ्याद् । इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति शीतोष्णीयाध्ययनप्रथमोद्देशकटीका समाप्ता ॥

शीतो० ३

उद्देशकः २

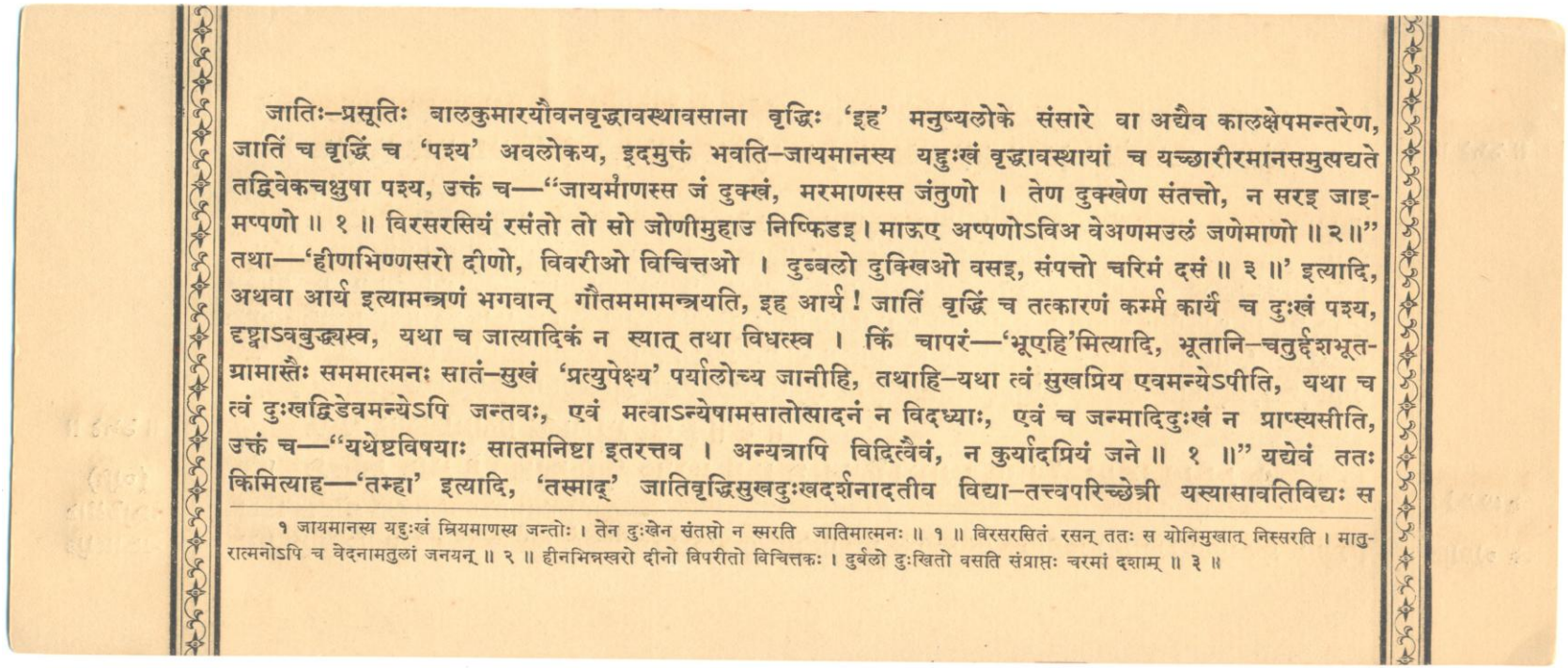
उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, पूर्वोद्देशके भावसुप्ताः प्रदर्शिताः, इह तु तेषां स्वापविपाकफलमसातमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

जाइं च वुड्ढिं च इहज्ज! पासे, भूएहिं जाणे पडिलेह सायं । तम्हाऽतिविज्जे परमंति णच्चा, संमत्तदंसी न करेइ पावं ॥ १ ॥

॥ १५८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय-अध्ययने द्वितीय-उद्देशकः 'दुःखानुभव' आरब्धः,



जातिः–प्रसूतिः बालकुमारयौवनवृद्धावस्थावसाना वृद्धिः 'इह' मनुष्यलोके संसारे वा अद्यैव कालक्षेपमन्तरेण, जातिं च वृद्धिं च 'पश्य' अवलोकय, इदमुक्तं भवति–जायमानस्य यद्दुःखं वृद्धावस्थायां च यच्छारीरमानसमुत्पद्यते तद्विवेकचक्षुषा पश्य, उक्तं च—"जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो । तेण दुक्खेण संतत्तो, न सरइ जाइमप्पणो ॥ १ ॥ विरसरसियं रसंतो तो सो जोणीमुहाउ निप्फिडइ। माऊए अप्पणोऽविअ वेअणमउलं जणेमाणो ॥ २ ॥" तथा—'हीणभिण्णसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ । दुब्बलो दुक्खिओ वसइ, संपत्तो चरिमं दसं ॥ ३ ॥' इत्यादि, अथवा आर्य इत्यामन्त्रणं भगवान् गौतममामन्त्रयति, इह आर्य ! जातिं वृद्धिं च तत्कारणं कर्म्म कार्यं च दुःखं पश्य, दृष्ट्वाऽवबुद्ध्यस्व, यथा च जात्यादिकं न स्यात् तथा विधत्स्व । किं चापरं—'भूएहि'मित्यादि, भूतानि–चतुर्दशभूतग्रामास्तैः सममात्मनः सातं–सुखं 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य जानीहि, तथाहि–यथा त्वं सुखप्रिय एवमन्येऽपीति, यथा च त्वं दुःखद्विडेवमन्येऽपि जन्तवः, एवं मत्वाऽन्येषामसातोत्पादनं न विदध्याः, एवं च जन्मादिदुःखं न प्राप्स्यसीति, उक्तं च—"यथेष्टविषयाः सातमनिष्टा इतरत्तव । अन्यत्रापि विदित्वैवं, न कुर्यादप्रियं जने ॥ १ ॥" यद्येवं ततः किमित्याह—'तम्हा' इत्यादि, 'तस्माद्' जातिवृद्धिसुखदुःखदर्शनादतीव विद्या–तत्त्वपरिच्छेत्री यस्यासावतिविद्यः स

१ जायमानस्य यद्दुःखं म्रियमाणस्य जन्तोः । तेन दुःखेन संतप्तो न स्मरति जातिमात्मनः ॥ १ ॥ विरसरसितं रसन् ततः स योनिमुखात् निस्सरति । मातुरात्मनोऽपि च वेदनामतुलां जनयन् ॥ २ ॥ हीनभिन्नस्वरो दीनो विपरीतो विचित्तकः । दुर्बलो दुःखितो वसति संप्राप्तः चरमां दशाम् ॥ ३ ॥

प्रत सूत्रांक ||१||

दीप अनुक्रम [११५]

'परमं' मोक्षं ज्ञानादिकं वा तन्मार्गं ज्ञात्वा सम्यक्त्वदर्शी सन् पापं न करोति, सावद्यमनुष्ठानं न विदधातीत्युक्तं भवति । पापस्य च मूलं स्नेहपाशास्तदपनोदार्थमाह—

उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी उभयाणुपस्सी । कामेसु गिद्धा निचयं करंति, संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं ॥ २ ॥

'इह' मनुष्यलोके चतुर्विधकषायविषयविमोक्षक्षमाधारे मर्त्यैः सार्द्धं द्रव्यभावभेदभिन्नं पाशमुत्–प्राबल्येन 'मुञ्च' अपाकुरु, स हि कामभोगलालसस्तदादानहेतोर्हिंसादीनि पापान्यारभते अतोऽपदिश्यते—'आरंभ' इत्यादि, आरम्भेण जीवितुं शीलमस्येत्यारम्भजीवी–महारम्भपरिग्रहपरिकल्पितजीवनोपायः उभयं–शारीरमानसमैहिकामुष्मिकं वा द्रष्टुं शीलमस्येति स तथा, किं च—'कामेसु' इत्यादि, कामा–इच्छामदनरूपास्तेषु गृद्धाः–अध्युपपन्ना निचयं–कर्म्मोपचयं कुर्वन्ति । यदि नामैवं ततः किमित्याह—'संसिच्च' इत्यादि, तेन कामोपादानजनितेन कर्म्मणा 'संसिच्यमानाः' आपूर्यमाणा गर्भाद्गर्भान्तरमुपयान्ति, संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन पर्यटन्ते, आसत इत्युक्तं भवति । तदेवमनिभृतात्मा किंभूतो भवतीत्याह—

अवि से हासमासज्ज, हंता नंदीति मन्नई। अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढेइ अप्पणो ॥३॥

ह्रीभयादिनिमित्तश्चेतोविप्लवो हासस्तमासाद्य–अङ्गीकृत्य 'स' कामगृध्नुर्हत्वाऽपि प्राणिनो 'नन्दी'ति क्रीडेति मन्यते,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥३॥

दीप अनुक्रम [११७]

वदति च महामोहावृतोऽशुभाध्यवसायो यथा एते पशवो मृगयार्थं सृष्टाः, मृगया च सुखिनां क्रीडायै भवति, इत्येवं मृषावादादत्तादानादिष्वप्यायोज्यं । यदि नामैवं ततः किमित्याह—'अल'मित्यादि, अलं–पर्याप्तं बालस्य–अज्ञस्य यः प्राणातिपातादिरूपः सङ्गो विषयकषायादिमयो वा तेनालं, बालस्य ह्यस्यादिसङ्गेनालं, किमिति चेद्?, उच्यते, 'वेर'-मित्यादि, पुरुषादिवधसमुत्थं वैरं तद्बालः सङ्गानुषङ्गी सन्नात्मनो वर्द्धयति, तद्यथा–गुणसेनेन ह्यस्यानुषङ्गादग्निशर्म्माणं नानाविधैरुपायैरुपहसता नवभवानुषङ्गि वैरं वर्द्धितं, एवमन्यत्रापि विषयसङ्गादावायोज्यं ॥ यतश्चैवमतः किमित्याह—

तम्हातिविज्जो परमंति णच्चा, आयंकदंसी न करेइ पावं । अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे, पलिच्छिंदिया णं निक्कम्मदंसी ॥ ४ ॥

यस्माद्बालसङ्गिनो वैरं वर्द्धते तस्मादतिविद्वान् परमं–मोक्षपदं सर्वसंवररूपं चारित्रं वा सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं वा, एतत्परमिति ज्ञात्वा किं करोतीत्याह—'आयंके'त्यादि, आतङ्को–नरकादिदुःखं तद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यातङ्कदर्शी स 'पापं' पापानुबन्धि कर्म्म न करोति, उपलक्षणार्थत्वान्न कारयति नानुमन्यते । पुनरप्युपदेशदानायाह—'अग्गं च'इत्यादि, अग्रं–भवोपग्राहिकर्म्मचतुष्टयं मूलं–घातिकर्म्मचतुष्टयं, यदिवा मोहनीयं मूलं शेषाणि त्वग्रं, यदिवा मिथ्यात्वं मूलं शेषं त्वग्रं, तदेवं सर्वमग्रं मूलं च 'विगिंच' इति त्यजापनय पृथक्कुरु, तदनेनेदमुक्तं भवति–न कर्म्मणः पौद्गलिकस्यात्यन्तिकः क्षयः, अपि त्वात्मनः पृथक्करणं, कथं मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य वा मूलत्वम्? इति चेत्, तद्वशाच्छेषप्रकृतिबन्धो यतः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उक्तं च—"न मोहमतिवृत्त्य बन्ध उदितस्त्वया कर्म्मणां, न चैकविधबन्धनं प्रकृतिबन्धविभवो महान्। अनादिभवहेतुरेष न च बध्यते नासकृत्त्वयाऽतिकुटिला गतिः कुशल! कर्म्मणां दर्शिता ॥ १॥" तथा चागमः—"कहण्णं भंते! जीवा अट्ठ कम्मपगडीओ बंधंति?, गोयमा! णाणावरणिज्जस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ, दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दंसणमोहणीयं कम्मं नियच्छइ, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ, मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ", क्षयोऽपि मोहनीयक्षयाविनाभावी, उक्तं च—"नायगंमि हते संते, जहा सेणा विणस्सई। एवं कम्मा विणस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ॥ १॥" इत्यादि, अथवा मूलम्–असंयमः कर्म्म वा, अग्रं–संयमतपसी मोक्षो वा ते मूलाग्रे 'धीरः' अक्षोभ्यो धीविराजितो वा विवेकेन दुःखसुखकारणतयाऽवधारय। किं च—'पलिच्छिंदिया ण'मित्यादि, तपःसंयमाभ्यां रागादीनि बन्धनानि तत्कार्याणि वा कर्म्माणि छित्त्वा निष्कर्म्मदर्शी भवति, निष्कर्म्माणमात्मानं पश्यति तच्छीलश्च निष्कर्म्मत्वाद्वा अपगतावरणः सर्वदर्शी सर्वज्ञानी च भवति ॥ यश्च निष्कर्म्मदर्शी भवति सोऽपरं किमाश्रयादित्याह—

१ कथं भदन्त! जीवा अष्ट कर्मप्रकृतीर्बध्नन्ति?, गौतम! ज्ञानावरणीयस्योदयेन दर्शनावरणीयं कर्म बध्नन्ति, दर्शनावरणीयस्य कर्मण उदयेन दर्शनमोहनीयं कर्म बध्नन्ति, दर्शनमोहनीयस्य कर्मण उदयेन मिथ्यात्वं बध्नन्ति, मिथ्यात्वेनोदितेनैवं खलु जीवा अष्ट कर्मप्रकृतीर्बध्नन्ति ॥ २ नायके हते सति यथा सेना विनश्यति। एवं कर्माणि विनश्यन्ति मोहनीये क्षयं गते ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एस मरणा पमुच्चइ, से हु दिट्ठभए मुणी, लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए कालकंखी परिवए, बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं (सू० १११)

'एष' इत्यनन्तरोक्तो मूलाग्रेचको निष्कर्म्मदर्शी मरणाद्–आयुःक्षयलक्षणात् मुच्यते, आयुषो बन्धनाभावाद्, यदिवा आजवंजवीभावादावीचीमरणाद्वा सर्व एव संसारो मरणं तस्मान्मुच्यते । यश्चैवं स किम्भूतो भवतीत्याह—'से हु' इत्यादि, 'सः' अनन्तरोक्तो मुनिर्दृष्टं संसाराद्भयं सप्तप्रकारं वा येन स तथा, हुरवधारणे दृष्टभय एव । किं च—'लोयंसि' इत्यादि, लोके द्रव्याधारे चतुर्दशभूतग्रामात्मके वा परमो–मोक्षस्तत्कारणं वा संयमः तं द्रष्टुं शीलमस्येति परमदर्शी, तथा 'विविक्तं' स्त्रीपशुपण्डकसमन्वितशय्यादिरहितं द्रव्यतः भावतस्तु रागद्वेषरहितमसङ्क्लिष्टं जीवितुं शीलमस्येति विविक्तजीवी, यश्चैवम्भूतः स इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादुपशान्तो, यश्चोपशान्तः स पञ्चभिः समितिभिः सम्यग्वा इतो–गतो मोक्षमार्गे समितः, यश्चैवं स ज्ञानादिभिः सहितः–समन्वितो, यश्च ज्ञानादिसहितः स सदा यतः–अप्रमादी । किमवधिश्चायमनन्तरोक्तो गुणोपन्यास इत्याह—'काल' इत्यादि, कालो–मृत्युकालस्तमाकाङ्क्षितुं शीलमस्येति कालाकाङ्क्षी स एवम्भूतः परिः–समन्तात्त्रजेत्परिव्रजेत्, यावत्सर्वायागतं पण्डितमरणं तावदाकाङ्क्षमाणो विविक्तजीवित्वादिगुणोपेतः संयमानुष्ठानमार्गे परिष्वष्केदिति । स्यादेतत्–किमर्थं एवं क्रियते? इत्याह—मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धात्मकं बन्धोदयसत्कर्म्मताव्यवस्थामयं तथा बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्था-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गतं कर्म्म तच्च न हसीयसा कालेन क्षयमुपयातीत्यतः कालाकाङ्क्षोत्युक्तं, तत्र बन्धस्थानापेक्षया तावन्मूलोत्तरप्रकृतीना बहुत्वं प्रदर्श्यते, तद्यथा–सर्वमूलप्रकृतीर्बध्नतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावदष्टविधं, आयुष्कवर्ज्जं सप्तविधं, तज्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतस्त्रिहानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि, सूक्ष्मसंपरायस्य मोहनीयबन्धोपरमे आयुष्कबन्धाभावात् षड्विधम्, एतच्च जघन्यतः सामयिकमुत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तमिति, तथोपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां सप्तविधबन्धोपरमे सातमेकं बध्नतामेकविधं बन्धस्थानं, तच्च जघन्येन सामयिकमुत्कृष्टतो देशोनपूर्वकोटिकालीयं । इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धस्थानान्यभिधीयन्ते–तत्र ज्ञानावरणान्तरायोः पञ्चभेदयोरप्येकमेव ध्रुवबन्धित्वाद्बन्धस्थानं, दर्शनावरणीयस्य त्रीणि बन्धस्थानानि–निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयसमन्वयाद् ध्रुवबन्धित्वान्नवविधं १, ततः स्त्यानर्द्धित्रिकस्यानन्तानुबन्धिभिः सह बन्धोपरमे षड्विधं २, अपूर्वकरणसङ्ख्येयभागे निद्राप्रचलयोर्बन्धोपरमे चतुर्विधं बन्धस्थानं ३ । वेदनीयस्यैकमेव बन्धस्थानं–सातमसातं वा बध्नतः, उभयोरपि यौगपद्येन विरोधितया बन्धाभावात् । मोहनीयबन्धस्थानानि दश, तद्यथा–द्वाविंशतिः–मिथ्यात्वं १ षोडश कषाया १७ अन्यतरवेदो १८ हास्यरतियुग्मारतिशोकयुग्मयोरन्यतर २० भयं २१ जुगुप्सा २२ चेति १, मिथ्यात्वबन्धोपरमे सास्वादनस्य सैवैकविंशतिः २, सैव सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेर्वा अनन्तानुबन्ध्यभावे सप्तदशविधं बन्धस्थानं ३, तदेव देशविरतस्याप्रत्याख्यानबन्धाभावे त्रयोदशविधं ४, तदेव प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां यतीनां प्रत्याख्यानावरणबन्धाभावान्नवविधं ५, एतदेव हास्यादियुग्मस्य भयजुगुप्सयोश्चापूर्वकरणचरमसमये बन्धोपरमात्सप्तविधं ६, ततोऽनिवृत्तिकरणसङ्ख्येयभागावसाने पुंवे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दवन्धोपरमाच्चतुर्विधं ७, ततोऽपि तस्मिन्नेव सङ्ख्येयभागे क्षयमुपगच्छति सति क्रोधमानमायालोभसञ्ज्वलनानां क्रमेण बन्धोपरमात्त्रिविधं ८ द्विविध ९ मेकविधं १० चेति, तस्याप्यनिवृत्तिकरणचरमसमये बन्धोपरमान्मोहनीयस्याबन्धकः । आयुषः सामान्येनैकविधं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यतरत्, द्वयादेर्यौगपद्येन बन्धाभावो विरोधादिति । नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा–त्रयोविंशतिस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतस्तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्म्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शास्तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी अगुरुलघूपघातं स्थावरं बादरसूक्ष्मयोरन्यतरदपर्याप्तकं प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् अस्थिरं अशुभं दुर्भगं अनादेयं अयशःकीर्त्तिर्निर्माणमिति, इयमेकेन्द्रियापर्याप्तकप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेर्भवति १, इयमेव पराघातोच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तकमेव वाच्यं २, इयमेव चातपोद्योतान्यतरसमन्विता षड्विंशतिः, नवरं बादरप्रत्येके एव वाच्ये ३, तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽष्टाविंशतिः, तथाहि–देवगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ वैक्रिय ३ तैजस ४ कार्म्मणानि ५ शरीराणि समचतुरस्रं ६ अङ्गोपाङ्गं ७ वर्णादिचतुष्टयं ११ आनुपूर्वी १२ अगुरुलघू १३ पघात १४ पराघात १५ उच्छ्वासः १६ प्रशस्तविहायोगतिः १७ त्रसं १८ बादरं १९ पर्याप्तकं २० प्रत्येकं २१ स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् २२ शुभाशुभयोरन्यतरत् २३ सुभगं २४ सुस्वरं २५ आदेयं २६ यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरत् २७ निर्माणमिति २८, एषैव तीर्थकरनामसहिता एकोनत्रिंशत्, साम्प्रतं त्रिंशत्–देवगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ वैक्रिया ३ हारका ४ ङ्गोपाङ्ग ६ चतुष्टयं तैजस ७ कार्म्मणे ८ संस्थानमाद्यं ९

१ स्थिरं. २ शुभं.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्णादिचतुष्कं १३ आनुपूर्वी १४ अगुरुलघू १५ पघातं १६ पराघातं १७ उच्छ्वासं १८ प्रशस्तविहायोगतिः १९ त्रसं २० बादरं २१ पर्याप्तकं २२ प्रत्येकं २३ स्थिरं २४ शुभं २५ सुभगं २६ सुस्वरं २७ आदेयं २८ यशःकीर्त्ति २९ निर्माण–३० मिति च बध्नत एकं बन्धस्थानं ६, एषैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशत् ७, एतेषां च बन्धस्थानानामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियनरकगत्यादिभेदेन बहुविधता कर्म्मग्रन्थादवसेया, अपूर्वकरणादिगुणस्थानकत्रये देवगतिप्रायोग्यबन्धोपरमाद्यशःकीर्त्तिमेव बध्नतः एकविधं बन्धस्थानमिति ८, तत ऊर्द्धं नाम्नो बन्धाभाव इति । गोत्रस्य सामान्येनैकं बन्धस्थानं–उच्चनीचयोरन्यतरत्, यौगपद्येनोभयोर्बन्धाभावो विरोधादिति । तदेवं बन्धद्वारेण लेशतो बहुत्वमावेदितं कर्म्मणां, तच्च बहु कर्म्म प्रकृतं बद्धं प्रकटं वा, तत्कार्यप्रदर्शनात्, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा, बह्वेव तत्कर्म्म । यदि नामैवं ततस्तदपनयनार्थं किं कर्त्तव्यमित्याह—

सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं जोसइ (सू० ११२)

सत्यो हितः सत्यः–संयमस्तत्र धृतिं कुरुध्वं, सत्यो वा मौनीन्द्रागमो यथावस्थितवस्तुस्वरूपाविर्भावनात्, तत्र भगवदाज्ञायां धृतिं कुमार्गपरित्यागेन कुरुध्वमिति, किं च—'एत्थोवरए' इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् संयमे भगवद्वचसि वा उपसामीप्येन रतो–व्यवस्थितो 'मेधावी' तत्त्वदर्शी 'सर्वम्' अशेषं 'पापं' कर्म्म संसारार्णवपरिभ्रमणहेतुं झोषयति–शोषयति क्षयं नयतीतियावत् । उक्तोऽप्रमादः, तत्प्रत्यनीकस्तु प्रमादः, तेन च कषायादिप्रमादेन प्रमत्तः किंगुणो भवतीत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११३]

दीप अनुक्रम [१२१]

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरिण्णए, से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए (सू०११३)

अनेकानि चित्तानि कृषिवाणिज्यावलगनादीनि यस्यासावनेकचित्तः, खलुरवधारणे, संसारसुखाभिलाष्यनेकचित्त एव भवति, 'अयं पुरुष' इति प्रत्यक्षगोचरीभूतः संसार्यपदिश्यते, अत्र च प्रागुपन्यस्तदधिघटिकया कपिलदरिद्रेण चेदृष्टान्तो वाच्य इति। यश्चानेकचित्तो भवति स किं कुर्यादित्याह—'से केयण'मित्यादि, द्रव्यकेतनं चालिनी परिपूर्णकः समुद्रो वेति भावकेतनं लोभेच्छा, तदसावनेकचित्तः केनाप्यभूतपूर्वं पुरयितुमर्हति, अर्थितया शक्याशक्यविचाराक्षमोऽशक्यानुष्ठानेऽपि प्रवर्त्तत इत्युक्तं भवति, स च लोभेच्छापूरणव्याकुलितमतिः किं कुर्यादित्याह—'से अण्णवहाए' इत्यादि, स लोभपूरणप्रवृत्तोऽन्येषां प्राणिनां वधाय भवति, तथाऽन्येषां शारीरमानसपरितापनाय, तथाऽन्येषां द्विपदचतुष्पदादीनां परिग्रहाय, जनपदे भवा जानपदाः कालप्रष्टादयो राजादयो वा तद्वधाय, मगधादिजनपदा वा तद्वधाय, तथा जनपदानां लोकानां परिवादाय–दस्युरयं पिशुनो वेत्येवं मर्मोद्घट्टनाय, तथा जनपदानां–मगधादीनां परिग्रहाय, प्रभवतीति सर्वत्राध्याहारः॥ किं य एते लोभप्रवृत्ता वधादिकाः क्रियाः कुर्वन्ति ते तथाभूता एवासते उतान्यथाऽपीति दर्शयति—

आसेवित्ता एतं (वं) अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवे, निस्सारं पासिय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाणी, उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से न छणे न छणावए छणंतं नाणुजाणइ, निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं (सू०११४)

एवम्–अनन्तरोक्तमर्थमन्यवधपरिग्रहपरितापनादिकमासेव्य 'इत्येवे'ति लोभेच्छाप्रतिपूरणायैव 'एके' भरतराजादयः 'समुत्थिताः' सम्यग्योगत्रिकेणोत्थिताः संयमानुष्ठानेनोद्यतास्तेनैव भवेन सिद्धिमासादयन्ति । संयमसमुत्थानेन च समुत्थाय कामभोगान् हिंसादीनि चाश्रवद्वाराणि हित्वा किं विधेयमित्याह—'तम्हा' यस्माद्वान्तभोगतया कृतप्रतिज्ञस्तस्माद्भोगलिप्सुतया तं द्वितीयं मृषावादमसंयमं वा नासेवेत । विषयार्थमसंयमः सेव्यते, ते च विषया निःसारा इति दर्शयति—'निस्सारं' इत्यादि, सारो हि विषयगणस्य तत्प्राप्तौ तृप्तिस्तदभावान्निःसारस्तं दृष्ट्वा 'ज्ञानी' तत्त्ववेदी न विषयाभिलाषं विदध्यात् । न केवलं मनुष्याणां, देवानामपि विषयसुखास्पदमनित्यं जीवितमिति च दर्शयति–'उववायं चवणं णच्चा' उपपातं–जन्म च्यवनं–पातस्तच्च ज्ञात्वा न विषयसङ्गोन्मुखो भवेदिति, यतो निःसारो विषयग्रामः समस्तः संसारो वा सर्वाणि च स्थानान्यशाश्वतानि, ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—'अणण्ण'मित्यादि, मोक्षमार्गादन्योऽसंयमो नान्योऽनन्यः–ज्ञानादिकस्तं चर 'माहण' इति मुनिः । किं च—'से न छणे' इत्यादि, स मुनिरनन्यसेवी प्राणिनो न क्षणुयात्–न हन्यात् नाप्यपरं घातयेत् घातयन्तं न समनुजानीयात् । चतुर्थव्रतसिद्धये त्विदमुपदिश्यते—'निव्विंद' इत्यादि, निर्विन्दस्व–जुगुप्सस्व विषयजनितां 'नंदीं' प्रमोदं, किम्भूतः सन्? 'प्रजासु' स्त्रीषु अरक्तो–रागरहितो,

॥ १६३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावयेच्च यथैते विषयाः किम्पाकफलोपमास्त्रपुषीफलनिबन्धनकटवः, अतस्तदर्थे परिग्रहाग्रहयोगपराङ्मुखो भवेदिति, उत्तमधर्म्मपालनार्थमाह—'अणोम' इत्यादि, अवमं–हीनं मिथ्यादर्शनाविरत्यादि तद्विपर्यस्तमनवमं तद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यनवमदर्शी सम्यद्दर्शनज्ञानचारित्रवान्, एवम्भूतः सन् प्रजानुगां नन्दिं निर्विन्दस्वेति सण्टङ्कः । यश्चानवमसंदर्शी स किम्भूतो भवतीत्याह—'निसन्न' इत्यादि, पापोपादानेभ्यः कर्म्मभ्यो निषण्णो–निर्विण्णः पापकर्म्मभ्यः पापकर्म्मसु वा कर्त्तव्येषु निवृत्त इतियावत् ॥ किं च—

कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे निरयं महंतं । तम्हा य वीरे विरए व-
हाओ, छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ १ ॥ गंथं परिण्णाय इहज्ज! धीरे, सोयं परि-
ण्णाय चरिज्ज दंते । उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहिं, नो पाणिणं पाणे समारभिज्जा ॥२॥
सि त्तिबेमि । द्वितीय उद्देशकः ३–२ ॥

क्रोध आदिर्येषां ते क्रोधादयः मीयते–परिच्छिद्यतेऽनेनेति मानं–स्वलक्षणं अनन्तानुबन्ध्यादिविशेषः, क्रोधादीनां मानं क्रोधादिमानं, क्रोधादिर्वा यो मानो–गर्वः क्रोधकारणत्वं हन्यात्, कोऽसौ?–वीरः, द्वेषापनोदमुक्त्वा रागापनोदार्थमाह—'लोहस्स' इत्यादि, लोभस्यानन्तानुबन्ध्यादेश्चतुर्विधस्यापि स्थितिं विपाकं च पश्य, स्थितिर्महती सूक्ष्मसम्परायानुयायित्वाद् विपाकोऽप्यप्रतिष्ठानादिनरकापत्तेर्महान्, यत आगमः—"मच्छा मणुआ य सत्तमिं पुढविं" ते च महा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'कोहाइमाणं'.... एवं 'गंथं परिण्णाय'.... द्वे गाथे गाथा क्रम रहिते सम्पादिते| मया तौ द्वे गाथे क्रम-युक्ते कारिते|

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १६४ ॥

लोभाभिभूताः सप्तमपृथिवीभाजो भवन्तीति भावार्थः । यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—'तम्हा' इत्यादि, यस्माल्लोभाभिभूताः प्राणिवधादिप्रवृत्तितया महानरकभाजो भवन्ति, तस्माद्धीरो लोभहेतोः–वधाद्विरतः स्यात्, किं च—'छिंदिज्ज' इत्यादि, शोकं भावश्रोतो वा छिन्द्यात्–अपनयेत्, किम्भूतो ?–लघुभूतो–मोक्षः संयमो वा तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी, लघुभूतं वा कामयितुं शीलमस्येति लघुभूतकामी, पुनरप्युपदेशदानायाह—'गन्थ' मित्यादि, 'ग्रन्थं' बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय इहाद्यैव कालानतिपातेन धीरः सन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत्, किं च—'सोय' मित्यादि, विषयाभिष्वङ्गः संसारश्रोतस्तत् ज्ञात्वा दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन संयमं चरेदिति, किमभिसन्धाय संयमं चरेदित्याह—'उम्मज्ज लद्धु'मित्यादि, इह मिथ्यात्वादिशैवलाच्छादितसंसारह्रदे जीवकच्छपः श्रुतिश्रद्धासंयमवीर्यरूपमुन्मज्जनमासाद्य–लब्ध्वा, अन्यत्र सम्पूर्णमोक्षमार्गासम्भवात् मानुष्येष्वित्युक्तं, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह—'नो पाणिण' मित्यादि, प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणनस्तेषां प्राणान्–पञ्चेन्द्रियत्रिविधबलोच्छ्वासनिश्वासायुष्कलक्षणान् 'नो समारभेथाः' न व्यपरोपयेः, तदुपघातकार्यनुष्ठानं मा कृथा इत्युक्तं भवति, इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । शीतोष्णीयाध्ययने द्वितीयोद्देशकटीका समाप्तेति ।

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके दुःखं तत्सहनं च प्रतिपादितं, न च तत्सहनेनैव संयमानुष्ठानरहितेन पापकर्म्माकरणतया वा श्रमणो भवतीत्येतत् प्रागुद्देशार्थाधिकारनिर्दिष्टमुच्यते, ततोऽनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्–

शीतो० ३
उद्देशकः २

॥ १६४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय-अध्ययने तृतीय-उद्देशक: 'अक्रिया' आरब्ध:,

संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए, जमिणं अन्न-मन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया? (सू० ११५)

तत्र सन्धिर्द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कुड्यादिविवरं भावतः कर्म्मविवरं, तत्र दर्शनमोहनीयं यदुदीर्णं तत्क्षीणं शेषमुपशान्तमित्ययं सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणो भावसन्धिः, यदिवा ज्ञानावरणीयं विशिष्टक्षायोपशमिकभावमुपगतमित्ययं सम्यग्ज्ञानावाप्तिलक्षणः सन्धिः, अथवा चारित्रमोहनीयक्षयोपशमात्मकः सन्धिस्तं ज्ञात्वा न प्रमादः श्रेयानिति, यथा हि लोकस्य चारकाद्यवरुद्धस्य कुड्यनिगडादीनां सन्धि–छिद्रं ज्ञात्वोपलभ्य न प्रमादः श्रेयान्, एवं मुमुक्षोरपि कर्म-विवरमासाद्य लवक्षणमपि पुत्रकलत्रसंसारसुखव्यामोहो न श्रेयसे भवतीति, यदिवा सन्धानं सन्धिः, स च भावसन्धिर्ज्ञा-नदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्म्मोदयात् त्रुट्यतः पुनः सन्धानं–मीलनम्, एतत्क्षायोपशमिकादिभावलोकस्य विभक्तिपरिणा-माद्वा लोके ज्ञानदर्शनचारित्रार्हं भावसन्धिं ज्ञात्वा तदक्षुण्णप्रतिपालनाय विधेयमिति, यदिवा सन्धिः–अवसरो धर्मानु-ष्ठानस्य तं ज्ञात्वा लोकस्य–भूतग्रामस्य दुःखोत्पादनानुष्ठानं न कुर्यात् । सर्वत्रात्मौपम्यं समाचरेदित्याह—'आयओ' इत्यादि, यथा ह्यात्मनः सुखमिष्टमितरत्त्वन्यथा तथा बहिरपि–आत्मनो व्यतिरिक्तानामपि जन्तूनां सुखप्रियत्वमसुखाप्रि-यत्वं च 'पश्य' अवधारय । तदेवमात्मसमतां सर्वप्राणिनामवधार्य किं कर्त्तव्यमित्याह—'तम्हा' इत्यादि, यस्मात्सर्वेऽपि जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्तस्मात्तेषां 'न हन्ता' न व्यापादकः स्यान्नाप्यपरैस्तान् जन्तून् विविधैः–नानाप्रकारैरुपा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यैर्घातयेत् विघातयेदिति, यद्यपि कांश्चित् स्थूलान् सत्त्वान् स्वयं पाषण्डिनो न घ्नन्ति तथाऽप्यौद्देशिकसन्निध्यादिपरिभोगानुमतेरपरैर्घातयन्ति । न चैकान्तेन पापकर्म्माकरणमात्रतया श्रमणो भवतीति दर्शयति–'जमिण' मित्यादि, यदिदं–यदेतत् पापकर्म्माकरणताकारणं, किं तद्?, दर्शयति–अन्योऽन्यस्य परस्परं या विचिकित्सा–आशङ्का परस्परतो भयं लज्जा वा तया तां वा प्रत्युपेक्ष्य परस्पराशङ्क्याऽपेक्षया वा पापं–पापोपादानं कर्म्मानुष्ठानं 'न करोति' न विधत्ते, किं प्रश्ने क्षेपे वा, 'तत्र' तस्मिन् पापकर्म्माकरणे किं मुनिः कारणं स्यात्?, किं मुनिरितिकृत्वा पापकर्म्म न करोति?, काक्वा पृच्छति, यदिवा यदि नामासौ यथोक्तनिमित्तात्पापानुष्ठानविधायी न सज्ज्ञे किमेतावतैव मुनिरसौ?, नैव मुनिरित्यर्थः, अद्रोहाध्यवसायो हि मुनिभावकारणं, स च तत्र न विद्यते, अपरोपाध्यावेशात्, विनेयो वा पृच्छति–यदिदं परस्पराशङ्क्या आधाकर्म्मादिपरिहरणं तन्मुनिभावाङ्गतां यात्याहोस्विन्नेति?, आचार्य आह–सौम्य! निरस्तापरव्यापारः शृणु—'जमिण'–मित्यादि, (अपरोपाधिनिरस्तहेयव्यापारत्वमेव मुनिभावकारणमिति भावार्थः, यतः शुभान्तःकरणपरिणामव्यापारापादितक्रियस्य मुनिभावो नान्यथेति, अयं तावन्निश्चयनयाभिप्रायो व्यवहाराभिप्रायेण तूच्यते–यो हि सम्यग्दृष्टिरुत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारस्तद्वहने प्रमाद्यन्नप्यपरसमानसाधुलज्जया गुर्व्वाद्याराध्यभयेन गौरवेण वा केनचिदाधाकर्म्मादि परिहरन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः करोति, यदि च तीर्थोद्भासनाय मासक्षपणातापनादिका अनविज्ञाताः क्रियाः करोति, तत्र तस्य मुनिभाव एव कारणं, तद्व्यापारापादितपारम्पर्यशुभाध्यवसायोपपत्तेः ॥ तदेवं शुभान्तःकरणव्यापारविकलस्य मुनित्वे सदसद्भावः प्रदर्शितः, कथं तर्हि नैश्चयिको मुनिभाव इत्यत आह—

॥ १६५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११६] गाथा-१

दीप अनुक्रम [१२६+१२७]

समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए–अणन्नपरमं नाणी, नो पमाए कयाइवि । आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाइ जावए ॥ १ ॥ विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा महया खुड्डएहि य, आगइं गइं परिण्णाय दोहिवि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हंमइ कंचणं सव्वलोए (सू० ११६)

समभावः समता तां तत्रोत्प्रेक्ष्य–पर्यालोच्य समताव्यवस्थितो यद्यत्करोति येन केनचित्प्रकारेणानेषणीयपरिहरणं लज्जादिना जनविदितं चोपवासादि तत्सर्वं मुनिभावकारणमिति, (यदिवा समयम्–आगमं तत्रोत्प्रेक्ष्य यदागमोक्तविधिनानुष्ठानं तत्सर्वं मुनिभावकारणमिति भावार्थः,) तेन चागमोत्प्रेक्षणेन समतोत्प्रेक्षया वाऽऽत्मानं 'विप्रसादयेद्' विविधं प्रसादयेदागमपर्यालोचनेन समतादृष्ट्या वा आत्मानं विविधैरुपायैरिन्द्रियप्रणिधानाप्रमादादिभिः प्रसन्नं विदध्याद् । आत्मप्रसन्नता च संयमस्थस्य भवति, तत्राप्रमादवता भाव्यमित्याह च—'अणण्णपरम'मित्याद्यनुष्टुप्, न विद्यतेऽन्यः परमः–प्रधानोऽस्मादित्यनन्यपरमः–संयमस्तं 'ज्ञानी' परमार्थवित् 'नो प्रमादयेत्' तस्य प्रमादं न कुर्यात्कदाचिदपि, यथा चाप्रमादवत्ता भवति तथा दर्शयितुमाह—'आयगुत्ते' इत्यादि, इन्द्रियनोइन्द्रियात्मना गुप्तः आत्मगुप्तः 'सदा' सर्वकालं यात्रा–संयमयात्रा तस्यां मात्रा यात्रामात्रा, मात्रा च 'अन्नाहारो न सहे' इत्यादि, तयाऽऽत्मानं यापयेद्यथा विषयानुदीरणेन दीर्घकालं संयमाधारदेहप्रतिपालनं भवति तथा कुर्यादित्युक्तं भवति, उक्तं च–"आहारार्थं कर्म्म कुर्यादनिन्द्यं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११६] गाथा-१

दीप अनुक्रम [१२६+१२७]

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

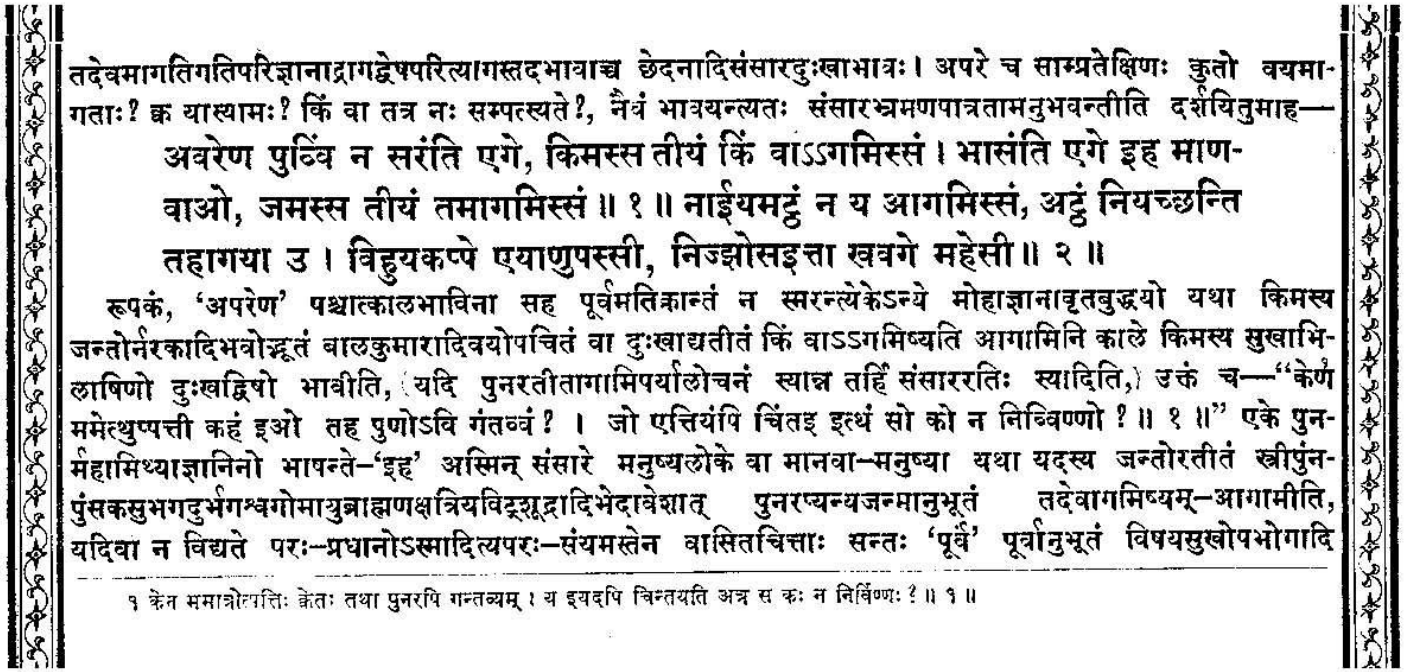
॥ १६६ ॥

स्यादाहारः प्राणसन्धारणार्थम् । प्राणाः धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनाय, तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात् ॥ १ ॥" सैवात्मगुप्तता कथं स्यादिति चेदाह—'विराग' मित्यादि, विरञ्जनं विरागस्तं विरागं रूपेषु मनोज्ञेषु चक्षुर्गोचरीभूतेषु 'गच्छेद्' यायात्, रूपमतीवाऽऽक्षेपकारी अतो रूपग्रहणम्, अन्यथा शेषविषयेष्वपि विरागं गच्छेदित्युक्तं स्यात्, महता–दिव्यभावेन यद्व्यवस्थितं रूपं क्षुल्लकेषु वा मनुष्यरूपेषु सर्वत्र विरागं कुर्यादिति, अथवा दिव्यादि प्रत्येकं महत् क्षुल्लं चेति क्रिया पूर्ववत्, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"विसयंमि पंचगंमीवि, दुविहंमि तियं तियं । भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसुवि ॥ १ ॥" शब्दादिविषयपञ्चकेऽपि इष्टानिष्टरूपतया द्विविधे हीनमध्यमोत्कृष्टभेदमित्येतत् भावतः–परमार्थतः सुष्ठु ज्ञात्वा स मुनिः पापेन कर्म्मणा द्वाभ्यामपि–रागद्वेषाभ्यां न लिप्यते , तदकरणादिति भावः, स्यात्–किमालम्ब्यैतत्कर्त्तव्यमित्याह—'आगइ' मित्यादि, आगमनम्–आगतिः सा च तिर्यङ्मनुष्ययोश्चतुर्द्धा, चतुर्विधनरकादिगत्यागमनसद्भावाद्, देवनारकयोर्द्वेधा, तिर्यग्मनुष्यगतिभ्यामेवागमनसद्भावाद्, एवं देवगतिरपि, मनुष्येषु तु पञ्चधा, तत्र मोक्षगतिसद्भावाद्, अतस्तामागतिं गतिं च परिज्ञाय संसारचक्रवालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायमवेत्य मनुष्यत्वे च मोक्षगतिसद्भावमाकलय्यान्तहेतुत्वादन्तौ–रागद्वेषौ ताभ्यां द्वाभ्यामन्ताभ्यामदृश्यमानाभ्यामनपदिश्यमानाभ्यां वा, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियामाह—'से' इत्यादि, सः–आगतिगतिपरिज्ञाता रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो न छिद्यतेऽस्यादिना न भिद्यते कुन्तादिना न दह्यते पावकादिना न हन्यते नरकगत्यानुपूर्व्यादिना बहुशः, अथवा रागद्वेषाभावात् सिद्धत्वेव, तदवस्थस्य चैतानि छेदनादीनि विशेषणानि 'कंचण' मिति विभक्तिपरिणामात् केनचित्सर्वस्मिन्नपि लोके न छिद्यते नापि भिद्यते रागद्वेषोपशमादिति,

शीतो० ३ उद्देशकः ३

॥ १६६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



तदेवमागतिगतिपरिज्ञानाद्रागद्वेषपरित्यागस्तदभावाच्च छेदनादिसंसारदुःखाभावः। अपरे च साम्प्रतेक्षिणः कुतो वयमागताः? क्व यास्यामः? किं वा तत्र नः सम्पत्स्यते?, नैवं भावयन्त्यतः संसारभ्रमणपात्रतामनुभवन्तीति दर्शयितुमाह—

अवरेण पुव्विं न सरंति एगे, किमस्स तीयं किं वाऽऽगमिस्सं। भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमागमिस्सं॥ १॥ नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छन्ति तहागया उ। विहुयकप्पे एयाणुपस्सी, निज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥ २॥

रूपकं, 'अपरेण' पश्चात्कालभाविना सह पूर्वमतिक्रान्तं न स्मरन्त्येकेऽन्ये मोहाज्ञानावृतबुद्धयो यथा किमस्य जन्तोर्नरकादिभवोद्भूतं बालकुमारादिवयोपचितं वा दुःखाद्यतीतं किं वाऽऽगमिष्यति आगामिनि काले किमस्य सुखाभिलाषिणो दुःखद्विषो भावीति, (यदि पुनरतीतागामिपर्यालोचनं स्यान्न तर्हि संसाररतिः स्यादिति,) उक्तं च—"केणं ममेत्थुप्पत्ती कहं इओ तह पुणोऽवि गंतव्वं?। जो एत्तियंपि चिंतइ इत्थं सो को न निव्विण्णो?॥ १॥" एके पुनर्महामिथ्याज्ञानिनो भाषन्ते–'इह' अस्मिन् संसारे मनुष्यलोके वा मानवा–मनुष्या यथा यदस्य जन्तोरतीतं स्त्रीपुंनपुंसकसुभगदुर्भगश्वगोमायुब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रादिभेदावेशात् पुनरप्यन्यजन्मानुभूतं तदेवागमिष्यम्–आगामीति, यदिवा न विद्यते परः–प्रधानोऽस्मादित्यपरः–संयमस्तेन वासितचित्ताः सन्तः 'पूर्वं' पूर्वानुभूतं विषयसुखोपभोगादि

१ केन ममात्रोत्पत्तिः कुतः तथा पुनरपि गन्तव्यम्। य इयदपि चिन्तयति अत्र स कः न निर्विण्णः?॥ १॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'न स्मरन्ति' न तदनुस्मृतिं कुर्वते, एके रागद्वेषविप्रमुक्ताः, तथाऽनागतदिव्याङ्गनाभोगमपि नाकाङ्क्षन्ति, किं च–अस्य जन्तोरतीतं सुखदुःखादि किं वाऽऽगमिष्यम्–आगामीत्येतदपि न स्मरन्ति, यदिवा कियान् कालोऽतिक्रान्तः कियानेष्यति, लोकोत्तरास्तु भाषन्ते–एके रागद्वेषरहिताः केवलिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वा यदस्य जन्तोरनादिनिधनत्वात् कालशरीरसुखाद्यतीतमागामिन्यपि तदेवेति, अपरे तु पठन्ति—"अवरेण पुव्वं किह से अतीतं, किह आगमिस्सं न सरंति एगे। भासन्ति एगे इह माणवाओ, जह स अईअं तह आगमिस्सं ॥ १ ॥" अपरेण–जन्मादिना सार्द्धं पूर्वम्–अतिक्रान्तं जन्मादि न स्मरन्ति, 'कथं वा' केन वा प्रकारेणातीतं सुखदुःखादि, कथं चैष्यमित्येतदपि न स्मरन्ति, एके भाषन्ते–किमत्र ज्ञेयं?, यथैवास्य रागद्वेषमोहसमुत्थैः कर्म्मभिर्बद्ध्यमानस्य जन्तोस्तद्विपाकांश्चानुभवतः संसारस्य यदतिक्रान्तमागाम्यपि तत्प्रकारमेवेति, यदिवा प्रमादविषयकषायादिना कर्म्माण्युपचित्येष्टानिष्टविषयाननुभवतः सर्वज्ञवाक्सुधास्वादासंविदो यथा संसारोऽतिक्रान्तस्तथागाम्यपि यास्यति, ये तु पुनः संसारार्णवतीरभाजस्ते पूर्वोक्तरवेदिन इत्येतदर्शयितुमाह—'नाईय' मित्यादि, तथैव–अपुनरावृत्त्या गतं–गमनं येषां ते तथागताः–सिद्धाः, यदिवा यथैव ज्ञेयं तथैव गतं–ज्ञानं येषां ते तथागताः–सर्वज्ञाः, ते तु नातीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छन्ति–अवधारयन्ति नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात् परिणतेः, पुनरर्थग्रहणं पर्यायरूपार्थं, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति, यदिवा नातीतमर्थं विषयभोगादिकं नाप्यनागतं दिव्याङ्गनासङ्गादिकं स्मरन्त्यभिलषन्ति वा, के?, तथागताः–रागद्वेषाभावात् पुनरावृत्तिरहिताः, तुशब्दो विशेषमाह, यथा मोहोदयादेके पूर्वमागामि वाऽभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति। तन्मा-

॥ १६७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गौनुयाय्यप्येवम्भूत एवेति दर्शयितुमाह—'विहूय कप्पे' इत्यादि, विविधम्–अनेकधा धूतम्–अपनीतमष्टप्रकारं कर्म्म येन स विधूतः, कोऽसौ ? कल्पः–आचारो, विधूतः कल्पो यस्य साधोः स विधूतकल्पः स एतदनुदर्शी भवति, अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीतियावत्, एतदनुदर्शी च किंगुणो भवतीत्याह—'निज्झोस' इत्यादि, पूर्वोपचितकर्म्मणां निर्ज्झोषयिता–क्षपकः क्षपयिष्यति वा तृजन्तमेतल्लुडन्तं वा। कर्म्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्म्मध्यायिनः शुक्लध्यायिनो वा महायोगीश्वरस्य निरस्तसंसारसुखदुःखविकल्पाभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति—

का अरई के आणंदे?, इत्थंपि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिच्चज्ज आलीणगुत्तो परिव्वए, पुरिसा!–तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ? (सू० ११७)

इष्टाप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो विकारोऽरतिः, अभिलषितार्थावाप्तावानन्दः, योगिचित्तस्य तु धर्म्मशुक्लध्यानावेशावष्टब्धध्येयान्तरावकाशस्यारत्यानन्दयोरुपादानकारणाभावादनुत्थानमेवेत्यतोऽपदिश्यते–केयमरतिर्नाम को वाऽऽनन्द इति ?, नास्त्येवेतरजनक्षुण्णोऽयं विकल्प इति। एवं तर्ह्यरतिरसंयमे संयमे चानन्द इत्येतदन्यत्रानुमतमनेनाभिप्रायेण न विधेयमित्येतदनिच्छतोऽप्यापन्नमिति चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानाद् यतोऽत्रारतिरतिविकल्पाध्यवसायो निषिषित्सितः, न प्रसङ्गायाते अप्यरतिरती, तदाह—'एत्थंपी'त्यादि, अत्राप्यरतावानन्दे चोपसर्जनप्राये न विद्यते 'ग्रहो' गार्द्धं तात्पर्यं यस्य सोऽग्रहः, स एवम्भूतश्चरेद्–अवतिष्ठेत, इदमुक्तं भवति–शुक्लध्यानादारतोऽरत्यानन्दौ कुतश्चिन्नि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११७]

दीप अनुक्रम [१३०]

मित्तादायातौ तदाग्रहग्रहरहितस्तावप्यनुचरेदिति । पुनरप्युपदेशदानायाह—'सव्व' मित्यादि, (सर्वं हास्यं तदास्पदं वा परित्यज्याङ्—मर्यादयेन्द्रियनिरोधादिकया लीनः आलीनो गुप्तो मनोवाक्कायकर्म्मभिः कूर्म्मवद्वा संवृतगात्रः,)आलीनश्चासौ गुप्तश्चालीनगुप्तः स एवम्भूतः परिः–समन्ताद्व्रजेत् परिव्रजेत्–संयमानुष्ठानविधायी भवेदिति । तस्य च मुमुक्षोरात्मसामर्थ्यात् संयमानुष्ठानं फलवद्भवति न परोपरोधेनेति दर्शयति—'पुरिसा' इत्यादि, यदिवा त्यक्तगृहपुत्रकलत्रधनधान्यहिरण्यादितया अकिञ्चनस्य समतृणमणिमुक्तालेष्टुकाञ्चनस्य मुमुक्षोरुपसर्गव्याकुलितमतेः कदाचिन्मित्राद्याशंसा भवेत्तदपनोदार्थमाह—'पुरिसा' इत्यादि, पूर्णः सुखदुःखयोः पुरि शयनाद्वा पुरुषो–जन्तुः, पुरुषद्वारामन्त्रणं तु पुरुषस्यैवोपदेशार्हत्वात्तदनुष्ठानसमर्थत्वाच्चेति, कश्चित्संसारादुद्विग्नो विषमस्थितो वाऽऽत्मानमनुशास्ति, परेण वा साध्वादिनाऽनुशास्यते–यथा हे पुरुष–हे जीव ! तव सदनुष्ठानविधायित्वात्त्वमेव मित्रं, विपर्ययाच्चामित्रः, किमिति बहिर्मित्रमिच्छसि ?–मृगयसे, यतो ह्युपकारि मित्रं, स चोपकारः पारमार्थिकात्यन्तिकैकान्तिकगुणोपेतं सन्मार्गपतितमात्मानं विहाय नान्येन शक्यो विधातुं, योऽपि संसारसाहाय्योपकारितया मित्राभासाभिमानस्तन्मोहविजृम्भितं, यतो महाव्यसनोपनिपातार्णवपतनहेतुत्वादमित्र एवासौ, इदमुक्तं भवति–आत्मैवात्मनोऽप्रमत्तो मित्रम्, आत्यन्तिकैकान्तिकपरमार्थसुखोत्पादनात्, विपर्ययाच्च विपर्ययो, न बहिर्मित्रमन्वेष्टव्यमिति, यस्त्वयं बाह्यो मित्रामित्रविकल्पः सोऽदृष्टोदयनिमित्तत्वादौपचारिक इति, उक्तं हि—"दुप्पत्थिओ अमित्तं अप्पा सुपत्थिओ अ ते मित्तं । सुहदुक्खकारणाओ

१ दुष्प्रस्थितोऽमित्र आत्मा सुप्रस्थितश्च ते मित्रम् । सुखदुःखकारणात् आत्मा मित्रममित्रश्च ॥ १ ॥

॥ १६८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अप्पा मित्तं अमित्तं च ॥ १ ॥" तथा—"अप्येकं मरणं कुर्यात्, संक्रुद्धो बलवानरिः । मरणानि त्वनन्तानि, जन्मानि च करोत्ययम् ॥ १ ॥" यो हि निर्वाणनिर्वर्त्तकं व्रतमाचरति स आत्मनो मित्रं, स चैवम्भूतः कुतोऽवगन्तव्यः ? किंफलश्चेत्याह—

जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा ! अत्ताणमेवं अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ, सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ (सू० ११८)

'यं' पुरुषं 'जानीयात्' परिच्छिन्द्यात्कर्म्मणां विषयसङ्गानां चोच्चालयितारम्–अपनेतारं तं जानीयाद् 'दूरालयिक'मिति, दूरे सर्वहेयधर्म्मेभ्य इत्यालयो दूरालयः–मोक्षस्तन्मार्गो वा स विद्यते यस्येति मत्वर्थीयष्ठन् दूरालयिकस्तमिति, हेतुहेतुमद्भावं दर्शयितुं गतप्रत्यागतसूत्रमाह—'जं जाणेज्जे'त्यादि, यं जानीयादूरालयिकं तं जानीयादुच्चालयितारमिति, एतदुक्तं भवति–यो हि कर्म्मणां तदास्रवद्वाराणां चोच्चालयिता–अपनेता स मोक्षमार्गव्यवस्थितो मुक्तो वेति, यो वा सन्मार्गानुष्ठायी स कर्म्मणामुच्चालयितेति, स च आत्मनो मित्रमतोऽपदिश्यते—'पुरिसा' इत्यादि, हे जीव ! आत्मानमेवाभिनिगृह्य धर्म्मध्यानाद्बहिर्विषयाभिष्वङ्गाय निःसरन्तमवरुध्य ततः 'एवम्' अनेन प्रकारेण दुःखात्सकाशादात्मानं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमोक्ष्यसि, एवमात्मा कर्म्मणां उच्चालयिताऽऽत्मनो मित्रं भवति । अपि च—'पुरिसा' इत्यादि, हे पुरुष! सन्द्यो हितः सत्यः–संयमस्तमेवापरव्यापारनिरपेक्षः समभिजानीहि–आसेवनापरिज्ञया समनुतिष्ठ, यदिवा सत्यमेव समभिजानीहि–गुरुसाक्षिगृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहको भव, यदिवा सत्यः–आगमस्तत्परिज्ञानं च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालनं । किमर्थमेतदिति चेदाह—'सच्चस्से'त्यादि, सत्यस्य–आगमस्याज्ञयोपस्थितः सन् मेधावी 'मारं' संसारं तरति, किं च—'सही'त्यादि, सहितो–ज्ञानादियुक्तः सह हितेन वा युक्तः सहितः 'धर्म्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'आदाय' गृहीत्वा, किं करोतीत्याह—'श्रेयः' पुण्यमात्महितं वा सम्यग्–अविपरीततयाऽनुपश्यति समनुपश्यति । उक्तोऽप्रमत्तः तद्गुणाश्च, तद्विपर्ययमाह—

दुहओ जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जंसि एगे पमायंति (११९)

द्विधा–रागद्वेषप्रकारद्वयेनात्मपरनिमित्तमैहिकामुष्मिकार्थं वा यदिवा द्वाभ्यां–रागद्वेषाभ्यां हतो द्विहतो दुष्टं हतो वा दुर्हतः, स किं कुर्याद्?–जीवितस्य कदलीगर्भनिःसारस्य तडिल्लतासमुल्लसितचञ्चलस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्त्तते, परिवन्दनं–परिसंस्तवस्तदर्थमाचेष्टते, लावकादिमांसोपभोगपुष्टं सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरमालोक्य मां जनाः सुखमेव परिवन्दिष्यन्ते, श्रीमान् जीयास्त्वं बहूनि वर्षशतसहस्राणीत्येवमादि परिवन्दनं, तथा माननार्थं कर्म्मोपचिनोति, दृष्टौरसबलपराक्रमं मामन्येऽभ्युत्थानविनयासनदानाञ्जलिप्रग्रहैर्माननविष्यन्तीत्यादि माननं, तथा पूजनार्थमपि प्रवर्त्तमानाः कर्मास्रवैरात्मानं भावयन्ति, मम हि कृतविद्यस्योपचितद्रव्यप्राग्भारस्य परो दानमानसत्कारप्रणामसेवाविशेषैः पूजां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करिष्यतीत्यादि पूजनं, तदेवमर्थं कर्मोपचिनोति । किं च—'जंसि एगे'इत्यादि, यस्मिन् परिवन्दनादिनिमित्ते एके राग-द्वेषोपहताः प्रमाद्यन्ति, न ते आत्मने हिताः ॥ एतद्विपरीतं त्वाह—

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुच्चइ (१२०) त्तिबेमि ॥ तृतीय उद्देशो ३–३ ॥

सहितो–ज्ञानादिसमन्वितो हितयुक्तो वा दुःखमात्रया उपसर्गजनितया व्याध्युद्भवया वा स्पृष्टः सन् 'नो झंझाए'त्ति नो व्याकुलितमतिर्भवेत्, तदपनयनाय नोद्यच्छेद्, इष्टविषयावाप्तौ रागझञ्झाऽनिष्टावाप्तौ च द्वेषझञ्झेति, तामुभयप्र-कारामपि व्याकुलतां परित्यजेदिति भावः । किं च—'पासिम' मित्यादि, यदुक्तमुद्देशकादेरारभ्यानन्तरसूत्रं यावत् तमि-ममर्थं पश्य–परिच्छिन्द्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्यतया विवेकेनावधारय, कोऽसौ ?–द्रव्यभूतो–मुक्तिगमनयोग्यः साधुरित्यर्थः, एवम्भूतश्च कं गुणमवाप्नोति ?–आलोक्यत इत्यालोकः, कर्म्मणि घञ्, लोके चतुर्दशरज्वात्मके आलोको लोकालोक-स्तस्य प्रपञ्चः–पर्याप्तकापर्याप्तकसुभगादिद्वन्द्वविकल्पः, तद्यथा–नारको नारकत्वेनावलोक्यते, एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रिय-(यादि)त्वेन, एवं पर्याप्तकापर्याप्तकाद्यपि वाच्यं, तदेवम्भूतात्प्रपञ्चान्मुच्यते–चतुर्दशजीवस्थानान्यतरव्यपदेशार्हो न भवतीतियावद् । इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ इति शीतोष्णीयाध्ययने तृतीयोद्देशकटीका समाप्ता ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१२१]

दीप अनुक्रम [१३४]

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके पापकर्म्माकरणतया दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणो न भवतीति अपि तु निष्प्रत्यूहसंयमानुष्ठानादित्येतत्प्रतिपादितं, निष्प्रत्यूहता च कषायवमनाद्भवति, तदधुना प्रागुद्देशार्थाधिकारनिर्दिष्टं प्रतिपाद्यते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि (सू० १२१)

'स' ज्ञानादिसहितो दुःखमात्रास्पृष्टोऽव्याकुलितमतिर्द्रव्यभूतो लोकालोकप्रपञ्चात् मुक्तदेश्यः स्वपरापकारिणं क्रोधं च वमिता 'टुवम् उद्गिरणे' इत्यस्मात्ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे च षष्ठ्याः प्रतिषेधे क्रोधशब्दाद् द्वितीया, लुडन्तं वैतत्, यो हि यथोक्तसंयमानुष्ठायी सोऽचिरात् क्रोधं वमिष्यति, एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवमायोज्यं, तत्रात्मात्मीयोपघातकारिणि क्रोधकर्म्मविपाकोदयात्क्रोधः, जातिकुलरूपबलादिसमुत्थो गर्वो मानः, परवञ्चनाध्यवसायो माया, तृष्णापरिग्रहपरिणामो लोभः, क्षपणोपशमक्रममाश्रित्य च क्रोधादिक्रमोपन्यासः, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनस्वगतभेदाविर्भावनाय व्यस्तनिर्देशः, चशब्दस्तु पर्वतपृथ्वीरेणुजलराजिलक्षणलक्षकः क्रोधस्य, शैलस्तम्भास्थिकाष्ठतिनिशलतालक्षणलक्षको मानस्य, वंशकुडङ्गीमेषशृङ्गगोमूत्रिकाऽवलेखकलक्षणलक्षको मायायाः, कृमिरागकर्दमखञ्ज-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय-अध्ययने चतुर्थ-उद्देशक: 'कषायवमन' आरब्ध:,

नहरिद्रालक्षणसूचको लोभस्य, तथा यावज्जीवसंवत्सरचातुर्मासपक्षस्थित्याविर्भावकश्चेति । तदेवं क्रोधमानमायालोभवमनादेव पारमार्थिकः श्रमणभावो, न तत्सम्भवे सति, यत उक्तम्–सामण्णमणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा हुंति । मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामण्णं ॥ १ ॥ जं अज्जिअं चरित्तं देसूणाएवि पुव्वकोडीए । तंपि कसाइयमेत्तो हारेइ नरो मुहुत्तेणं ॥ २ ॥" । स्वमनीषिकापरिहारार्थं गौतमस्वाम्याह—'एय' मित्यादि, 'एतद्' यत्कषायवमनमनन्तरमुपादेशि तत् 'पश्यकस्य दर्शनं' सर्वं निरावरणत्वात्पश्यति–उपलभत इति पश्यः स एव पश्यकः–तीर्थकृत् श्रीवर्द्धमानस्वामी तस्य दर्शनम्–अभिप्रायो यदिवा दृश्यते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्–उपदेशो, न स्वमनीषिका, किम्भूतस्य पश्यकस्य दर्शनमित्याह—'उवरय' इत्यादि, उपरतं द्रव्यभावशस्त्रं यस्यासावुपरतशस्त्रः शस्त्राद्धोपरतः शस्त्रोपरतः, भावे शस्त्रं त्वसंयमः कषाया वा, तस्मादुपरतः, इदमुक्तं भवति–तीर्थकृतोऽपि कषायवमनमृते न निरावरणसकलपदार्थग्राहिपरमज्ञानावाप्तिः, तदभावे च सिद्धिवधूसमागमसुखाभावः, एवमन्येनापि मुमुक्षुणा तदुपदेशवर्त्तिना तन्मार्गानुयायिना कषायवमनं विधेयमिति, शस्त्रोपरमकार्यं दर्शयन् पुनरपि तीर्थकरविशेषणमाह—'पलियंतकरस्स' पर्यन्तं कर्म्मणां संसारस्य वा करोति तच्छीलश्चेति पर्यन्तकरस्तस्यैतद् दर्शनमिति सण्टङ्कः । यथा च तीर्थकृत् संयमापकारिकषायशस्त्रोपरमात्कर्म्मपर्यन्तकृदेवमन्योऽपि तदुक्तानुसारीति दर्शयितुमाह—'आयाण' मित्यादि, आदीयते–गृह्यते

१ श्रामण्यमनुचरतः कषाया यस्योत्कटा भवन्ति । मन्ये इक्षुपुष्पवत् निष्फलं तस्य श्रामण्यम् ॥ १ ॥ यदर्जितं चारित्रं देशोनयाऽपि पूर्वकोट्या । तदपि कषायितमात्रो हारयति नरो मुहूर्त्तेन ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ १७१ ॥

आत्मप्रदेशैः सह श्लिष्यतेऽष्टप्रकारं कर्म्म येन तदादानं–हिंसाद्याश्रवद्वारमष्टादशपापस्थानरूपं वा तत्स्थितेर्निमित्तत्वात्कषाया वाऽऽदानं तद्गमिता स्वकृतभिद्भवति, स्वकृतमनेकजन्मोपात्तं कर्म्म भिनत्तीति स्वकृतभित्, यो ह्यादानं कर्म्मणां कषायादि निरुणद्धि सोऽपूर्वकर्म्मप्रतिषिद्धप्रवेशः स्वकृतकर्म्मणां भेत्ता भवतीति भावः, तीर्थकरोपदेशेनापि परकृतकर्म्मक्षपणोपायाभावात् स्वकृतग्रहणं, तीर्थकरेणापि परकृतकर्म्मक्षपणोपायो न व्यज्ञायीति चेत्, तन्न, तज्ज्ञानस्य सकलपदार्थसत्ताव्यापित्वेनावस्थानात् ॥ ननु च हेयोपादेयपदार्थहानोपादानोपदेशज्ञोऽसौ न सर्वज्ञ इति सङ्गिरामहे, एतावतैव परोपकारकर्तृत्वेन तीर्थकरत्वोपपत्तेः, तदेतन्न सतां मनांस्यानन्दयति, युक्तिविकलत्वात्, यतः सम्यग्ज्ञानमन्तरेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेशासम्भवो, यथावस्थितैकपदार्थपरिच्छेदश्च न सर्वज्ञतामन्तरेणेति दर्शयितुमाह—

शीतो० ३ उद्देशकः ४

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ (सू० १२२)

'यः' कश्चिदविशेषितः 'एकं' परमाण्वादि द्रव्यं पश्चात्पुरस्कृतपर्यायं स्वपरपर्यायं वा 'जानाति' परिच्छिनत्ति स सर्वं स्वपरपर्यायं जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्यपरिज्ञानस्य समस्तवस्तुपरिच्छेदाविनाभावित्वाद्, इदमेव हेतुहेतुमद्भावेन लगयितुमाह—'जे सव्व' मित्यादि, यः सर्वं संसारोदरविवरवर्त्ति वस्तु जानाति स एकं घटादि वस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागतपर्यायभेदैस्तत्तत्स्वभावापत्त्याऽनाद्यनन्तकालतया समस्तवस्तुस्वभावगमनादिति, तदुक्तम्—"एगदवियस्स जे

॥ १७१ ॥

१ एकद्रव्यस्य येऽर्थपर्यवा वचनपर्यवा वाऽपि । तीतानागत भूता(वर्त्तमाना) तावत्तद् भवति द्रव्यम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्थपज्जवा वयणपज्जवा वावि। तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ १ ॥" तदेवं सर्वज्ञस्तीर्थकृत्, सर्वज्ञश्च सम्भविनमेव सर्वसत्त्वोपकारिणमुपदेशं ददातीति दर्शयति—

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं, जे एगं नामे से बहुं नामे, जे बहुं नामे से एगं नामे, दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति, नावकंखंति जीवियं (सू० १२३)

सर्वतः–सर्वप्रकारेण द्रव्यादिना यद्भयकारि कर्म्मोपादीयते ततः 'प्रमत्तस्य' मद्यादिप्रमादवतो 'भयं' भीतिः, तद्यथा–प्रमत्तो हि कर्म्मोपचिनोति द्रव्यतः सर्वैरात्मप्रदेशैः क्षेत्रतः षड्दिग्व्यवस्थितं कालतोऽनुसमयं भावतो हिंसादिभिः, यदिवा 'सर्वत्र' सर्वतो भयमिहामुत्र च, एतद्विपरीतस्य च नास्ति भयमिति, आह च—'सव्वओ' इत्यादि, 'सर्वतः' ऐहिकामुष्मिकापायाद् 'अप्रमत्तस्य' आत्महितेषु जाग्रतो नास्ति भयं संसारापसदात्सकाशात्कर्म्मणो वा, अप्रमत्तता च कषायाभावाद्भवति, तदभावाच्चाशेषमोहनीयाभावः, ततोऽप्यशेषकर्म्मक्षयः, तदेवमेकाभावे सति बहूनामभावसम्भवः, एकाभावोऽपि बहूवभावानान्तरीयक इत्येवं गतप्रत्यागतसूत्रेण हेतुहेतुमद्भावं दर्शयितुमाह—'जे एग' मित्यादि, यो हि प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायाधिरूढकण्डकः एकम्–अनन्तानुबन्धिनं क्रोधं 'नामयति' क्षपयति स बहूनपि मानादीन्नामयति –क्षपयति अप्रत्याख्यानादीन् वा स्वभेदान्नामयति, मोहनीयं चैकं यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति, यो वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहून् स्थितिशेषान्नामयति सोऽनन्तानुबन्धिनमेकं नामयति मोहनीयं वा, तथाहि–एकोनसप्ततिभिर्मोहनीयकोटीकोटिभिः क्षयमुपागताभिः ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायाणामेकोनत्रिंशद्भिः नामगोत्रयोरेकोनविंशतिभिः शेषकोटीकोट्याऽपि देशोनया मोहनीयक्षपणार्हो भवति, नान्य इत्यतोऽपदिश्यते–यो बहुनामः स एव परमार्थत एकनाम इति, नाम इति क्षपकोऽभिधीयते उपशामको वा, उपशमश्रेण्याश्रयेणैकबहूपशमता बहूनेकोपशमता वा वाच्येति, तदेवं बहूनेककर्म्माभावमन्तरेण मोहनीयक्षयस्योपशमस्य वाऽभावः, तदभावे च जन्तूनां बहुदुःखसम्भव इति दर्शयति—'दुक्ख' मित्यादि, 'दुःखम्' असातोदयस्तत्कारणं वा कर्म्म तत् 'लोकस्य' भूतग्रामस्य ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च यथा तदभावो भवति तथा विदध्यात्, कथं तदभावः? का वा तदभावे गुणावाप्तिरित्युभयमपि दर्शयितुमाह—'वंता' इत्यादि, 'वान्त्वा' त्यक्त्वा लोकस्य–आत्मव्यतिरिक्तस्य धनपुत्रशरीरादेः 'संयोगं' ममत्वपूर्वकं सम्बन्धं शारीरदुःखादिहेतुं तद्धेतुकर्म्मोपादानकारणं वा 'यान्ति' गच्छन्ति 'धीराः' कर्म्मविदारणसहिष्णवः यान्त्यनेन मोक्षमिति यानं –चारित्रं तच्चानेकभवकोटिदुर्लभं लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविधकर्म्मोदयात् स्वप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद्यानं च महायानं, यदिवा महद्यानं–सम्यग्दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो–मोक्षस्तं यान्तीति सम्बन्धः । स्यात्–किमेकेनैव भवेनावाप्तमहायानदेश्यचारित्रस्य मोक्षावाप्तिरुत पारम्पर्येण?, उभयथाऽपि ब्रूमः, तद्यथा–अवाप्ततद्योग्यक्षेत्रकालस्य लघुकर्म्मणस्तेनैव भवेन मुक्त्यवाप्तिरपरस्य त्वन्यथेति दर्शयति—परेण पर' मित्यादि, सम्यक्त्वप्रतिषिद्धनरकगतितिर्य्यग्गतयो ज्ञानावाप्तियथाशक्तिप्रतिपालितसंयमा आयुषः क्षयात् सौधर्म्मादिकं देवलोकमवाप्नु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वन्ति, ततोऽपि पुण्यशेषतया कर्म्मभूम्यार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्त्यारोग्यश्रद्धाश्रवणसंयमादिकमवाप्य विशिष्टतरं स्वर्गमनुत्तरोपपातिकपर्यन्तमधितिष्ठन्ति, पुनरपि ततश्च्युतस्यावाप्तमनुष्यादिसंयमभावस्याशेषकर्म्मक्षयान्मोक्षः, तदेवं परेण–संयमेनोद्दिष्टविधिना 'परं' स्वर्गं पारम्पर्येणापवर्गमपि यान्ति, यदिवा 'परेण' सम्यग्दृष्टिगुणस्थानेन 'परं' देशविरत्याद्ययोगिकेवलिपर्यन्तं गुणस्थानकमधितिष्ठन्ति, परेण वाऽनन्तानुबन्धिक्षयेणोल्लसत्कण्डकस्थानाः 'परं' दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयक्षयं घातिभवोपग्राहिकर्म्मणां वा क्षयमवाप्नुवन्ति, एवंविधाश्च कर्म्मक्षपणोद्यता जीवितं कियद्गतं किं वा शेषमित्येवं नावकाङ्क्षन्ति, दीर्घजीवित्वं नाभिलषन्तीत्यर्थः, असंयमजीवितं वा नावकाङ्क्षन्तीति, यदिवा परेण परं यान्तीत्युत्तरोत्तरां तेजोलेश्यामवाप्नुवन्तीति, उक्तं च—"जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति एए णं कस्स तेयलेस्सं वीईवयंति?, गोयमा!, मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेयलेस्सं वीइवयइ, एवं दुमासपरियाए असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं, तिमासपरियाए असुरकुमाराणं देवाणं चउमासपरियाए गहगणनक्खत्ततारारूवाणं जोइसियाणं देवाणं, पंचमासपरियाए चंदिमसूरियाणं जोइसिंदाणं जोइसराईणं तेउलेस्सं, छम्मासपरियाए सोहम्मीसाणाणं देवाणं,

१ य इमे अद्यतया श्रमणा निर्ग्रन्था विहरन्ति, एते कस्य तेजोलेश्यां व्यतिव्रजन्ति?, गौतम! मासपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो व्यन्तराणां देवानां तेजोलेश्यां व्यतिव्रजति, एवं द्विमासपर्यायः असुरेन्द्रवर्जितानां भवनवासिनां देवानां, त्रिमासपर्यायोऽसुरकुमाराणां देवानां चतुर्मासपर्यायः ग्रहगणनक्षत्रतारारूपाणां ज्योतिष्कानां देवानां, पञ्चमासपर्यायः चन्द्रसूर्ययोर्ज्योतिष्केन्द्रयोर्ज्योतीराजयोस्तेजोलेश्यां, षण्मासपर्यायः सौधर्मेशानानां देवानां, सप्तमासपर्यायः सनत्कुमारमाहेन्द्राणां देवानां, अष्टमासपर्यायो ब्रह्मलोकलान्तकानां देवानां, नवमासपर्यायो महाशुक्रसहस्काराणां देवानां, दशमासपर्याय आनतप्राणतारणाच्युतानां देवानां, एकादशमासपर्यायो ग्रैवेयकाणां, द्वादशमासः श्रमणो निर्ग्रन्थोऽनुत्तरोपपातिकानां देवानां तेजोलेश्यां व्यतिव्रजति, ततः परं शुक्रः शुक्राभिजातिर्भू(खो भू०)त्वा ततः पश्चात्सिध्यति.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्तमासपरिआए सणंकुमारमाहिंदाणं देवाणं, अट्ठमासपरियाए बंभलोगलंतगाणं देवाणं, नवमासपरिआए महासुक्कसहस्साराणं देवाणं, दसमासपरियाए आणयपाणयआरणच्चुआणं देवाणं, एगारसमासपरियाए गेवेज्जाणं, बारसमासे समणे निग्गंथे अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेयलेसं वीयवयइ, तेण परं सुक्के सुक्काभिजाई भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ।" यश्चानन्तानुबन्ध्यादिक्षपणोद्यतः स किमेकक्षयादेव प्रवर्त्तते उत नेत्याह—

एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढोवि, सद्धी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं (सू० १२४)

'एकम्' अनन्तानुबन्धिनं क्रोधं क्षपकश्रेण्यारूढः क्षपयन् 'पृथग्' अन्यदपि दर्शनादिकं क्षपयति, बद्धायुष्कोऽपि दर्शनसप्तकं यावत्क्षपयति, पृथगन्यदपि क्षपयन्नवश्यमनन्तानुबन्धिनामकं क्षपयति पृथग्–अन्यद् क्षयान्यथानुपपत्तेः, किंगुणः क्षपकश्रेणियोग्यो भवतीत्याह—'सद्धी' इत्यादि, श्रद्धा–मोक्षमार्गेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् 'आज्ञया' तीर्थकरप्रणीतागमानुसारेण यथोक्तानुष्ठानविधायी 'मेधावी' अप्रमत्तयतिः मर्यादाव्यवस्थितः श्रेण्यर्हो नापर इति। किं च—'लोगं च' इत्यादि, चः समुच्चये 'लोकं' षड्जीवनिकायात्मकं कषायलोकं वा 'आज्ञया' मौनीन्द्रागमोपदेशेन 'अभिसमेत्य' ज्ञात्वा षड्जीवनिकायलोकस्य यथा न कुतश्चिन्निमित्ताद्भयं भवति तथा विधेयं, कषायलोकप्रत्याख्यानपरिज्ञानाच्च तस्यैव परिहर्तुर्न कुतश्चिद्भयमुपजायत इति, लोकं वा चराचरमाज्ञया–आगमाभिप्रायेणाभिसमेत्य न कुतश्चिदैहिकामु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ष्मिकापायसन्दर्शनतो भयं भवति। तच्च भयं शस्त्राद्भवति, तस्य च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्युत नेति?, अस्तीति दर्शयति—'अत्थि' इत्यादि, तत्र द्रव्यशस्त्रं कृपाणादि तत्परेणापि परमस्ति–तीक्ष्णादपि तीक्ष्णतरमस्ति, लोहकर्तृसंस्कारविशेषात्, यदिवा शस्त्रमित्युपघातकारि तत एकस्मात्पीडाकारिणोऽन्यत् पीडाकार्युत्पद्यते ततोऽप्यपरमिति, तद्यथा–कृपाणाभिघाताद्वातोत्कोपः ततः शिरोऽर्त्तिः तस्या ज्वरः ततोऽपि मुखशोषमूर्च्छादय इति, भावशस्त्रपारम्पर्यं त्वेकसूत्रान्तरितं स्वत एव प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारेण वक्ष्यति, यथा च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्ति पारम्पर्यं वा विद्यते अशस्त्रस्य तथा नास्तीति दर्शयितुमाह—'नत्थि' इत्यादि, 'नास्ति' न विद्यते, किं तद् ?—'शस्त्रं' संयमः तत् 'परेण पर'मिति प्रकर्षगत्यापन्नमिति, तथाहि–पृथिव्यादीनां सर्वं तुल्यता कार्या न मन्दतीव्रभेदोऽस्तीति, पृथिव्यादिषु समभावत्वात् सामायिकस्य, अथवा शैलेश्यवस्थासंयमादपि परः संयमो नास्ति, तदूर्ध्वं गुणस्थानाभावादिति भावः। यो हि क्रोधमुपादानतो बन्धतः स्थितितो विपाकतोऽनन्तानुबन्धिलक्षणतः क्षयमाश्रित्य प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानाति सोऽपरमानादिदर्श्यपीत्येतदेव प्रतिसूत्रं लगयितव्यमित्याह—

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी । से मेहावी अभिणिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च । एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं निसिद्धा सगडब्भि, किमत्थि ओवाही पासगस्स? न विज्जइ?, नत्थि(सू० १२५) त्तिबेमि ॥ शीतोष्णीयाध्ययनम् ३ ॥

यो हि क्रोधं स्वरूपतो वेत्ति अनर्थपरित्यागरूपत्वाज्ज्ञानस्य परिहरति च स मानमपि पश्यति परिहरति चेति, यदिवा यः क्रोधं पश्यत्याचरति स मानमपि पश्यति, मानाध्मातो भवतीत्यर्थः, एवमुत्तरत्रापि आयोज्यं, यावत् स दुःखदर्शीति, सुगमत्वान्न विव्रियते । साम्प्रतं क्रोधादेः साक्षान्निवर्त्तनमाह—'से' इत्यादि, स मेधावी 'अभिनिवर्त्तयेद्' व्यावर्त्तयेत्, किं तत्?–'क्रोधमित्यादि यावद्दुःखं', सुगमत्वाद्व्याख्यानाभावः, स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह—'एय' मित्यादि, 'एतद्' अनन्तरोक्तमुद्देशकादेरारभ्य पश्यकस्य–तीर्थकृतो दर्शनम्–अभिप्रायः, किम्भूतस्य?–उपरतशस्त्रस्य पर्यन्तकृतः, पुनरपि किम्भूतोऽसौ?—'आयाण'मित्यादि, आदानं कर्म्मोपादानं निषेध्य पूर्वस्वकृतकर्म्मभिदसाविति, किं चास्य भवतीत्याह—'किमत्थी'त्यादि, 'पश्यकस्य' केवलिनः 'उपाधिः' विशेषणं उपाधीयत इति वोपाधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्टप्रकारं कर्म्म, स द्विविधोऽप्युपाधिः किमस्त्याहोस्विन्न विद्यते?, नास्तीति, एतदहं ब्रवीमि, सुधर्म्मस्वामी जम्बू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१२५]

दीप अनुक्रम [१३८]

स्वामिनं कथयति, यथा सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवत्पादारविन्दमुपास(य)ता सर्वमेतदश्रावि तद्भवते तदुपदिष्टार्थानुसारितया कथयामि, न पुनः स्वमतिविकल्पशिल्परचनयेति । गतः सूत्रानुगमः, तद्गतौ च समाप्तश्चतुर्थोद्देशकः ॥ तत्समाप्तौ चातीतानागतनयविचारातिदेशात् समाप्तं शीतोष्णीयाध्ययनमिति ॥ ग्रन्थाग्रम् ७९० ॥

अथ चतुर्थं सम्यक्त्वाख्यमध्ययनम् ।

उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इह शस्त्रपरिज्ञायामन्वयव्यतिरेकाभ्यां षड्जीवनिकायान् व्युत्पादयता जीवाजीवपदार्थद्वयं व्युत्पादितं, तद्बधे च बन्धं विरतिं च भणताऽऽस्रवसंवरपदार्थद्वयमूचे, तथा लोकविजयाध्ययने लोको यथा बध्यते यथा च मुच्यत इति वदता बन्धनिर्जरे गदिते, शीतोष्णीयाध्ययने तु शीतोष्णरूपाः परीषहाः सोढव्या इति भणता तत्फललक्षणो मोक्षोऽभिहितः, ततश्चाध्ययनत्रयेण सप्तपदार्थात्मकं तत्त्वमभिहितं, तत्त्वार्थश्रद्धानं च सम्यक्त्वमुच्यते, तदधुना प्रतिपाद्यते, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्योपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राध्ययनार्थाधिकारः सम्यक्त्वाख्यः शस्त्रपरिज्ञायां प्रागेवाभाणि, उद्देशकार्थाधिकारप्रतिपादनाय तु निर्युक्तिकार आह—

पढमे सम्मावाओ बीए धम्मप्पवाइयपरिक्खा । तइए अणवज्जतवो न हु बालतवेण मुक्खुत्ति ॥ २१५ ॥
उद्देसंमि चउत्थे समासवयणेण णियमणं भणियं । तम्हा य नाणदंसणतवचरणे होइ जइयव्वं ॥ २१६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ-अध्ययनं 'सम्यक्त्व' आरब्धः,

प्रथमोद्देशके सम्यग्वाद इत्ययमर्थाधिकारः, सम्यग्–अविपरीतो वादः सम्यग्वादो–यथावस्थितवस्त्वाविर्भावनं, द्वितीये तु धर्म्मप्रवादिकपरीक्षा, धर्म्मं प्रवदितुं शीलं येषां ते धर्म्मप्रवादिनस्त एव धर्म्मप्रवादिकाः, धर्म्मप्रावादुका इत्यर्थस्तेषां परीक्षा–युक्तायुक्तविचारणमिति, तृतीयेऽनवद्यतपोव्यावर्णनं, न च बालतपसा–अज्ञानितपश्चरणेन मोक्ष इत्ययमर्थाधिकारः, चतुर्थोद्देशके तु 'समासवचनेन' सङ्क्षेपवचनेन 'नियमनं भणितं' संयत उक्त इति । तदेवं प्रथमोद्देशके सम्यग्दर्शनमुक्तं, द्वितीये तु सम्यग्ज्ञानं, तृतीये बालतपोव्युदासेन सम्यक्तपः, चतुर्थे तु सम्यक्चारित्रमिति, तस्माच्चशब्दो हेतौ, यतश्चतुष्टयमपि मोक्षाङ्गं प्रागुक्तं तस्मात् ज्ञानदर्शनस्तपश्चरणेषु 'मुमुक्षुणा यतितव्यं' तत्प्रतिपालनाय यावज्जीवं यत्नो विधेय इति गाथाद्वयार्थः ॥ अधुना नामनिष्पन्ननिक्षेपायातस्य सम्यक्त्वाभिधानस्य निक्षेपं चिकीर्षुराह—

नामंठवणासम्मं दव्वसम्मं च भावसम्मं च । एसो खलु सम्मस्सा निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ २१७ ॥

अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थं तु सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यभावगतं निर्युक्तिकारः प्रतिपिपादयिषुराह—

अह दव्वसम्म इच्छाणुलोमियं तेसु तेसु दव्वेसुं । कयसंखयसंजुत्तो पउत्त जह भिण्ण छिण्णं वा ॥ २१८॥

'अथे'त्यानन्तर्ये ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यसम्यक्त्वमित्याह, 'ऐच्छानुलोमिकं' इच्छा–चेतःप्रवृत्तिरभिप्रायस्तस्यानुलोमम्–अनुकूलं तत्र भवमैच्छानुलोमिकं तच्च तेषु तेष्विच्छा भावानुकूल्यताभाक्षु द्रव्येषु कृताद्युपाधिभेदेन सप्तधा भवति, तद्यथा–कृतम्–अपूर्वमेव निर्वर्त्तितं रथादि, तस्य यथाऽवयवलक्षणनिष्पत्तेर्द्रव्यसम्यक्कर्तुस्तन्निमित्तचित्तस्वास्थ्योत्पत्तेः

॥ १७५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ-अध्ययने प्रथम-उद्देशकः 'सम्यग्वाद' आरब्धः,

यदर्थं वा कृतं तस्य शोभनाशुकरणतया समाधानहेतुत्वाद्वा द्रव्यसम्यग् १, एवं संस्कृतेऽपि योज्यं, तस्यैव रथादेर्भग्नजीर्णापोढापरावयवसंस्कारादिति २, तथा ययोर्द्रव्ययोः संयोगो गुणान्तराधानाय नोपमर्दाय उपभोक्तुर्वा मनःप्रीत्यै पयःशर्करयोरिव तत्संयुक्तद्रव्यसम्यक् ३, तथा यत्प्रयुक्तं द्रव्यं लाभहेतुत्वादात्मनः समाधानाय प्रभवति तत्प्रयुक्तद्रव्यसम्यक् ४, पाठान्तरं वा—'उवउत्त'त्ति यदुपयुक्तम्–अभ्यवहृतं द्रव्यं मनःसमाधानाय प्रभवति तदुपयुक्तद्रव्यसम्यक् ४, तथा जढं–परित्यक्तं यद्गारादि तत्त्यक्तद्रव्यसम्यक् ५, तथा दधिभाजनादि भिन्नं सत् काकादिसमाधानोत्पत्तेर्भिन्नद्रव्यसम्यक् ६, तथाऽधिकमांसादिच्छेदाच्छिन्नसम्यक् ७, सर्वमप्येतत्समाधानकारणत्वाद्द्रव्यसम्यक्, विपर्ययादसम्यगिति गाथार्थः ॥

भावसम्यक्प्रतिपादनायाह—

तिविहं तु भावसम्मं दंसण नाणे तहा चरित्ते य । दंसणचरणे तिविहं नाणे दुविहं तु नायव्वं ॥ २१९ ॥

त्रिविधं भावसम्यक्–दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्, पुनरप्येकैकं भेदत आचष्टे–तत्र दर्शनचरणे प्रत्येकं त्रिविधे, तद्यथा–अनादिमिथ्यादृष्टेरकृतत्रिपुञ्जस्य यथाप्रवृत्तकरणक्षीणशेषकर्म्मणो देशोनसागरोपमकोटिकोटीस्थितिकस्यापूर्वकरणभिन्नग्रन्थेर्मिथ्यात्वानुदयलक्षणमन्तरकरणं विधायानिवृत्तिकरणेन प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयत औपशमिकं दर्शनम् १, उक्तं च —"ऊसरदेसं दड्ढुलयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छत्ताणुदए उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥ १ ॥" उपशमश्रेण्यां चौपशमिकमिति १, तथा सम्यक्त्वपुद्गलोपष्टम्भजनिताध्यवसायः क्षायोपशमिकं २, दर्शनमोहनीयक्षयात् क्षायिकं ३,

१ ऊषरदेशं दग्धं च विध्याति वनद्वः प्राप्य । एवं मिथ्यात्वानुदये औपशमिकसम्यक्त्वं लभते जीवः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रमप्युपशमश्रेण्यामौपशमिकं १ कषायक्षयोपशमात् क्षायोपशमिकं चारित्रं २ चारित्रमोहनीयक्षयात्क्षायिकं ३, ज्ञाने तु भावसम्यग् द्विधा ज्ञातव्यं, तद्यथा–क्षायोपशमिकं क्षायिकं च, तत्र चतुर्विधज्ञानावरणीयक्षयोपशमात् मत्यादि चतुर्विधं क्षायोपशमिकं ज्ञानं, समस्तक्षयात्क्षायिकं केवलज्ञानमिति । तदेवं त्रिविधेऽपि भावसम्यक्त्वे दर्शिते सति परश्चोदयति–यद्येवं त्रयाणामपि सम्यग्वादसम्भवे कथं दर्शनस्यैव सम्यक्त्ववादो रूढो ? यदिहाध्ययने व्यावर्ण्यते, उच्यते, तद्भावभावित्वादितरयोः, तथाहि–मिथ्यादृष्टेस्ते न स्तः, अत्र च सम्यक्त्वप्राधान्यख्यापनाय अन्धेतरराजकुमारद्वयेन बालाङ्गनाद्यवबोधार्थं दृष्टान्तमाचक्षते–तद्यथा–उदयसेनराज्ञो वीरसेनसूरसेनकुमारद्वयं, तत्र वीरसेनोऽन्धः, स च तस्यायोग्या गान्धर्वादिकाः कला ग्राहितः, इतरस्त्वभ्यस्तधनुर्वेदो लोकश्लाघ्यां पदवीमगमत्, एतच्च समाकर्ण्य वीरसेनेनापि राजा विज्ञप्तो यथाऽहमपि धनुर्वेदाभ्यासं विदधे, राज्ञाऽपि तदाग्रहमवगम्यानुज्ञातः, ततोऽसौ सम्यगुपाध्यायोपदेशात् प्रज्ञातिशयादभ्यासविशेषाच्च शब्दवेधी सञ्जज्ञे, तेन चारूढयौवनेन स्वभ्यस्तधनुर्वेदविज्ञानक्रियेणागणितचक्षुर्दर्शनसदसद्भावेन शब्दवेधित्वावष्टम्भात्परबलोपस्थाने सति राजा युद्धायादेशं याचितः, तेनापि याच्यमानेन वितेरे, वीरसेनेन च शब्दानुवेधितया परानीके जजृम्भे, परैश्चावगतकुमारान्धभावैर्मूकतामालम्ब्यासौ जग्रहे, सूरसेनेन च विदितवृत्तान्तेन राजानमापृच्छ्य निशितशरशतजालावष्टब्धपरानीकेन मोचितः । तदेवमभ्यस्तविज्ञानक्रियोऽपि चक्षुर्विकलत्वान्नालमभिप्रेतकार्यसिद्धये इति । एतदेव निर्युक्तिकारो गाथयोपसंहर्त्तुमाह—

कुणमाणोऽवि य किरियं परिचयंतोवि सयणधणभोए । दिंतोऽवि दुहस्स उरं न जिणइ अंधो पराणीयं ॥२२०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कुर्वन्नपि क्रियां परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् दददपि दुःखस्योरः न जयत्यन्धः परानीकमिति गाथार्थः ॥ तदेवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

कुणमाणोऽवि निवित्तिं परिचयंतोऽवि सयणधणभोए । दिंतोऽवि दुहस्स उरं मिच्छदिट्ठी न सिज्झइ उ ॥२२१॥

कुर्वन्नपि निवृत्तिम्–अन्यदर्शनाभिहितां, तद्यथा–पञ्च यमाः पञ्च नियमा इत्यादिकां तथा परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् पञ्चाग्नितपआदिना दददपि दुःखस्योरः मिथ्यादृष्टिर्न सिध्यति, तुरवधारणे, नैव सिध्यति, दर्शनविकलत्वाद्, अन्धकुमारवत् असमर्थः कार्यसिद्धये । यत एवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

तम्हा कम्माणीयं जेउमणो दंसणंमि पयइज्जा । दंसणवओ हि सफलाणि हुंति तवनाणचरणाइं ॥ २२२॥

यस्मात्सिद्धिमार्गमूलास्पदं सम्यग्दर्शनमन्तरेण न कर्म्मक्षयः स्यात्, तस्मात्कारणात्कर्म्मानीकं जेतुमनाः सम्यग्दर्शने प्रयतेत, तस्मिंश्च सति यद्भवति तदर्शयति–दर्शनवतो हि 'हिः' हेतौ यस्मात्सम्यग्दर्शनिनः सफलानि भवन्ति तपोज्ञानचरणान्यतस्तत्र यत्नवता भाव्यमिति गाथार्थः ॥ प्रकारान्तरेणापि सम्यग्दर्शनस्य तत्पूर्वकाणां च गुणस्थानकानां गुणमाविर्भावयितुमाह—

सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंतकम्मंसे । दंसणमोहक्खवए उवसामन्ते य उवसंते ॥ २२३ ॥
खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा । तव्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए ॥ २२४ ॥

सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः सम्यक्त्वोत्पत्तिस्तस्यां विवक्षितायामसङ्ख्येयगुणा श्रेणिर्भवेदित्युत्तरगाथार्द्धान्ते क्रियामपेक्ष्य स-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्बन्धो लगयितव्यः, कथमसङ्ख्येयगुणा श्रेणिर्भवेदिति?, अत्रोच्यते, इह मिथ्यादृष्टयो देशोनकोटीकोटिकर्म्मस्थितिका ग्रन्थिकसत्त्वास्ते कर्म्मनिर्जरामाश्रित्य तुल्याः, धर्म्मप्रच्छनोत्पन्नसंज्ञास्तेभ्योऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरकाः, ततोऽपि पिपृच्छिषुः सन् साधुसमीपं जिगमिषुस्तस्मादपि क्रियाविष्टः पृच्छन्, ततोऽपि धर्म्मं प्रतिपित्सुः, अस्मादपि क्रियाविष्टः प्रतिपद्यमानः, तस्मादपि पूर्वप्रतिपन्नोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरक इति सम्यक्त्वोत्पत्तिर्व्याख्याता, तदनन्तरं विरताविरतिं प्रतिपित्सुप्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नानामुत्तरोत्तरस्यासङ्ख्येयगुणा निर्जरा योज्या, एवं सर्वविरतावपीति, ततोऽपि पूर्वप्रतिपन्नसर्वविरतेः सकाशात् 'अणंतकम्मंसे'त्ति 'पदैकदेशे पदप्रयोग' इति यथा भीमसेनो भीमः सत्यभामा भामा एवमनन्तशब्दोपलक्षिता अनन्तानुबन्धिनः, ते हि मोहनीयस्यांशाः–भागाः तांश्चिक्षपयिषुरसङ्ख्येयगुणनिर्जरकः, ततोऽपि क्षपकः, तस्मादपि क्षीणानन्तानुबन्धिकषायः, एतदेव दर्शनमोहनीयत्रयेऽभिमुखक्रियारूढापवर्गत्रयमायोज्यं, ततोऽपि क्षीणसप्तकात्क्षीणसप्तक एवोपशमश्रेण्यारूढोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरकः, ततोऽप्युपशान्तमोहः, तस्मादपि चारित्रमोहनीयक्षपकः, ततोऽपि क्षीणमोहः, अत्र चाभिमुखादित्रयं यथासम्भवमायोजनीयम्, अस्मादपि 'जिनो' भवस्थकेवली, तस्मादपि शैलेश्यवस्थोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरकः । तदेवं कर्म्मनिर्जरायै असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणनिष्पादितसंयमस्थानप्रचयोपात्तश्रेणिः सोत्तरोत्तरेषामसङ्ख्येयगुणा, उत्तरोत्तरप्रवर्द्धमानाध्यवसायकण्डकोपपत्तेरिति, कालस्तु तद्विपरीतोऽयोगिकेवलिन आरभ्य प्रतिलोमतया सङ्ख्येयगुणया श्रेण्या ज्ञेयः, इदमुक्तं भवति–यावत्कालेन यावत्कर्मायोगिकेवली क्षपयति तावन्मात्रं कर्म सयोगिकेवली सङ्ख्येयगुणेन कालेन क्षपयति एवं प्रतिलोमतया यावद्धर्मं पिपृच्छिषुस्तावन्नेयमिति गाथा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वयार्थः ॥ एवमन्तरोक्तया नीत्या दर्शनवतः सफलानि तपोज्ञानचरणान्यभिहितानि, यदि पुनः केनचिदुपाधिना विद-धाति ततः सफलत्वाभावः, कश्चासावुपाधिस्तमाह—

आहारउवहिपूआ इड्ढीसु य गारवेसु कइतवियं । एमेव बारसविहे तवंमि न हु कइतवे समणो ॥ २२५ ॥

आहारश्च उपधिश्च पूजा च ऋद्धिश्च–आमर्षौषध्यादिका आहारोपधिपूजर्द्धयस्तासु निमित्तभूतासु ज्ञानचरणक्रियां करोति, तथा गारवेषु त्रिषु प्रतिबद्धो यत्करोति तत्कृत्रिममित्युच्यते, यथा च ज्ञानचरणयोराहाराद्यर्थमनुष्ठानं कृत्रिमं सन्न फलवद्भवति एवं सबाह्याभ्यन्तरे द्वादशप्रकारे तपस्यपीति, न च कृत्रिमानुष्ठायिनः श्रमणभावो, न चाश्रमणस्यानुष्ठानं गुणवदिति, तदेवं निरुपधेर्दर्शनवतस्तपोज्ञानचरणानि सफलानीति स्थितमतो दर्शने यतितव्यं, दर्शनं च तत्त्वार्थश्र-द्धानं, तत्त्वं चोत्पन्नापगतकलङ्काशेषपदार्थसत्ताव्यापिज्ञानैस्तीर्थकृद्भिर्यदभाषि, तदेव सूत्रानुगमायातेन सूत्रेण दर्शयति—

से बेमि जे अईया जे य पडुपन्ना आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइ-क्खन्ति एवं भासंति एवं पण्णविंति एवं परूविंति–सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघित्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तंजहा–उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा उवट्टिएसु वा अणुवट्टिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा, तच्चं चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ (सू० १२६)

गौतमस्वाम्याह—यथा सोऽहं ब्रवीमि योऽहं तीर्थकरवचनावगततत्त्वः श्रद्धेयवचन इति, यदिवा शौद्धोदनिशिष्याभिमतक्षणिकत्वव्युदासेनाह–येन मया पूर्वमभाणि सोऽहमद्यापि ब्रवीमि नापरो, यदिवा सेशब्दस्तच्छब्दार्थे यच्छ्रद्धाने सम्यक्त्वं भवति तदहं तत्त्वं ब्रवीमीति, येऽतीताः–अतिक्रान्ता ये च प्रत्युत्पन्नाः–वर्त्तमानकालभाविनो ये चागामिनः त एवं प्ररूपयन्तीति सम्बन्धः, तत्रातिक्रान्तास्तीर्थकृतः कालस्यानादित्वादनन्ता अतिक्रान्ता अनागता अप्यनन्ता आगामिकालस्यानन्तत्वात्तेषां च सर्वदैव भावादिति, वर्त्तमानतीर्थकृतां च प्रज्ञापकापेक्षितया अनवस्थितत्वे सत्यप्युत्कृष्टजघन्यपदिन एव कथ्यन्ते, तत्रोत्सर्गतः समयक्षेत्रसम्भविनः सप्तत्युत्तरशतं, तच्चैवं–पञ्चस्वपि विदेहेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशत्क्षेत्रात्मकत्वादेकैकस्मिन् द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् पञ्चस्वपि भरतेषु पञ्चैवमैरावतेष्वपीति, तत्र द्वात्रिंशत्पञ्चभिर्गुणिताः षष्ट्युत्तरशतं (१६०) भरतैरावतदशप्रक्षेपेण सप्तत्यधिकं शतमिति, जघन्यतस्तु विंशतिः, सा चैवं–पञ्चस्वपि महाविदेहेषु महाविदेहान्तर्महानद्युभयतटसद्भावात्तीर्थकृतां प्रत्येकं चत्वारः, तेऽपि पञ्चभिर्गुणिता विंशतिर्भरतैरावतयोस्त्वेकान्तसुषमादावभाव एवेति, अन्ये तु व्याचक्षते–मेरोः पूर्वापरविदेहयोरेकैकसद्भावान्महाविदेहे द्वावेव, ततः पञ्चस्वपि दशैवेति, तथा च ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहुः—"सत्तरसयमुक्कोसं इअरे दस समयखेत्तजिणमाणं । चोत्तीस पढमदीवे अणंतरऽद्धे य ते दुगुणा ॥ १ ॥" के इमे?—'अर्हन्तो' अर्हन्ति पूजासत्कारादिकमिति, तथा ऐश्वर्याद्युपेता भगवन्तः, ते सर्व एव परप्रश्नावसरे एवमाचक्षते यदुत्तरत्र वक्ष्यते, वर्त्तमाननिर्देशस्योपलक्षणार्थत्वादिदमपि द्रष्टव्यम्–एवमाचचक्षिरे एवमाख्यास्यन्ति, एवं सामान्यतः सदेवमनुजायां परिषदि अर्द्धमागधया सर्वसत्त्वस्वभाषानुगामिन्या भाषया भाषन्ते, एवं प्रकर्षेण संशीत्यपनोदायान्ते-वासिनो जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपदार्थान् ज्ञापयन्ति प्रज्ञापयन्ति, एवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः स्वपरभावेन सदसती तत्त्वं सामान्यविशेषात्मकमित्यादिना प्रकारेण प्ररूपय-न्ति, एकार्थिकानि वैतानीति, किं तदेवमाचक्षते इति दर्शयति–यथा 'सर्वे प्राणाः' सर्व एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्चेन्द्रियबलोच्छ्वासनिश्वासायुष्कलक्षणप्राणधारणात् प्राणाः, तथा सर्वाणि भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति च भूतानि चतुर्दशभूतग्रामान्तःपातीनि, एवं सर्व एव जीवन्ति जीविष्यन्ति अजीविषुरिति जीवाः–नारकतिर्यग्नरामरल-क्षणाश्चतुर्गतिकाः, तथा सर्व एव स्वकृतसातासातोदयसुखदुःखभाजः सत्त्वाः, एकार्था वैते शब्दाः 'तत्त्वभेदपर्यायैः प्रतिपादन'मितिकृत्वेति, एते च सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दावेदिता न हन्तव्याः दण्डकशादिभिः नाज्ञापयितव्याः प्रसह्याभियोगदानतो न परिग्राह्या भृत्यदासदास्यादिममत्वपरिग्रहतो न परितापयितव्याः शारीरमानसपीडोत्पाद-नतो नापद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणतः 'एषः' अनन्तरोक्तो 'धर्म्मो' दुर्गत्यर्गलासुगतिसोपानदेश्यः, अस्य च प्रधानपुरु-षार्थत्वाद्विशेषणं दर्शयति—'शुद्धः' पापानुबन्धरहितः न शाक्यधिग्जातीनामिवैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियवधानुमतिकलङ्काङ्कितः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा 'नित्यः' अप्रच्युतिरूपः, पञ्चस्वपि विदेहेषु सदाभवनात्, तथा 'शाश्वतः' शाश्वतगतिहेतुत्वात् यदिवा नित्यत्वाच्छाश्वतो, न तु नित्यं भूत्वा न भवति, भव्यत्ववत्, अभूत्वा च नित्यं भवति घटाभाववदिति, अयं तु त्रिकालावस्थायीति, अमुं च 'लोकं' जन्तुलोकं दुःखसागरावगाढं 'समेत्य' ज्ञात्वा तदुत्तरणाय 'खेदज्ञैः' जन्तुदुःखपरिच्छेत्तृभिः 'प्रवेदितः' प्रतिपादित इति, एतच्च गौतमस्वामी स्वमनीषिकापरिहारेण शिष्यमतिस्थैर्यार्थं बभाषे ॥ एनमेव सूत्रोक्तमर्थं निर्युक्तिकारः सूत्रसंस्पर्शकेन गाथाद्वयेन दर्शयति—

जे जिणवरा अईया जे संपइ जे अणागए काले। सव्वेवि ते अहिंसं वदिंसु वदिहिंति विवदिंति ॥२२६॥

छप्पिय जीवनिकाए णोवि हणे णोऽवि अ हणाविज्जा। नोऽवि अ अणुमन्निज्जा सम्मत्तस्सेस निज्जुत्ती ॥२२७॥

[चतुर्थेऽध्ययने प्रथमोद्देशकनिर्युक्तिः] गाथाद्वयमपि कण्ठ्यं । तीर्थकरोपदेशश्च परोपकारितया तत्स्वाभाव्यादेव प्रवर्त्तमानो भास्करोदय इव प्रबोध्यविशेषनिरपेक्षतया प्रवर्त्तते(तत्)तद्यथेत्यादिना दर्शयति—'तंजहा–उट्ठिएसु वा' इत्यादि, धर्म्मचरणायोद्यता उत्थिता–ज्ञानदर्शनचारित्रोद्योगवन्तः, तद्विपर्ययेणानुत्थिताः तेषु निमित्तभूतेषु तानुद्दिश्य भगवता सर्ववेदिना त्रिजगत्पतिना धर्म्मः प्रवेदितः, एवं सर्वत्र लगयितव्यं, यदिवा उत्थितानुत्थितेषु द्रव्यतो निषण्णानिषण्णेषु, तत्रैकादशसु गणधरेषूत्थितेष्वेव वीरवर्द्धमानस्वामिना धर्म्मः प्रवेदितः, तत उपस्थिता धर्म्मं शुश्रूषवो जिघृक्षवो वा तद्विपर्ययेणानुपस्थितास्तेष्विति, निमित्तसप्तमी चेयं, यथा चर्म्मणि द्वीपिनं हन्तीति, ननु च भावोपस्थितेषु चिलातिपुत्रादिष्विव धर्म्मकथा युक्तिमती अनुपस्थितेषु तु कं गुणं पुष्णाति?, अनुपस्थितेष्वपीन्द्रनागादिषु विचित्रत्वात्कर्म्म-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिणतेः क्षयोपशमापादनाद्व्रणवत्येवेति यत्किञ्चिदेतत्, प्राणिन आत्मानं वा दण्डयतीति दण्डः, स च मनोवाक्काय-लक्षणः, उपरतो दण्डो येषां ते तथा, तद्विपर्ययेणानुपरतदण्डाः, तेषूभयरूपेष्वपि, तत्रोपरतदण्डेषु तत्स्थैर्यगुणान्तरा-धानार्थं देशना, इतरेषु तूपरतदण्डत्वार्थमिति, उपधीयते–सङ्गृह्यत इत्युपधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिः भावतो माया, सह उपधिना वर्त्तन्त इति सोपधिकास्तद्विपर्ययेणानुपधिकास्तेष्विति, संयोगः–सम्बन्धः पुत्रकलत्रमित्रादिजनितस्तत्र रताः संयोगरतास्तद्विपर्ययेणैकत्वभावनाभाविता असंयोगरतास्तेष्विति, तदेवमुभयरूपेष्वपि यद्भगवता धर्मदेशनाऽकारि तत् 'तथ्यं' सत्यमेतदिति, चशब्दो नियमार्थः, तथ्यमेवैतद्भगवद्वचनं, यथाप्ररूपितवस्तुसद्भावात्तथ्यता वचसो भवतीत्यतो वाच्यमपि तथैवेति दर्शयति–तथा चैतद्वस्तु यथा भगवान् जगाद, यथा–सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि, एवं सम्य-ग्दर्शनं श्रद्धानं विधेयम्, एतच्चास्मिन्नेव मौनीन्द्रप्रवचने सम्यग्मोक्षमार्गविधायिनि समस्तदम्भप्रबन्धोपरते प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यत इति, न तु यथा अन्यत्र 'न हिंस्यात्सर्वभूतानी'त्यभिधायान्यत्र वाक्ये यज्ञपशुवधाभ्यनुज्ञानात् पूर्वोत्तरबाधेति ॥ तदेवं सम्यक्त्वस्वरूपमभिधाय तदवाप्तौ यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

तं आइत्तु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं जहा तहा, दिट्ठेहिं निव्वेयं गच्छिज्जा,
नो लोगस्सेसणं चरे (सू० १२७)

'तत्' तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमादाय–गृहीत्वा तत्कार्याकरणतो 'न निहे'ति न गोपयेत् तथाविधसंसर्गा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिनिमित्तोत्थापितमिथ्यात्वोऽपि जीवसामर्थ्यगुणान्न त्यजेदपि, यथा वा शैवशाक्यादीनां गृहीत्वा व्रतानि पुनरपि व्रतेश्वरयागादिविधिना गुरुसमीपे निक्षिप्योत्प्रव्रजनं, एवं गुर्वादेः सकाशादवाप्य सम्यग्दर्शनं 'न निक्षिपेत्' न त्यजेत्, किं कृत्वा?–यथा तथाऽवस्थितं धर्म्मं ज्ञात्वा श्रुतचारित्रात्मकमवगम्य, वस्तूनां वा धर्म्मं–स्वभावमवबुध्येति । तदवगमे तु किं चापरं कुर्यादित्याह—'दिट्ठेहिं' इत्यादि, दृष्टैरिष्टानिष्टरूपैर्नैर्वेदं गच्छेद्, विरागं कुर्यादित्यर्थः, तथाहि–शब्दैः श्रुतैः रसैरास्वादितैर्गन्धैराघ्रातैः स्पर्शैः स्पृष्टैः सद्भिरेवं भावयेत्–यथा शुभेतरतापरिणामवशाद्भवतीत्यतः कस्तेषु रागो द्वेषो वेति । किं च—'नो लोयस्स' इत्यादि, 'लोकस्य' प्राणिगणस्यैषणा–अन्वेषणा इष्टेषु शब्दादिषु प्रवृत्तिरनिष्टेषु तु हेयबुद्धिस्तां 'न चरेत्' न विदध्यात् ॥ यस्य चैषा लोकैषणा नास्ति तस्यान्याप्यप्रशस्ता मतिर्नास्तीति दर्शयति—

जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया?, दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पंति (सू० १२८)

यस्य मुमुक्षोरेषा ज्ञातिः–लोकैषणाबुद्धिः 'नास्ति' न विद्यते, तस्यान्या सावद्यारम्भप्रवृत्तिः कुतः स्यात्?, इदमुक्तं भवति–भोगेच्छारूपां लोकैषणां परिजिहीर्षोर्नैव सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तिरुपजायते, तदर्थत्वात्तस्या इति, यदिवा 'इमा' अनन्तरोक्तत्वात् प्रत्यक्षा सम्यक्त्वज्ञातिः प्राणिनो न हन्तव्या इति वा यस्य न विद्यते तस्यान्या अविवेकिनी बुद्धिः कुमार्गसावद्यानुष्ठानपरिहारद्वारेण कुतः स्यात्? । शिष्यमतिस्थैर्यार्थमाह—'दिट्ठ'मित्यादि, यदेतन्मया परिकथ्यते तत्स-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञैः केवलज्ञानावलोकेन दृष्टं, ततः शुश्रूषुभिः श्रुतं, लघुकर्म्मणा भव्यानां मतं, ज्ञानावरणीयक्षयोपशमाद्विशेषेण ज्ञातं विज्ञातम्, अतो भवताऽपि सम्यक्त्वादिके मत्कथिते यत्नवता भवितव्यमिति। ये पुनर्यथोक्तकारिणो न स्युः ते कथम्भूता भवेयुरित्याह—'समेमाणा' इत्यादि, तस्मिन्नेव मनुष्यादिजन्मनि 'शाम्यन्तो' गार्ध्येनात्यर्थमासेवां कुर्वन्तः तथा 'प्रलीयमानाः' मनोज्ञेन्द्रियार्थेषु पौनःपुन्येनैकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिकां जातिं प्रकल्पयन्ति, संसाराविच्छित्तिं विदधतीत्यर्थः ॥ यद्येवमविदितवेद्याः साम्प्रतेक्षिणो यथाजन्मकृतरतय इन्द्रियार्थेषु प्रलीनाः पौनःपुन्येन जन्मादिकृतसन्धाना जन्तवस्ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्कमिज्जासि त्तिबेमि (सू० १२९) ॥ सम्यक्त्वाध्ययने प्रथमोद्देशकः ४–१ ॥

अहश्च रात्रिं च यतमान एव यत्नवानेव मोक्षाध्वनि 'धीरः' परीषहोपसर्गाक्षोभ्यः 'सदा' सर्वकालम् 'आगतं' स्वीकृतं 'प्रज्ञानं' सदसद्विवेको यस्य स तथा, 'प्रमत्तान्' असंयतान् परतीर्थिकान्वा धर्म्माद्बहिर्व्यवस्थितान् पश्य, तांश्च तथाभूतान् दृष्ट्वा किं कुर्यादित्याह—'अप्पमत्ते' इत्यादि, अप्रमत्तः सन्निद्राविकथादिप्रमादरहितोऽक्षिनिमेषोन्मेषादावपि सदोपयुक्तः पराक्रमेथाः कर्म्मरिपून् मोक्षाध्वनि वा । इतिरधिकारसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । इति सम्यक्त्वाध्ययने प्रथमोद्देशकटीका परिसमाप्ता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उक्तः प्रथमोद्देशकः । साम्प्रतं द्वितीयव्याख्या प्रतन्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इह अनन्तरोद्देशके सम्यग्वादः प्रतिपादितः, स च प्रत्यनीकमिथ्यावादव्युदासेनात्मलाभं लभते, व्युदासश्च न परिज्ञानमन्तरेण, परिज्ञानं च न विचारमृते, अतो मिथ्यावादभूततीर्थिकमतविचारणायेदमुपक्रम्यते, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रं–'जे आसवा' इत्यादि, यदिवेह सम्यक्त्वमधिकृतं, तच्च सप्तपदार्थश्रद्धानात्मकं, तत्र मुमुक्षुणाऽवगतशस्त्रपरिज्ञाजीवाजीवपदार्थेन संसारमोक्षकारणे निर्णेतव्ये, तत्र संसारकारणमास्रवस्तद्ग्रहणाच्च बन्धग्रहणं, मोक्षकारणं तु निर्जरा तद्ग्रहणाच्च संवरस्तत्कार्यभूतश्च मोक्षः सूचितो भवतीत्यत आश्रवनिर्जरे संसारमोक्षकारणभूते सम्यक्त्वविचारायाते दर्शयितुमाह—

जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा जे अपरिस्सवा ते अणासवा, एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं (सू० १३०)

'य' इति सामान्यनिर्देशः, आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म्म यैरारम्भैस्ते आस्रवाः, परिः–समन्तात्स्रवति–गलति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिस्रवाः, य एवास्रवाः–कर्म्मबन्धस्थानानि त एव परिस्रवाः–कर्म्मनिर्जरास्पदानि, इदमुक्तं भवति–यानि इतरजनाचरितानि स्रगङ्गनादीनि सुखकारणतया तानि कर्म्मबन्धहेतुत्वादास्रवाः, पुनस्तान्येव तत्त्वविदां विषयसुखपराङ्मुखानां निःसारतया संसारसरणिदेश्यानीतिकृत्वा वैराग्यजनकानि अतः परिस्रवाः–निर्जरास्थानानि । सर्ववस्तूना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ-अध्ययने द्वितीय-उद्देशकः 'धर्मप्रवादी-परीक्षा' आरब्धः,

मनैकान्तिकतां दर्शयितुमेतदेव विपर्ययेणाह—'जे परिस्सवा' इत्यादि, य एव परिश्रवाः–निर्जरास्थानानि–अर्हत्साधुतपश्चरणदशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानादीनि, तान्येव कर्म्मोदयावष्टब्धशुभाध्यवसायस्य दुर्गतिमार्गप्रवृत्तसार्थवाहस्य जन्तोर्महाशातनावतः सातर्द्धिरसगारवप्रवणस्यास्रवा भवन्ति–पापोपादानकारणानि जायन्ते, इदमुक्तं भवति–यावन्ति कर्म्मनिर्जरार्थं संयमस्थानानि तद्बन्धनायासंयमस्थानान्यपि तावन्त्येव, उक्तं च—"यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासान्निर्वाणसुखहेतवः ॥ १ ॥" तथाहि–रागद्वेषवासितान्तःकरणस्य विषयसुखोन्मुखस्य दुष्टाशयत्वात्सर्वं संसाराय, पिचुमन्दरसवासितास्यस्य दुग्धशर्करादिकटुकत्वापत्तिवदिति, सम्यग्दृष्टेस्तु विदितसंसारोदन्वतः न्यक्कृतविषयाभिलाषस्य सर्वमशुचि दुःखकारणमिति च भावयतः सञ्जातसंवेगस्येतरजनसंसारकारणमपि मोक्षायेति भावार्थः । पुनरेतदेव गतप्रत्यागतसूत्रं सप्रतिषेधमाह—'जे अणासवा' इत्यादि, प्रसज्यप्रतिषेधस्य क्रियाप्रतिषेधपर्यवसानतया परिस्रवा इत्यनेन सह सम्बन्धाभावात् पर्युदासोऽयम्, आस्रवेभ्योऽन्येऽनास्रवाः–व्रतविशेषाः, तेऽपि कर्म्मोदयादशुभाध्यवसायिनोऽपरिस्रवाः कर्म्मणः, कोङ्कणार्यप्रभृतीनामिवेति, तथाऽपरिस्रवाः–पापोपादानकारणानि केनचिदुपाधिना प्रवचनोपकारादिना क्रियमाणाः कणवीरलताभ्रामकक्षुल्लकस्येवानास्रवाः–कर्म्मबन्धनानि न भवन्ति, यदिवा आस्रवन्तीत्यास्रवाः, पचाद्यच्, एवं परिस्रवन्तीति परिस्रवाः, अत्र चतुर्भङ्गिका–तत्र मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैर्य एव कर्म्मणामास्रवाः–बन्धकाः त एवापरेषां परिस्रवाः–निर्जरकाः, एते च प्रथमभङ्गपतिताः सर्वेऽपि संसारिणश्चतुर्गतिकाः, सर्वेषां प्रतिक्षणमुभयसद्भावात्, तथा ये आस्रवास्तेऽपरिस्रवा इति शून्योऽयं द्वितीयभङ्गको, बन्धस्य शाटावि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १८२ ॥

नाभावित्वाद्, एवं येऽनास्रवास्ते परिस्रवाः, एते चायोगिकेवलिनस्तृतीयभङ्गपतिताः, चतुर्थभङ्गपतितास्तु सिद्धाः, तेषामनास्रवत्वादपरिस्रवत्वाच्चेति, अत्र चाद्यन्तभङ्गकौ सूत्रोपात्तौ, तदुपादाने च मध्योपादानस्यावश्यंभावित्वात् मध्यभङ्गकद्वयग्रहणं द्रष्टव्यमिति । यद्येवं ततः किमित्याह—'एए पए' इत्यादि, एतानि–अनन्तरोक्तानि पद्यते–गम्यते येभ्योऽर्थेभ्यस्तानि पदानि, तद्यथा–ये आस्रवा इत्यादीनि, परस्य चार्थावगत्यर्थं शब्दप्रयोगादेतत्पदवाच्यानर्थांश्च सम्यग्–अविपर्यासेन बुध्यमानस्तथा 'लोकं' जन्तुगणमास्रवद्वारायातेन कर्म्मणा बध्यमानं तपश्चरणादिना च मुच्यमानमाज्ञया–तीर्थकरप्रणीतागमानुसारेणाभिसमेत्य–आभिमुख्येन सम्यक् परिच्छिद्य चशब्दो भिन्नक्रमः पृथक् प्रवेदितं चाभिसमेत्य पृथगास्रवोपादानं निर्जरोपादानं चेत्येतच्च ज्ञात्वा को नाम धर्म्मचरणं प्रति नोद्यच्छेदिति?, कथं प्रवेदितमिति चेत्?, तदुच्यते, आस्रवस्तावज्ज्ञानप्रत्यनीकतया ज्ञाननिह्नवेन ज्ञानान्तरायेण ज्ञानप्रद्वेषेण ज्ञानात्याशातनया ज्ञानविसंवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म्म बध्यते, एवं दर्शनप्रत्यनीकतया यावद्दर्शनविसंवादेन दर्शनावरणीयं कर्म्म बध्यते, तथा प्राणिनामनुकम्पनतया भूतानुकम्पनतया जीवानुकम्पनतया सत्त्वानुकम्पनत्वेन बहूनां प्राणिनामदुःखोत्पादनतया अशोचनतया अजूरणतया अपीडनतया अपरितापनतया सातावेदनीयं कर्म्म बध्यते, एतद्विपर्ययाच्चासातावेदनीयमिति, तथाऽनन्तानुबन्ध्युत्कटतया तीव्रदर्शनमोहनीयतया प्रबलचारित्रमोहनीयसद्भावान्मोहनीयं कर्म्म बध्यते, महारम्भतया महापरिग्रहतया पञ्चेन्द्रियवधात् कुणिमाहारेण नरकायुष्कं बध्यते, मायावितया अनृतवादेन कूटतुलाकूटमानव्यवहारात्तिर्यगायुर्बध्यते, प्रकृतिविनीततया सानुक्रोशतया अमात्सर्यान्मनुष्यायुष्कं, सरागसंयमेन देशविरत्या बालतपसा अकामनिर्जरया देवायु-

सम्य० ४ उद्देशकः२

॥ १८२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ष्कमिति, कायर्जुतया भावर्जुतया भाषर्जुतया अविसंवादनयोगेन शुभनाम बध्यते, विपर्ययाच्च विपर्यय इति, जाति-कुलबलरूपतपःश्रुतलाभैश्वर्यमदाभावादुच्चैर्गोत्रं, जात्यादिमदात् परपरिवादाच्च नीचैर्गोत्रं, दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्त-रायविधानादान्तरायिकं कर्म्म बध्यते, एते ह्यास्रवाः, साम्प्रतं परिस्रवाः प्रतिपाद्यन्ते–अनशनादि सबाह्याभ्यन्तरं तप इत्यादि, एवमास्रवकनिर्ज्जरकाः सप्रभेदा जन्तवो वाच्याः, सर्वेऽपि च जीवादयः पदार्था मोक्षावसाना वाच्याः। एतानि च पदानि सम्बुध्यमानैस्तीर्थकरगणधरैर्लोकमभिसमेत्य पृथक् पृथक् प्रवेदितम्, अन्योऽपि तदाज्ञानुसारी चतुर्दशपूर्व-विदादिः सत्त्वहिताय परेभ्य आवेदयतीत्येतद्दर्शयितुमाह—

आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्ठावि संता अदुवा पमत्ता अहा सच्चमिणं तिबेमि, नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छा पणीया वंकानिकेया कालगहिया निचयनिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति (सू० १३१)

ज्ञानं सकलपदार्थाविर्भावकं विद्यते यस्यासौ ज्ञानी स 'आख्याति' आचष्टे 'इहे'ति प्रवचने केषां?–मानवानां, सर्वसं-वरचारित्रार्हत्वात्तेषाम्, अथवोपलक्षणं चैतद्देवादीनां, तत्रापि केवल्यादिव्युदासाय विशेषणमाह—'संसार' इत्यादि, संसारं–चतुर्गतिलक्षणं प्रतिपन्नाः संसारप्रतिपन्नाः, तत्रापि ये धर्म्मं भोत्स्यन्ते ग्रहीष्यन्ते च मुनिसुव्रतस्वामिघोटक-दृष्टान्तेन तेषामेवाख्यातीत्येतद्दर्शयति—'सम्बुध्यमानानां' यथोपदिष्टं धर्म्मं सम्यगवबुध्यमानानां, छद्मस्थेन त्वज्ञात-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बुध्यमानेतरविशेषेण यादृग्भूतानां कथयितव्यं तान् सूत्रेणैव दर्शयति—'विज्ञानप्राप्तानां' हिताहितप्राप्तिपरिहाराध्यवसायो विज्ञानं तत्प्राप्ता विज्ञानप्राप्ताः, समस्तपर्याप्तिभिः पर्याप्ताः, संज्ञिन इत्यर्थः, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"आघाइ धम्मं खलु से जीवाणं, तंजहा–संसारपडिवन्नाणं माणुसभवत्थाणं आरंभविणईणं दुक्खुव्वेअसुहेसगाणं धम्मसवणगवेसयाणं सुस्सूसमाणाणं पडिपुच्छमाणाणं विण्णाणपत्ताणं" एतच्च प्रायो गतार्थमेव, नवरमारम्भविनयिनामित्यारम्भविनयः–आरम्भाभावः स विद्यते येषामिति मत्वर्थीयस्तेषामिति । यथा च ज्ञानी धर्म्ममाचष्टे तथा दर्शयति—'अट्टावि' इत्यादि, विज्ञानं प्राप्ता धर्म्मं कथ्यमानं कुतश्चिन्निमित्तादार्त्ता अपि सन्तः चिलातिपुत्रादय इव अथवा प्रमत्ता विषयाभिष्वङ्गादिना शालिभद्रादय इव तथाविधकर्म्मक्षयोपशमापत्तेर्यथा प्रतिपद्यन्ते तथाऽऽचष्टे–यदिवाऽऽर्त्ताः–दुःखिनः प्रमत्ताः–सुखिनः, तेऽपि प्रतिपद्यन्ते धर्म्मं, किं पुनरपरे?, अथवा आर्त्ताः–रागद्वेषोदयेन प्रमत्ता विषयैः, ते च तीर्थिका गृहस्था वा संसारकान्तारं विशन्तः कथं भवतां विज्ञातज्ञेयानां करुणास्पदानां रागद्वेषविषयाभिलाषोन्मूलनाय न प्रभवन्ति । एतच्चान्यथा मा मंस्था इति दर्शयितुमाह—'अहा सच्च' मित्यादि, इदं यन्मया कथितं कथ्यमानं च तद्यथासत्यं, याथातथ्यमित्यर्थः, इत्येतदहं ब्रवीमि, यथा दुर्लभमवाप्य सम्यक्त्वं चारित्रपरिणामं वा प्रमादो न कार्यः, स्यात्–किमालम्ब्य प्रमादो न कार्यस्तदाह—'नाणागमो' इत्यादि, न ह्यनागमो मृत्योर्मुखस्य कस्यचिदपि संसारोदरवर्त्तिनोऽस्तीति, उक्तं च—"वदत यदीह कश्चिदनुसंततसुखपरिभोगलालितः । प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथमायुरवाप्तवान्नरः ॥ १ ॥ न खलु नरः सुरौघसिद्धासुरकिन्नरनायकोऽपि यः । सोऽपि कृतान्तदन्तकुलिशाक्रमेण कृशितो न नश्यति ॥२॥"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथोपायोऽपि मृत्युमुखप्रतिषेधस्य न कश्चिदस्तीति, उक्तं च—"नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां, चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः। तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधनं, तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रकचक्रमणैर्विदार्यते ॥ १ ॥" ये पुनर्विषयकषायाभिष्वङ्गात् प्रमत्ता धर्म्मं नावबुध्यन्ते ते किम्भूता भवन्तीत्याह—'इच्छा' इत्यादि, इन्द्रियमनोविषयानुकूला प्रवृत्तिरिहेच्छा तया विषयाभिमुखमभिकर्म्मबन्धं संसाराभिमुखं वा प्रकर्षेण नीता इच्छाप्रणीताः, ये चैवम्भूतास्ते 'वंकानिकेता' वङ्कस्य–असंयमस्य आ–मर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभूताः–आश्रया वङ्कानिकेताः, वङ्को वा निकेतो येषां ते वङ्कानिकेताः, पूर्वपदस्य दीर्घत्वं, ये चैवम्भूतास्ते 'कालगृहीताः' कालेन–मृत्युना गृहीताः कालगृहीताः, पौनःपुन्यमरणभाज इत्यर्थः, धर्मचरणाय वा गृहीतः–अभिसन्धितः कालो यैस्ते कालगृहीताः, आहिताग्निदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनिपातः, तथाहि—पाश्चात्ये वयसि परुत्परारि वा अपत्यपरिणयनोत्तरकालं वा धर्म्मं करिष्याम इत्येवं गृहीतकालाः, ये चैवम्भूतास्ते निचये निविष्टा–निचये कर्म्मनिचये तदुपादाने वा सावद्यारम्भनिचये निविष्टाः–अध्युपपन्नाः, ये चेच्छाप्रणीता वङ्कानिकेताः कालगृहीता निचये निविष्टास्ते तद्धर्माणः किमपरं कुर्वन्तीति दर्शयितुमाह—'पुढो पुढो' इत्यादि, पृथक्पृथगेकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिकां जातिमनेकशः 'प्रकल्पयन्ति' प्रकुर्वन्ति, पाठान्तरं वा 'एत्थ मोहे पुणो पुणो' 'अत्र' अस्मिन्निच्छाप्रणीतादिके हृषीकानुकूले मोहे कर्म्मरूपे वा मोहे निमग्नाः पुनः पुनस्तत्कुर्वन्ति येन तदप्रच्युतिः स्यात् ॥ तदप्रच्युतौ च किं स्यादित्याह—

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति, चिट्ठं कम्मेहिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कूरेहिं चिट्ठुं परिचिट्ठइ, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं नो चिट्ठुं परिचिट्ठइ, एगे वयंति अदुवावि नाणी नाणी वयंति अदुवावि एगे (सू० १३२)

'इह' अस्मिंश्चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके 'एकेषां' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायवतां 'तत्र तत्र' नरकतिर्यग्गत्यादिषु यातनास्थानकेषु 'संस्तवः' परिचयो भूयोभूयोगमनाद्भवति, ततः किमित्याह—'अहोववाइए' इत्यादि, त एवमिच्छया प्रणीतत्वादिन्द्रियवशगास्तद्वशित्वात्तदनुकूलमाचरन्तो नरकादियातनास्थानजातसंस्तवास्तीर्थिका अप्यौद्देशिकादि निर्दोषमाचक्षाणा 'अधऔपपातिकान्' नरकादिभवान् 'स्पर्शान्' दुःखानुभवान् 'प्रतिसंवेदयन्ति' अनुभवन्ति, तथाहि—लोकायतिका ब्रुवते—"पिब खाद च चारुलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ १ ॥" वैशेषिका अपि सावद्ययोगारम्भिणः, तथाहि ते भाषन्ते—'अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानमौ(प्रो)क्षणदिग्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाः' इत्यादि, अन्येऽपि सावद्ययोगानुष्ठायिनोऽनया दिशा वाच्याः, स्यात् किं सर्वोऽपीच्छाप्रणीतादिर्यावत्तत्र तत्र कृतसंस्तवोऽधऔपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयत्याहोस्वित्कश्चिदेव तद्योग्यकर्म्मकार्येवानुभवति ?, न सर्व इति दर्शयति—'चिट्ठं' इत्यादि, चिट्ठं–भृशमत्यर्थं 'क्रूरैः' वधबन्धादिभिः 'कर्म्मभिः' क्रियाभिः 'चिट्ठ'मिति भृशमत्यर्थमेव विरूपां दशां वैतरणीतरणासिपत्रवनपत्रपातापिघातशाल्मलीवृक्षालिङ्गनादिजनितामनुभवंस्तमस्तमादिस्थानेषु परितिष्ठति, यस्तु नात्यर्थं हिंसादिभिः कर्म्मभिर्वर्त्तते सोऽत्यन्तवेदनानिचिते-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१३२]

दीप अनुक्रम [१४५]

ष्वपि नरकेषु नोत्पद्यते, स्यात्–क एवं वदतीत्याह—'एगे वयंती' त्यादि, 'एके' चतुर्दशपूर्वविदादयो 'वदन्ति' ब्रुवते-ऽथवाऽपि ज्ञानी वदति, ज्ञानं–सकलपदार्थाविर्भावकम् अस्यास्तीति ज्ञानी, स चैतद् ब्रवीति, यद्दिव्यज्ञानी केवली भाषते श्रुतकेवलिनोऽपि तदेव भाषन्ते, यच्च श्रुतकेवलिनो भाषन्ते निरावरणज्ञानिनोऽपि तदेव वदन्तीत्येतद्गतप्रत्यागतसूत्रेण दर्शयति–'नाणी' इत्यादि, 'ज्ञानिनः' केवलिनो यद्वदन्त्यथवाऽप्येके–श्रुतकेवलिनो यद्वदन्ति तद्यथार्थभाषित्वादेकमेव, एकेषां सर्वार्थप्रत्यक्षत्वादपरेषां तदुपदेशप्रवृत्तेरिति, वक्ष्यमाणेऽप्येकवाक्यतेति । तदाह—

आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे–सव्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता हन्तव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा परिघेत्तव्वा उद्देवयव्वा, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो अणारियवयणमेयं, तत्थ जे आरिआ ते एवं वयासी–से दुद्दिट्ठं च भे दुस्सुयं च भे दुम्मयं च भे दुव्विण्णायं च भे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवं आइक्खह एवं भासह एवं परूवेह एवं पण्णवेह–सव्वे पाणा ४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हंतव्वा ५, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं, वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णवेमो–सव्वे पाणा ४ न हंतव्वा १ न अज्जावेयव्वा २ न परिघित्तव्वा ३ न परियावेयव्वा ४ न उद्दवेयव्वा ५, इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, आयरियवयणमेयं पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हंभो पवाइया! किं भे सायं दुक्खं असायं? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया–सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं तिबेमि (सू० १३३) ॥ चतुर्थाध्ययने द्वितीय उद्देशकः ४–२ ॥

'आवन्ती'ति यावन्तः 'केआवन्ती'ति केचन 'लोके' मनुष्यलोके 'श्रमणाः' पाषण्डिकाः 'ब्राह्मणा' द्विजातयः पृथक्पृथग् विरुद्धो वादो विवादस्तं वदन्ति, एतदुक्तं भवति–यावन्तः केचन परलोकं ईप्सवस्ते आत्मीयदर्शनानुरागितया पाराक्यं दर्शनमपवदन्तो विवदन्ते, तथाहि–भागवता ब्रुवते—"पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मोक्षः, सर्वव्याप्यात्मा निष्क्रियो निर्गुणश्चैतन्यलक्षणो, निर्विशेषं सामान्यं तत्त्व"मिति, वैशेषिकास्तु भाषन्ते—"द्रव्यादिषट्पदार्थपरिज्ञानान्मोक्षः, समवायिज्ञानगुणेनेच्छाप्रयत्नद्वेषादिभिश्च गुणैर्गुणवानात्मा, परस्परनिरपेक्षं सामान्यविशेषात्मकं तत्त्व"मिति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१३३]

दीप अनुक्रम [१४६]

शाक्यास्तु वदन्ति—"यथा परलोकानुयाय्यात्मैव न विद्यते, निःसामान्यं वस्तु क्षणिकं चे"ति, मीमांसकास्तु मोक्ष-सर्वज्ञाभावेन व्यवस्थिता इति, तथा केषाञ्चित् पृथिव्यादय एकेन्द्रिया जीवा न भवन्ति, अपरे वनस्पतीनामप्यचेत-नतामाहुः, तथा द्वीन्द्रियादीनामपि कृम्यादीनां न जन्तुस्वभावं प्रतिपद्यन्ते, तद्भावे वा न तद्वधे बन्धोऽल्पबन्धता वेति, तथा हिंसायामपि भिन्नवाक्यता, तदुक्तम्–प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्वता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥ १ ॥" इत्येवमादिक औद्देशिकपरिभोगाभ्यनुज्ञादिकश्च विरुद्धो वादः स्वत एवाभ्यूह्यः । यदि-वा ब्राह्मणाः श्रमणा धर्म्मविरुद्धं वादं यद्वदन्ति तत्सूत्रेणैव दर्शयति—'से दिट्ठं च णे' इत्यादि यावत् 'नत्थित्थ दोसो'त्ति, 'से'त्ति तच्छब्दार्थे यदहं वक्ष्ये तत् 'दृष्टम्' उपलब्धं दिव्यज्ञानेनास्माभिरस्माकं वा सम्बन्धिना तीर्थकृता आगमप्रणा-यकेन चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, श्रुतं चास्माभिर्गुर्वादेः सकाशात्, अस्मद्गुरुशिष्यैर्वा तदन्तेवासिभिर्वा मतम्–अभिमतं युक्तियुक्तत्वादस्माकमस्मत्तीर्थकराणां वा विज्ञातं च तत्त्वभेदपर्यायैरस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा, स्वतो न परो-पदेशदानेन, एतच्चोर्ध्वाधस्तिर्यक्षु दशस्वपि दिक्षु सर्वतः सर्वैः–प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यादिभिः प्रकारैः सुष्ठु प्रत्यु-पेक्षितं च–पर्यालोचितं च, मनःप्रणिधानादिना अस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा, किं तदित्याह–सर्वे प्राणाः सर्वे जीवाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वा हन्तव्या आज्ञापयितव्याः परिगृहीतव्याः परितापयितव्या अपद्रापयितव्याः, 'अत्रापि' धर्म्मचिन्तायाम-प्येवं जानीथ, यथा नास्त्यत्र यागार्थं देवतोपयाचितकतया वा प्राणिहननादौ 'दोषः' पापानुबन्ध इति, एवं यावन्तः केचन पाषण्डिका औद्देशिकभोजिनो ब्राह्मणा वा धर्म्मविरुद्धं परलोकविरुद्धं वा वादं भाषन्ते । अयं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च जीवोपमर्दकत्वात् पापानुबन्धी अनार्यप्रणीत इति, आह च—आराद्याताः सर्वहेयधर्म्मेभ्यः इत्यार्यास्तद्विपर्यासादनार्याः—क्रूरकर्म्माणस्तेषां प्राण्युपघातकारीदं वचनं, ये तु तथाभूता न ते किम्भूतं प्रज्ञापयन्तीत्याह—'तत्थ' इत्यादि, 'तत्रे'ति वाक्योपन्यासार्थे निर्धारणे वा, ये ते आर्या देशभाषाचारित्रार्यास्त एवमवादिषुर्यथा यत्तदनन्तरोक्तं दुर्दृष्टमेतदुष्टं दृष्टं दुर्दृष्टं 'भे' युस्माभिर्युष्मत्तीर्थकरेण वा, एवं यावदुष्प्रत्युपेक्षितमिति। तदेवं दुर्दृष्टादिकं प्रतिपाद्य दुष्प्रज्ञापनानुवादद्वारेण तदभ्युपगमे दोषाविष्करणमाह—'जं ण'मित्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे, यदेतद्वक्ष्यमाणं यूयमेवमाचक्ष्वमित्यादि यावदत्रापि यागोपहारादौ जानीथ यूयं यथा नास्त्येवात्र—प्राण्युपमर्दानुष्ठाने दोषः—पापानुबन्ध इति, तदेवं परवादे दोषाविर्भावनेन धर्म्मविरुद्धतामाविर्भाव्य स्वमतवादमार्या आविर्भावयन्ति—'वय' मित्यादि, पुनःशब्दः पूर्वस्माद्विशेषमाह, वयं पुनर्यथा धर्म्मविरुद्धवादो न भवति तथा प्रज्ञापयाम इति, तान्येव पदानि सप्रतिषेधानि हन्तव्यादीनि यावन्न केवलमत्र—अस्मदीये वचने नास्ति दोषोऽत्रापि—अधिकारे जानीथ यूयं यथा 'अत्र' हननादिप्रतिषेधविधौ नास्ति दोषः—पापानुबन्धः, सावधारणत्वाद्वाक्यस्य नास्त्येव दोषः, प्राण्युपघातप्रतिषेधाच्चार्यवचनमेतत्, एवमुक्ते सति ते पाषण्डिका ऊचुः—भवदीयमार्यवचनमस्मदीयं त्वनार्यमित्येतन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, युक्तिविकलत्वात्, तदत्राचार्यो यथा परमतस्यानार्यता स्यात्तथा दिदर्शयिषुः स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न विचलयिष्यन्तीतिकृत्वा प्रत्येकमतप्रच्छनार्थमाह—'पुव्व' मित्यादि, 'पूर्वम्' आदावेव 'समयम्' आगमं यद्यदीयागमेऽभिहितं तत् 'निकाच्य' व्यवस्थाप्य पुनस्तद्विरूपापादनेन परमतानार्यता प्रतिपाद्येत्यतस्तदेव परमतं प्रश्नयति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदिवा पूर्वं प्राश्निकान्निकाच्य ततः पाषण्डिकान् प्रश्नयितुमाह—'पत्तेय' मित्यादि, एकमेकं प्रति प्रत्येकं भोः प्रावादुकाः! भवतः प्रश्नयिष्यामि, किं 'भे' युष्माकं 'सातं' मनआह्लादकारि दुःखमुतासातं–मनःप्रतिकूलं?, एवं पृष्टाः सन्तो यदि सातमित्येवं ब्रूयुः ततः प्रत्यक्षागमलोकबाधा स्याद्, अथ चासातमित्येवं ब्रूयुः ततः 'समिया' सम्यक् प्रतिपन्नांस्तान् प्रावादुकान् स्ववाग्यन्त्रितानप्येवं ब्रूयात्–'अपिः' सम्भावने, सम्भाव्यते एतद्भणनं–यथा न केवलं भवतां दुःखमसातं, सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमसातं मनसोऽनभिप्रेतम् अपरिनिर्वाणम्–अनिर्वृत्तिरूपं महद्भयं दुःखमित्येतत् परिगणय्य सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या इत्यादि वाच्यं, तद्भनने च दोषः, यस्त्वदोषमाह तदनार्थवचनम्। इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, तदेवं प्रावादुकानां स्ववाग्नियन्त्रणयाऽनार्यता प्रतिपादिता, अत्रैव रोहगुप्तमन्त्रिणा विदितागमसद्भावेन माध्यस्थ्यमवलम्बमानेन तीर्थिकपरीक्षाद्वारेण यथा निराकरणं चक्रे तथा निर्युक्तिकारो गाथाभिराचष्टे—

खुड्डग पायसमासं धम्मकहंपि य अजंपमाणेणं। छन्नेण अन्नलिंगी परिच्छिया रोहगुत्तेणं ॥ २२७ ॥

अनया गाथया सङ्क्षेपतः सर्वं कथानकमावेदितं श्रुतकस्य, 'पादसमासो' गाथापादसङ्क्षेपस्तमजल्पता धर्मकथां च 'छन्नेन' प्रकटेन 'अन्यलिङ्गिनः' प्रावादुकाः 'परीक्षिताः' निरूपिताः 'रोहगुप्तेन' रोहगुप्तनाम्ना मन्त्रिणेति गाथासमासार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–चम्पायां नगर्यां सिंहसेनस्य राज्ञो रोहगुप्तो नाम महामन्त्री, स चार्हद्दर्शनभावितान्तःकरणो विज्ञातसदसद्भादः, तत्र च कदाचिद्राजाऽऽस्थानस्थो धर्म्मविचारं प्रस्तावयति, तत्र यो यस्याभिमतः स तं शोभनमुवाच, स च तूष्णीभावं भजमानो राज्ञोक्तः–धर्म्मविचारं प्रति किमपि न ब्रूते भवान्?, स त्वाह–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुद्रण-दोषात् '२२७' इति निर्युक्ति: क्रम द्वितीय वारं लिखितं |

प्रत सूत्रांक [१३३]

दीप अनुक्रम [–]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुनः संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्तिः

किमेभिः पक्षपातवचोभिः?, विमर्शामः स्वत एव धर्म्मं परीक्षामहे तीर्थिकानित्यभिधाय राजानुमत्या 'सकुण्डलं वा वदनं न व'त्ति, अयं गाथापादो नगरमध्ये आललम्बे, सम्पूर्णा तु गाथा भाण्डागारिता, नगर्यां चोद्घुष्टं, यथा–य एनं गाथापादं पूरयिष्यति तस्य राजा यथेप्सितं दानं दास्यति तद्भक्तश्च भविष्यतीति, तं च गाथापादं सर्वेऽपि गृहीत्वा प्रावादुका निर्जग्मुः, पुनश्च सप्तमेऽहनि राजानमास्थानस्थमुपस्थिताः, तत्रादावेव परिव्राड् ब्रवीति—

भिक्खं पविट्ठेण मएऽज्ज दिट्ठं, पमयामुहं कमलविसालनेत्तं ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥ २२८ ॥

सुगमं, नवरमपरिज्ञाने व्याक्षेपः कारणमुपन्यस्तं न पुनर्वीतरागतेति पूर्वगाथाविसंवादादसौ तिरस्कृत्य निर्द्धाटितः । पुनस्तापसः पठति—

फलोदएणं मि गिहं पविट्ठो, तत्थासणत्था पमया मि दिट्ठा ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥ २२९ ॥

सुगमं पूर्ववत् । तदनन्तरं शौद्धोदनिशिष्यक आह—

मालाविहारंमि मएऽज्ज दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी ।
वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥ २३० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ववद्, एवमनया दिशा सर्वेऽपि तीर्थिका वाच्याः, आर्हतस्तु पुनर्न कश्चिदागत इति राज्ञाऽभाणि, मन्त्रिणा त्वार्हतक्षुल्लकोऽप्येवम्भूतपरिणाम इत्येवं संप्रत्यय एषां स्यादित्यतो भिक्षार्थं प्रविष्टः प्रत्युषस्येव क्षुल्लकः समानीतः, तेनापि गाथापादं गृहीत्वा गाथा बभाषे, तद्यथा—

खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स, अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स ।
किं मज्झ एएण विचिंतएणं?, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥ २३१ ॥

सुगमा, अत्र च क्षान्त्यादिकमपरिज्ञाने कारणमुपन्यस्तं न पुनर्व्याक्षेप इत्यतो गाथासंवादात् क्षान्तिदमजितेन्द्रियत्वाध्यात्मयोगाधिगतेश्च कारणाद्राज्ञो धर्म्मं प्रति भावोल्लासोऽभूत्, क्षुल्लकेन च धर्म्मप्रश्नोत्तरकालं पूर्वगृहीतशुष्केतरकर्दमगोलकद्वयं भित्तौ निक्षिप्य गमनमारेभे, पुनर्गच्छन् राज्ञोक्तं–किमिति भवान् धर्म्मं पृष्टोऽपि न कथयति?, स चावोचत्–हे मुग्ध! ननु कथित एव धर्म्मो भवतः शुष्केतरगोलकदृष्टान्तेन । एतदेव गाथाद्वयेनाह—

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया । दोवि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो तत्थ (सोऽत्थ) लग्गइ ॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा । विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥ २३३ ॥

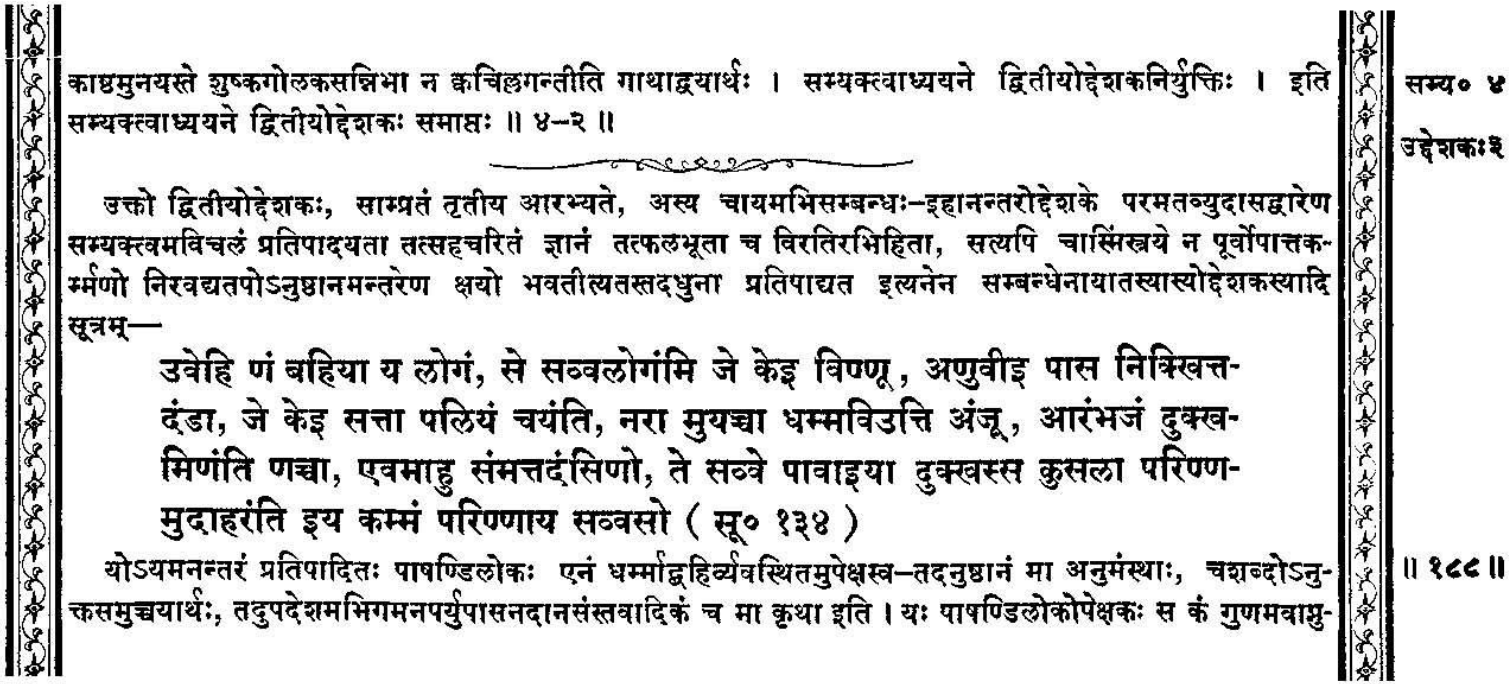
अयमत्र भावार्थः–ये ह्यङ्गप्रत्यङ्गनिरीक्षणव्यासङ्गात् कामिनीनां मुखं न पश्यन्ति तदभावे तु पश्यन्ति ते कामगृधुतया सार्द्राः, सार्द्रतया च संसारपङ्के कर्म्मकर्दमे वा लगन्ति, ये तु पुनः क्षान्त्यादिगुणोपेताः संसारसुखपराङ्मुखाः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१३४]

दीप अनुक्रम [१४७]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १८८ ॥

काष्ठमुनयस्ते शुष्कगोलकसन्निभा न क्वचिल्लगन्तीति गाथाद्वयार्थः । सम्यक्त्वाध्ययने द्वितीयोद्देशकनिर्युक्तिः । इति सम्यक्त्वाध्ययने द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥ ४–२ ॥

सम्य० ४ उद्देशकः २

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके परमतव्युदासद्वारेण सम्यक्त्वमविचलं प्रतिपादयता तत्सहचरितं ज्ञानं तत्फलभूता च विरतिरभिहिता, सत्यपि चास्मिंस्त्रये न पूर्वोपात्तकर्म्मणो निरवद्यतपोऽनुष्ठानमन्तरेण क्षयो भवतीत्यतस्तदधुना प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगंमि जे केइ विण्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाहु संमत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो (सू० १३४)

थोऽयमनन्तरं प्रतिपादितः पाषण्डिलोकः एनं धर्म्माद्बहिर्व्यवस्थितमुपेक्षस्व–तदनुष्ठानं मा अनुमंस्थाः, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तदुपदेशमभिगमनपर्युपासनदानसंस्तवादिकं च मा कृथा इति । यः पाषण्डिलोकोपेक्षकः स कं गुणमवाप्नु-

॥ १८८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ-अध्ययने तृतीय-उद्देशक: 'अनवद्यतप' आरब्ध:,

यादित्याह—'से सव्वलोए' इत्यादि, यः पाषण्डिलोकमनार्यवचनमवगम्य तदुपेक्षां विधत्ते स सर्वस्मिंल्लोके–मनुष्यलोके ये केचिद्विद्वांसस्तेभ्योऽग्रणीर्विद्वत्तम इति स्यात्, लोके केचन विद्वांसः सन्ति? येभ्योऽधिकः स्यादित्यत आह—'अणुवीइ' इत्यादि, ये केचन लोके 'निक्षिप्तदण्डाः' निश्चयेन क्षिप्तो निक्षिप्तः–परित्यक्तः कायमनोवाङ्मयः प्राण्युपघातकारी दण्डो यैस्ते विद्वांसो भवन्त्येव एतदनुविचिन्त्य–पर्यालोच्य पश्य–अवगच्छ। के चोपरतदण्डा इत्यत आह—'जे केइ' इत्यादि, ये केचनावगतधर्म्माणः सत्त्वाः–प्राणिनः 'पलित'मिति कर्म्म तत्त्यजन्ति, ये चोपरतदण्डा भूत्वाऽष्टप्रकारं कर्म्म घ्नन्ति ते विद्वांस इत्येतदनुविचिन्त्य–अक्षिनिमीलनेन पर्यालोच्य 'पश्य' विवेकिन्या मत्याऽवधारय। के पुनरशेषकर्म्मक्षयं कुर्वन्ति? इत्यत आह—'नरे' इत्यादि, नराः–मनुष्यास्त एवाशेषकर्म्मक्षयायालं नान्ये, तेऽपि न सर्वे अपि तु मृतार्चा–मृतेव मृता संस्काराभावादर्चा शरीरं येषां ते तथा, निष्प्रतिकर्म्मशरीरा इत्यर्थः, यदिवा अर्चा–तेजः, स च क्रोधः, स च कषायोपलक्षणार्थः, ततश्चायमर्थो–मृता–विनष्टा अर्चा कषायरूपा येषां ते मृतार्चाः, अकषायिण इत्यर्थः, किं च—'धम्मं' श्रुतचारित्राख्यं विदन्तीति धर्म्मविदः, इति हेतौ, यत एव धर्म्मविदोऽत एव ऋजवः–कौटिल्यरहिताः। स्यादेतत्–किमालम्ब्यैतद्विधेयमित्यत आह—'आरंभज' मित्यादि, सावद्यक्रियानुष्ठानमारम्भस्तस्माज्जातमारम्भजं, किं तद्?–दुःखमिदमिति सकलप्राणिप्रत्यक्षं, तथाहि–कृषिसेवावाणिज्याद्यारम्भप्रवृत्तो यच्छारीरमानसं दुःखमनुभवति तद्वाचामगोचरमित्यतः प्रत्यक्षाभिधायिनेदमोक्तम्, 'इतिः' उपप्रदर्शने, इत्येतदनुभवसिद्धं दुःखं ज्ञात्वा मृतार्चा धर्म्मविद ऋजवश्च भवन्तीति। एतच्च समस्तवेदिनो भाषन्त इति दर्शयति—'एव'मित्यादि, 'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण 'आहुः' उक्तवन्तः, के एव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माहुः?–समत्वदर्शिनः सम्यक्त्वदर्शिनः समस्तदर्शिनो वा, यदुद्देशकादेरारभ्योक्तं तदेवमूचुरित्यर्थः, कस्मात्त ऊचुरित्याह —'ते सव्वे' इत्यादि, यस्मात्ते सर्वेऽपि सर्वविदः 'प्रावादिकाः' प्रकर्षेण मर्यादया वदितुं शीलं येषां ते प्रावादिनः, त एव प्रावादिकाः–यथावस्थितार्थस्य प्रतिपादनाय वाववूकाः, 'दुःखस्य' शारीरमानसलक्षणस्य तदुपादानस्य वा कर्म्मणः 'कुशलाः' निपुणास्तदपनोदोपायवेदिनः सन्तः ते सर्वेऽपि ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय हेयार्थस्य प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, 'इतिः' उपप्रदर्शने, इत्येवं पूर्वोक्तनीत्या कर्म्मबन्धोदयसत्कर्म्मताविधानतः परिज्ञाय 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैः कुशलाः प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, यदिवा मूलोत्तरप्रकृतिप्रकारैः सर्वैः परिज्ञायेति मूलप्रकारा अष्टौ उत्तरप्रकृतिप्रकारा अष्टपञ्चाशदुत्तरं शतम्, अथवा प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशप्रकारैः, यदिवोदयप्रकारैर्बन्धसत्कर्म्मताकार्यभूतैरागामिबन्धसत्कर्म्मताकारणैश्च कर्म्म परिज्ञायेति, ते चामी उदयप्रकाराः, तद्यथा–मूलप्रकृतीनां त्रीण्युदयस्थानानि, अष्टविधं सप्तविधं चतुर्विधमिति, तत्राष्टापि कर्म्मप्रकृतीर्यौगपद्येन वेदयतोऽष्टविधं, तच्च कालतोऽनादिकमपर्यवसितमभव्यानां भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितं सादिसपर्यवसितं चेति, मोहनीयोपशमे क्षये वा सप्तविधं, घातिक्षये चतुर्विधमिति । साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानान्युच्यन्ते, तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययोः पञ्चप्रकारं एकमुदयस्थानं, दर्शनावरणीयस्य द्वे, दर्शनचतुष्कस्योदयाच्चत्वारि अन्यतरनिद्रया सह पञ्च, वेदनीयस्य सामान्येनैकमुदयस्थानं सातमसातं वेति, विरोधाद्यौगपद्योदयाभावः, मोहनीयस्य सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा–दश नव अष्टौ सप्त षट् पञ्च चत्वारि द्वे एकं चेति, तत्र दश मिथ्यात्वं १ अनन्तानुबन्धी क्रोधोऽप्रत्याख्यानः प्रत्याख्यानावरणः सञ्ज्वलनश्चेत्येतत्क्रोधचतुष्टयम् ५ एवं मानादि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुष्टयमपि योज्यं अन्यतरो वेदः ६ हास्यरतियुग्मम् अरतिशोकयुग्मं वा ८ भयं ९ जुगुप्सा १० चेति, भयजुगुप्सयोरन्यतराभावे नव, द्वयाभावेऽष्टौ, अनन्तानुबन्ध्यभावे सप्त, मिथ्यात्वाभावे षट्, अप्रत्याख्यानोदयाभावे पञ्च, प्रत्याख्यानावरणाभावे चत्वारि, परिवर्त्तमानयुगलाभावे सञ्ज्वलनान्यतरवेदोदये सति द्वे, वेदाभावे एकमिति, आयुषोऽप्येकमेवोदयस्थानं चतुर्णामायुषामन्यतरदिति, नाम्नो द्वादशोदयस्थानानि, तद्यथा–विंशतिः एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ चेति, तत्र संसारस्थानां सयोगिनां जीवानां दशोदयस्थानानि नाम्नो भवन्ति, अयोगिनां तु चरमद्वयमिति, अत्र च द्वादश ध्रुवोदयाः कर्म्मप्रकृतयः, तद्यथा–तैजसकार्म्मणे शरीरे २ वर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्टय ६ अगुरुलघु ७ स्थिरं ८ अस्थिरं ९ शुभं १० अशुभं ११ निर्म्माण १२ मिति, तत्र विंशतिरतीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणशरीरयोगिनो भवति, तद्यथा–मनुष्यगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ त्रसं ३ बादरं ४ पर्याप्तकं ५ सुभगं ६ आदेयं ७ यशःकीर्त्तिरिति ८ ध्रुवोदय १२ सहिता विंशतिः २०, एकविंशत्यादीनि तूदयस्थानानि एकत्रिंशत्पर्यन्तानि जीवगुणस्थानभेदादनेकभेदानि भवन्ति, तानि चेह ग्रन्थगौरवभयात् प्रत्येकं नोच्यन्त इत्यत एकैकभेदाभेदनं क्रियते, तत्रैकविंशतिः गतिः १ जातिः २ आनुपूर्वी ३ त्रसं ४ बादरं ५ पर्याप्तापर्याप्तयोरन्यतरत् ६ सुभगदुर्भगयोरन्यतरत् ७ आदेयानादेययोरन्यतरत् ८ यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरत् ९, एताश्च नव ध्रुवोदय १२ सहिता एकविंशतिः २१, चतुर्विंशतिस्तु तिर्यग्गतिः १ एकेन्द्रियजातिः २ औदारिकं ३ हुण्डसंस्थानं ४ उपघातं ५ प्रत्येकसाधारणयोरन्यतरत् ६ स्थावरं ७ सूक्ष्मबादरयोरन्यतरत् ८ दुर्भगं ९ अनादेयं १० अपर्याप्तकं ११ यशःकीर्त्ययशः-

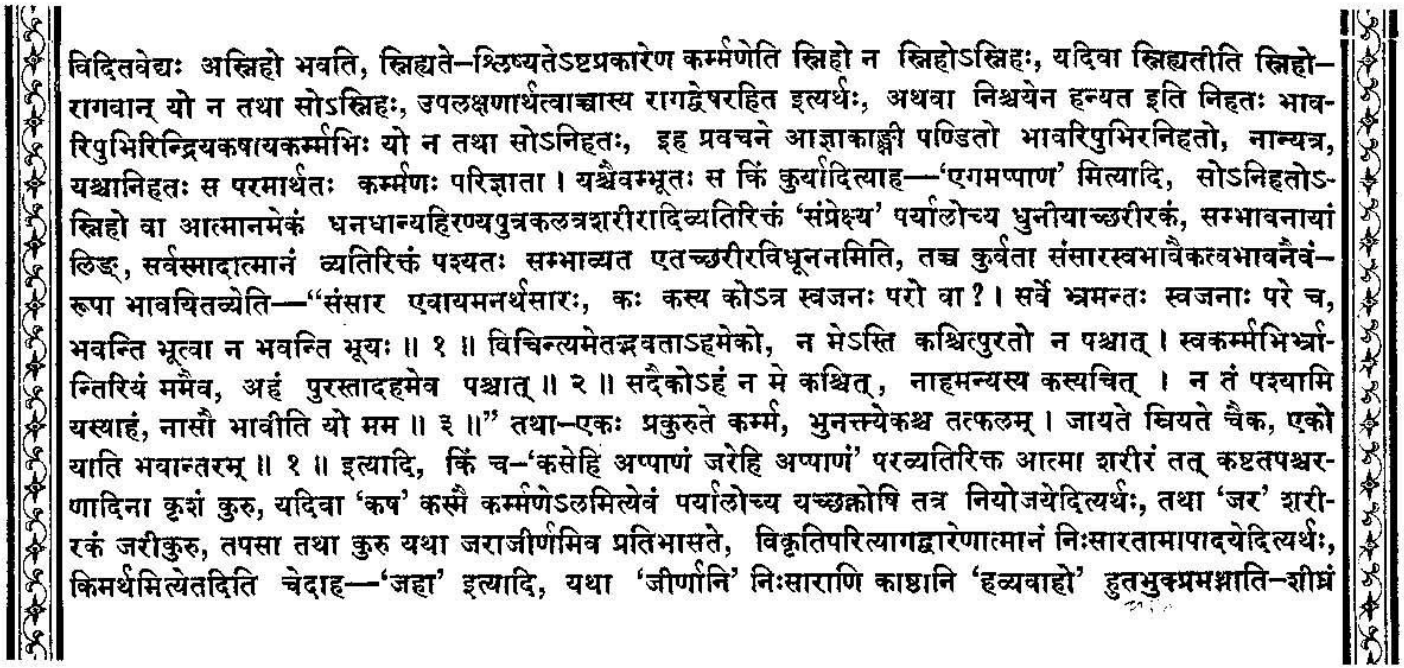
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कीर्त्योरन्यतर १२ दिति, तत्रैवापर्याप्तकापनयने पर्याप्तकपराघाताभ्यां प्रक्षिप्ताभ्यां पञ्चविंशतिः २५, षड्विंशतिस्तु या-ऽसौ केवलिनो विंशतिरभिहिता सैवौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गद्वयान्यतरसंस्थानाद्यसंहननोपघातप्रत्येकसहिता वेदितव्या मिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य २६, सैव तीर्थकरनामसहिता केवलिसमुद्घातवतो मिश्रकाययोगिन एव सप्तविंशतिः २७, सैव प्रशस्तविहायोगतिसमन्विताऽष्टाविंशतिः २८, तत्र तीर्थकरनामापनयने उच्छ्वास १ सुस्वर २ पराघात ३ प्रक्षेपे सति त्रिंशद्भवति ३०, तत्र सुस्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत् २९, सैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशत् ३१, नवोदयस्तु मनु-ष्यगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ त्रसं ३ बादरं ४ पर्याप्तकं ५ सुभगं ६ आदेयं ७ यशःकीर्त्ति ८ स्तीर्थकरमिति ९, एता अयोगितीर्थकरकेवलिनः, एता एव तीर्थकरनामरहिता अष्टाविति ८, गोत्रस्यैकमेव सामान्येनोदयस्थानं, उच्चनीचयोर-न्यतरद्, यौगपद्येनोदयाभावो विरोधादिति, तदेवमुदयभेदैरनेकप्रकारतां कर्म्मणः परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ती-ति ॥ यदि नाम कर्म्मपरिज्ञामुदाहरन्ति ततः किं कार्यमित्याह—

इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं,–जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ । एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे (सू० १३५)

'इह' अस्मिन् प्रवचने आज्ञामाकाङ्क्षितुं शीलमस्येति आज्ञाकाङ्क्षी–सर्वज्ञोपदेशानुष्ठायी, यश्चैवम्भूतः स 'पण्डितो'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



विदितवेद्यः अस्निहो भवति, स्निह्यते–श्लिष्यतेऽष्टप्रकारेण कर्म्मणेति स्निहो न स्निहोऽस्निहः, यदिवा स्निह्यतीति स्निहो–रागवान् यो न तथा सोऽस्निहः, उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य रागद्वेषरहित इत्यर्थः, अथवा निश्चयेन हन्यत इति निहतः भाव-रिपुभिरिन्द्रियकषायकर्म्मभिः यो न तथा सोऽनिहतः, इह प्रवचने आज्ञाकाङ्क्षी पण्डितो भावरिपुभिरनिहतो, नान्यत्र, यश्चानिहतः स परमार्थतः कर्म्मणः परिज्ञाता। यश्चैवम्भूतः स किं कुर्यादित्याह—'एगमप्पाण' मित्यादि, सोऽनिहतोऽ-स्निहो वा आत्मानमेकं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रशरीरादिव्यतिरिक्तं 'संप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य धुनीयाच्छरीरकं, सम्भावनायां लिङ्, सर्वस्मादात्मानं व्यतिरिक्तं पश्यतः सम्भाव्यत एतच्छरीरविधूननमिति, तच्च कुर्वता संसारस्वभावैकत्वभावनैवं–रूपा भावयितव्येति—"संसार एवायमनर्थसारः, कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा?। सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः ॥ १ ॥ विचिन्त्यमेतद्भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात्। स्वकर्म्मभिर्भ्रा-न्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥ २ ॥ सदैकोऽहं न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित्। न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम ॥ ३ ॥" तथा–एकः प्रकुरुते कर्म्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम्। जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥ १ ॥ इत्यादि, किं च–'कसेहिं अप्पाणं जरेहि अप्पाणं' परव्यतिरिक्त आत्मा शरीरं तत् कष्टतपश्चर-णादिना कृशं कुरु, यदिवा 'कष' कसौ कर्म्मणेऽलमित्येवं पर्यालोच्य यच्छक्नोषि तत्र नियोजयेदित्यर्थः, तथा 'जर' शरी-रकं जरीकुरु, तपसा तथा कुरु यथा जराजीर्णमिव प्रतिभासते, विकृतिपरित्यागद्वारेणात्मानं निःसारतामापादयेदित्यर्थः, किमर्थमित्येतदिति चेदाह—'जहा' इत्यादि, यथा 'जीर्णानि' निःसाराणि काष्ठानि 'हव्यवाहो' हुतभुक्प्रमथ्नाति–शीघ्रं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भस्मसात् करोति, दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—'एवं अत्तसमाहिए' 'एवम्' अनन्तरोक्तदृष्टान्तप्रकारेणात्मना समाहितः आत्मसमाहितः, ज्ञानदर्शनचारित्रोपयोगेन सदोपयुक्त इत्यर्थः, आत्मा वा समाहितोऽस्येत्यात्मसमाहितः, सदा शुभव्यापारवानित्यर्थः, आहिताग्न्यादिदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनिपातः, यदिवा प्राकृते पूर्वोत्तरनिपातोऽतन्त्रः, समाहितात्मेत्यर्थः, 'अस्निहः' स्नेहरहितः संस्तपोऽग्निना कर्म्मकाष्ठं दहतीति भावार्थः ॥ एतदेव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकगतमर्थं निर्युक्तिकारो गाथयोपसङ्गिघृक्षुराह—

जह खलु झुसिरं कट्ठं सुचिरं सुक्कं लहुं डहइ अग्गी । तह खलु खवंति कम्मं सम्मचरणे ठिया साहू ॥ २३४ ॥

गतार्था । अत्र चास्निहपदेन रागनिवृत्तिं विधाय द्वेषनिवृत्तिं विधित्सुराह—'विगिंच कोह'मित्यादि, कारणेऽकारणे वाऽतिक्रूराध्यवसायः क्रोधः तं परित्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयति–अविकम्पमानः ॥ किं विगणय्यैतत्कुर्यादित्याह—

इमं निरुद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं च जाण अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे,
लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया,
तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि त्तिबेमि (सू० १३६) चतुर्थे तृतीयः ॥ ४–३ ॥

'इदं' मनुष्यत्वं 'निरुद्धायुष्कं' निरुद्धं–परिगलितमायुष्कं 'सम्प्रेक्ष्य' पर्यालोच्य क्रोधादिपरित्यागं विदध्यात्, किं च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—'दुक्ख' मित्यादि, क्रोधादिना दन्दह्यमानस्य यन्मानसं दुःखमुत्पद्यते तज्जानीहि, तज्जनितकर्म्मविपाकापादितं चागामि दुःखं सम्प्रेक्ष्य क्रोधादिकं प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानीहि, परित्यजेरित्यर्थः, आगामिदुःखस्वरूपमाह—'पुढो' इत्यादि, पृथक् सप्तमनरकपृथिवीसम्भवशीतोष्णवेदनाकुम्भीपाकादियातनास्थानेषु 'स्पर्शान्' दुःखानि, चः समुच्चये, न केवलं क्रोधाध्मातस्तस्मिन्नेव क्षणे दुःखमनुभवतीत्यागामीनि पृथग् दुःखानि च स्पृशेद्—अनुभवेत्, तेन चातिदुःखेनापरोऽपि लोको दुःखित इत्येतदाह—'लोयं च' इत्यादि, न केवलं क्रोधादिविपाकादात्मा दुःखान्यनुभवति, लोकं च शारीरमानसदुःखापन्नं विस्पन्दमानमस्वतन्त्रमितश्चेतश्च दुःखप्रतीकाराय धावन्तं 'पश्य' विवेकचक्षुषाऽवलोकय । ये त्वेवं न ते किम्भूता भवन्तीत्यत आह—'जे निव्वुडा' इत्यादि, ये तीर्थकरोपदेशवासितान्तःकरणा विषयकषायाद्युपशमान्निर्वृताः—शीतीभूताः पापेषु कर्म्मसु 'अनिदानाः' निदानरहितास्ते परमसुखास्पदतया व्याख्याताः, औपशमिकसुखभाक्त्वेन प्रसिद्धा इत्यर्थः, यत एवं ततः किमित्याह—'तम्हा' इत्यादि, यस्माद्रागद्वेषाभिभूतो दुःखभाग्भवति तस्मादतिविद्वान्—विदितागमसद्भावः सन्न प्रतिसञ्ज्वलेः—क्रोधाग्निनाऽऽत्मानं नोद्दीपयेः, कषायोपशमं कुर्वित्यर्थः । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, सम्यक्त्वाध्ययने तृतीयोद्देशकटीका समाप्तेति ।

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशके निरवद्यं तपोऽभिहितं, तच्चाविकलं सत्संयमव्यवस्थितस्य भवतीत्यतः संयमप्रतिपादनाय चतुर्थोद्देशक इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशस्यादि सूत्रम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ-अध्ययने चतुर्थ-उद्देशकः 'संक्षेप वचन' आरब्धः,

आवीलए पवीलए निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए, दुरणुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि (सू० १३७)

आडीषदर्थे, ईषत्पीडयेद् अविकृष्टेन तपसा शरीरकमापीडयेद्, एतच्च प्रथमप्रव्रज्याऽवसरे, तत ऊर्द्ध्वमधीतागमः परिणतार्थसद्भावः सन् प्रकर्षेण विकृष्टतपसा पीडयेत्प्रपीडयेत्, पुनरध्यापितान्तेवासिवर्गः सङ्क्रामितार्थसारः शरीरं तित्यक्षुर्मासार्द्धमासक्षपणादिभिः शरीरं निश्चयेन पीडयेन्निष्पीडयेत्, स्यात्–कर्म्मक्षयार्थं तपोऽनुष्ठीयते, स च पूजालाभख्यात्यर्थेन तपसा न भवत्यतो निरर्थक एव शरीरपीडनोपदेश इत्यतोऽन्यथा व्याख्यायते–कर्म्मैव कार्मणशरीरं वा आपीडयेत्प्रपीडयेन्निष्पीडयेत्,अत्रापीषदर्थादिका प्रकर्षगतिरवसेया,यदिवा आपीडयेत्कर्म्म अपूर्वकरणादिकेषु सम्यग्दृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु, ततोऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरयोः प्रपीडयेत्, सूक्ष्मसम्परायावस्थायां तु निष्पीडयेत्, अथवा आपीडनमुपशमश्रेण्यां प्रपीडनं क्षपकश्रेण्यां निष्पीडनं तु शैलेश्यवस्थायामिति । किं कृत्वैतत्कुर्यादित्याह—'जहित्ता' इत्यादि, पूर्वः संयोगः पूर्वसंयोगो–धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतस्तं त्यक्त्वा, यदिवा पूर्वः–असंयमोऽनादिभवाभ्यासात्तेन संयोगः पूर्वसंयोगस्तं त्यक्त्वा 'आवीलये'दित्यादिसम्बन्धः, किं च—'हिच्चा'इत्यादि, 'हि गता'वित्यस्मात् पूर्वकाले क्त्वा 'हित्वा' गत्वा, किं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत् ?–उपशमं–इन्द्रियनोइन्द्रियजयरूपं संयमं वा 'गत्वा' प्रतिपद्यापीडयेदिति वर्त्तते, इदमुक्तं भवति–असंयमं त्यक्त्वा संयमं प्रतिपद्य तपश्चरणादिनाऽऽत्मानं कर्म्म वाऽऽपीडयेत् प्रपीडयेन्निष्पीडयेदिति, यतः कर्म्मापीडनार्थमुपशमप्रतिपत्तिस्तत्प्रतिपत्तौ चाविमनस्कतेत्याह—'तम्हा' इत्यादि, यस्मात्कर्म्मक्षयायासंयमपरित्यागस्तत्परित्यागे चावश्यंभावी संयमस्तत्र च न चित्तवैमनस्यमिति, तस्मादविमना विगतं भोगकषायादिष्वरतौ वा मनो यस्य स विमना यो न तथा सोऽविमनाः, कोऽसौ?, वीरः–कर्म्मविदारणसमर्थः,। अविमनस्कत्वाच्च यत्स्यात्तदाह—'सारए' इत्यादि, सुष्ठा–जीवनमर्यादया संयमानुष्ठाने रतः स्वारतः, पञ्चभिः समितिभिः समितः, सह हितेन सहितो ज्ञानादिसमन्वितो वा सहितः, 'सदा' सर्वकालं सकृदारोपितसंयमभारः संस्तत्र 'यतेत' यत्नवान् भवेदिति । किमर्थं पुनः पौनःपुन्येन संयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशो दीयते? इत्याह—'दुरनुचरो' इत्यादि, दुःखेनानुचर्यत इति दुरनुचरः, कोऽसौ ?–मार्गः–संयमानुष्ठानविधिः, केषां ?–'वीराणाम्' अप्रमत्तयतीनां, किम्भूतानामित्याह—'अणियट्ट' इत्यादि, अनिवर्त्तो–मोक्षस्तत्र गन्तुं शीलं येषां ते तथा तेषामिति, यथा च तन्मार्गानुचरणं कृतं भवति तद्दर्शयति—'विगिंच' इत्यादि, 'मांसं' शोणितं दर्प्पकारि विकृष्टतपोऽनुष्ठानादिना 'विवेचय' पृथक्कुरु, तद्ध्रासं विधेहीतियावत्, एवं वीराणां मार्गानुचरणं कृतं भवतीति भावः । यश्चैवम्भूतः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह—'एस' इत्यादि, 'एष' मांसशोणितयोरपनेता पुरि शयनात् पुरुषः द्रवः–संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकः, मत्वर्थीयष्ठन्, द्रव्यभूतो वा मुक्तिगमनयोग्यत्वात्, कर्म्मरिपुविदारणसहिष्णुत्वाद्वीर इति, मांसशोणितापचयप्रतिपादनाच्च तदुत्तरेषामपि मेदआदीनामपचय उक्त एव द्रष्टव्यः, तद्भावभावित्वात्तेषामिति । किं च—'आयाणिज्जे' इत्यादि, स वी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राणां मार्गं प्रतिपन्नः मांसशोणितयोरपनेता मुमुक्षूणामादानीयो–ग्राह्य आदेयवचनश्च व्याख्यात इति। कश्चैवम्भूत इत्याह —'जे धुणाइ' इत्यादि, 'ब्रह्मचर्ये' संयमे मदनपरित्यागे वोषित्वा यः 'समुच्छ्रयं' शरीरकं कर्म्मोपचयं वा तपश्चरणादिना 'धुनाति' कृशीकरोति स आदानीय इति विवेधमाख्यातो व्याख्यात इति सम्बन्धः ॥ उक्ता अप्रमत्ताः, तद्विधर्म्मणस्तु प्रमत्तानभिधित्सुराह—

नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगढिए बाले, अव्वोच्छिन्नबंधणे अणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो नत्थि त्तिबेमि (सू० १३८)

नयंत्यर्थदेशम्–अर्थक्रियासमर्थमर्थमाविर्भावयन्तीति नेत्राणि–चक्षुरादीनीन्द्रियाणि तैः परिच्छिन्नैः–यथास्वं विषयग्रहणं प्रति निरुद्धैः सद्भिरादानीयोऽपि भूत्वोषित्वा ब्रह्मचर्ये पुनर्मोहोदयादादानस्रोतोगृद्धः–आदीयते–सावद्यानुष्ठानेन स्वीक्रियत इत्यादानं–कर्म्म संसारबीजभूतं तस्य स्रोतांसि–इन्द्रियविषया मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा वा तेषु गृद्धः–अध्युपपन्नः स्यात्, कोऽसौ?—'बालः' अज्ञः रागद्वेषमहामोहाभिभूतान्तःकरणः। यश्चादानस्रोतोगृद्धः स किम्भूतः स्यादित्याह—'अव्वोच्छिन्नबंधणे' इत्यादि, अव्यवच्छिन्नं जन्मशतानुवृत्ति बन्धनम्–अष्टप्रकारं कर्म्म यस्य स तथा, किं च —'अणभिक्कंत' इत्यादि, अनभिक्रान्तः–अनतिलङ्घितः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतोऽसंयमसंयोगो वा येनासावनभिक्रान्तसंयोगः तस्य चैवम्भूतस्येन्द्रियानुकूल्यरूपे मोहात्मके वा तमसि वर्त्तमानस्यात्महितं मोक्षोपायं वाऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विजानत आज्ञायाः–तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्तीत्येतदहं ब्रवीमि तीर्थकरवचनोपलब्धसद्भाव इति, यदिवाऽऽज्ञा बोधिः सम्यक्त्वम्, अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकालविषयी, तेनायमर्थः–तस्यानभिक्रान्तसंयोगस्य भावतमसि वर्त्तमानस्य बोधिलाभो नासीन्नास्ति न भावीति। एतदेवाह—

जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया?, से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए,
संममेयंति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं,
निक्कंमदंसी इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी (सू० १३९)

यस्य कस्यचिदविशेषितस्य कर्म्मादानस्रोतोगृद्धस्य बालस्याव्यवच्छिन्नबन्धनस्यानभिक्रान्तसंयोगस्याज्ञानतमसि वर्त्तमानस्य 'पुरा' पूर्वजन्मनि बोधिलाभो नास्ति–सम्यक्त्वं नासीत् 'पश्चादपि' एष्येऽपि जन्मनि न भावि 'मध्ये' मध्यजन्मनि तस्य कुतः स्यात् इति?, एतदुक्तं भवति–यस्यैव पूर्वं बोधिलाभः संवृत्तो भविष्यति वा तस्यैव वर्त्तमानकाले भवति, येन हि सम्यक्त्वमास्वादितं पुनर्मिथ्यात्वोदयात्तत्प्रच्यवते तस्यापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेनापि कालेनावश्यं तत्सद्भावात्, न ह्ययं सम्भवोऽस्ति प्रच्युतस्य सम्यक्त्वस्य पुनरसम्भव एवेति, अथवा निरुद्धेन्द्रियोऽपि आदानस्रोतोगृद्ध इत्युक्तः, तद्विपर्ययभूतस्य त्वतिक्रान्तसुखस्मरणमकुर्वतः आगामि च दिव्याङ्गनाभोगमनभिकाङ्क्षतो वर्त्तमानसुखाभिष्वङ्गोऽपि नैव स्यादित्येतदर्शयितुमाह—'जस्स नत्थि' इत्यादि, यस्य भोगविपाकवेदिनः पूर्वभुक्तानुस्मृतिर्नास्ति नापि पाश्चात्यकाल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगाभिलाषिता विद्यते तस्य व्याधिचिकित्सारूपान् भोगान् भावयतो 'मध्ये' वर्त्तमानकाले कुतो भोगेच्छा स्यात्?, मोहनीयोपशमान्नैव स्यादित्यर्थः। यस्य तु त्रिकालविषया भोगेच्छा निवृत्ता स किम्भूतः स्यादित्याह—'से हु' इत्यादि, 'हुः' यस्मादर्थे यस्मान्निवृत्तभोगाभिलाषस्तस्मात्स प्रज्ञानवान्–प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानं–जीवाजीवादिपरिच्छेत्तृ तद्विद्यते यस्यासौ प्रज्ञानवान्, यत एव प्रज्ञानवानत एव बुद्धः–अवगततत्त्वो, यत एवम्भूतोऽत एवाह—'आरंभोवरए' सावद्यानुष्ठानमारम्भस्तस्मादुपरत आरम्भोपरतः। एतच्चारम्भोपरमणं शोभनमिति दर्शयन्नाह—'सम्म'मित्यादि, यदिदं सावद्यारम्भोपरमणं सम्यगेतत्–शोभनमेतत् सम्यक्त्वकार्यत्वाद्वा सम्यक्त्वमेतदित्येवं पश्यत–एवं गृह्णीत यूयमिति। किमित्यारम्भोपरमणं सम्यगिति चेदाह—'जेण' इत्यादि, येन कारणेन सावद्यारम्भप्रवृत्तो बन्धं निगडादिभिः वधं कशादिभिः 'घोरं' प्राणसंशयरूपं 'परितापं' शारीरमानसं 'दारुणं' असह्यमवाप्नोत्यत आरम्भोपरमणं सम्यग्भूतं कुर्यात्, किं कृत्वेत्याह—'पलिच्छिन्दि'इत्यादि, 'परिच्छिन्द्य' अपनीय, किं तत्?—'स्रोतः' पापोपादानं, तच्च बाह्यं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिरूपं हिंसाद्याश्रवद्वारात्मकं वा, चशब्दादान्तरं च रागद्वेषात्मकं विषयपिपासारूपं वेति, किं च—'णिक्कम्मदंसी'त्यादि, निष्क्रान्तः कर्म्मणो निष्कर्म्मा–मोक्षः संवरो वा तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्म्मदर्शी, 'इहे'ति संसारे मर्त्येषु मध्ये य एव निष्कर्म्मदर्शी स एव बाह्याभ्यन्तरस्रोतसश्छेत्तेति स्यात्। किमभिसन्ध्य स बाह्याभ्यन्तरसंयोगस्य छेत्ता निष्कर्म्मदर्शी वा भवेत् इत्यत आह—'कम्माणं'इत्यादि, मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियन्ते–बध्यन्त इति कर्म्माणि–ज्ञानावरणीयादीनि तेषां सफलत्वं दृष्ट्वा स वा निष्कर्म्मदर्शी वेदविद्वा कर्म्मणां फलं दृष्ट्वा, तेषां च फलं–ज्ञाना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वरणीयस्य ज्ञानावृतिः दर्शनावरणस्य दर्शनाच्छादनं वेदनीयस्य विपाकोदयजनिता वेदनेत्यादि, ननु च न सर्वेषां कर्म्मणां विपाकोदयमिच्छन्ति, प्रदेशानुभवस्यापि सद्भावात् तपसा च क्षयोपपत्तेरित्यतः कथं कर्म्मणां सफलत्वं?, नैष दोषो, नात्र प्रकारकात्स्न्र्यमभिप्रेतम्, अपितु द्रव्यकात्स्न्र्यं, तच्चास्त्येव, तथाहि–यद्यपि प्रतिबन्धव्यक्ति न विपाकोदयस्तथाप्यष्टानामपि कर्म्मणां सामान्येन सोऽस्त्येवेत्यतः कर्म्मणां सफलत्वमुपलभ्यते, तस्मात्–कर्म्मणस्तदुपादानादास्रवाद्वा निश्चयेन याति निर्याति–निर्गच्छति, तन्न विधत्त इतियावत्, कोऽसौ?—'वेदविद्' वेद्यते सकलं चराचरमनेनेति वेदः–आगमस्तं वेत्तीति वेदवित्, सर्वज्ञोपदेशवर्त्तीत्यर्थः ॥ न केवलस्य ममैवायमभिप्रायः, सर्वेषामेव तीर्थकराणामयमाशय इति दर्शयितुमाह—

जे खलु भो! वीरा ते समिया सहिया सयाजया संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं इय सच्चंसि परि (चिए) चिट्ठिंसु, साहिस्सामो नाणं वीराणं समियाणं सहियाणं सयाजयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही?, पासगस्स न विज्जइ नत्थित्तिबेमि (सू०१४०) ॥ चतुर्थे चतुर्थः ४–४ । इति सम्यक्त्वाध्ययनम् ॥ ४ ॥

यदिवा उक्तः सम्यग्वादो निरवद्यं तपश्चारित्रं च, अधुना तत्फलमुच्यते—'जे खलु' इत्यादि, खलुशब्दो वाक्याल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ङ्गारे, ये केचनातीतानागतवर्त्तमानाः 'भो' इत्यामन्त्रणे 'वीराः' कर्म्मविदारणसहिष्णवः समिताः समितिभिः सहिता ज्ञानादिभिः सदा यताः सत्संयमेन 'संघडदंसिणो'त्ति निरन्तरदर्शिनः शुभाशुभस्य आत्मोपरताः पापकर्म्मभ्यो यथा तथा अवस्थितं 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकं कर्म्मलोकं वोपेक्षमाणाः–पश्यन्तः सर्वासु प्राच्यादिषु दिक्षु व्यवस्थिता इत्येवंप्रकाराः 'सत्य'मिति ऋतं तपः संयमो वा तत्र परिचिते–स्थिरे तस्थुः–स्थितवन्तः, उपलक्षणार्थत्वात् त्रिकालविषयता द्रष्टव्या, तत्रातीते काले अनन्ता अपि सत्ये तस्थुः वर्त्तमाने पञ्चदशसु कर्म्मभूमिषु सङ्ख्येयास्तिष्ठन्ति अनागते अनन्ता अपि स्थास्यन्ति, तेषां चातीतानागतवर्त्तमानानां सत्यवतां यज्ज्ञानं योऽभिप्रायस्तदहं कथयिष्यामि भवतां शृणुत यूयं, किम्भूतानां तेषां?—'वीराणा'मित्यादीनि विशेषणानि गतार्थानि, किम्भूतं ज्ञानमिति चेदाह–किं प्रश्ने 'अस्ति' विद्यते?, कोऽसौ?—'उपाधिः' कर्म्मजनितं विशेषणं, तद्यथा–नारकस्तिर्यग्योनः सुखी दुःखी सुभगो दुर्भगः पर्याप्तकोऽपर्याप्तक इत्यादि, आहोस्विन्न विद्यत इति परमतमाशङ्क्य त ऊचुः—'पश्यकस्य' सम्यग्वादादिकमर्थं पूर्वोपात्तं पश्यतीति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य कर्म्मजनितोपाधिर्न विद्यते, इत्येतदनुसारेणाहमपि ब्रवीमि न स्वमनीषिकयेति । गतः सूत्रानुगमः, तद्गतौ च समाप्तश्चतुर्थोद्देशको, नयविचारातिदेशात् समाप्तं सम्यक्त्वाध्ययनं चतुर्थमिति ॥ ग्रं० ६२० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४०]

दीप अनुक्रम [१५३]

अथ लोकसाराख्यं पञ्चममध्ययनम् ।

उक्तं चतुर्थमध्ययनं, साम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने सम्यक्त्वं प्रतिपादितं तदन्तर्गतं च ज्ञानं, तदुभयस्य च चारित्रफलत्वात् तस्यैव च प्रधानमोक्षाङ्गतया लोकसारत्वात् तत्प्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राप्यध्ययनार्थाधिकारोऽभिहितः, उद्देशार्थाधिकारं तु निर्युक्तिकारः प्रतिपिपादयिषुराह—

हिंसगविसयारंभग एगचरुत्ति न मुणी पढमगंमि । विरओ मुणित्ति बिइए अविरयवाई परिग्गहिओ ॥२३६॥
तइए एसो अपरिग्गहो य निव्विन्नकामभोगो य । अव्वत्तस्सेगचरस्स पचवाया चउत्थंमि ॥ २३७ ॥
हरओवमो य तवसंयमगुत्ती निस्संगया य पंचमए । उम्मग्गवज्जणा छट्ठगंमि तह रागदोसे य ॥ २३८ ॥

हिनस्तीति हिंसकः आरम्भणमारम्भो विषयाणामारम्भोऽस्येति विषयारम्भकः, व्यधिकरणस्यापि गमकत्वात्समासः, ण्वुलन्तस्य वा याजकादिदर्शनात् समासो, विषयाणामारम्भको विषयारम्भक इति, हिंसकश्च विषयारम्भकश्चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वः, प्राकृतत्वात्पुंल्लिङ्गता, अयमर्थो–हिंसकः प्राणिनां विषयारम्भकश्च विषयार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्तश्च न मुनिः, तथा विषयार्थमेव एक एव चरत्येकचरः स च न मुनिरिति, एतदधिकारत्रयं प्रथमोद्देशके १, द्वितीये तु हिंसादिपापस्थानकेभ्यो विरतो मुनिर्भवतीत्ययमर्थाधिकारः, वदनशीलो वादी अविरतस्य वादी अविरतवादी परिग्रहवान् भवतीत्येत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निर्युक्ति: क्रम-२३५ न दृश्यते

पंचम-अध्ययनं 'लोक्सार' आरब्ध:,

चात्रोद्देशके प्रतिपादयिष्यत इति २, तृतीये त्वेष एव विरतो मुनिरपरिग्रहो भवतीति निर्विण्णकामभोगश्चेत्ययमर्थाधिकारः ३, चतुर्थे त्वव्यक्तस्य–अगीतार्थस्य सूत्रार्थापरिनिष्ठितस्य प्रत्यपाया भवन्तीत्ययमर्थाधिकारः ४, पञ्चमके तु ह्रदोपमेन साधुना भाव्यं, यथा हि ह्रदो जलभृतोऽप्रतिस्रवः प्रशस्यो भवति, एवं साधुरपि ज्ञानदर्शनचारित्रभृतो विस्रोतसिकारहित इति, तथा तपःसंयमगुप्तयो निःसङ्गता चेत्ययमर्थाधिकारः ५, षष्ठे तून्मार्गवर्जना–कुदृष्टिपरित्यागः, तथा रागद्वेषौ च त्याज्यावित्ययमर्थाधिकारः ६, इति गाथात्रयार्थः ॥ नामनिष्पन्ने तु निक्षेपेऽत्र द्विधा नाम–आदानपदेन गौणं चेति, एतत् द्विविधमपि निर्युक्तिकारः प्रतिपादयितुमाह—

आयाणपएणावंति गोण्णनामेण लोगसारुत्ति । लोगस्स य सारस्स य चउक्कओ होइ निक्खेवो ॥ २३९ ॥

आदीयते–प्रथममेव गृह्यत इत्यादानं तच्च तत्पदं च आदानपदं तेन करणभूतेनावन्तीत्येतन्नाम, अध्ययनादावावन्तीशब्दस्योच्चारणाद्, गुणैर्निष्पन्नं गौणं तच्च तन्नाम च गौणनाम तेन हेतुना लोकसार इति, लोकस्य–चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य सारः–परमार्थो लोकसारः द्विपदं नामेत्यतः लोकस्य सारस्य च प्रत्येकं चतुष्ककको निक्षेपो भवति, तद्यथा–नामलोको यस्य कस्यचिल्लोक इति नाम क्रियते, स्थापनालोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य स्थापना गाथात्रयादवसेया, तच्चैतत्–तिरिअं चउरो दोसुं छद्दोसुं अट्ठ दस य एक्केके । बारस दोसुं सोलस दोसुं वीसा य चउसुं तु ॥ १ ॥ पुणरवि सोलस दोसुं बारस दोसुं तु हुंति नायव्वा । तिसु दस तिसु अट्ठच्छ य दोसु दोसुं तु चत्तारि ॥ २ ॥ ओयरिअ लोअमज्झा चउरो चउरो य सव्वहिं णेया । तिअ तिअ दुग दुग एक्केक्कगं च जा सत्तमीए उ ॥ ३ ॥ द्रव्यलोको जीवपुद्ग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लघर्म्माधर्म्माकाशकालात्मकः षड्विधः भावलोकस्त्वौदयिकादिषड्भावात्मकः सर्वद्रव्यपर्यायात्मको वा । सारोऽपि नामादि चतुर्विधः, तत्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यसारप्रतिपादनायाह—

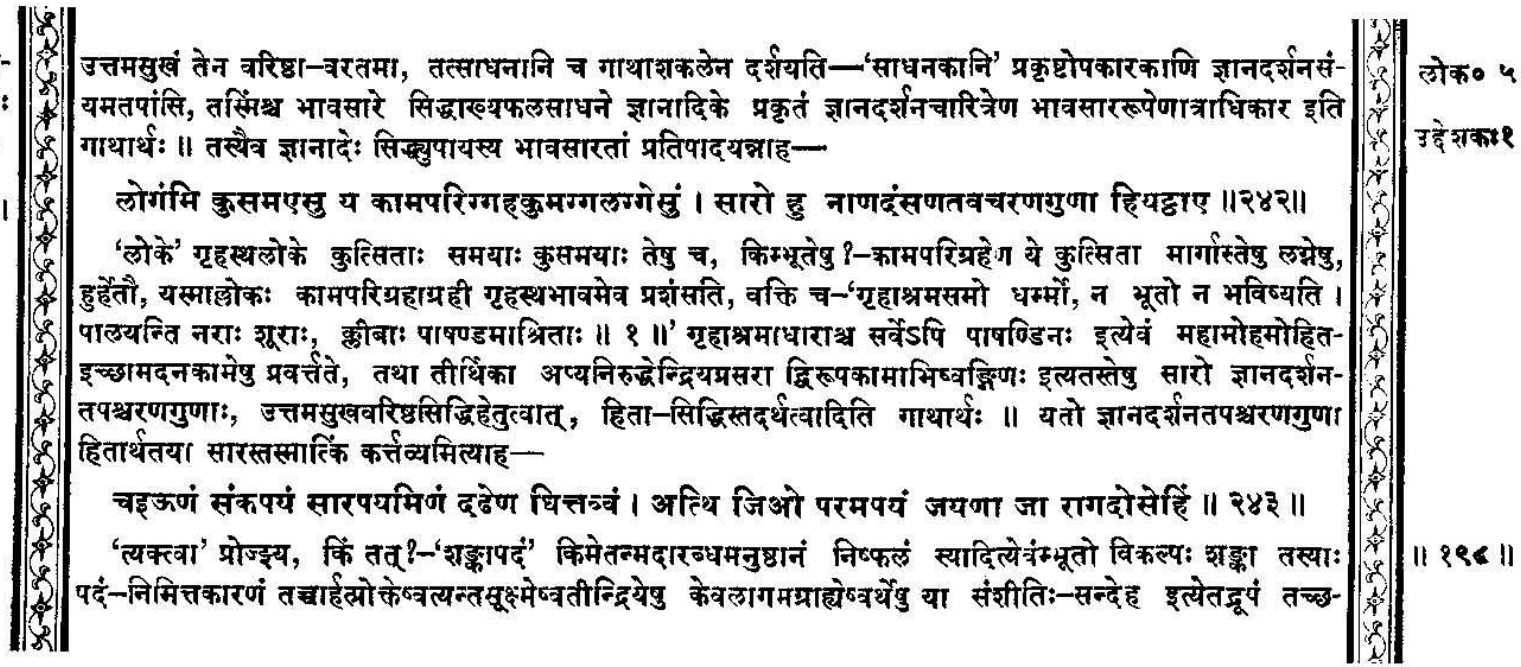
सव्वस्स थूल गुरुए मज्झे देसप्पहाण सरिराई । धण एरंडे वइरे खइरं च जिणादुरालाई ॥ २४० ॥

अत्र पूर्वार्द्धपश्चार्द्धयोर्यथासङ्ख्यं लगनीयं, सर्वस्वे धनं सारभूतं, तद्यथा–कोटिसारोऽयं पञ्चकपर्दकसारो वा, स्थूले एरण्डः सारः, सारशब्दोऽत्र प्रकर्षवाची, स्थूलानां मध्ये एरण्डो भिण्डो वा प्रकर्षभूतः, गुरुत्वे वज्रं, मध्ये खदिरः, देशे आम्रवृक्षो वेणुर्वा, प्रधाने यो यत्र प्रधानभावमनुभवति सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्चेति, सचित्तो द्विपदश्चतुष्पदोऽपदश्चेति, द्विपदेषु जिनः चतुष्पदेषु सिंहः अपदेषु कल्पवृक्षः, अचित्तेषु वैडूर्यो मणिः, मिश्रेषु तीर्थकर एव विभूषितः, शरीरेष्वौदारिकं मुक्तिगमनयोग्यत्वाद्विशिष्टरूपापत्तेश्च, आदिग्रहणात् स्वामित्वकरणाधिकरणेषु सारता योज्या, तद्यथा–स्वामित्वे गोरसस्य घृतं सारभूतं, करणत्वे मणिसारेण मुकुटेन शोभते राजा, अधिकरणे दध्नि घृतं जले पद्ममुत्थितमित्यादिगाथार्थः ॥ भावसारप्रतिपादनायाह—

भावे फलसाहणया फलओ सिद्धी सुहुत्तमवरिट्ठा । साहणय नाणदंसणसंजमतवसा तहिं पगयं ॥ २४१ ॥

'भावे' भावविषये सारे चिन्त्यमाने फलसाधनता सारः फलम्–अर्थक्रियावाप्तिस्तस्य साधनता फलसाधनता–फलार्थमारम्भे प्रवर्त्तनं ततः फलावाप्तिः प्रधानं, फलतोऽप्यनैकान्तिकानात्यन्तिकरूपात् सांसारिकात्सकाशात्तद्विपर्यस्तं फलं सारः, किं तत् ?–सिद्धिः, किम्भूताऽसौ ?—'उत्तमसुखवरिष्ठा' उत्तमं च तदात्यन्तिकैकान्तिकानाबाधत्वात् सुखं च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ १९७ ॥

उत्तमसुखं तेन वरिष्ठा–वरतमा, तत्साधनानि च गाथाशकलेन दर्शयति—'साधनकानि' प्रकृष्टोपकारकाणि ज्ञानदर्शनसंयमतपांसि, तस्मिंश्च भावसारे सिद्धाख्यफलसाधने ज्ञानादिके प्रकृतं ज्ञानदर्शनचारित्रेण भावसाररूपेणात्राधिकार इति गाथार्थः ॥ तस्यैव ज्ञानादेः सिद्ध्युपायस्य भावसारतां प्रतिपादयन्नाह—

लोगंमि कुसमएसु य कामपरिग्गहकुमग्गलग्गेसुं । सारो हु नाणदंसणतवचरणगुणा हियट्ठाए ॥२४२॥

'लोके' गृहस्थलोके कुत्सिताः समयाः कुसमयाः तेषु च, किम्भूतेषु ?–कामपरिग्रहेण ये कुत्सिता मार्गास्तेषु लग्नेषु, हुहेंतौ, यस्मालोकः कामपरिग्रहाग्रही गृहस्थभावमेव प्रशंसति, वक्ति च–'गृहाश्रमसमो धर्म्मो, न भूतो न भविष्यति । पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिताः ॥ १ ॥' गृहाश्रमाधाराश्च सर्वेऽपि पाषण्डिनः इत्येवं महामोहमोहितइच्छामदनकामेषु प्रवर्त्तते, तथा तीर्थिका अप्यनिरुद्धेन्द्रियप्रसरा द्विरूपकामाभिष्वङ्गिणः इत्यतस्तेषु सारो ज्ञानदर्शनतपश्चरणगुणाः, उत्तमसुखवरिष्ठसिद्धिहेतुत्वात्, हिता–सिद्धिस्तदर्थत्वादिति गाथार्थः ॥ यतो ज्ञानदर्शनतपश्चरणगुणा हितार्थतया सारस्तस्मात्किं कर्त्तव्यमित्याह—

चइऊणं संकपयं सारपयमिणं दढेण घित्तव्वं । अत्थि जिओ परमपयं जयणा जा रागदोसेहिं ॥ २४३ ॥

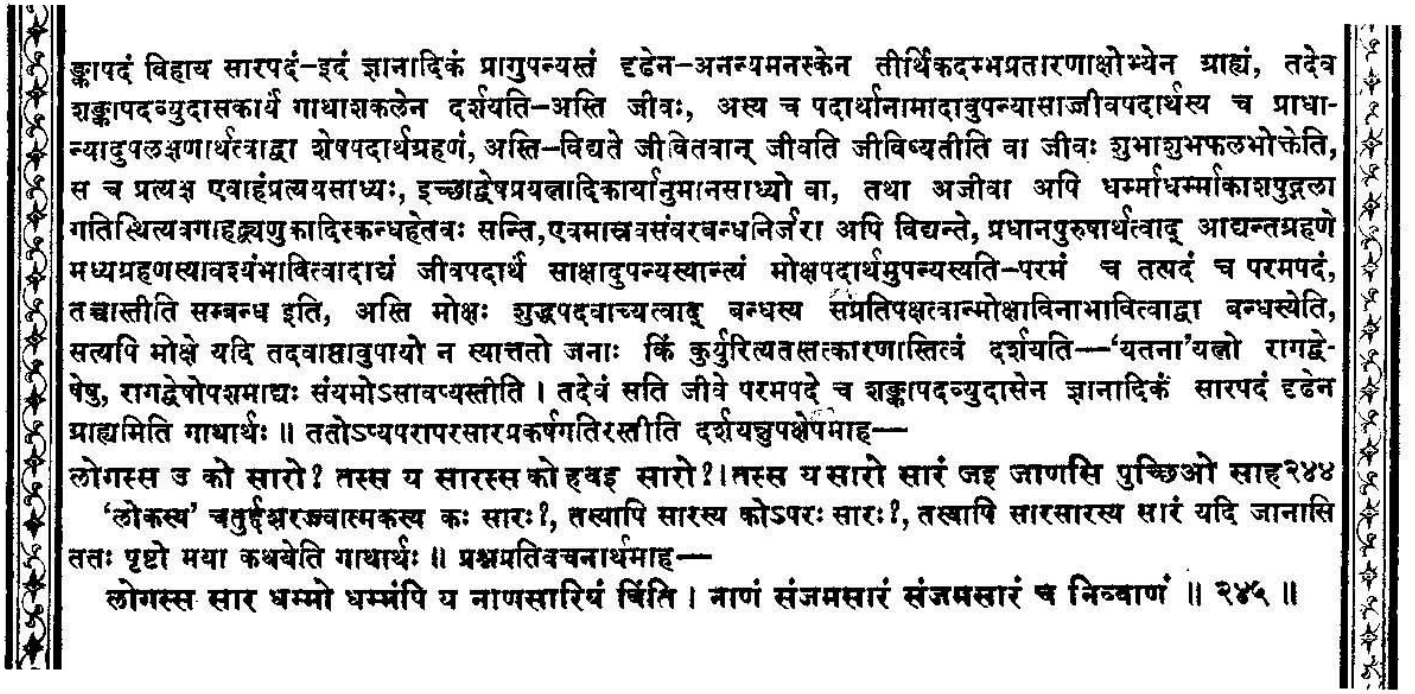
'त्यक्त्वा' प्रोज्झ्य, किं तत् ?–'शङ्कापदं' किमेतन्मदारब्धमनुष्ठानं निष्फलं स्यादित्येवंभूतो विकल्पः शङ्का तस्याः पदं–निमित्तकारणं तच्चार्हल्लोकेष्वत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्येष्वर्थेषु या संशीतिः–सन्देह इत्येतद्रूपं तच्छ-

लोक० ५

उद्देशक:१

॥ १९८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



ङ्कापदं विहाय सारपदं–इदं ज्ञानादिकं प्रागुपन्यस्तं दृढेन–अनन्यमनस्केन तीर्थिकदम्भप्रतारणाक्षोभ्येन ग्राह्यं, तदेव शङ्कापदव्युदासकार्थं गाथाशकलेन दर्शयति–अस्ति जीवः, अस्य च पदार्थानामादावुपन्यासाज्जीवपदार्थस्य च प्राधान्यादुपलक्षणार्थत्वाद्वा शेषपदार्थग्रहणं, अस्ति–विद्यते जीवितवान् जीवति जीविष्यतीति वा जीवः शुभाशुभफलभोक्तेति, स च प्रत्यक्ष एवाहंप्रत्ययसाध्यः, इच्छाद्वेषप्रयत्नादिकार्यानुमानसाध्यो वा, तथा अजीवा अपि धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलागतिस्थित्यवगाहह्यणुकादिस्कन्धहेतवः सन्ति,एवमास्रवसंवरबन्धनिर्जरा अपि विद्यन्ते, प्रधानपुरुषार्थत्वाद् आद्यन्तग्रहणे मध्यग्रहणस्यावश्यंभावित्वादाद्यं जीवपदार्थं साक्षादुपन्यस्यान्त्यं मोक्षपदार्थमुपन्यस्यति–परमं च तत्पदं च परमपदं, तच्चास्तीति सम्बन्ध इति, अस्ति मोक्षः शुद्धपदवाच्यत्वाद् बन्धस्य सप्रतिपक्षत्वान्मोक्षाविनाभावित्वाद्वा बन्धस्येति, सत्यपि मोक्षे यदि तदवाप्तावुपायो न स्यात्ततो जनाः किं कुर्युरित्यतस्तत्कारणास्तित्वं दर्शयति—'यतना'यत्नो रागद्वेषेषु, रागद्वेषोपशमाद्यः संयमोऽसावप्यस्तीति । तदेवं सति जीवे परमपदे च शङ्कापदव्युदासेन ज्ञानादिकं सारपदं दृढेन ग्राह्यमिति गाथार्थः ॥ ततोऽप्यपरापरसारप्रकर्षगतिरस्तीति दर्शयन्नुपक्षेपमाह—

लोगस्स उ को सारो? तस्स य सारस्स को हवइ सारो?।तस्स य सारो सारं जइ जाणसि पुच्छिओ साह२४४

'लोकस्य' चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य कः सारः?, तस्यापि सारस्य कोऽपरः सारः?, तस्यापि सारसारस्य सारं यदि जानासि ततः पृष्टो मया कथयेति गाथार्थः ॥ प्रश्नप्रतिवचनार्थमाह—

लोगस्स सार धम्मो धम्मंपि य नाणसारियं विंति । नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥ २४५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४१]

दीप अनुक्रम [१५४]

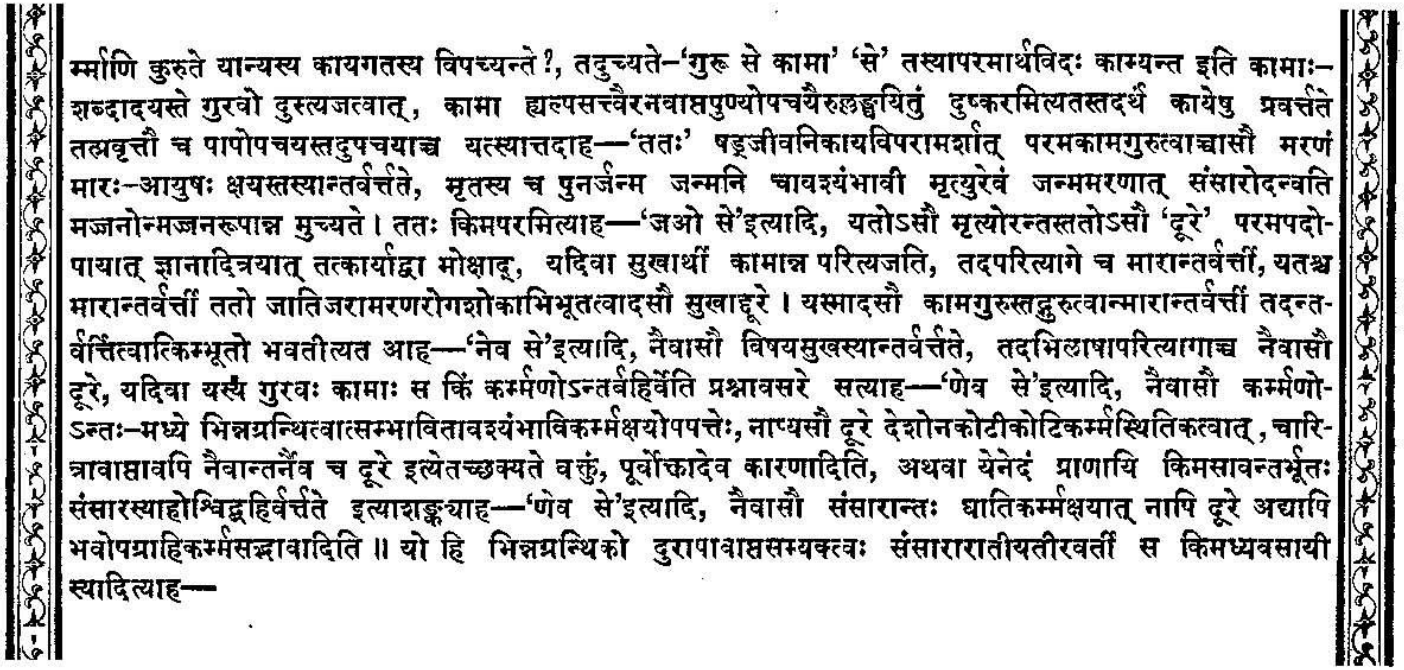
समस्तस्यापि लोकस्य तावद्धर्मः सारो, धर्म्ममपि ज्ञानसारं श्रुवते, ज्ञानमपि संयमसारं, संयमस्यापि सारभूतं निर्व्वाण-मिति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरु से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे (सू० १४१)

'आवन्ती'त्ति यावन्तो जीवा मनुष्या असंयता वा स्युः, 'केआवंति'त्ति केचन 'लोके' चतुर्दशरज्ज्वात्मके गृहस्थान्य-तीर्थिकलोके वा षड्जीवनिकायान् आरम्भप्रवृत्ता विविधम्–अनेकप्रकारं विषयाभिलाषितया 'परामृशन्ति' उपताप-यन्ति, दण्डकशताडनादिभिर्घातयन्तीत्यर्थः, किमर्थं विपरामृशन्तीति दर्शयति—'अर्थाय' अर्थार्थं अर्थाद्वा अर्थः–प्रयो-जनं धर्म्मार्थकामरूपं, कर्म्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, अर्थमुद्दिश्य–प्रयोजनमुद्दिश्य प्राणिनो घातयन्ति, तथाहि–धर्म्मनि-मित्तं शौचार्थं पृथिवीकायं समारभन्ते, अर्थार्थं कृष्यादि करोति, कामार्थमाभरणादि, एवं शेषेष्वपि कायेषु यथायोगं वाच्यं, अनर्थाद्वा–प्रयोजनमनुद्दिश्यैव तच्छीलतयैव मृगयाद्याः प्राण्युपघातकारिणीः क्रियाः कुर्वन्ति, तदेवमर्थादनर्थाद्वा प्राणिनो हत्वा एतेष्वेव–षड्जीवनिकायस्थानेषु विविधम्–अनेकप्रकारं सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकादिभेदेन तानेकेन्द्रि-यादीन् प्राणिनस्तदुपघातकारिणः परामृशन्ति, तान् प्रपीड्य तेष्वेवानेकश उत्पद्यन्त इतियावत्, यदिवा तत्षड्जीवनि-कायबाधाऽवाप्तं कर्म्म तेष्वेव कायेषूत्पद्य ते तैस्तैः प्रकारैरुदीर्णं विपरामृशन्ति–अनुभवन्तीति, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति —"जावंति केइ लोए छक्कायवहं समारभंति अट्ठाए अणट्ठाए वा" इत्यादि, गतार्थं, स्याद्–असौ किमर्थमेवंविधानि क-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम-अध्ययने प्रथम-उद्देशक: 'एकचर' आरब्ध:,



र्म्माणि कुरुते यान्यस्य कायगतस्य विपच्यन्ते?, तदुच्यते–'गुरू से कामा' 'से' तस्यापरमार्थविदः काम्यन्त इति कामाः–शब्दादयस्ते गुरवो दुस्त्यजत्वात्, कामा ह्यल्पसत्त्वैरनवाप्तपुण्योपचयैरुल्लङ्घयितुं दुष्करमित्यतस्तदर्थं कायेषु प्रवर्त्तते तत्प्रवृत्तौ च पापोपचयस्तदुपचयाच्च यत्स्यात्तदाह—'ततः' षड्जीवनिकायविपरामर्शात् परमकामगुरुत्वाच्चासौ मरणं मारः–आयुषः क्षयस्तस्यान्तर्वर्त्तते, मृतस्य च पुनर्जन्म जन्मनि चावश्यंभावी मृत्युरेवं जन्ममरणात् संसारोदन्वति मज्जनोन्मज्जनरूपान्न मुच्यते। ततः किमपरमित्याह—'जओ से'इत्यादि, यतोऽसौ मृत्योरन्तस्ततोऽसौ 'दूरे' परमपदोपायात् ज्ञानादित्रयात् तत्कार्याद्वा मोक्षाद्, यदिवा सुखार्थी कामान्न परित्यजति, तदपरित्यागे च मारान्तर्वर्त्ती, यतश्च मारान्तर्वर्त्ती ततो जातिजरामरणरोगशोकाभिभूतत्वादसौ सुखादूरे। यस्मादसौ कामगुरुस्तद्गुरुत्वान्मारान्तर्वर्त्ती तदन्तर्वर्त्तित्वात्किम्भूतो भवतीत्यत आह—'नेव से'इत्यादि, नैवासौ विषयसुखस्यान्तर्वर्त्तते, तदभिलाषापरित्यागाच्च नैवासौ दूरे, यदिवा यस्य गुरवः कामाः स किं कर्म्मणोऽन्तर्बहिर्वेति प्रश्नावसरे सत्याह—'णेव से'इत्यादि, नैवासौ कर्म्मणोऽन्तः–मध्ये भिन्नग्रन्थित्वात्सम्भावितावश्यंभाविकर्म्मक्षयोपपत्तेः, नाप्यसौ दूरे देशोनकोटीकोटिकर्म्मस्थितिकत्वात्, चारित्रावाप्तावपि नैवान्तर्नैव च दूरे इत्येतच्छक्यते वक्तुं, पूर्वोक्तादेव कारणादिति, अथवा येनेदं प्राणायि किमसावन्तर्भूतः संसारस्याहोश्विद्बहिर्वर्त्तते इत्याशङ्क्याह—'णेव से'इत्यादि, नैवासौ संसारान्तः घातिकर्म्मक्षयात् नापि दूरे अद्यापि भवोपग्राहिकर्म्मसद्भावादिति ॥ यो हि भिन्नग्रन्थिको दुरापावाप्तसम्यक्त्वः संसाराराातीयतीरवर्ती स किमध्यवसायी स्यादित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४२]

दीप अनुक्रम [१५५]

से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो पुणो (सू० १४२)

'से पासई'त्यादि, 'सः' अपगतमिथ्यात्वपटलः सम्यक्त्वप्रभावावगतसंसारासारः 'पश्यति' दृशिरुपलब्धिक्रिय इत्यत उपलभते–अवगच्छति, किं तत्?—'फुसियमिव'त्ति कुशाग्र उदकबिन्दुमिव बालस्य जीवितमिति सम्बन्धः, तत्किम्भूतमित्याह—'पणुन्न'मित्यादि, प्रणुन्नम्–अनवरतापरापरोदकपरमाणूपचयात् प्रणुन्नं–प्रेरितं वातेनेरितं सन्निपतितं भाविनि भूतवदुपचारान्निपतदेव निपतितं, दार्ष्टान्तिकं दर्शयति—'एव'मिति यथा कुशाग्रे बिन्दुः क्षणसम्भावितस्थितिकः एवं बालस्यापि जीवितम्, अवगततत्त्वो हि स्वयमेवावगच्छति नाप्यसौ तदभिकाङ्क्षति अतो बालग्रहणं, बालो ह्यज्ञः, स चाज्ञानत्वादेव जीवितं बहु मन्यते, यत एव बालोऽत एव मन्दः–सदसद्विवेकापटुः, यत एव बुद्धिमन्दोऽत एव परमार्थं न जानाति, अतः परमार्थमविजानत एवम्भूतं जीवितमित्येवं पश्यति । परमार्थमजानंश्च यत्कुर्यात्तदाह—'कूराणि'इत्यादि, 'क्रूराणि' निर्दयानि निरनुक्रोशानि 'कर्म्माणि' अनुष्ठानानि हिंसानृतस्तेयादीनि सकललोकचमत्कृतिकारीणि अष्टादश वा पापस्थानानि 'बालः' अज्ञः प्रकर्षेण कुर्वाणः, कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदविधानात्तस्यैव तत्क्रियाफलविपाकं दर्शयति—'तेन' क्रूरकर्म्मविपाकापादितेन दुःखेन 'मूढः' किंकर्त्तव्यताऽऽकुलः, केन कृतेन ममैतद्दुःखमुपशमं या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यादिति मोहमोहितो विपर्यासमुपैति–यदेव प्राण्युपघातादि दुःखोत्पादने कारणं तदुपशमाय तदेव विदधातीति। किं च —'मोहेण'इत्यादि, 'मोहः' अज्ञानं मोहनीयं वा मिथ्यात्वकषायविषयाभिलाषमयं तेन मोहेन मोहितः सन् कर्म बध्नाति, तेन च गर्भमवाप्नोति, ततोऽपि जन्म पुनर्बालकुमारयौवनादिवयोविशेषाः, पुनर्विषयकषायादिना कर्म्मोपादायायुषः क्षयात् मरणमवाप्नोति, आदिग्रहणात्पुनर्गर्भमित्यादि, नरकादियातनास्थानमेतीत्यतोऽभिधीयते—'एत्थ'इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन्ननन्तरोक्ते 'मोहे' मोहकार्ये गर्भमरणादिके पौनःपुन्येनानादिकमपर्यन्तं चतुर्गतिकं संसारकान्तारं पर्यटति, नास्मादपैतीतियावत्, कथं पुनः संसारे न बम्भ्रम्यात्?, तदुच्यते–मिथ्यात्वकषायविषयाभिलाषाभावाद्, असावेव कुतो?, विशिष्टज्ञानोत्पत्तेः?, सैव कुतो?, मोहाभावात्, यद्येवमितरेतराश्रयत्वं, तथाहि–मोहोऽज्ञानं मोहनीयं वा, तदभावो विशिष्टज्ञानोत्पत्तेः, साऽपि तदभावादिति भणता स्पष्टमेव इतरेतराश्रयत्वमुक्तं, ततश्च न यावद्विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः संवृत्ता न तावत्कर्म्मशमनाय प्रवृत्तिः स्यात्, नैष दोषः, अर्थसंशयेनापि प्रवृत्तिदर्शनादिति। आह च—

संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ (सू० १४३)

'संसय'मित्यादि, संशीतिः संशयः–उभयांशावलम्बा प्रतीतिः संशयः, स चार्थसंशयोऽनर्थसंशयश्च, इह चार्थो मोक्षो मोक्षोपायश्च, तत्र मोक्षे न संशयोऽस्ति, परमपदमितिप्रतिपादनात्, तदुपाये तु संशयेऽपि प्रवृत्तिर्भवत्येव, अर्थसंश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वात् । अनर्थस्तु संसारः संसारकारणं च, तत्सन्देहेऽपि निवृत्तिः स्यादेव, अनर्थसंशयस्य निवृत्त्यङ्गत्वात्' अतः संशयमर्थानर्थगतं परिजानतो हेयोपादेयप्रवृत्तिः स्यादित्येतदेव परमार्थतः संसारपरिज्ञानमिति दर्शयति–तेन संशयं परिजानता संसारश्चतुर्गतिकः तदुपादानं वा मिथ्यात्वाविरत्यादि अनर्थरूपतया परिज्ञातं भवति ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु परिहृतमिति, यस्तु पुनः संशयं न जानीते स संसारमपि न जानातीति दर्शयितुमाह—'संसयं' इत्यादि, 'संशयं' सन्देहं द्विविधमप्यपरिजानतो हेयोपादेयप्रवृत्तिर्न स्यात्, तदप्रवृत्तौ च संसारोऽनित्याशुचिरूपो व्यसनोपनिपातबहुलो निःसारो न ज्ञातो भवति ॥ कुतः पुनरेतन्निश्चीयते ? यथा तेन संशयवेदिना संसारः परिज्ञात इति ?, किमत्र निश्चेतव्यं ?, संसारपरिज्ञानकार्यविरत्युपलब्धेः, तत्र सर्वविरतिप्रष्ठां विरतिं निर्दिदिक्षुराह—

जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणय त्ति बेमि (सू० १४४)

'जे छेए' इत्यादि यश्छेको–निपुण उपलब्धपुण्यपापः स 'सागारियं'ति मैथुनं न सेवते मनोवाक्कायकर्म्मभिः, स एव यथावस्थितसंसारवेदी, यस्तु पुनर्मोहनीयोदयात्पार्श्वस्थादिः तत्सेवते, सेवित्वा च सातगौरवभयात् किं कुर्यादित्याह—'कट्टु' इत्यादि, रहसि मैथुनप्रसङ्गं कृत्वा पुनर्गुर्वादिना पृष्टः सन्नपलपति, तस्य चैवमकार्यमपलपतोऽविज्ञापयतो वा किं स्यादित्याह—'बिइया' इत्यादि, 'मन्दस्य' अबुद्धिमत एकमकार्यासेवनमियं बालता–अज्ञानता, द्वितीया तदपह्नवनं मृषा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वादः तदकरणतया वा पुनरनुत्थानमिति, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"जे खलु विसए सेवई सेवित्ता वा णालोएइ, परेण वा पुट्ठो निण्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविट्ठयरेण वा दोसेण उवलिंपिज्ज'त्ति" सुगमं । यद्येवं ततः किं कुर्यादित्याह—'लद्धा हु' इत्यादि, लब्धानपि कामान् 'हुरत्थे'त्ति बहिश्चित्रक्षुल्लकादिवत्तद्विपाकं प्रत्युपेक्ष्य चित्ताद्बहिः कुर्यात्, यदिवा हुशब्दोऽपिशब्दार्थे, रेफागमः सुब्व्यत्ययेन द्वितीयार्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थो—लब्धानप्यर्थान्ते —अभिलष्यन्त इत्यर्थाः—शब्दादयस्तानुपनतानपि तद्विपाकद्वारेण 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य ततः 'आगम्य' ज्ञात्वा दुरन्तं शब्दादिविषयानुषङ्गं, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षत्वात्तां दर्शयति—तदनासेवनतया परानाज्ञापयेत्, स्वतोऽपि परिहरेदिति, एतदहं ब्रवीमि येन मया पूर्वार्धव्यावर्णनमकारि स एवाहमव्यवच्छिन्नसम्यग्ज्ञानप्रवाहः शब्दादिविषयस्वरूपोपलम्भात् समुपजनितजिनवचनसंमद इति । एतच्च वक्ष्यमाणं ब्रवीमीति, तदाह—

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, इत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थवि बाले परिपच्चमाणे रमई पावेहिं कम्मेहिं असरणे सरणंति मन्नमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोभे बहुरए बहुनडे बहुसढे बहुसंकप्पे आसवसत्ती पलिउच्छन्ने उट्ठियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू अन्नायपमायदोसेणं, सययं मूढे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पया माणव ! कंमकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलिमु-क्खमाहु आवट्टमेव अणुपरियट्टंति त्तिबेमि (१४५)॥ लोकसारे प्रथमोद्देशकः ५–१ ॥

'पासह'इत्यादि, हे जनाः! पश्यत यूयमेकान्तपुष्टधर्म्माणो, बहुवचननिर्देशादाद्यर्थो गम्यते, 'रूपेषु' रूपादिष्विन्द्रिय-विषयेषु निःसारकटुफलेषु 'गृद्धान्' अध्युपपन्नान् सतः इन्द्रियैर्विषयाभिमुखं संसाराभिमुखं वा नरकादियातनास्थानकेषु वा परिणीयमानान् प्राणिन इति । ते च विषयगृध्नव इन्द्रियवशगाः संसारार्णवे किमाप्नुयुरित्याह—'एत्थ फासे'इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् संसारे हृषीकवशगः सन् कर्म्मपरिणतिरूपान् स्पर्शान् पौनःपुन्येन–आवृत्त्या तानेव तेषु तेष्वेव स्थानेषु प्राप्नुयादिति । पाठान्तरं वा 'एत्थ मोहे पुणो पुणो' 'अत्र' अस्मिन् संसारे 'मोहे' अज्ञाने चारित्रमोहे वा पुनः पुनर्भव-तीति । कोऽसावेवम्भूतः स्यादित्यत आह—'आवंती'त्यादि, यावन्तः केचन 'लोके' गृहस्थलोके 'आरम्भजीविनः' साव-द्यानुष्ठानस्थितिकाः, ते पौनःपुन्येन दुःखान्यनुभवेयुरिति । येऽपि गृहस्थाश्रिताः सारम्भास्तीर्थिकादयस्तेऽपि तद्दुःखभा-जिन इति दर्शयति—'एएसु'इत्यादि, 'एतेषु' सावद्यारम्भप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु शरीरयापनार्थं वर्त्तमानस्तीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा 'आरम्भजीवी' सावद्यानुष्ठानवृत्तिः पूर्वोक्तदुःखभाग् भवति । आस्तां तावद्गृहस्थस्तीर्थिको वा, योऽपि संसारार्णवतटदेश-मवाप्य सम्यक्त्वरत्नं लब्ध्वाऽपि मोक्षैककारणं विरतिपरिणामं सफलतामनीत्वा कर्म्मोदयात् सोऽपि सावद्यानुष्ठायी स्यादित्याह—'एत्थवि बाले'इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन्नप्यर्हत्प्रणीतसंयमाभ्युपगमे 'बालो' रागद्वेषाकुलितः परितप्यमानः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिपच्यमानो वा विषयपिपासया रमते, कैः?–पापैः कर्म्मभिः, विषयार्थं सावद्यानुष्ठाने धृतिं विधत्ते, किं कुर्वाण इत्याह —'असरण'मित्यादि, कामाग्निना पापैर्वा कर्म्मभिः परिपच्यमानः सावद्यानुष्ठानमशरणमेव शरणमिति मन्यमानो भोगेच्छाऽज्ञानतमिस्राच्छादितदृष्टिविपर्ययः सन् भूयो भूयो नानारूपावेदना अनुभवेदिति । आस्तां तावदन्ये, प्रव्रज्यामप्यभ्युपेत्य केचिद्विषयपिपासार्त्तास्तांस्तान् कल्काचारानाचरन्तीति दर्शयितुमाह—'इहमेगेसि'मित्यादि, 'इह' मनुष्यलोके एकेषां न सर्वेषां, चरणं चर्यते वा चर्या एकस्य चर्या एकचर्या, सा च प्रशस्तेतरभेदेन द्विधा–साऽपि द्रव्यभावभेदात् प्रत्येकं द्विधा, तत्र द्रव्यतो गृहस्थपाषण्डिकादेर्विषयकषायनिमित्तमेकाकिनो विहरणं, भावतस्तु अप्रशस्ता न विद्यते, सा हि रागद्वेषविरहाद्भवति, न च तद्रहितस्याप्रशस्ततेति । प्रशस्ता तु द्रव्यतः प्रतिमाप्रतिपन्नस्य गच्छनिर्गतस्य स्थविरकल्पिकस्य चैकाकिनः सङ्घादिकार्यनिमित्तान्निर्गतस्य, भावतस्तु पुना रागद्वेषविरहाद्भवति, तत्र द्रव्यतो भावतश्चैकचर्या अनुत्पन्नज्ञानानां तीर्थकृतां प्रतिपन्नसंयमानाम्, अन्ये तु चतुर्भङ्गपतिताः, तत्राप्रशस्तद्रव्यैकचर्योदाहरणं, तद्यथा–पूर्वदेशे धान्यपूरकाभिधाने सन्निवेशे एकस्तापसः प्रथमवया देवकुमारसदृशविग्रहः षष्ठभक्तेन तद्ग्रामनिर्गमपथे तपस्तेपे, द्वितीयोऽप्युपग्रामं गिरिगह्वरेऽष्टमभक्तेन तपःकर्म्मणाऽऽतापनां विधत्ते, तस्मै च ग्रामनिर्गमपथवर्त्तिने शीतोष्णसहिष्णवे गुणैराकृष्टो लोक आहारादिभिः सपर्ययोपतिष्ठते, स च तथा लोकेन पूज्यमानो वाग्भिरभिष्ट्यूयमानः आहारादिनोपचर्यमाणो जनमूचे–मत्तोऽपि गिरिपरिसरातापी दुष्करकारकः, ततोऽसौ लोकस्तेन भूयो भूयः प्रोच्यमानस्तमेकाकिनं तापसमद्रिकुहरवासिनं पर्यपूजयद्, दुष्करं च परगुणोत्कीर्त्तनमितिकृत्वा तस्यापि सपर्यादिकं व्यधात्, तदेवमाभ्यां पूजाख्या-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यर्थमेकचर्या विदधे, अतोऽप्रशस्ता, एवमनया दिशाऽन्येऽप्यप्रशस्तैकचर्याश्रिता दृष्टान्ता यथासम्भवमायोज्या इति। तदेवं सूत्रार्थे व्याख्याते सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या निर्युक्तिकारो व्याचिख्यासुराह—

चारो चरिया चरणं एगट्ठं वंजणं तहिं छक्कं। दव्वं तु दारुसंकम जलथलचाराइयं बहुहा ॥ २४६ ॥

'चार' इति 'चर गतिभक्षणयोः' भावे घञ्, चर्येति 'गदमदचरयमश्चानुपसर्गे' (पा० ३–१–१००) इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत्, चरणमिति वा, भावे ल्युट्, एकः–अभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थ, किं तत् ?—'व्यञ्जनं' व्यज्यते–आविष्क्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं–शब्द इत्येतत्पूर्वोक्तं शब्दत्रयमेकार्थं, एकार्थत्वाच्च न पृथग् निक्षेपः, 'तत्र' चारनिक्षेपे षट्कं, चारस्य षट्प्रकारो निक्षेप इत्यर्थः, तद्यथा–नामस्थापनेत्यादि, तत्र सुगमत्वान्नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यचारं गाथाशकलेन दर्शयति—'दव्वं तु' त्ति तुशब्दः पुनःशब्दार्थे द्रव्यं पुनरेवम्भूतं भवति, दारुसङ्कमश्च जलस्थलचारश्च दारुसङ्कमजलस्थलचारौ तावादी यस्य तद्दारुसङ्कमजलस्थलचारादिकं 'बहुधा' अनेकधा, तत्र दारुसङ्कमो जले सेत्वादिः क्रियते, स्थले वा गर्त्तलङ्घनादिकः, जलचारो नावादिना, स्थलचारो रथादिना, आदिग्रहणात् प्रासादादौ सोपानपङ्क्त्यादिरिति, यद्यदेशादेशान्तरावाप्तये द्रव्यं स स द्रव्यचार इति गाथार्थः ॥ साम्प्रतं क्षेत्रादिकमाह—

खित्तं तु जंमि खित्ते कालो काले जहिं भवे चारो। भावंमि नाणदंसणचरणं तु पसत्थमपसत्थं ॥ २४७ ॥

क्षेत्रं पुनर्यस्मिन् क्षेत्रे चारः क्रियते यावद्वा क्षेत्रं चर्यते स क्षेत्रचारः, कालस्तु यस्मिन् काले चरति यावन्तं वा कालं स कालचारः, भावे तु द्विधा चरणं–प्रशस्तमप्रशस्तं च, तत्र प्रशस्तं ज्ञानदर्शनचरणानि, अतोऽन्यदप्रशस्तं गृहस्थान्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थिकाणामिति गाथार्थः ॥ तदेवं सामान्यतो द्रव्यादिकं चारं प्रदर्श्य प्रकृतोपयोगितया यतेर्भावचारं प्रशस्तं प्रश्नद्वारेण दर्शयितुमाह—

लोगे चउव्विहंमी समणस्स चउव्विहो कहं चारो ?। होई धिई अहिगारो विसेसओ खित्तकालेसुं ॥२४८॥

'लोके' चतुर्विधे द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपे 'श्रमणस्य' श्राम्यतीति श्रमणो–यतिस्तस्य कथम्भूतो द्रव्यादिश्चतुर्विधश्चारः स्याद् ?, इति प्रश्ने निर्वचनमाह–भवति धृतिरित्येषोऽधिकारः, द्रव्ये तावदरसविरसप्रान्तरूक्षादिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थिकभाविते प्रकृत्यभद्रके वा नोद्वेगः कार्यः, कालेऽपि दुष्कालादौ यथालाभं सन्तोषिणा भाव्यं, भावेऽप्याक्रोशोपहसनादौ नोदीपितव्यं, विशेषतस्तु क्षेत्रकालयोरवमयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायस्तन्निमित्तत्वात् ॥ पुनरपि द्रव्यादिकं विशेषतो यतेश्चारमाह—

पावोवरए अपरिग्गहे अ गुरुकुलनिसेवए जुत्ते । उम्मग्गवज्जए रागदोसविरए य से विहरे ॥ २४९ ॥

'पापोपरतः' पापात्–पापहेतोः सावद्यानुष्ठानाद्धिंसाऽनृतादत्तादानाब्रह्मरूपादुपरतः पापोपरतः, तथा न विद्यते परिग्रहोऽस्येत्यपरिग्रहः, पापोपरतोऽपरिग्रहश्चेति द्रव्यचारः, क्षेत्रचारमाह–गुरोः कुलं गुरुकुलं–गुरुसान्निध्यं तत्सेवको–युक्तः समन्वितो यावज्जीवं गुरूपदेशादिनेति, अनेन कालचारः प्रदर्शितः, सर्वकालं गुरूपदेशविधायित्वोपदेशाद्, भावचारमाह–उद्गतो मार्गादुन्मार्गः–अकार्याचरणं तद्वर्जकः, तथा रागद्वेषविरतः स साधुर्विहरेत्–संयमानुष्ठानं कुर्यादिति, गता निर्युक्तिः । साम्प्रतं सूत्रमनुश्रियते–तत्र विषयकषायनिमित्तं यस्यैकचर्या स्यात् स किम्भूतः स्यादित्याह—'से बहु कोहे'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि, 'स' विषयगृध्नुरिन्द्रियानुकूलवर्त्येकचर्याप्रतिपन्नस्तीर्थिको गृहस्थो वा परैः परिभूयमानो बहुः क्रोधोऽस्येति बहुक्रोधः, तथा वन्द्यमानो मानमुद्वहत इति बहुमानः, तथा कुरुकुचादिभिः कल्कतपसा च बहुमायी, सर्वमेतदाहारादिलोभात्करोतीत्यतो बहुलोभः, यत एवमतो बहुरजाः–बहुपापो बहुषु वाऽऽरम्भादिषु रतो बहुरतः, तथा नटवद्भोगार्थं बहून् वेषान् विधत्त इति बहुनटः, तथा बहुभिः प्रकारैः शठो बहुशठः, तथा बहवः सङ्कल्पाः–कर्त्तव्याध्यवसाया यस्य स बहुसङ्कल्पः, इत्येवमन्येषामपि चौरादीनामेकचर्या वाच्येति, स एवम्भूतः किमवस्थः स्यादित्याह—'आसव' इत्यादि, आस्रवाः–हिंसादयस्तेषु सक्तं–सङ्गं आश्रवसक्तं तद्विद्यते यस्यासावाश्रवसक्ती–हिंसाद्यनुषङ्गवान् पलितं–कर्म तेनावच्छन्नः, कर्मावष्टब्ध इतियावत्, स चैवम्भूतोऽपि किं ब्रूयादित्याह—'उट्ठिय'इत्यादि, धर्म्मचरणायोद्युक्तः उत्थितस्तद्वाद उत्थितवादस्तं प्रवदन्, तीर्थिकोऽप्येवमाह–यथा अहमपि प्रव्रजितो धर्म्मचरणायोद्यत इत्येवं प्रवदन् कर्म्मणाऽवच्छाद्यत इति । स चोत्थितवादी आस्रवेषु प्रवर्त्तमानः आजीविकाभयात् कथं प्रवर्त्तत इत्याह—'मा मे'इत्यादि, मा मां 'केचन' अन्येऽद्राक्षुरवद्यकारिणमित्यतः प्रच्छन्नमकार्यं विदधाति, एतच्चाज्ञानदोषेण प्रमाददोषेण वा विधत्त इति । किं च—'सयय'मित्यादि, 'सततम्' अनवरतं मूढो मोहनीयोदयादज्ञानाद्वा 'धर्म्मं' श्रुतचारित्राख्यं नाभिजानाति, न विवेचयतीत्यर्थः । यद्येवं ततः किमित्याह—'अट्टा' इत्यादि, आर्त्ता विषायकषायैः 'प्रजायन्त' इति प्रजाः–जन्तवः हे मानव!, मनुजस्यैवोपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं, 'कर्म्मणि' अष्टप्रकारे बिभंत्सिते 'कोविदाः' कुशलाः, न धर्म्मानुष्ठान इति, के पुनः ते ये सततं धर्म्मं नाभिजानन्ति कर्म्मबन्धकोविदाश्चेति?, अत आह—'जे अणुवरया' इत्यादि, ये केचनानि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४५]

दीप अनुक्रम [१५८]

दिष्टस्वरूपाः 'अनुपरताः' पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ता ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्येषा विद्या अतो विपर्ययेणाविद्या तया परि–समन्तात् मोक्षमाहुः ते धर्म्मं नाभिजानन्त इति सम्बन्धः, धर्म्ममजानानाश्च किमासुयुरित्याह—'आवट्टं' इत्यादि, भावावर्त्तः–संसारस्तमरघट्टघटीयन्त्रन्यायेनानुपरिवर्त्तन्ते, तास्वेव नरकादिगतिषु भूयो भूयो भवन्तीतियावत् । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । लोकसाराध्ययने प्रथमोद्देशक इति ॥ १ ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इह प्रागुद्देशके एकचर्याप्रतिपन्नोऽपि सावद्यानुष्ठानाद्विरतेरभावाच्च न मुनिरित्युक्तम्, इह तु तद्विपर्ययेण यथा मुनिभावः स्यात्तथोच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

आवन्ती केयावन्ती लोए अणारंभजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अन्नेसी एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए नो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विपणुन्नए (सू० १४६)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम-अध्ययने द्वितीय-उद्देशकः 'विरत मुनि' आरब्धः,

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ २०४ ॥

'यावन्तः' केचन 'लोके' मनुष्यलोके 'अनारम्भजीविनः' आरम्भः–सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, उक्तं च–"[1]आदाणे निक्खेवे भासुस्सग्गे अ ठाणगमणाई । सव्वो पमत्तजोगो समणस्सवि होइ आरंभो ॥ १ ॥" तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलं येषां इत्यनारम्भजीविनो यतयः समस्तारम्भनिवृत्ताः तेष्वेव–गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजीविनो भवन्ति, एतदुक्तं भवति–सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थमनवद्यारम्भजीविनः साधवः पङ्काधारपङ्कजवन्निर्लेपा एव भवन्ति। यद्येवं ततः किमित्याह—'अत्र' अस्मिन् सावद्यारम्भे कर्त्तव्ये 'उपरतः' सङ्कुचितगात्रः, अत्र वाऽऽर्हते धर्म्मे व्यवस्थित उपरतः पापारम्भात्, किं कुर्यात् स?–'तत्' सावद्यानुष्ठानायातं कर्म्म 'झोषयन्' क्षपयन् मुनिभावं भजत इति । किमभिसन्धायात्रोपरतः स्यादित्याह—'अयं संधी' इत्यादि, अविवक्षितकर्म्मका अप्यकर्मका धातवो, यथा पश्य मृगो धावति, एवमत्राप्यद्राक्षीदित्येतत्क्रियायोगेऽप्ययं सन्धिरिति प्रथमा कृतेति, 'अय'मिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेगलक्षणः 'सन्धिः' अवसरो मिथ्यात्वक्षयानुदयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतुभूतकर्म्मविवरलक्षणः सन्धिः शुभाध्यवसायसन्धानभूतो वा सन्धिरित्येनं स्वात्मनि व्यवस्थापितमद्राक्षीद्भवानित्यतः क्षणमप्येकं न प्रमादयेत् न विषयादिप्रमादवशगो भूयात् । कश्च न प्रमत्तः स्यादित्याह—'जे इमस्स' इत्यादि, 'य' इत्युपलब्धतत्त्वः 'अस्य' अध्यक्षस्य विशेषेण गृह्यते अनेनाष्टप्रकारं कर्म्म तद्वेतरशरीरविशिष्टं बाह्येन्द्रियेण गृह्यत इति विग्रहः–औदारिकं शरीरं तस्य 'अयं' वार्त्तमानिकक्षणः एवम्भूतः सुखदुःखान्यतररूपश्च गतः एवम्भूतश्च भावीत्येवं

[1] आदाने निक्षेपे भाषायामुत्सर्गे च स्थाने गमनादौ । सर्वः प्रमत्तयोगः श्रमणस्यापि भवत्यारम्भः ॥ १ ॥

लोक० ५ उद्देशकः२

॥ २०४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यः क्षणान्वेषणशीलः सोऽन्वेषी सदाऽप्रमत्तः स्यादिति । स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह—'एस मग्गे' इत्यादि, 'एषः' अनन्तरोक्तो 'मार्गो' मोक्षपथः 'आर्यैः' सर्वहेयधर्म्मारातीय(तीर)वर्त्तिभिस्तीर्थकरगणधरैः प्रकर्षेणादौ वा वेदितः–कथितः प्रवेदित इति । न केवलमनन्तरोक्तो वक्ष्यमाणश्च तीर्थकरैः प्रवेदित इति तदाह—'उट्ठिए' इत्यादि, सन्धिमधिगम्योत्थितो धर्म्मचरणाय क्षणमप्येकं न प्रमादयेत् । किं चापरमधिगम्येत्याह—'जाणित्तु' इत्यादि, ज्ञात्वा प्राणिनां प्रत्येकं दुःखं तदुपादानं वा कर्म्म तथा प्रत्येकं सातं च–मनआह्लादि ज्ञात्वा समुत्थितो न प्रमादयेत् । न केवलं दुःखं कर्म्म वा प्रत्येकं, तदुपादानभूतोऽध्यवसायोऽपि प्राणिनां भिन्न एवेति दर्शयितुमाह—'पुढो' इत्यादि, पृथग्–भिन्नः छन्दः–अभिप्रायो येषां ते पृथग्छन्दाः, नानाभूतबन्धाध्यवसायस्थाना इत्यर्थः, 'इहे'ति संसारे संज्ञिलोके वा, के ते?—'मानवाः' मनुष्याः, उपलक्षणार्थत्वादन्येऽपि, संज्ञिनां पृथक्सङ्कल्पत्वाच्च तत्कार्यमपि कर्म्म पृथगेव, तत्कारणमपि दुःखं नानारूपमिति, कारणभेदे कार्यभेदस्य अवश्यंभावित्वादिति, अतः पूर्वोक्तं स्मारयन्नाह—'पुढो' इत्यादि, दुःखोपादानभेदाद् दुःखमपि प्राणिनां पृथक् प्रवेदितं, सर्वस्य स्वकृतकर्म्मफलेश्वरत्वात् नान्यकृतमन्य उपभुङ्क्ते इति।एतन्मत्वा किं कुर्यादित्याह—'से' इत्यादि, 'सः' अनारम्भजीवी प्रत्येकसुखदुःखाध्यवसायी प्राणिनो विविधैरुपायैरहिंसन् तथाऽनपवदन्–अन्यथैव व्यवस्थितं वस्त्वन्यथा वदन्नपवदन् नापवदन् अनपवदन्, मृषावादमब्रुवन्नित्यर्थः, पश्य च त्वं तस्यापि प्राकृतत्वादार्षत्वाद्वा लोपः, एवं परस्वमगृह्णन्नित्याद्यप्यायोज्यम् । एतद्विधायी च किमपरं कुर्यादित्याह—'पुट्ठो' इत्यादि, स पञ्चमहाव्रतव्यवस्थितः सन् यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वहणोद्यतः स्पृष्टः परीषहोपसर्गैस्तान् तत्कृतान् शीतोष्णादिस्पर्शान् दुःखस्पर्शान् वा त-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्सहिष्णुतया अनाकुलो विविधैरुपायैः–प्रकारैः संसारासारभावनादिभिः प्रेरयेत्, तत्प्रेरणं च सम्यक्सहनं, न तत्कृतया दुःखासिकयाऽऽत्मानं भावयेदितियावत् ॥ यो हि सम्यक्करणतया परीषहान् सहेत स किंगुणः स्यादित्याह—

एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठो अहियासइ, से पुव्विंपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्ममधुवं अणिइयं असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं, पासह एयं रूवसंधिं । (सू० १४७)

'एषः' अनन्तरोक्तो यः परीषहाणां प्रणोदकः 'समिया' सम्यक् शमिता वा शमोऽस्यास्तीति शमी तद्भावः शमिता 'पर्यायः' प्रव्रज्या सम्यक् शमितया वा पर्यायः–प्रव्रज्याऽस्येति विगृह्य बहुव्रीहिः स सम्यक्पर्यायः शमितापर्यायो वा व्याख्यातो नापर इति । तदेवं परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतां प्रतिपाद्य व्याधिसहिष्णुतां प्रतिपादयन्नाह—'जे असत्ता' इत्यादि, येऽपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चनाः समतापन्नाः पापेषु कर्म्मस्वसक्ताः–पापोपादानानुष्ठानारताः 'उदाहु' कदाचित्तान् तथाभूतान् साधून् 'आतङ्का' आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः 'स्पृशन्ति' अभिभवन्ति पीडयन्ति । यदि नामैवं ततः किमित्याह—'इति उदाहु' इत्यादि, 'इति' एतद्वक्ष्यमाणमुदाहृतवान्–व्याकृतवान्, कोऽसौ ?—'धीरो' धीः–बुद्धिस्तया राजते, स च तीर्थकृद्गणधरो वा, किं तदुदाहृतवान् ?–तैरातङ्कैः स्पृष्टः सन्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तान् स्पर्शान्-दुःखानुभवान् व्याधिविशेषापादितानध्यासयेत्-सहेत । किमाकलय्येत्याह—'से पुव्व' मित्यादि, स स्पृष्टः पीडितः आशुकारिभिरातङ्कैरेतद्भावयेद् यथा पूर्वमप्येतद्-असातावेदनीयविपाकजनितं दुःखं मयैव सोढव्यं, पश्चा-दप्येतन्मयैव सहनीयं, यतः संसारोदरविवरवर्त्ती न विद्यत एवासौ यस्यासातावेदनीयविपाकापादिता रोगातङ्का न भवेयुः, तथाहि-केवलिनोऽपि मोहनीयादिघातिचतुष्टयक्षयादुत्पन्नज्ञानस्य वेदनीयसद्भावेन तदुदयात्तत्सम्भव इति, य-तश्च तीर्थकरैरप्येतद्बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थायातं कर्म्मावश्यं वेद्यं नान्यथा तन्मोक्षः, अतोऽन्येनाप्यसातावेदनीयोदये सनत्कुमारदृष्टान्तेन मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य नोद्विजितव्यमिति, उक्तं च—"स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां विपाकः,

---

१-२-३-४ कर्मबन्धश्चतुर्विधः, तद्यथा—प्रकृतिबन्धः १ स्थितिबन्धः २ अनुभागबन्धः ३ प्रदेशबन्धः ४, तत्र प्रकृतिबन्धोऽष्टविधः, ज्ञानावरणीयाद्यन्तरा-यान्तः, एतेऽष्टावपि मूलभेदाः, उत्तरभेदास्तु ज्ञानावरणीये पञ्च, दर्शनावरणीये नव, वेदनीये द्वौ, मोहनीयेऽष्टाविंशतिः, आयुषश्चत्वारः, नाम्नः द्विचत्वारिंशत् सप्त-षष्टिर्वा त्रिनवतिर्वा न्युत्तरशतं वा, गोत्रे द्वौ, अन्तराये पञ्च, इति मूलोत्तरप्रकृतिबन्धः । स्थितिबन्धे ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायेषु त्रिंशत्कोटीकोट्य उत्कृष्टा स्थितिः, मोहनीये सप्ततिकोटाकोट्यः, नामगोत्रयोर्विंशतिः, आयुषि ३३ सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागोनानि, नामगोत्रयोर्जघन्या स्थितिरष्टौ मुहूर्त्ताः, वेद-नीयस्य बारसमुहुत्ता, अंतोमुहुत्ता सेसाणं इति स्थितिबन्धः, शुभाशुभकर्म्मपुद्गलेषु—"जो रसो अणुभागो वुच्चइ तत्थ सुभेसु महुरो असुभेसु अमहुरो रसो तस्स बन्धो अणुभागबंधो" अणुभागबन्धो समत्तो । प्रदेशाः—कर्म्मवर्गणास्कन्धाः तेषां बन्धः जीवप्रदेशैः सर्वं वह्नयःपिण्डवत्क्षीरनीरसम्बन्धवद्वा, उक्तं च—"जीवकर्म-प्रदेशानां, यः सम्बन्धः परस्परम् । कृशानुलोहवद्धेतोः, तं बन्धं जगदुर्बुधाः ॥ १ ॥" स्पृष्टबद्धनिधत्तनिकाचितकारणभेदात् स पुनश्चतुर्विधः, तथाहि—समूहगतायःसूचिसम्बन्धवत् स्पृष्टकर्मबन्धः, दवरकबद्धसूचिसम्बन्धवद्बद्धकर्मबन्धः, वर्षान्तरितदवरकबद्धसूचिकासम्बन्धवन्निधत्तकर्मबन्धः, अग्निध्मातसूचिकासमवा-यमेलकवन्निकाचितकर्म्मबन्धः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य । स्वयमनुभवतोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो, भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते ॥ १ ॥"
अपि च–एतदौदारिकं शरीरं सुचिरमप्यौषधरसायनाद्युपबृंहितं मृन्मयामघटादपि निःसारतरं सर्वथा सदा विशरार्व्विति दर्शयन्नाह—'भिदुरधम्म'मित्यादि, यदिवा पूर्वं पश्चादप्येतदौदारिकं शरीरं वक्ष्यमाणधर्म्मस्वभावमित्याह—'भिदुरधम्म'मित्यादि, स्वयमेव भिद्यत इति भिदुरः स धर्म्मोऽस्य शरीरस्येति भिदुरधर्म्मं, इदमौदारिकं शरीरं सुपोषितमपि वेदनोदयाच्छिरोदरचक्षुरुरःप्रभृत्यवयवेषु स्वत एव भिद्यत इति भिदुरं, तथा विध्वंसनधर्म्मं पाणिपादाद्यवयवविध्वंसनात्, तथा अवश्यंभावसम्भावितं त्रियामान्ते सूर्योदयवत् ध्रुवं न तथा यत्तदध्रुवं, तथा अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थितं सन्नित्यं नैवं यत्तदनित्यमिति, तथा तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छश्वद्भवतीति शाश्वतं ततोऽन्यदशाश्वतं, तथेष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भादौदारिकशरीरवर्गणापरमाणूपचयाच्चयः तदभावेन तद्विघटनादपचयः, चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकम्, अत एव विविधः परिणामः–अन्यथाभावात्मको धर्म्मः–स्वभावो यस्य तद्विपरिणामधर्म्मं । यतश्चैवम्भूतमिदं शरीरकमतोऽस्योपरि कोऽनुबन्धः का मूर्च्छा?, नास्य कुशलानुष्ठानमृतेऽन्यथा साफल्यमित्येतदेवाह—'पासह' इत्यादि, पश्यतैनं पूर्वोक्तं रूपसन्धिं, भिदुरधर्म्माद्यात्मौदारिकं पञ्चेन्द्रियनिर्वृत्तिलाभावसरात्मकं, दृष्ट्वा च विविधातङ्कजनितान् स्पर्शानध्यासयेदिति ॥ एतत्पश्यतश्च यत्स्यात्तदाह—

समुप्पेहमाणस्स इक्कायणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स त्तिबेमि । (सू० १४८)

सम्यगुत्प्रेक्षमाणस्य–पश्यतोऽनित्यताघ्रातमिदं शरीरमित्येवमवधारयतो नास्ति मार्ग इति सम्बन्धः, किं च–आङ्-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्यः आत्मा आयत्यते–आनियम्यते यस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतनं–ज्ञानादित्रयम् एकम्–अद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्तस्य, किं च—'इह' शरीरे जन्मनि वा विविधं परमार्थभावनया शरीरानुबन्धात् प्रमुक्तो विप्रमुक्तस्तस्य 'नास्ति' न विद्यते, कोऽसौ?—'मार्गो' नरकतिर्यङ्मनुष्यगमनपद्धतिः, वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानदर्शनान्न भविष्यतीति नास्तीत्युक्तं, यदिवा तस्मिन्नेव जन्मनि समस्तकर्म्मक्षयोपपत्तेर्नास्ति नरकादिमार्गः, कस्येति दर्शयति—'विरतस्य' हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवृत्तस्य, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् सुधर्म्मस्वाम्यात्मानमाह, यद्भगवता वीरवर्द्धमानस्वामिना दिव्यज्ञानेनार्थानुपलभ्य वाग्योगेनोक्तं तदहं भवतां ब्रवीमि, न स्वमतिविरचनेनेति। विरत एव मुनिर्भवत्येतत्प्रतिपाद्य साम्प्रतम् 'अविरतवादी परिग्रहवानि'ति यदुक्तं तत्प्रतिपादयन्नाह–

आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ। (सू० १४९)

यावन्तः केचन लोके 'परिग्रहवन्तः' परिग्रहयुक्ताः स्युस्तत(त्र) एवम्भूतपरिग्रहसद्भावादित्याह—'से अप्पं वा' इत्यादि, तद्द्रव्यं यत्परिगृह्यते तदल्पं वा–स्तोकं वा स्यात् कपर्दकादि, बहु वा स्यात् धनधान्यहिरण्यग्रामजनपदादि, अणु वा स्यात् मूल्यतस्तृणकाष्ठादि प्रमाणतो वज्रादि, स्थूलं वा स्यात् मूल्यतः प्रमाणतश्च हस्त्यश्वादि, एतच्च चित्तवद्वा स्याद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चित्तवद्वेति । एतेन च परिग्रहेण परिग्रहवन्तः सन्त एतेष्वेव परिग्रहवत्सु गृहस्थेष्वन्तर्वर्त्तिनो व्रतिनोऽपि स्युः, यदि-वैतेष्वेव षट्सु जीवनिकायेषु विषयभूतेष्वल्पादिषु वा द्रव्येषु मूर्च्छां कुर्व्वन्तः परिग्रहवन्तो भवन्ति, तथा चाविरतो विरतिवादं वदन्नल्पादपि परिग्रहात् परिग्रहवान् भवति, एवं शेषेष्वपि व्रतेष्वायोज्यम्, एकदेशापराधादपि सर्वापरा-धितासम्भवः, अनिवारितास्रवत्वात् । यद्येवमल्पेनापि परिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमतः पाणिपुटभोजिनो दिगम्बराः सर-जस्कबोटिकादयोऽपरिग्रहाः स्युः, तेषां तदभावात्, नैतदस्ति, तदभावादित्यसिद्धो हेतुः, तथाहि–सरजस्कानामस्थ्यादि-परिग्रहाद्बोटिकानामपि पिञ्छिकादिपरिग्रहाद् अन्त(न्तत)श्च शरीराहारादिपरिग्रहसद्भावात्, धर्मोपष्टम्भकत्वाददोष इति चेद् तद् इतरत्रापि समानं, किं दिगम्बराग्रहग्रहेणेति । एतच्चाल्पादिपरिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमपरिग्रहाभिमानिनां चाहारश-रीरादिकं महतेऽनर्थायेति दर्शयन्नाह—'एतदेवे'त्यादि, एतदेव-अल्पबहुत्वादिपरिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमेकेषां–परिग्रहवतां नरकादिगमनहेतुत्वात् सर्वस्याविश्वासकारणाद्वा महाभयं भवति, प्रकृतिरियं परिग्रहस्य, यदुत-तद्वान् सर्व्वस्माच्छकति, यदिवैतदेव शरीराहारादिकमपरस्याल्पस्यापि पात्रत्रवक्त्राणादेर्द्धर्म्मोपकरणस्याभावाद् गृहिगृहे सम्यगुपायाभावादविधि-नाऽशुद्धमाहारादिकं भुञ्जानस्य कर्म्मबन्धजनितमहाभयहेतुत्वान्महाभयं, तथैतद्धर्मशरीरं समस्ताच्छादनाभावाद्बीभत्सं परेषां महाभयं, तन्निरवद्यविधिपालनाभावाच्च महाभयमिति । यतः परिग्रहो महाभयमतोऽपदिश्यते—'लोगं' इत्यादि, 'लोकस्य' असंयतलोकस्य 'वित्तं' द्रव्यमल्पादिविशेषणविशिष्टं, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, णमिति वाक्यालङ्कारे, लोक-वित्तं लोकवृत्तं वा आहारभयमैथुनपरिग्रहोत्कटसंज्ञात्मकं महते भयाय पुनरुल्लेख्य–ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञया परिहरेत् । तत्परिहर्त्तुश्च यत्स्यात्तदाह—'एए संगे' इत्यादि, 'एतान्' अल्पादिद्रव्यपरिग्रहसङ्गान् शरीराहारादिसङ्गान् वा 'अविजानतः'अकुर्वाणस्य वा तत्परिग्रहजनितं महाभयं न स्यात् ॥ किं च—

से सुपडिबद्धं सूवणीयंति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बंभचेरं तिबेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे–बंधपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तितिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्तिबेमि (सू० १५०) । लोकसाराध्ययने द्वितीयोद्देशकः ५–२ ॥

'से' तस्य परिग्रहपरिहर्तुः सुष्ठु प्रतिबद्धं सुप्रतिबद्धं सुष्ठूपनीतं सूपनीतं ज्ञानादि इत्येतत् ज्ञात्वा 'हे पुरुष !' मानव ! परमं ज्ञानं चक्षुर्यस्यासौ परमचक्षुः मोक्षैकदृष्टिर्वा सन् विविधं तपोऽनुष्ठानविधिना संयमे कर्म्मणि वा पराक्रमस्वेति । अथ किमर्थं पराक्रमणोपदेश इत्यत आह—'एएसु चेवे' त्यादि, य इमे परिग्रहविरताः परमचक्षुषश्चैतेष्वेव परमार्थतो ब्रह्मचर्यं नान्येषु, नवविधब्रह्मचर्यगुप्त्यभावाद्, यदिवा ब्रह्मचर्याख्योऽयं श्रुतस्कन्धः, एतद्वाच्यमपि ब्रह्मचर्यं तदेतेष्वेवापरिग्रहवत्सु, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीम्यहं यदुक्तं वक्ष्यमाणं च सर्वज्ञोपदेशादित्याह—'से सुअं च मे' इत्यादि, तद्यत् कथितं यच्च कथयिष्यामि तच्छ्रुतं च मया तीर्थकरसकाशात् तथा आत्मन्यधि अध्यात्मं ममैतच्चेतसि व्यवस्थितं, किं तदध्यात्मनि स्थितमिति दर्शयति–बन्धात्सकाशान्ममोक्षः बन्धप्रमोक्षस्तथा 'अध्यात्मन्येव' ब्रह्मचर्ये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुनः संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१५०]

दीप अनुक्रम [१६३]

व्यवस्थितस्यैवेति । किं च—'इत्थ' इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् परिग्रहे जिघृक्षिते विरतः, कोऽसौ ?–नास्यागारं–गृहं विद्यत इत्यनगारः, स एवम्भूतो 'दीर्घरात्रं' यावज्जीवं परिग्रहाभावात् यत् क्षुत्पिपासादिकमागच्छति तत् 'तितिक्षेत' सहेत । पुनरप्युपदेशदानायाह—'पमत्ते' इत्यादि, प्रमत्तान्–विषयादिभिः प्रमादैर्बहिर्द्धर्म्माद्व्यवस्थितान् पश्य गृहस्थतीर्थिकादीन् । दृष्ट्वा च किं कुर्यादिति दर्शयति–अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति । किं च—'एय' मित्यादि, 'एतत्' पूर्वोक्तं संयमानुष्ठानं मुनेरिदं मौनं–सर्वज्ञोक्तं सम्यग् 'अनुवासयेः' प्रतिपालयेः 'इति' अधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । लोकसाराध्ययने द्वितीयोद्देशकः समाप्तः

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते–अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोक्तोद्देशकेऽविरतवादी परिग्रहवानित्यभिहितम्, इह तु तद्विपर्यय उच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव अपरिग्गहावंती, सुच्चा वई मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं । (सू० १५१)

यावन्तः केचन लोकेऽपरिग्रहवन्तो विरता यतय इत्यर्थः, ते सर्वे एतेष्वेव–अल्पादिषु द्रव्येषु त्यक्तेषु सत्स्वपरिग्रह-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम-अध्ययने तृतीय-उद्देशकः 'अपरिग्रह' आरब्धः,

वन्तो भवन्ति, यदिवैतेष्वेव षट्सु जीवनिकायेषु ममत्वाभावादपरिग्रहा भवन्ति । स्यात्–कथमपरिग्रहभावः स्यादित्याह—'सोच्चा' इत्यादि 'वई'त्ति सुव्व्यत्ययेन द्वितीयार्थे प्रथमाऽतो वाचं–तीर्थकराज्ञामागमरूपां 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितः सश्रुतिको हेयोपादेयपरिहारप्रवृत्तिज्ञः, तथा 'पण्डितानां' गणधराचार्यादीनां विधिनियमात्मकं वचनं निशम्य सचित्ताचित्तपरिग्रहपरित्यागादपरिग्रहो भवति । स्यादेतत्–कदा पुनरुत्पन्ननिरावरणज्ञानानां तीर्थकृतां वाग्योगो भवति येनासावाकर्ण्यते ?, उच्यते, धर्म्मकथाऽवसरे, किम्भूतस्तैः पुनर्धर्म्मः प्रवेदित इत्यारेकापनोदार्थमाह—'समिय'त्ति 'समता' समशत्रुमित्रता तयाऽऽर्यैर्द्धर्म्मः प्रवेदित इति, उक्तं च–"जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा व तच्छेति । संथुणइ जो अ णिंदति महेसिणो तत्थ समभावा ॥ १ ॥" यदिवाऽऽर्येषु–देशभाषाचरित्राऽऽर्येषु समतया भगवता धर्म्मः प्रवेदितः, तथा चोक्तम्—"जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थई"त्यादि, अथवा शमिनो भावः शमिता तया सर्वहेयधर्म्मारातीयवर्त्तिभिः आर्यैः प्रकर्षेणादौ वा धर्म्मो वेदितः प्रवेदितः, इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमेन तीर्थकृद्भिर्द्धर्म्मः प्रज्ञापित इतियावत्। स्याद्–अन्यैरपि स्वाभिप्रायेण धर्म्माः प्रवेदिता एवेत्यतस्तद्व्युदासार्थं भगवानेवाह–'जहेत्थे'त्यादि, सदेवमनुजायां पर्षदि भगवानेवमाह–यथाऽत्र मया ज्ञानादिको मोक्षसन्धिः 'झोसिओ'त्ति सेवित इति, यदिवा 'अत्र' अस्मिन् ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके मोक्षमार्गे समभावात्मके इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमरूपे मया मुमुक्षुणा स्वत एव सन्धानं सन्धिः–कर्म्मसन्ततिः सन्धीयत इति वा भवाद्भवान्तरमनेनेति सन्धिः–अष्टप्रकारकर्म्मसन्ततिरूपः स

१ यश्चन्दनेन बाहूं आलिम्पति वास्या वा तक्ष्णोति । संस्तौति यश्च निन्दति महर्षयस्तत्र समभावाः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

झोषितः–क्षपितः अतो य एव तीर्थकृद्भिर्द्धर्म्मोऽभिहितः स एव मोक्षमार्गो नापर इत्येतदेवाह–यथाऽत्र मया सन्धिर्झोषितः एवमन्यत्र–अन्यतीर्थिकप्रणीते मोक्षमार्गे सन्धिः–कर्म्मसन्ततिरूपः दुर्झोष्यो भवति–दुःक्षयो भवति, असमीचीनतया तदुपायाभावाद्, यदि नाम भगवताऽत्र कर्म्मसन्धिर्झोषितस्ततः किमित्याह–यस्मादस्मिन्नेव मार्गे व्यवस्थितेन मयाऽपि विकृष्टतरेण तपसा कर्म्म क्षपितं ततोऽन्योऽपि मुमुक्षुः संयमानुष्ठाने तपसि च वीर्यं 'नो निहन्यात्' नो निगूहयेद् अनिगूहितबलवीर्यो भूयाद्, एतदहं ब्रवीमि परमकारुण्याकृष्टहृदयः परहितैकोपदेशदायीत्येतद्वीरवर्द्धमानस्वाम्याह, सुधर्मस्वामी स्वशिष्याणां कथयति स्म ॥ कश्चैवम्भूतः स्यादित्याह—

जे पुव्वुट्ठाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुट्ठायी नो पच्छानिवाई, सेऽवि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमन्नेसयंति । (सू० १५२)

यः कश्चिद्विदितसंसारस्वभावतया धर्म्मचरणैकप्रवणमनाः पूर्वं–प्रव्रज्याऽवसरे संयमानुष्ठानेनोत्थातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी पश्चाच्च श्रद्धासंवेगतया विशेषेण वर्द्धमानपरिणामो नो निपाती, निपतितुं शीलमस्येति विगृह्य णिनिः निपतनं वा निपातः सोऽस्यास्तीति निपाती, सिंहतया निष्क्रान्तः सिंहतया विहारी च गणधरादिवत् प्रथमो भङ्गः । द्वितीयभङ्गं सूत्रेणैव दर्शयन्नाह–पूर्वमुत्थातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पुनर्विचित्रत्वात् कर्म्मपरिणतेस्तथाविधभवितव्यतानियोगात्पश्चान्निपाती स्यात्, नन्दिषेणवत्, कश्चिद्दर्शनतोऽपि गोष्ठामाहिलवदिति । तृतीयभङ्गस्य चाभावादनुपादानं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स चायम्—'जे नो पुव्वुट्ठायी पच्छानिवाती', तथाहि–उत्थाने सति निपातोऽनिपातो वा चिन्त्यते, सति धर्म्मिणि धर्म्मचिन्ता, तदुत्थानप्रतिषेधे च दूरोत्सादितैव निपातचिन्तेति। चतुर्थभङ्गदर्शनाय त्वाह–यो हि नो पूर्वोत्थायी न च पश्चान्निपाती सोऽविरत एव गृहस्थः सन्नोत्थायी भवति सम्यग्विरतेरभावात् नापि पश्चान्निपाती उत्थानाविनाभावित्वान्निपातस्य, शाक्यादयो वा चतुर्थभङ्गपतिता द्रष्टव्याः, तेषामप्युभयासद्भावादिति । ननु च गृहस्था एव चतुर्थभङ्गपतिता युक्ता वक्तुं, तथाहि–तेषां सावद्ययोगानुष्ठानेनानुत्थानतया प्रतिज्ञामन्दरारोपाभावान्निपाताभावः, शाक्यादिरपि चतुर्थभङ्गपतित इत्यत आह—'सोऽपि' शाक्यादिर्गणः पञ्चमहाव्रतभारारोपणाभावेन सावद्ययोगानुष्ठानतया नो पूर्वोत्थायी निपातस्य च तत्पूर्वकत्वान्नोपश्चान्निपातीत्यतस्तादृश एव–गृहस्थतुल्य एव स्याद्, आस्रवद्वाराणामुभयेषामप्यसंवृतत्वात्, उदायिनृपमारकवत्। अन्येऽपि ये सावद्यानुष्ठायिनस्तेऽपि तादृक्षा एवेति दर्शयन्नाह–येऽपि स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादयो द्विविधयाऽपि परिज्ञया लोकं परिज्ञाय पुनः पचनपाचनाद्यर्थं तमेव लोकमन्वाश्रिता अन्वेषयन्ति वा तेऽपि गृहस्थतुल्या एव भवेयुः ॥ स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह—

एयं नियाय मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं सुपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे, इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ? (सू० १५३)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'एतद्' यदुत्थाननिपातादिकं प्रागुपन्यस्तं तत्केवलज्ञानावलोकनेन 'नियाय'त्ति ज्ञात्वा 'मुनिना' तीर्थकृता 'प्रवेदितं' कथितम् । इदं चान्यत्प्रवेदितमित्याह—'इह' अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने व्यवस्थितः सन् 'आज्ञां' तीर्थकरोपदेशमाकाङ्क्षितुं शीलमस्येत्याज्ञाकाङ्क्षी—आगमानुसारप्रवृत्तिकः, कश्चैवम्भूतः ?—'पण्डितः' सदसद्विवेकज्ञः 'अस्निहः' स्नेहरहितः । रागद्वेषविप्रमुक्तोऽहर्निशं गुरुनिर्देशवर्ती यत्नवान् स्यादित्येतदाह—पूर्वरात्रं—रात्रेः प्रथमो यामोऽपररात्रं—रात्रेः पाश्चात्यः एतद्यामद्वयमपि 'यतमानः' सदाचारमाचरेत्, मध्यवर्त्तियामद्वयमपि यथोक्तविधिना स्वपन् वैरात्रादिकं विदध्यात्, रात्रियतनाप्रतिपादनेन चाह्न्यपि प्रतिपादितैव भवति, आद्यन्तग्रहणे मध्यग्रहणस्यावश्यंभावित्वात् । किं च—'सदा' सर्वकालं 'शीलम्' अष्टादशभेदसहस्रसङ्ख्यं संयमं वा यदिवा चतुर्द्धा शीलं—महाव्रतसमाधानं तिस्रो गुप्तयः पञ्चेन्द्रियदमः कषायनिग्रहश्चेत्येतच्छीलं सम्प्रेक्ष्य मोक्षाङ्गतयाऽनुपालयेत् नाक्षिनिमेषमात्रमपि कालं प्रमादवशगो भूयात् । कश्च शीलसम्प्रेक्षकः स्यादित्याह—यो हि श्रुत्वा शीलसम्प्रेक्षणफलं निःशीलनिर्व्रतानां च नरकादिपातविपाकमाकर्ण्यागमात्, 'भवेत्' स्यात् 'अकाम' इच्छामदनकामरहित इति, तथा नास्य 'झञ्झा' माया लोभेच्छा वा विद्यत इत्यझञ्झः, कामझञ्झाप्रतिषेधाच्च मोहनीयोदयः प्रतिषिद्धः, तत्प्रतिषेधाच्च शीलवान् स्यादिति, एतदुक्तं भवति—धर्म्मं श्रुत्वा स्यात् अकामोऽझञ्झश्चेत्यनेन चोत्तरगुणा गृहीताः, उपलक्षणार्थत्वाच्च मूलगुणा अपि गृहीताः, ततः स्यात् अहिंसकः सत्यवादीत्याद्यपि द्रष्टव्यं । ननु चान्यजीवाच्छरीरमित्येवंभावनायुक्तस्यानिगूहितबलवीर्यस्य पराक्रममाणस्याष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणोऽपि मे यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्यापि नाशेषकर्म्ममलापगमोऽद्यापि भवतीत्यतस्तथाभूतमसाधारणकारणमाचक्ष्व

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

येनाहमाश्वेवाशेषमलकलङ्करहितः स्याम्, अहं च भवदुपदेशाद् अपि सिंहेनापि सह युद्ध्ये, न मे कर्म्मक्षयार्थं प्रवृत्तस्य किञ्चिदशक्यमस्तीत्यत्रोत्तरं सूत्रेणैवाह–अनेनैवौदारिकेण शरीरेणेन्द्रियनोइन्द्रियात्मकेन विषयसुखपिपासुना स्वैरिणा सार्द्धं युध्यस्व, इदमेव सन्मार्गावतारणतो वशीकुरु, किमपरेण बाह्यतस्ते युद्धेन?, अन्तरारिषड्वर्गकर्मरिपुजयाद्धा सर्वं सेत्स्यति भवतो, नातोऽपरं दुष्करमस्तीति ॥ किंत्वियमेव सामग्री अगाधसंसारार्णवे पर्यटतो भवकोटिसहस्रेष्वपि दुष्प्रापेति दर्शयितुमाह—

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं, जहित्थ कुसलेहिं परिन्नाविवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सिं चेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमई नो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी नारभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पइन्ने निव्विण्णचारी अरए पयासु (सू० १५४)

एतदौदारिकं शरीरं भावयुद्धार्हं, खलुरवधारणे, स च भिन्नक्रमो, दुर्लभमेव–दुष्प्रापमेव, उक्तं च—"ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ १ ॥" इत्यादि, पाठान्तरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ २११ ॥

वा—"जुद्धारियं च दुल्लहं" तत्रानार्यं सङ्ग्रामयुद्धं परीषहादिरिपुयुद्धं त्वार्यं तद् दुर्लभमेव तेन युद्ध्यस्व, ततो भवतोऽशेषकर्म्मक्षयलक्षणो मोक्षोऽचिरादेव भावीति भावार्थः । तच्च भावयुद्धार्हं शरीरं लब्ध्वा कश्चित्तेनैव भवेनाशेषकर्म्मक्षयं विधत्ते, मरुदेवीस्वामिनीव, कश्चित् सप्तभिरष्टभिर्वा भवैर्भरतवत्, कश्चिदपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेन, अपरो न सेत्स्यत्येव, किमित्येवं यत आह–यथा येन प्रकारेण 'अत्र' अस्मिन् संसारे 'कुशलैः' तीर्थकृद्भिः 'परिज्ञाविवेकः' परिज्ञानविशिष्टता, कस्यचित् कोऽप्यध्यवसायः संसारवैचित्र्यहेतुः 'भाषितः' प्रज्ञापितः, स च मतिमता तथैवाभ्युपगन्तव्य इति । तदेव परिज्ञाननानात्वं दर्शयन्नाह–लब्ध्वाऽपि दुर्लभं मनुजत्वं प्राप्य च मोक्षैकगमनहेतुं धर्म्मं पुनरपि कर्म्मोदयात्तस्मात् च्युतो 'बालः' अज्ञः 'गर्भादिषु रज्यते' गर्भ आदिर्येषां कुमारयौवनावस्थाविशेषाणां ते गर्भादयः तेष्वेव गार्द्ध्यमुपयाति, यथैभिः सार्द्धं मम वियोगो मा भूत् इत्यध्यवसायी भवति, यदिवा धर्म्माच्च्युतस्तत्करोति येन गर्भादिषु यातनास्थानेषु सङ्गमुपयाति, 'रिज्जइ'त्ति वा क्वचित्पाठः, रीयते–गच्छतीत्यर्थः । स्यात्–कोक्तमिदं ?, यत् प्राग् व्यावर्णितमित्याह—'अस्मिन्नि'ति आर्हते प्रवचने 'एतत्' पूर्वोक्तं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते । एतच्च वक्ष्यमाणमत्रैवोच्यते इति दर्शयन्नाह—'रूपे' चक्षुरिन्द्रियविषयेऽध्युपपन्नो, वाशब्दादन्यत्र वा स्पर्शरसादौ 'क्षणे' प्रवर्त्तते, 'क्षणु हिंसायां' क्षणनं क्षणो–हिंसा तस्यां प्रवर्त्तते, वाशब्दादन्यत्र चानृतस्तेयादाविति, रूपप्रधानत्वाद्विषयाणां रूपित्वाच्च रूपोपादानं, आस्रवद्वाराणां च हिंसाप्रधानत्वात्तदादित्वाच्च तदुपादानमिति । बालो रूपादिविषयनिमित्तं धर्माच्च्युतः सन् गर्भादिषु रज्यते, अत्रार्हते मार्गे इदमुच्यते, यस्तु पुनर्गर्भादिगमनहेतुं ज्ञात्वा विषयसङ्गं धर्म्मादच्युतो हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवर्त्तते स किंभूतः

लोक० ५ उद्देशकः ३

॥ २११ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्यादित्याह—'स' जितेन्द्रियो, दुरवधारणे, स एवैकः–अद्वितीयो 'मुनिः' जगत्त्रयमन्ता 'संविद्धपथः' सम्यग्विद्धः–ताडितः क्षुण्णः पन्थाः–मोक्षमार्गो ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो येन स तथा, 'संविद्धभये'त्ति वा पाठः, संविद्धभयो दृष्टभय इत्यर्थः, यो ह्यास्रवद्वारेभ्यो हिंसादिभ्यो निवृत्तः स एव मुनिः क्षुण्णमोक्षमार्ग इति भावार्थः । किं च–अन्येन प्रकारेणान्यथा–विषयकषायाभिभूतं हिंसादिकर्म्मसु प्रवृत्तं 'लोकं' गृहस्थलोकं पाखण्डिलोकं वा पचनपाचनौद्देशिकसचित्ताहारादिप्रवृत्तमुत्प्रेक्षमाणोऽन्यथा वा आत्मानं निवृत्ताशुभव्यापारमुत्प्रेक्षमाणः संविद्धपथो मुनिः स्यात् इति । लोकं चान्यथोत्प्रेक्ष्य किं कुर्यादित्याह–'इति' पूर्वोक्तैर्हेतुभिर्यद्वद्धं कर्म्म तदुपादानं च सर्वतः परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञयाऽपि सर्वतः परिहरेत् । कथं परिहरतीत्याह—'स' कर्म्मपरिहर्त्ता कायवाङ्मनोभिर्न हिनस्ति जन्तून् न घातयत्यपरैर्नाप्यनुमन्यते । किं च–पापोपादानप्रवृत्तमात्मानं संयमयति, सप्तदशप्रकारं वा संयमं करोति संयमयति, आचरन्नित्यं वैतत् संयम इवाचरति संयमयति । किं च—'नो पगब्भइ' 'गल्भ धार्ष्ट्ये' असंयमकर्म्मसु प्रवृत्तः सन् न प्रगल्भत्वमायाति, रहस्यप्यकार्यप्रवृत्तो जिह्रेति न धृष्टतां अवलम्बत इति, उपलक्षणार्थत्वादस्य क्षुण्णमोक्षपथो मुनिर्न क्रुध्यति, न जात्यादिमानमुद्वहति, न वञ्चनां विधत्ते, न लुभ्यति । किमाकलय्यैतत्कुर्यादित्याह—'उत्प्रेक्षमाणः' अवगच्छन् प्रत्येकं प्राणिनां सातं मनोऽनुकूलं नान्यसुखेनान्यः सुखीति नापि परदुःखेन दुःखीत्यतः प्राणिनो न हिंस्यादिति । प्राणिनां प्रत्येकं सातमुत्प्रेक्षमाणश्च किं कुर्यादित्याह–वर्ण्यते–प्रशस्यते येन स वर्णः–साधुकारस्तदादेशी वर्णादेशी–वर्णाभिलाषी सन् नारभते कञ्चन पापारम्भं सर्वस्मिन्नपि लोके, यदिवा–तपःसंयमादिकमप्यारम्भं यशःकीर्त्यर्थं नारभते, प्रवचनो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्भावनार्थं त्वारभते, तदुद्भावकाश्चामी—"प्रावचनी धर्म्मकथी वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । विद्यासिद्धः ख्यातः कविरपि चोद्भावकास्त्वष्टौ ॥ १ ॥" यदिवा वर्णो–रूपं तदादेशी–तदभिलाषुकः नोद्वर्त्तनादिकाः क्रिया आरभेत, किम्भूतः सन्नेतत्कुर्यादित्याह—'एको' मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात् संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात् तत्र प्रगतं मुखं यस्य स तथा –मोक्षे तदुपाये वा दत्तैकदृष्टिर्न कञ्चन पापारम्भमारभेत इति, किं च–मोक्षसंयमाभिमुखा दिक् ततोऽन्या विदिक् तां प्रकर्षेण तीर्णो विदिक्प्रतीर्णः, स चैवम्भूतः सन्नारम्भी स्यात्, कुमार्गपरित्यागेन न पापारम्भान्वेषी भवतीत्यर्थः, किं च–चरणं चारः–अनुष्ठानं निर्विण्णस्य चारो निर्विण्णचारः सोऽस्यास्तीति निर्विण्णचारी, कुत इति चेत्, यतः 'प्रजास्वरतः' प्रजायन्त इति प्रजाः–प्राणिनस्तत्रारतः–तदारम्भाप्रवृत्तो निर्म्ममत्वो वा, यश्च शरीरादिष्वपि ममत्वरहितः स निर्विण्णचार्येव भवति, यदिवा प्रजाः–स्त्रियस्तास्वरतः आरम्भेऽपि निर्वेदमागच्छति, कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति ॥ यश्च प्रजास्वरक्तः आरम्भरहितः स किम्भूतः स्यादित्याह—

– से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं तं नो अन्नेसी, जं संमंति पासहा तं मोणंति पासहा जं मोणंति पासहा तं संमंति पासहा, न इमं सक्कं सिढिलेहिं अदिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो, एस ओ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५५]

दीप अनुक्रम [१६८]

हन्तरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्तिबेमि (सू० १५५) ॥ लोकसारे तृतीयोद्देशकः ॥ ५–३ ॥

वसु–द्रव्यं, स चात्र संयमस्तद्विद्यते यस्य स निवृत्तारम्भो मुनिर्वसुमान् सर्वं सम्यगन्वागतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं यस्यात्मनस्तेनात्मना सर्वसमन्वागतप्रज्ञानरूपापन्नेन यदकर्त्तव्यं पापकर्म्म तन्नो कदाचिदप्यन्वेषति, उपलब्धपरमार्थरूपेणात्मना न सावद्यानुष्ठानविधायी स्यादिति भावार्थः । यदेव सम्यक् प्रज्ञानं तदेव पापकर्मवर्जनं, यदेव च पापकर्म्मवर्जनं तदेव च सम्यक् प्रज्ञानमित्येतद्गतप्रत्यागतसूत्रेणैव दर्शयितुमाह–सम्यगिति–सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वा तत्सहचरितं, अनयोः सहभावादेकग्रहणे द्वितीयग्रहणं न्याय्यं, यदिदं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वं वेत्येतत्पश्यत तन्मुनेर्भावो मौनं–संयमानुष्ठानमित्येतत्पश्यत, यच्च मौनमित्येतत् पश्यत तत्सम्यग्ज्ञानं नैश्चयिकसम्यक्त्वं वा पश्यत, ज्ञानस्य विरतिफलत्वात् सम्यक्त्वस्य चाभिव्यक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्वज्ञानचरणानामेकताऽध्यवसेयेति भावार्थः । एतच्च न येन केनचिच्छक्यमनुष्ठातुमित्याह–नैतत्सम्यक्त्वादित्रयं सम्यगनुष्ठातुं शक्यं, कैः ?—'शिथिलैः' अल्पपरिणामतया मन्दवीर्यैः संयमतपसोर्धृतिदृढिमरहितैरिति, किं च–आर्द्रैः–पुत्रकलत्राद्यनुषङ्गजनितस्नेहादार्द्रीक्रियमाणैरेतत्पूर्वोक्तमशक्यमिति सम्बन्धः, किं च–गुणाः–शब्दादयस्तेष्वास्वादो येषां ते गुणास्वादास्तैरिति, किं च–वक्रः समाचारो येषां ते तथा तैः, मायाविभिरित्यर्थः, तथा–विषयकषायादिप्रमादैः प्रमत्तैरिति, किं च–अगारं–गृहं तद् आद्यक्षरलोपाद्अगारमित्युक्तं तदगारमा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वसद्भिः–सेवमानैः, पापकर्म्मवर्जनरूपं मौनमनुष्ठानमशक्यमिति सर्वत्र योजनीयं । कथं तर्हि शक्यमित्याह—'मुनिः' जगत्त्रयस्य मन्ता मौनं–मुनित्वमशेषसावद्यानुष्ठानवर्जनरूपं 'समादाय' गृहीत्वा धुनीयाच्छरीरकमौदारिकं कर्म्मशरीरं वेति । कथं च तद्धुननमित्याह–प्रान्तं–पर्युषितं वल्लचनकाद्यल्पं वा, तदपि रूक्षं विकृतेरभावात्, तत् 'सेवन्ते' तदभ्यवहरन्ति, के ते ?–'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवः, किंभूताः ?–सम्यक्त्वदर्शिनः समत्वदर्शिनो वा । यश्च प्रान्तरूक्षसेवी स किंगुणः स्यादित्याह—'एषः' अनन्तरोक्तविशेषणविशिष्टः ओघो–भावौघः संसारस्तं तरतीति, कोऽसौ ?–मुनिः, वर्त्तमानसामीप्ये वा वर्त्तमानवद्देति तीर्ण एवासौ, सबाह्याभ्यन्तरसङ्गाभावान्मुक्तवन्मुक्तः, कश्चैवम्भूतो ?–यः सावद्यानुष्ठानाद्विरत इत्येवं व्याख्यातः । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । लोकसाराध्ययने तृतीयोद्देशकः परिसमाप्त इति ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहाद्योद्देशके हिंसकस्य विषयारम्भकस्यैकचरस्य मुनित्वाभावः प्रदर्शितो, द्वितीयतृतीययोस्तु हिंसाविषयारम्भपरिग्रहव्युदासेन तद्वतो दोषं प्रदर्श्य विरत एव मुनिर्भवतीत्येतत्प्रतिपादितम्, अस्मिंश्च एकचरस्यामुनिभावे दोषोद्भावनतः कारणमाह, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

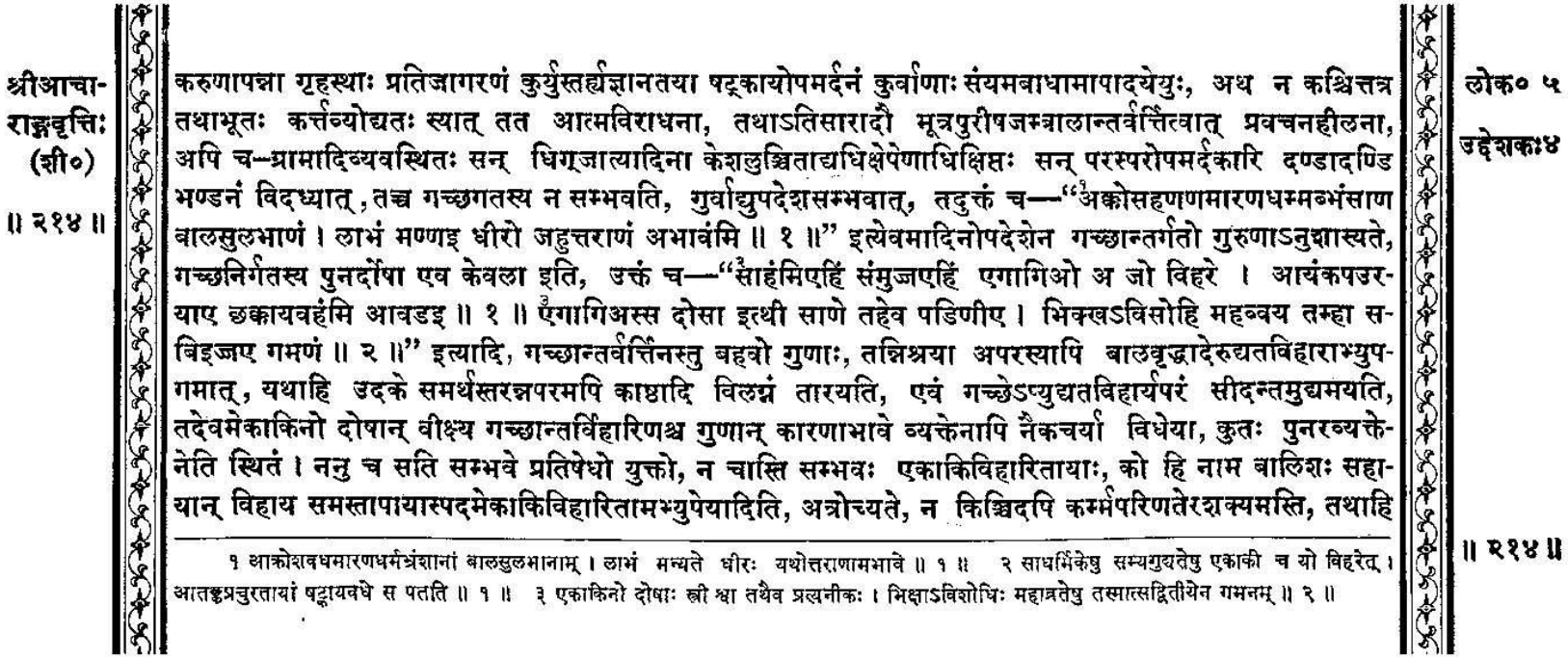
गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो (सू० १५६)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम-अध्ययने चतुर्थ-उद्देशक: 'अव्यक्त' आरब्ध:,

ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः, ग्रामादनु–पश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्तं, 'दूयमानस्य' अनेकार्थत्वाद्धातूनां विहरतः एकाकिनः साधोर्यत्स्यात् तद्दर्शयति–दुट्ठं यातं दुर्यातं, गमनक्रियाया गर्हा, गच्छत एवानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावादर्हन्नकस्येव कृतगतिभेदस्य दुष्टव्यन्तरीजङ्घाच्छेदवत्, तथा दुट्ठं पराक्रान्तम्–आक्रान्तं स्थानमेकाकिनो भवति, स्थूलभद्रेर्ष्याश्रितोपकोशागृहसाधोरिवेति, यदिवा–चतुष्प्रोषितभर्तृकागृहोषितसाधोरिव, तस्य महासत्त्वतया अक्षोभेऽपि दुष्पराक्रान्तमेवेति, एतच्च न सर्वस्यैव दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं च भवतीत्यतो विशिनष्टि–अव्यक्तस्य भिक्षोरिति, भिक्षणशीलो भिक्षुस्तस्य, किम्भूतस्य?–अव्यक्तस्य, स चाव्यक्तः श्रुतवयोभ्यां स्यात्, तत्र श्रुताव्यक्तो येनाचारप्रकल्पोऽर्थतो नाधिगतो भवति गच्छगतानां तन्निर्गतानां तु नवमपूर्वतृतीयवस्त्विति, वयसा चाव्यक्त आषोडशवर्षाद्गच्छगतानां तन्निर्गतानां च त्रिंशत इति, अत्र चतुर्भङ्गिका, श्रुतवयोभ्यामव्यक्तस्यैकचर्या न कल्पते, संयमात्मविराधनातः इत्याद्यो भङ्गः, तथा श्रुतेनाव्यक्तो वयसा च व्यक्तः, अस्याप्येकचर्या न कल्पते, अगीतार्थत्वादुभयविराधनासद्भावादिति द्वितीयः, तथा श्रुतेन व्यक्तो वयसा चाव्यक्तः, तस्यापि न कल्पते, बालतया सर्वपरिभवास्पदत्वाद् विशेषतः स्तेनकुलिङ्गादीनामिति तृतीयः, यस्तूभयव्यक्तः स सति कारणे प्रतिमामेकाकिविहारित्वमभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपद्यताम्, अस्यापि कारणाभावे एकचर्या नानुमता, यतस्तस्यां गुप्तीर्याभाषैषणादिविषया बहवो दोषाः प्रादुष्यन्ति, तथाहि–एकाकी पर्यटन् यदीर्यापथं शोधयति ततः स्वाद्युपयोगाद्भ्रश्यति तदुपयुक्तश्चेन्नेर्यापथं शोधयेदित्यादिकाः शेषा अपि समितयो वाच्याः, अन्यच्च–अजीर्णेन वातादिक्षोभेण वा व्याधयुद्भवे संयमात्मविराधना प्रवचनहीलना च, तत्र यदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ २१४ ॥

करुणापन्ना गृहस्थाः प्रतिजागरणं कुर्युस्तर्ह्यज्ञानतया षट्कायोपमर्दनं कुर्वाणाः संयमबाधामापादयेयुः, अथ न कश्चित्तत्र तथाभूतः कर्त्तव्योद्यतः स्यात् तत आत्मविराधना, तथाऽतिसारादौ मूत्रपुरीषजम्बालान्तर्वर्त्तित्वात् प्रवचनहीलना, अपि च–ग्रामादिव्यवस्थितः सन् धिग्जात्यादिना केशलुञ्चिताद्यधिक्षेपेणाधिक्षिप्तः सन् परस्परोपमर्दकारि दण्डादण्डि भण्डनं विदध्यात्, तच्च गच्छगतस्य न सम्भवति, गुर्वाद्युपदेशसम्भवात्, तदुक्तं च—"[1]अक्कोसहणणमारणधम्मब्भंसाण बालसुलभाणं । लाभं मण्णइ धीरो जहुत्तराणं अभावंमि ॥ १ ॥" इत्येवमादिनोपदेशेन गच्छान्तर्गतो गुरुणाऽनुशास्यते, गच्छनिर्गतस्य पुनर्दोषा एव केवला इति, उक्तं च—"[2]साहंमिएहिं संमुज्जएहिं एगागिओ अ जो विहरे । आयंकपउरयाए छक्कायवहंमि आवडइ ॥ १ ॥ [3]एगागिअस्स दोसा इत्थी साणे तहेव पडिणीए । भिक्खऽविसोहि महव्वय तम्हा सबिइज्जए गमणं ॥ २ ॥" इत्यादि, गच्छान्तर्वर्त्तिनस्तु बहवो गुणाः, तन्निश्रया अपरस्यापि बालवृद्धादेरुद्यतविहाराभ्युपगमात्, यथाहि उदके समर्थस्तरन्नपरमपि काष्ठादि विलग्नं तारयति, एवं गच्छेऽप्युद्यतविहार्यपरं सीदन्तमुद्यमयति, तदेवमेकाकिनो दोषान् वीक्ष्य गच्छान्तर्विहारिणश्च गुणान् कारणाभावे व्यक्तेनापि नैकचर्या विधेया, कुतः पुनरव्यक्तेनेति स्थितं । ननु च सति सम्भवे प्रतिषेधो युक्तो, न चास्ति सम्भवः एकाकिविहारितायाः, को हि नाम बालिशः सहायान् विहाय समस्तापायास्पदमेकाकिविहारितामभ्युपेयादिति, अत्रोच्यते, न किञ्चिदपि कर्म्मपरिणतेरशक्यमस्ति, तथाहि

१ आक्रोशवधमारणधर्मभ्रंशानां बालसुलभानाम् । लाभं मन्यते धीरः यथोत्तराणामभावे ॥ १ ॥ २ साधर्मिकेषु सम्यगुद्यतेषु एकाकी च यो विहरेत् । आतङ्कप्रचुरतायां षट्कायवधे स पतति ॥ १ ॥ ३ एकाकिनो दोषाः स्त्री श्वा तथैव प्रत्यनीकः । भिक्षाऽविशोधिः महाव्रतेषु तस्मात्सद्वितीयेन गमनम् ॥ २ ॥

लोक० ५ उद्देशकः४ ॥ २१४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

–स्वातन्त्र्यगदागदकल्पस्य समस्तव्यसनप्रवाहसेतुभूतस्याशेषकल्याणनिकेतनस्य शुभाचाराधारस्य गच्छस्यान्तर्वर्त्तिनः क्वचित्प्रमादस्खलिते चोदिताः अवगणय्य सदुपदेशमपर्यालोच्य सद्धर्ममविचार्य कषायविपाककटुकतामनवधार्य परमार्थं पृष्ठतः कृत्वा कुलपुत्रतां वाङ्मात्रादपि केचित्कोपनिघ्नाः सुखैषिणोऽगणितापदो गच्छान्निर्गच्छन्ति, तत्र चैहिकामुष्मिकापायानवाप्नुवन्तीति, उक्तं च—"जह सायरंमि मीणा संखोहं सायरस्स असहंता । णिंति तओ सुहकामी णिग्गयमित्ता विणस्संति ॥ १ ॥ एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहिं चोईया संता । णिंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥ २ ॥ गच्छंमि केइ पुरिसा सउणी जह पंजरंतरणिरुद्धा । सारणवारणचोइय पासत्थगया परिहरंति ॥ ३ ॥ जहा दियापोयमपक्खजायं, सवासया पविउमणं मणागं । तमचाइया तरुणमपत्तजायं, ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥ ४ ॥" एवमजातसूत्रवयःपक्षस्तीर्थिकध्वाङ्क्षादिभिर्विलुप्यते गच्छालयान्निर्गतो वाङ्मात्रेणापि चोदितः सन् इति । एतद्दर्शयितुमाह—

वयसावि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे भुज्जो २ दुरइक्कम्मा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स

१ यथा सागरे मीनाः संक्षोभं सागरस्यासहमानाः । निर्गच्छन्ति ततः सुखकामिनो निर्गतमात्रा विनश्यन्ति ॥ १ ॥ एवं गच्छसमुद्रे स्मारणवीचिभिर्नोदिताः सन्तः । निर्गच्छन्ति ततः सुखकामिनो मीना इव यथा विनश्यन्ति ॥ २ ॥ गच्छे केचित् पुरुषाः शकुनयो यथा पञ्जरान्तरनिरुद्धाः । स्मारणवारणचोदिताः पार्श्वस्थतां गताः परिव्रजन्ति ॥३॥ यथा द्विजपोतमजातपक्षं स्वकादावासकात् प्लवितुमनसं मनाग् । तत्राशक्तं तरुणमजातपत्रं, ढङ्कादयोऽव्यक्तगमं हरेयुः(रन्ति)॥४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्नी तन्निवेसणे, जयं विहारी चित्तनिवाई पंथनिज्झाई पलिवाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा (सू० १५७)

क्वचित्तपःसंयमानुष्ठानादाववसीदन्तः प्रमादस्खलिता वा गुर्वादिना धर्मेण वचसाऽपि 'एके' अपुष्टधर्माणः अनवगततपरमार्थाः 'उक्ताः' चोदिताः कुप्यन्ति, के ते?–'मानवा' मनुजाः क्रोधवशगा भवन्ति, ब्रुवते च–कथमहमनेनेयतां साधूनां मध्ये तिरस्कृतः, किं मया कृतम्?, अथवाऽन्येऽप्येतत्कारिणः सन्त्येव, ममाप्येवम्भूतोऽधिकारोऽभूत्, धिग्मे जीवितमित्यादि, महामोहोदयेन क्रोधतमिस्राच्छादितदृष्टयः उज्झितसमुचिताचारा उभयान्यतराव्यक्ता मीना इव गच्छसमुद्रान्निर्गत्य विनाशमाप्नुवन्ति, यदिवा वचसाऽपि यथा कं इमे लुञ्चिताः मलोपहतगात्रयष्टयः प्रगेतनावसर एवास्माभिर्द्रष्टव्या इत्यादिनोक्ता एके क्रोधान्धाः कुप्यन्ति मानवाः, अपिशब्दात्कायेनापि स्पृष्टाः कुप्यन्ति, कुपिताश्चाधिकरणादि कुर्वन्तीत्येवमादयो दोषा अव्यक्तैकचर्यायां गुर्वादिनियामकाभावात्प्रादुष्ष्युरिति, गुरुसान्निध्ये चैवम्भूत उपदेशः सम्भवेत्, तद्यथा—"आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थान्वेषणे मतिः कार्या। यदि सत्यं कः कोपः? स्यादनृतं किं नु कोपेन? ॥ १ ॥" तथा—"अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते?। धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥ २॥"इत्यादि, किं पुनः कारणं वचसाऽप्यभिहिता ऐहिकामुष्मिकापकारकारिणः स्वपरबाधकस्य क्रोधस्यावकाशं ददतीत्याह–उन्नतो मानोऽस्येत्युन्नतमानः, उन्नतं वाऽऽत्मानं मन्यत इति, स चैवम्भूतो 'नरो' मनुष्यो महता मोहेन–प्रबलमोहनीयोदयेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानोदयेन वा 'मुह्यति' कार्याकार्यविचारविवेकविकलो भवति, स च मोहमोहितः केनचिच्छिक्षणार्थमभिहितो मिथ्यादृष्टिना वा वाचा तिरस्कृतो जात्यादिमदस्थानान्यतरसद्भावेनोन्नतमानमन्दरारूढः कुप्यति, मामप्येवमयं तिरस्करोति, धिग्मे जातिं पौरुषं विज्ञानं चेत्येवमभिमानग्रहगृहीतो वाङ्मात्रादपि गच्छान्निर्गच्छति, तन्निर्गतो वाऽधिकरणादिविडम्बनयाऽऽत्मानं विडम्बयति, अथवोन्नम्यमानः केनचित् दुर्विदग्धेनाहोऽयं महाकुलप्रसूत आकृतिमान् पटुप्रज्ञो मृष्टवाक् समस्तशास्त्रवेत्ता सुभगः सुखसेव्यो वेत्यादिना वचसा तथ्येनातथ्येन वोत्प्रास्यमान उन्नतमानो गर्वाध्मातो महता चारित्रमोहेन मुह्यति संसारमोहेन वोह्यत इति । तस्य चोन्नतमानतया महामोहेन मुह्यतो मोहाच्च वाङ्मात्रेणापि कुप्यतः कोपाच्च गच्छनिर्गतस्यानभिव्यक्तस्य भिक्षोर्ग्रामानुग्राममेकाकिनः पर्यटतो यत्स्यात्तदाह–तस्याव्यक्तस्यैकचरस्य पर्यटतः सम्बाधयन्तीति सम्बाधाः–पीडाः उपसर्गजनिता नानाप्रकारातङ्कजनिता वा भूयो भूयो बह्व्यः स्युः, ताश्चैकाकिनाऽव्यक्तेन निरवद्यविधिना 'दुरतिक्रमा' दुरतिलङ्घनीयाः, किम्भूतस्य दुरतिक्रमा इत्याह–तासां नानाप्रकारनिमित्तोत्थापितानां बाधानामतिसहनोपायमजानानस्य सम्यक्करणसहनफलं चापश्यतो दुरतिक्रमणीयाः पीडा भवन्ति, ततश्चातङ्कपीडाकुलीभूतः सन्नेषणामपि लङ्घयेत्, प्राण्युपमर्दमप्यनुमन्येत, वाक्कण्टकनुदितः सन्नव्यक्तया प्रज्वलेत, नैतद्भावयेद् यथा मत्कर्मविपाकापादिता एताः पीडाः परोऽत्र केवलं निमित्तभूतः, किं च—"आत्मद्रोहममर्यादं, मूढमुज्झितसत्पथम् । सुतरामनुकम्पेत, नरकार्चिष्मदिन्धनम् ॥ १ ॥" इत्यादिका भावना आगमापरिमलितमतेर्न भवेदिति । एतत्प्रदर्श्य भगवान् विनेयमाह—'एतद्' एकचर्याप्रतिपन्नस्य बाधादुरतिक्रमणीयत्वमजानानस्यापश्यतश्च 'ते' तव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मदुपदेशवर्त्तिनो मा भवतु, आगमानुसारितया सदा गच्छान्तर्वर्त्ती भवेत्यर्थः । सुधर्मस्वाम्याह—'एतत्' पूर्वोक्तं तत् 'कुशलस्य' श्रीवर्द्धमानस्वामिनो 'दर्शनम्' अभिप्रायो यथाऽव्यक्तस्यैकचरस्य दोषाः सततमाचार्यसमीपवर्त्तिनश्च गुणा इति । आचार्यसमीपवर्त्तिना च किं विधेयमित्याह–तस्य–आचार्यस्य दृष्टिस्तदृष्टिस्तया सततं वर्त्तितव्यं हेयोपादेयार्थेषु, यदिवा तस्मिन् संयमे दृष्टिस्तदृष्टिः, स एव वाऽऽगमो दृष्टिस्तदृष्टिस्तया सर्वकार्येषु व्यवहर्त्तव्यम्, तथा–तेनोक्ता सर्वसङ्गेभ्यो विरतिर्मुक्तिस्तया सदा यतितव्यम्, तथा पुरस्करणं पुरस्कारः–सर्वकार्येष्वग्रतः स्थापनं, तस्य–आचार्यस्य पुरस्कारस्तत्पुरस्कारस्तस्मिन्–तद्विषये यतितव्यम्, तथा तस्य संज्ञा तत्संज्ञा–तज्ज्ञानं तद्वांस्तत्संज्ञी सर्वकार्येषु स्यात्, न स्वमतिविरचनया कार्यं विदध्यात्, तथा तस्य–गुरोर्निवेशनं–स्थानं यस्यासौ तन्निवेशनः, सदागुरुकुलवासी स्यादिति भावः । तत्र गुरुकुले निवसन् किम्भूतः स्यादित्याह–यतमानो–यतनया विहरणशीलो विहारी स्यात्, यतमानः प्राण्युपमर्दनमकुर्वन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः कुर्यादिति, किं च–चित्तम्–आचार्याभिप्रायस्तेन निपतितुं–क्रियायां प्रवर्त्तितुं शीलमस्येति चित्तनिपाती सदा स्यादिति, तथा गुरोः क्वचिद्गतस्य पन्थानं निर्द्धातुं–प्रलोकितुं शीलमस्येति पथिनिर्द्धायी, उपलक्षणं चैतत् तेन सुषुप्सोः संस्तारकप्रलोकी बुभुक्षोराहारान्वेषीत्यादिना गुरोराराधकः सदा स्यात्, किं च–परिः–समन्तात् गुरोरवग्रहात् पुरतः पृष्ठतो वाऽवस्थानात्सदा कार्यमृते बाह्यः स्याद्, एतस्माच्च सूत्रात्रयः ईर्योद्देशका निर्गता इति । किं च–क्वचित्कार्यादौ गुर्वादिना प्रेषितः सन् दृष्ट्वा प्राणिनो युगमात्रदृष्टिस्तदुपघातं परिहरन् गच्छेत् । किं च—

से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिवट्टमाणे संपलिज्जमाणे,

॥ २१६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिन्ना एगतिया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेयणविज्जावडियं, जं आउट्टिकयं कंमं तं परिन्नाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी (सू० १५८)

'स' भिक्षुः सदा गुर्वादेशविधायी एतद्व्यापारवान् भवति, तद्यथा–अभिक्रामन्–गच्छन् प्रतिक्रामन्–निवर्त्तमानः सङ्कुचन् हस्तपादादिसङ्कोचनतः प्रसारयन् हस्तादीनवयवान् विनिवर्त्तमानः समस्ताशुभव्यापारात्, सम्यक् परिः–समन्ताद्धस्तपादादीनवयवांस्तन्निक्षेपस्थानानि वा रजोहरणादिना मृजन्–परिमृजन् गुरुकुलवासे वसेदिति सर्वत्र सम्बन्धनीयं, तत्र निविष्टस्य विधिः–भूम्यामेकमूरुं व्यवस्थाप्य द्वितीयमुत्क्षिप्य तिष्ठेत्, निश्चलस्थानासहिष्णुतया भूमीं प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य च कुक्कुटीविजृम्भितदृष्टान्तेन सङ्कोचयेत् प्रसारयेद्वा, स्वपन्नपि मयूरवत्स्वपिति, स किलान्यसत्त्वभयादेकपार्श्वशायी सचेतनश्च स्वपिति, निरीक्ष्य च परिवर्त्तनादिकाः क्रिया विधत्ते, इत्येवमादि संपरिमृजन् सर्वाः क्रियाः करोति ।(एवं चाप्रमत्ततया पूर्वोक्ताः क्रियाः कुर्वतोऽपि कदाचिदवश्यंभावितया यत्स्यात्तदाह—'एकदा' कदाचित्, 'गुणसमितस्य' गुणयुक्तस्याप्रमत्ततया यतेः 'रीयमाणस्य' सम्यगनुष्ठानवतोऽभिक्रामतः परिक्रामतः सङ्कुचतः प्रसारयतो विनिवर्त्तमानस्य संपरिमृजतः कस्याञ्चिदवस्थायां कायः–शरीरं तत्संस्पर्शमनुचीर्णाः–कायसङ्गमागताः सम्पातिमादयः प्राणिनः एके परितापमाप्नुवन्ति–एके ग्लानतामुपयान्ति एकेऽवयवविध्वंसमापद्यन्ते, अपश्चिमावस्थां तु सूत्रैणैव दर्श-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यति–एके 'प्राणाः' प्राणिनः 'अपद्रान्ति' प्राणैर्विमुच्यन्ते, अत्र च कर्म्मबन्धं प्रति विचित्रता, तथाहि–शैलेश्यवस्थायां मशकादीनां कायसंस्पर्शेन प्राणत्यागेऽपि बन्धोपादानकारणयोगाभावान्नास्ति बन्धः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिना स्थितिनिमित्तकषायाभावात् सामयिकः, अप्रमत्तयतेर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतश्चान्तःकोटीकोटीस्थितिरिति, प्रमत्तस्य त्वनाकुट्टिकयाऽनुपेत्यप्रवृत्तस्य क्वचित्प्राण्याद्यवयवसंस्पर्शात् प्राण्युपतापनादौ जघन्यतः कर्म्मबन्ध उत्कृष्टतश्च प्राक्तन एव विशेषिततरः। स च तेनैव भवेन क्षिप्यत इति सूत्रेणैव दर्शयितुमाह–इह–अस्मिन् लोके–जन्मनि वेदनम्–अनुभवनमिहलोकवेदनं तेन वेद्यम्–अनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्यं तत्रापतितमिहलोकवेदनवेद्यापतितं, इदमुक्तं भवति–प्रमत्तयतिनाऽपि यदकामतः कृतं कर्म्म कायसङ्घट्टनादिना तदैहिकभवानुबन्धि, तेनैव भवेन क्षप्यमाणत्वाद्, आकुट्टीकृतकर्मणि तु यद्विधेयं तदाह–यत्तु पुनः कर्म्माकुट्टया कृतम्–आगमोक्तकारणमन्तरेणोपेत्य प्राण्युपमर्देन विहितं तत्परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया 'विवेकमेति' विविच्यतेऽनेनेति विवेकः–प्रायश्चित्तं दशविधं तस्यान्यतरं भेदमुपैति, तद्विवेकं वा–अभावाख्यमुपैति–तत्करोति येन कर्म्मणोऽभावो भवति। यथा च कर्म्मणो विवेको भवति तथा दर्शयितुमाह—'एव'मिति वक्ष्यमाणेन प्रकारेण 'से' तस्य कर्म्मणः साम्परायिकस्य सदा वेदविद् 'अप्रमादेन' प्रमादाभावेन दशविधप्रायश्चित्तान्यतरभेदसम्यगनुष्ठानेन 'विवेकम्' अभावं कीर्त्तयति 'वेदवित्' तीर्थकरो वेदविद्वा–आगमविद्गणधरश्चतुर्दशपूर्वविद्वेति ॥ किम्भूतः पुनरप्रमादवान् भवतीत्याह—

से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिए सयाजए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्पाणं किमेस जणो करिस्सइ?, एस से परमारामो जाओ लोगंमि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दूइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि, से नो काहिए नो पासणिए नो संपसारणिए नो मामए णो कयकिरिए वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासित्तिबेमि (सू० १५९) ॥ ५–४ ॥ लोकसारे चतुर्थः ॥

'स' साधुः प्रभूतं प्रमादविपाकादिकमतीतानागतवर्त्तमानं वा कर्म्मविपाकं द्रष्टुं शीलमस्येति प्रभूतदर्शी, साम्प्रतेक्षितया न यत्किञ्चनकारीत्यर्थः, तथा प्रभूतं सत्त्वरक्षणोपायपरिज्ञानं संसारमोक्षकारणपरिज्ञानं वा यस्य स प्रभूतपरिज्ञानः, यथावस्थितसंसारस्वरूपदर्शीत्यर्थः, किं च–उपशान्तः कषायानुदयादिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमाद्वा, तथा पञ्चभिः समितिभिः समितः सम्यग्वा मोक्षमार्गमितः समितः, तथा ज्ञानादिभिः सहितः–समन्वितः सह हितेन वा सहितः, 'सदा'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सर्वकालं यतः सदायतः, स एवम्भूतोऽप्रमत्तो गुरोरन्तिकमावसन् प्रमादजनितस्य कर्म्मणोऽन्तं विधत्ते । स च स्त्र्याद्यनुकूलपरीषहोपपत्तौ किं विदध्यादित्याह—'दृष्ट्वा' अवलोक्य स्त्रीजनमुपसर्गकरणायोद्यतमात्मानं 'विप्रतिवेदयति' पर्यालोचयति, तद्यथा—सम्यग्दृष्टिरस्मि, तथोत्क्षिप्तमहाव्रतभारः शरच्छशाङ्कनिर्म्मलकुललब्धजन्मा अकार्याकरणतयोत्थित इत्येवमात्मानं पर्यालोचयति, तं च स्त्रीजनं किमेष स्त्रीजनो मम त्यक्तजीविताशस्योज्झितैहिकसुखाभिलाषस्योपसर्गादिकं कुर्यात्?, अथवा वैषयिकसुखस्य दुःखप्रतीकाररूपत्वात् किमेष स्त्रीजनः सुखं विदध्याद्? अन्यो वा पुत्रकलत्रादिको जनो मम मृत्युना जिघृक्षितस्य व्याधिना वाऽऽदित्सितस्य किं तत्प्रतीकारादिकं कुर्यादिति?। यदिवैवं स्त्रीजनस्वभावं चिन्तयेदिति सूत्रेणैव दर्शयति—स एष स्त्रीजन आरमयतीत्यारामः परमश्चासावारामश्च परमारामः ज्ञाततत्त्वमपि जनं हासविलासोपाङ्गनिरीक्षणादिभिर्बिम्बोकैर्मोहयतीत्यर्थः, याः काश्चनास्मिन् लोके स्त्रियः ता मोहरूपा विज्ञाय यावन्न परित्यजन्ति तावत्स्वत एव परित्यजेत् । एतच्च तीर्थकरेण प्रवेदितमिति दर्शयितुमाह—'मुनिना' श्रीवर्द्धमानस्वामिनोत्पन्नज्ञानेनैव 'एतत्' पूर्वोक्तं, यथा स्त्रियो भावबन्धनरूपाः, 'प्रवेदितं' प्रकर्षेणादौ वा व्याख्यातमिति । एतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह—उत्—प्राबल्येन मोहोदयाद् बाध्यमानः—पीड्यमानः उद्बाध्यमानः, कैः?—ग्रामधर्म्मैः ग्रामाः—इन्द्रियग्रामास्तेषां धर्म्माः—स्वभावा यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्तनं तैरुद्बाध्यमानो गच्छान्तर्गतः सन् गुर्वादिनाऽनुशास्यते, कथमनुशास्यत इत्यत आह—अपिः सम्भावनायां, निर्बलं—निःसारमन्तप्रान्तादिकं यद्द्रव्यं तदाशकः—तद्भोजी स्यात्, यदिवा निर्गतं बलं—सामर्थ्यमस्येति निर्बलः एवम्भूतः सन्नाशीत, बलाभावे च ग्रामधर्म्मोपशमदर्शनाद्, बलाभावश्चाहारहान्या स्यादिति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शयति–अप्यवमौदर्यं कुर्याद्, यदि ह्यन्तप्रान्ताशिनोऽपि न मोहोपशमः स्यात् ततस्तदपि वल्लचनकादिना द्वात्रिंशत्कवलमात्रं गृह्णीयात्, तेनाप्यनुपशमे कायोत्सर्गादिना कायक्लेशं कुर्यादित्येतदर्शयति–अप्यूर्ध्वं स्थानं तिष्ठेत्, शीतोष्णादौ कायोत्सर्गेणातापनां कुर्यात्, तेनाप्यनुपशमे ग्रामानुग्राममपि विहरेत्, निष्कारणे विहारो निषिद्धो मोहोपशमनार्थं तु कुर्यात्, किं बहुना?, येन येनोपायेन विषयेच्छा निवर्त्तते तत्तत्कुर्यात्, पर्यन्ते आहारमपि व्यवच्छिन्द्याद्, अपि पातं विदध्यात् अप्युद्बन्धनं कुर्यात् न च स्त्रीषु मनः कुर्यादित्याह च–अपिः समुच्चये, स्त्रीषु यन्मनः प्रवृत्तं तत् परित्यजेत्, तत्परित्यागे हि कामा द्विरूपा अपि दूरत एव परित्यक्ता भवन्तीति, उक्तं च—"काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे। न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥ १ ॥" किं पुनः कारणं स्त्रीषु मनो न विधेयमित्याह–स्त्रीसङ्गप्रवृत्तानामपरमार्थदृशां 'पूर्वं' प्रथममेव तत्सङ्गाविच्छेदार्थमर्थोपार्जनप्रवृत्तस्य कृषिवाणिज्यादिक्रियाः कुर्वतोऽगणितक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिपरीषहस्यैहिकदुःखरूपा दण्डाः, ते च स्त्रीसम्भोगात्प्रथममेव क्रियन्त इति पूर्वमित्युक्तं, पश्चाच्च विषयनिमित्तजनितकर्म्मविपाकापादितनरकादिदुःखविशेषाः स्पर्शा भवन्ति, यदिवा स्त्र्याद्यकार्यप्रवृत्तस्य पूर्वं दण्डपाताः पश्चाद्धस्तपादच्छेदादिकाः स्पर्शा भवन्ति, यदिवा पूर्वं स्पर्शाः पश्चाद्दण्डपाता इति, अथवा पूर्वं दण्डाः–ताडनादिकाः पश्चात्स्पर्शाः–सम्बाधनालिङ्गनचुम्बनादिकाः, तद्यथा–बन्धानीतावरुद्धराजकुमारीगवाक्षक्षिप्तपदावीलग्रहणाद्राजपुरुषावलोकनताडनेन मूर्च्छितराजकुमारीतदर्शनतो वणिगिन्द्रदत्तस्याग्रतो दण्डाः पश्चात्स्पर्शा इति, पूर्वं वा सुखादिस्पर्शाः पश्चाद्दण्डा ललिताङ्गकस्येवान्येषां चोपपतीनामिति। किं च–इत्येते स्त्रीसम्बन्धाः कलहः–सङ्ग्रामस्त-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रासङ्गः–संबन्धस्तत्करा भवन्ति, यदिवा कलहः–क्रोधः आसङ्गो–राग इत्यतो रागद्वेषकारिणो भवन्ति, यद्येवं ततः किं कुर्यादित्याह–ऐहिकामुष्मिकापायतः स्त्रीसङ्गप्रत्युपेक्षया 'आगमेत्त'त्ति ज्ञात्वा आज्ञापयेदात्मानमनासेवनयेति, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीम्यहं तीर्थकरवचनानुसारेण–दुःखं च ताः परिहर्त्तुमिति । पुनरपि तत्परिहरणोपायमाह—'स' स्त्रीसङ्गपरित्यागी स्त्रीनेपथ्यकथां शृङ्गारकथां वा नो कुर्यात्, एवं च तास्त्यक्ता भवन्ति, तथा–तासां नरकवीथीनां स्वर्गापवर्गमार्गार्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिकं न पश्येत्, यतस्तन्निरीक्ष्यमाणं महतेऽनर्थाय भवतीति, उक्तं च—"सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥१॥" तथा–ताभिर्नरकविस्रम्भभूमिभिः सार्द्धं न सम्प्रसारणं–पर्यालोचनमेकान्ते निजस्वस्रादिभिरपि कुर्यादिति, उक्तं च—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥ १ ॥" इत्येवमादि, तथा–न तासु स्वार्थपरासु ममत्वं कुर्यात्, तथा–कृता–अनुष्ठिता तदुपकारिणी मण्डनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवम्भूतो न भूयात्, न स्त्रीणां वैयावृत्त्यं कुर्यात्, काययोगनिरोध इति भावः, तथा तथैताः शुभानुष्ठानपरिपन्थिनीर्न वाङ्मात्रेणाप्यालपेदिति वाग्योगनिरोधः, तथा–आत्मन्यधि अध्यात्मं–मनस्तेन संवृत्तोऽध्यात्मसंवृत्तः–स्त्रीभोगादत्तमनाः सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगः, एवम्भूतश्च किमपरं कुर्यादित्याह—परिः–समन्तात् वर्जयेत्–परिहरेत् 'सदा' सर्वकालं 'पापं' किल्बिषं तदुपादानं वा कर्म्म, उपसं-

॥ २१९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हरणार्थमाह—'एतद्' यदुद्देशकादेरारभ्योक्तं, मुनेरिदं मौनं मुनिभावो वा तदात्मनि समनुवासयेः—आत्मनि विदध्याः ॥ इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । लोकसाराध्ययने चतुर्थोद्देशकः परिसमाप्तः ॥

उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पञ्चम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरोद्देशकेऽव्यक्तस्यैकचरस्य प्रत्यपायाः प्रदर्शिताः, अतस्तान् परिजिहीर्षुणा सदाऽऽचार्यसेविना भवितव्यम्, आचार्येण च ह्रदोपमेन भाव्यं, तदन्तेवासिना च तपःसंयमगुप्तेन निःसङ्गेन च विहर्त्तव्यमिति, एतत्प्रतिपादनसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से बेमि तंजहा–अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाण-मंता पबुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्तिबेमि (सू० १६०)

सेशब्दस्तच्छब्दार्थे, यद्गुण आचार्यो भवति तदहं तीर्थकरोपदेशानुसारेण ब्रवीमीति, तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थे, अपिशब्दो भङ्गसमुच्चयार्थः, ते चामी भङ्गाः—एको ह्रदो—जलाशयः परिगलत्स्रोताः पर्यागलत्स्रोताश्च, सीतासीतो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम-अध्ययने पंचम-उद्देशक: 'ह्रद-उपमा' आरब्ध:,

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ २२० ॥

दाप्रवाहहृदवत्, अपरस्तु परिगलत्स्रोताः नो पर्यागलत्स्रोताः, पद्महृदवत्, तथा परो नो परिगलत्स्रोताः पर्यागलत्स्रोताश्च, लवणोदधिवत्, अपरस्तु नो परिगलत्स्रोता नो पर्यागलत्स्रोताश्च, मनुष्यलोकाद्बहिः समुद्रवत्। तत्राचार्यः श्रुतमङ्गीकृत्य प्रथमभङ्गपतितः, श्रुतस्य दानग्रहणसद्भावात्, साम्परायिककर्मापेक्षया तु द्वितीयभङ्गपतितः, कषायोदयाभावेन ग्रहणाभावात्तपःकायोत्सर्गादिना क्षपणोपपत्तेश्चेति, आलोचनामङ्गीकृत्य तृतीयभङ्गपतितः, आलोचनाया अप्रतिश्रावित्वात्, कुमार्गं प्रति चतुर्थभङ्गपतितः, कुमार्गस्य हि प्रवेशनिर्गमाभावात्, यदिवा धर्म्मिभेदेन भङ्गा योज्यन्ते–तत्र स्थविरकल्पिकाचार्याः प्रथमभङ्गपतिताः, द्वितीयभङ्गपतितस्तीर्थकृत्, तृतीयभङ्गस्थस्त्वहालन्दिकः, स च क्वचिदर्थापरिसमाप्तावाचार्यादेर्निर्णयसद्भावात्, प्रत्येकबुद्धास्तूभयाभावाच्चतुर्थभङ्गस्था इति, इह पुनः प्रथमभङ्गपतितेनोभयसद्भाविनाऽधिकारः, तथाभूतस्यैवायं हृददृष्टान्तः, स च हृदो निर्म्मलजलस्य 'प्रतिपूर्णो' जलजैः सर्वर्तुजैरुपशोभितः समे भूभागे विद्यमानोदकनिर्गमप्रवेशो नित्यमेव तिष्ठति, न कदाचिच्छोषमुपयाति, सुखोत्तारावतारसमन्वितः, उपशान्तम्–अपगतं रजः कालुष्यापादकं यस्य स तथा, नानाविधांश्च यादसां गणान् संरक्षन् सह वा यादोगणैरात्मानमारक्षन्–प्रतिपालयन् सारक्षन् तिष्ठतीत्येषा क्रिया प्रकृतैव। यथा चासौ हृदस्तथाऽऽचार्योऽपीति दर्शयति—'सः'

१ उदकार्द्रः करो यावत्कालेन शुष्यति तज्जघन्यं लन्दं तत आरभ्योत्कृष्टं पञ्चरात्रिंदिवलक्षणं लन्दं, तदत्र गृह्यते, उत्कृष्टलन्दस्यानतिक्रमेण चरन्तीति यथालन्दिकाः, पञ्चको गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते, मासकल्पक्षेत्रं च गृहषट्कैहाराभिः षड्भिर्वीथीभिर्जिनकल्पिकवत्परिकल्पयन्ति. २ पर्यागलत्स्रोतोवदर्थापेक्षया ग्राहकत्वात् तृतीयभङ्गपतित इति गम्यम्.

लोक० ५

उद्देशकः५

॥ २२० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यः प्रथमभङ्गपतितः पञ्चविधाचारसमन्वितोऽष्टविधाचार्यसम्पदुपेतः, [तद्यथा—"आयार सुअ सरीरे वयणे वा-
यण मई पओगमई । एए सुसंपया खलु अट्ठमिआ सङ्गहपरिन्ना ॥ १॥"] षट्त्रिंशद्गुणगणाधारो ह्रदकल्पो निर्म्मलज्ञान-
प्रतिपूर्णः समे भूभाग इति संसक्तादिदोषरहिते सुखविहारे क्षेत्रे समो वा ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो मोक्षमार्गः उपशमवतां
तत्र तिष्ठति–समध्यास्ते, किंभूतः ?–'उपशान्तरजा' उपशान्तमोहनीय इति, किं कुर्वन् ?–जीवनिकायान् रक्षन् स्वतः
परतश्च सदुपदेशदानतो नरकादिपाताद्वेति, 'स्रोतोमध्यगत' इत्यनेन प्रथमभङ्गपतितं स्थविराचार्यमाह, तस्य हि श्रुतार्थ-
दानग्रहणसद्भावात् स्रोतोमध्यगतत्वम्, स च किम्भूतः स्यादित्याह—'सः' आचार्योऽक्षोभ्यह्रदकल्पः 'सर्वतः' सर्व-
प्रकारतयेन्द्रियनोइन्द्रियरूपया गुप्त्या गुप्त इत्येतत्पश्य आचार्यव्यतिरेकेणान्येऽप्येवम्भूता बहवः साधवः सम्भवन्ती-
त्येतन्निर्दिदिक्षुराह–इह मनुष्यलोके पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाः 'महर्षयो' महामुनयः सन्ति, इत्येतत्पश्य, किम्भूतास्ते मह-
र्षय इत्यत आह–न केवलमाचार्या ह्रदकल्पा ये चान्ये साधवस्तेऽपि ह्रदकल्पाः, किम्भूताः ?–प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्र-
ज्ञानं–स्वपरावभासकत्वादागमस्तद्वन्तः प्रज्ञानवन्तः, आगमस्य वेत्तार इत्यर्थः, तज्ज्ञा अपि मोहोदयात् क्वचिद्धेतूदा-
हरणासम्भवे ज्ञेयगहनतया संशयानाः न सम्यक् श्रद्धानं विदध्युरित्यतो विशिनष्टि—'प्रबुद्धाः' प्रकर्षेण यथैव तीर्थ-
कृदाह तथैवावगततत्त्वाः प्रबुद्धाः, तथाभूता अपि कर्म्मगुरुत्वान्न सावद्यानुष्ठानविरतिं कुर्युरित्यतो विशेषयति—'आ-
रम्भोपरताः' आरम्भः–सावद्यो योगस्तस्मादुपरता आरम्भोपरताः, एतच्च न मदुपरोधेन ग्राह्यम् अपि तु स्वत एव कु-

१ आचारः श्रुतं शरीरं वचनं वाचना मतिः प्रयोगमतिः । एताः सुसंपदः खलु अष्टमी संग्रहपरिज्ञा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्रीयया बुद्ध्या विचार्यमित्याह–एतद्यन्मया प्रोक्तं तत्सम्यग् मध्यस्था भूत्वा समर्यादं यूयमपि पश्यत। अपि चैतत्स्यत–'कालः' समाधिमरणकालस्तदभिकाङ्क्षया साधवो मोक्षाध्वनि संयमे परिः–समन्ताद्व्रजन्ति परिव्रजन्ति–उद्यच्छन्ति, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्येतत्प्रकरणोद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धाङ्गपरिसमाप्तौ प्रयुज्यते, तदिहाधिकारपरिसमाप्तौ द्रष्टव्यमिति ॥ आचार्याधिकारं परिसमाप्य विनेयवक्तव्यतामाह—

वितिगिच्छसमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छंति असिता वेगे अनुगच्छंति, अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं न निव्विजे? (सू० १६१)

विचिकित्सा या चित्तविप्लुतिः यथा इदमप्यस्तीत्येवमाकारा युक्त्या समुपपन्नेऽप्यर्थे मतिविभ्रमो मोहोदयाद्भवति, तथाहि–अस्य महतस्तपःक्लेशस्य सिकताकणकवलनिःस्वादस्य स्यात् सफलता न वेति? कृषीबलादिक्रियाया उभयथाऽप्युपलब्धेरिति, इयं च मतिर्मिथ्यात्वांशानुवेधाद्भवति ज्ञेयगहनत्वाच्च, तथाहि–अर्थस्त्रिविधः–सुखाधिगमो दुरधिगमोऽनधिगमश्च श्रोतारं प्रति भिद्यते, तत्र सुखाधिगमो यथा चक्षुष्मतश्चित्रकर्म्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः दुरधिगमस्त्वनिपुणस्य अनधिगमस्त्वन्धस्य, तत्रानधिगमरूपोऽवस्त्वेव, सुखाधिगमस्तु विचिकित्साया विषय एव न भवति, देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्तु विचिकित्सागोचरीभवति, तस्मिन् धर्म्माधर्म्माकाशादौ या विचिकित्सेति, यदिवा 'विइगिच्छ'त्ति विद्वज्जुगुप्सा, विद्वांसः–साधवो विदितसंसारस्वभावाः परित्यक्तसमस्तसङ्गास्तेषां जुगुप्सा–निन्दा अस्नानात् प्रस्वेदजलक्लिन्न-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मलत्वाद्दुर्गन्धिवपुषस्तान्निन्दति–को दोषः स्याद्यदि प्रासुकेन वारिणाऽङ्गक्षालनं कुर्वीरन्नित्यादि जुगुप्सा तां विचिकित्सां विद्वज्जुगुप्सां वा सम्यगापन्नः–प्राप्तः आत्मा यस्य स तथा तेन विचिकित्सासमापन्नेनात्मना नोपलभते 'समाधिं' चित्तस्वास्थ्यं ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको वा समाधिस्तं न लभते, विचिकित्साकलुषिन्तान्तःकरणो हि कथयतोऽप्याचार्यस्य सम्यक्त्वाख्यां बोधिं नावाप्नोति। यश्चावाप्नोति स गृहस्थो वा स्याद्यतिर्वेति दर्शयितुमाह—'सिताः' पुत्रकलत्रादिभिरवबद्धाः, वाशब्द उत्तरापेक्षया पक्षान्तरमाह, 'एके' लघुकर्म्माणः सम्यक्त्वं प्रतिपादयन्तमाचार्यमनुगच्छन्ति–आचार्योक्तं प्रतिपद्यन्ते, तथा 'असिता वा' गृहवासविमुक्ता वा 'एके' विचिकित्सादिरहिता आचार्यमार्गमनुगच्छन्ति। तेषां च मध्ये यदि कश्चित् कङ्कटुकदेश्यः स्यात् स तान् प्रभूताननपाचीनमार्गप्रतिपन्नानवलोक्यासावपि कर्म्मविवरतः प्रतिपद्येतापीति दर्शयितुमाह–आचार्योक्तं सम्यक्त्वमनुगच्छद्भिर्विरताविरतैः सह संवसंस्तैर्वा चोद्यमानोऽननुगच्छन्–अप्रतिपद्यमानः कथं न निर्वेदं गच्छेद्?, असदनुष्ठानस्य मिथ्यात्वादिरूपां विचिकित्सां परित्यज्याचार्योक्तं सम्यक्त्वमेव प्रतिपद्येतेत्यर्थः, यदिवा सितासितैराचार्योक्तमनुगच्छद्भिः–अवगच्छद्भिर्बुध्यमानैः सद्भिः कश्चिदज्ञानोदयान्मतिजाड्यतया क्षपकादिश्चिरप्रव्रजितोऽप्यननुगच्छन्–अनवधारयन् कथं न निर्विद्येत?, न निर्वेदं तपःसंयमयोर्गच्छेत्, निर्विण्णश्चेदमपि भावयेत्, यथा–नाहं भव्यः स्यां न च मे संयतभावोऽप्यस्तीति, यतः स्फुटविकटमपि कथितं नावगच्छामि, एवं च निर्विण्णस्याचार्याः समाधिमाहुः–यथा–भोः साधो! मा विषादमवलम्बिष्ठाः, भव्यो भवान्, यतो भवता सम्यक्त्वमभ्युपगतं, तच्च न ग्रन्थिभेदमृते, तद्भेदश्च न भव्यत्वमृते, अभव्यस्य हि भव्याभव्यशङ्कायां अभावादिति भावः॥ किं चायं विर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिपरिणामो द्वादशकषायक्षयोपशमाद्यन्यतमसद्भावे सति भवति, स च भवताऽवाप्तः, तदेवं दर्शनचारित्रमोहनीये भवतः क्षयोपशमं समागते, दर्शनचारित्रान्यथानुपपत्तेः, यत्पुनः कथ्यमानेऽपि समस्तपदार्थावगतिर्न भवति तज्ज्ञानावरणीयविजृम्भितं, तत्र च श्रद्धानरूपं सम्यक्त्वमालम्बनमित्याह—

तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं (सू० १६२)

यत्र क्वचित्स्वसमयपरसमयज्ञाचार्याभावात् सूक्ष्मव्यवहितातीन्द्रियपदार्थेषूभयसिद्धदृष्टान्तसम्यग्ग्रहेत्वभावाच्च ज्ञानावरणीयोदयेन सम्यग्ज्ञानाभावेऽपि शङ्काविचिकित्सादिरहित इदं भावयेत्, यथा–तदेवैकं सत्यम्–अवितथं, 'निःशङ्क'मिति अर्हदुक्तेष्वत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्येष्वर्थेष्वेवं स्यात् एवं वा इत्येवमाकारा संशीतिः शङ्का निर्गता शङ्का यस्मिन् प्रवेदने तन्निःशङ्कं, यत्किमपि धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलादि प्रवेदितं, कैः?–'जिनैः'तीर्थकरै रागद्वेषजयनशीलैः, तत्तथ्यमेवेत्येवम्भूतं श्रद्धानं विधेयं सम्यक्पदार्थानवगमेऽपि, न पुनर्विचिकित्सा कार्येति । किं यतेरपि विचिकित्सा स्याद्येनेदमभिधीयते?, संसारान्तर्वर्त्तिनो मोहोदयात्तत्किं? यन्न स्यादिति, तथा चागमः—"[1]अत्थि णं भंते! समणावि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति?, हंता अत्थि, कहन्नं समणावि णिग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेयंति?, गोअमा!

१ अस्ति भदन्त! श्रमणा अपि निर्ग्रन्थाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति?, हन्त अस्ति, कथं श्रमणा अपि निर्ग्रन्थाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति?, गौतम! तेषु तेषु ज्ञानान्तरेषु चरित्रान्तरेषु शङ्किताः काङ्क्षिता विचिकित्सासमापन्ना भेदसमापन्नाः कालुष्यसमापन्नाः, एवं खलु गौतम! श्रमणा अपि निर्ग्रन्थाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्ति, तत्रालम्बनं 'तदेव सत्यं निश्शङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितम्'। अथ नूनं भदन्त! एवं मनो धारयन् आज्ञाया आराधको भवति?, हन्त गौतम! एवं मनो धारयन् आज्ञाया आराधको भवति.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेसु तेसु नाणन्तरेसु चरित्तंतरेसु संकिया कंखिया विइगिच्छासमावन्ना भेयसमावन्ना कलुससमावन्ना, एवं खलु गोयमा! समणावि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति, तत्थालंबणं 'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं,' से णूणं भंते! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति?, हंता गोअमा! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति" किं चान्यत्? —"वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्। यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ सा पुनर्विचिकित्सा प्रविव्रजिषोर्भवत्यागमापरिकर्म्मितमतेः, तत्राप्येतत्पूर्वोक्तं भावयितव्यमित्याह—

सद्धिस्स णं समणुन्नस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ १, समियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ २, असमियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ ३, असमियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ ४, समियंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिआ होइ उवेहाए ५, असमियंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए ६, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया-उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्थवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा (सू० १६३)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रद्धा–धर्मेच्छा सा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावांस्तस्य 'समनुज्ञस्य' संविग्नविहारिभिर्भावितस्य संविग्नादिभिर्वा गुणैः प्रव्रज्यार्हस्य 'संप्रव्रजतः' सम्यक्प्रव्रज्यामभ्युपगच्छतो विचिकित्सा–शङ्का भवेत्, तत्रैतस्य सम्यग्जीवादिपदार्थावधारणाशक्तस्येदमुपदेष्टव्यम्, यथा–तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमिति, तदेवं प्रव्रज्यावसरे तदेव निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवं यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्य प्रवर्द्धमानकण्डकस्य सत उत्तरकालमपि तदधिकता तत्समता तन्यूनता तदभावो वा स्यादित्येवंरूपां विचित्रपरिणामतां दर्शयितुमाह–तस्य श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजतस्तदेव निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येतत्सम्यगित्येवं मन्यमानस्य 'एकदा' इत्युत्तरकालमपि शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सादिरहिततया सम्यगेव भवति–न तीर्थकरभाषिते शङ्काद्युत्पद्यत इति १। कस्यचित्तु प्रव्रज्यावसरे श्रद्धानुसारितया सम्यगिति मन्यमानस्य तदुत्तरकालमधीतान्वीक्षिकीकस्य दुर्गृहीतहेतुदृष्टान्तलेशस्य ज्ञेयगहनताव्याकुलितमतेः 'एकदे'ति मिथ्यात्वांशोदयेऽसम्यगिति भवति, तथाहि–असौ सर्वनयसमूहाभिप्रायतया अनन्तधर्म्माध्यासितवस्तुप्रसाधने सति मोहादेकनयाभिप्रायेणैकांशसाधनाय प्रक्रमते, यदि नित्यं कथमनित्यमनित्यं चेत्कथं नित्यमिति, परस्परपरिहारलक्षणतयाऽनयोरवस्थानात्, तथाहि–अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं हि नित्यम् अतोऽन्यत्प्रतिक्षणविशरारुरूपमनित्यमित्येवमादिकमसम्यग्भावमुपयाति, न पुनर्विवेचयति, यथा अनन्तधर्म्माध्यासितं वस्तु सर्वनयसमूहात्मकं च दर्शनमतिगहनं मन्दधियां श्रद्धागम्यमेव न हेतुक्षोभ्यमिति, उक्तं च—"सर्वैर्नयैर्निर्यतनैर्गमसङ्ग्रहाद्यैरेकैकशो विहिततीर्थिकशासनैर्यत्। निष्ठां गतं बहुविधैर्गमपर्ययैस्तेः, श्रद्धेयमेव वचनं न तु हेतुगम्यम् ॥ १ ॥" इत्यादि, यतो हेतुः प्रवर्त्तमानः एकनयाभिप्रायेण प्रवर्त्तते, एकं च धर्म्मं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधयेत्, सर्वधर्म्मप्रसाधकस्य हेतोरसम्भवादिति २। पुनरपि विचित्रभावनामाह–कस्यचित् मिथ्यात्वलेशानुविद्धस्य कथं पौद्गलिकः शब्द इत्यादिकमसम्यगिति मन्यमानस्य 'एकदे'ति मिथ्यात्वपरमाणूपशमतया शङ्काविचिकित्साद्यभावे गुर्वाद्युपदेशतः सम्यगिति भवति, यदि हि पौद्गलिकः शब्दो न स्यात् ततस्तत्कृतावनुग्रहोपघातौ श्रवणेन्द्रियस्य न स्याताम्, अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्यादिकं सम्यग् भवति ३। कस्यचित्त्वागमापरिमिलितमतेः कथमेकेनैव समयेन परमाणोर्लोकान्तगमनमित्यादिकमसम्यगिति मन्यमानस्यैकदेति–कुहेतुवितर्काविर्भावावसरे नितरामसम्यगेव भवति, तथाहि—चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याद्यन्ताकाशप्रदेशयोः समयाभेदतया यौगपद्यसंस्पर्शात् तावन्मात्रता परमाणोः स्यात्, प्रदेशयोर्लोकान्तद्वयगतयोर्वैक्यमित्यादिकमसम्यगिति भवति, न त्वसौ स्वाग्रहाविष्ट एतद्भावयति, यथा–विस्रसापरिणामेन शीघ्रगतित्वात् परमाणोरेकसमयेनासङ्ख्येयप्रदेशातिक्रमणं, यथा हि अङ्गुलिद्रव्यमेकसमयेनासङ्ख्येयानप्याकाशप्रदेशानतिलङ्घयति, एतदेव कुत इति चेत्, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न च सकलप्रमाणप्रष्ठप्रत्यक्षसिद्धेऽर्थेऽनुमानमन्वेष्टव्यं, तथाहि–यद्यनेकप्रदेशातिक्रमणं सामयिकं न भवेत् ततोऽङ्गुलमात्रमपि क्षेत्रमसङ्ख्येयसमयातिक्रमणीयं स्यात्, तथा च सति दृष्टेष्टबाधाऽऽपद्येतेति यत्किञ्चिदेतत् ४। साम्प्रतं भङ्गकोपसंहारद्वारेण परमार्थमाविर्भावयन्नाह–सम्यगित्येवं मन्यमानस्य शङ्काविचिकित्सादिरहितस्य सतस्तद्वस्तु यत्नेन तथारूपतयैव भावितं तत्सम्यग्वा स्यादसम्यग्वा, तथापि तस्य तत्र सम्यगुत्प्रेक्षया–पर्यालोचनया सम्यगेव भवति, ईर्यापथोपयुक्तस्य क्वचित्प्राण्युपमर्दवत् ५। साम्प्रतमेतद्विपर्ययमाह–असम्यगिति किञ्चिद्वस्तु मन्यमानस्य शङ्का स्यादर्वागदर्शितया छद्मस्थस्य सतस्तद्वस्तु सम्यग्वा स्यादसम्यग्वा, तस्य तदसम्यगेवोल्ले-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षया, असम्यग्पर्यालोचनतयाऽशुद्धाध्यवसायतयेतियावत्, 'यद्यथा शङ्कयेत्तत्तथैव समापद्येते'ति वचनादिति ६ ॥ यदिवा —"समियंति मन्नमाणस्स" इत्याद्यन्यथा व्याख्यायते–शमिनो भावः शमिता 'इतिः' उपप्रदर्शने तामेतां शमितां मन्यमानस्य शुभाध्यवसायिनः 'एकदे'त्युत्तरकालमपि शमितैव भवति–उपशमवत्तैवोपजायते, अन्यस्य तु शमितामपि मन्यमानस्य कषायोदयादशमितोपजायत इति, अनया दिशोत्तरभङ्गेष्वपि सम्यगुपयुज्यायोज्यमिति । तदेवं सम्यगसम्यगित्येवं पर्यालोचयन्नपरस्याप्युपदेशदानायालमिति, आह च–आगमपरिकर्म्मितमतित्वाद्यथावस्थितपदार्थस्वभावदर्शितया सम्यगसम्यगिति चोल्लेक्षमाणः–पर्यालोचयन्नपरमनुल्लेक्षमाणं गड्डरिकायूथप्रवाहप्रवृत्तं गतानुगतिकन्यायानुसारिणं शङ्कया वाऽपधावन्तं ब्रूयाद्, यथा–'उल्लेक्षस्व'पर्यालोचय सम्यग्भावेन माध्यस्थमवलम्ब्य किमेतदर्हदुक्तं जीवादितत्त्वं घटामियर्त्यहोश्चिन्नेत्यक्षिणी निमील्य चिन्तयेति भावः । यदिवा उल्लेक्षमाणः संयममुत्–प्राबल्येनेक्षमाणः–संयमे उद्यच्छन्नुल्लेक्षमाणं ब्रूयात्, यथा–सम्यग्भावापन्नः सन् संयममुल्लेक्षस्व–संयमे उद्योगं कुरु । किमवलम्ब्येत्याह—'इत्येवं' पूर्वोक्तेन प्रकारेण 'तत्र' तस्मिन् संयमे 'सन्धिः' कर्म्मसन्ततिरूपो 'झोषितः' क्षपितो भवति, यदि संयमे सम्यग्भावे वोल्लेक्षणं स्यात्, नान्यथेति । सम्यगुल्लेक्षमाणस्य च यत्स्यात्तदाह—'से' तस्य सम्यगुत्थानेनोत्थितस्य निःशङ्कस्य श्रद्धावतः स्थितस्य गुरुकुले गुरोराज्ञायां वा या गतिर्भवति–या पदवी भवति तां सम्यगनुपश्यत यूयं, तद्यथा–सकललोकश्लाघ्यता ज्ञानदर्शनस्थैर्यं चारित्रे निष्प्रकम्पता श्रुतज्ञानाधारता च स्यादिति, यदिवा स्वर्गापवर्गादिका गतिः स्यात्, तां पश्यतेति सम्बन्धः, अथवा उत्थितस्य–संयमोद्योगवतः तदभावेन च स्थितस्य पार्श्वस्थादेर्गतिं–सकलजनोपहास्यरूपामधमस्थान-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गतिं वा पश्यतेति । तदेवमुद्युक्तेतरयोर्गतिमुपलभ्य पञ्चविधाचारसारे प्रक्रमितव्यं, यदि नामानुपस्थितस्य विरूपा गतिर्भवति ततः किमित्याह–'अत्रापि'असंयमे बालभावरूपे इतरजनाचरिते आत्मानं सकलकल्याणास्पदं नोपदर्शयेत्, बालानुष्ठानविधायी मा भूदिति यावत्, तथाहि–बालाः शाक्यकापिलादयस्तद्भाविनो बालभावमाचरति, वक्ति च–नित्यत्वादमूर्त्तत्वाच्चात्मनः प्राणातिपात एव नास्त्याकाशस्येव, न हि वृक्षादिच्छेदे दाहे वाऽऽकाशस्य भिदा क्षोषो वा स्यात्, एवमात्मनोऽपि शरीरविकारेऽविकारित्वम्, उक्तं च—"न जायते न म्रियते कदाचिन्नायं भूत्वा भवितेति ॥ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥ १ ॥ अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकारी स उच्यते । नित्यः सततगः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २ ॥" इत्यादि ॥ अध्यवसायात्तद्धननादौ प्रवृत्तस्य तन्निषेधार्थमाह—

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि, एवं जं परिघित्तव्वंति मन्नसि, जं उद्दवेयंति मन्नसि, अंजू चेयपडिबुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए (सू० १६४)

योऽयं हन्तव्यत्वेन भवताऽध्यवसितः स त्वमेव, नामशब्दः सम्भावनायां, यथा भवान् शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूद-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रवान् एवमसावपि यं हन्तव्यमिति मन्यसे, यथा च भवतो हननोद्यतं दृष्ट्वा दुःखमुत्पद्यते एवमन्येषामपि, तद्दुःखोपा-दनाच्च किल्बिषानुषङ्गः, इदमुक्तं भवति–नात्रान्तरात्मनः आकाशदेशस्य व्यापादनेन हिंसा, अपि तु शरीरात्मनः, तस्य हि यत्र क्वचित्स्वाधारं शरीरं नितरां दयितं तद्वियोजीकरणमेव हिंसेति, उक्तं च—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उ-च्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥" न च संसारस्थस्य सर्वथा अमूर्त्तत्वावाप्तिः, येनाकाशस्येव विकारो न स्यात्, सर्वत्रैव च प्राण्युपमर्दचिकीर्षितायामात्मतुल्यता भावयितव्येत्येत-दुत्तरसूत्रैर्दर्शयितुमाह–त्वमपि नाम स एव यं प्रेषणादिना आज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, तथा त्वमपि नाम स एव यं परितापयितव्यमिति मन्यसे, एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे, यमपद्रावयितव्यमिति मन्यसे असौ त्वमेव, यथा भ-वतोऽनिष्टापादनेन दुःखमुत्पद्यते एवमस्यापीत्यर्थः, यदिवा यं कार्यं हन्तव्यादितयाऽध्यवस्यसि तत्रानेकशो भवतोऽपि भावात्त्वमेवासौ, एवं मृषावादादावप्यायोज्यम् । यदि नाम हन्तव्यघातकयोरुक्तक्रमेणैक्यं ततः किमित्याह—'अञ्जु'रिति ऋजुः प्रगुणः साधुरितियावत्, चशब्दोऽवधारणे, एतस्य–हन्तव्यघातकैकत्वस्य प्रतिबोधः प्रतिबुद्धमेतत्प्रतिबुद्धं तेन जीवितुं शीलमस्येत्येतत्प्रतिबुद्धजीवी साधुरेव तत्परिज्ञानेन जीवति नापर इत्युक्तं भवति । यदि नामैवं ततः किमित्याह— 'तस्माद्' हन्यमानस्यात्मन इव महद्दुःखमुत्पद्यते तस्मादात्मौपम्यादन्येषां जन्तूनां न हन्ता स्यात्, नाप्यपरैर्घातयेत् न च घ्नतोऽनुमन्येत, किं च–संवेदनम्–अनुभवनं अनु–पश्चात्संवेदनं केन?–आत्मना, यत्परेषां मोहोदयाद्धननादिना दुःखोत्पादनं विधीयते तत्पश्चादात्मना संवेद्यमित्याकलय्य यत्किमपि हन्तव्यमिति चिकीर्षितं तन्नाभिप्रार्थयेत्–नाभिल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पेत् । ननु चात्मनाऽनुसंवेदनमित्युक्तं, संवेदनं च सातासातरूपं, तच्च यथा नैयायिकवैशेषिकाणामात्मनो भिन्नेन गुण-भूतेनैकार्थसमवायिना ज्ञानेन भवति तथा भवतामप्याहोस्विदभिन्नेनात्मन इत्यस्य प्रतिवचनमाह—

जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडि-संखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए त्तिबेमि (सू० १६५) ॥ ५–५ ॥

य आत्मा नित्य उपयोगलक्षणः विज्ञाताऽप्यसावेव, न तु पुनस्तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं पदार्थसंवेदकं, यश्च विज्ञाता –पदार्थानां परिच्छेदक उपयोगः आत्माऽप्यसावेव, उपयोगलक्षणत्वाज्जीवस्य उपयोगस्य च ज्ञानात्मकत्वादिति । ज्ञाना-त्मनोरभेदाभिधानाद्बौद्धाभिमतं ज्ञानमेवैकं स्यादिति चेत्, तन्न, भेदाभावोऽत्र केवलं चिकीर्षितो नैक्यं, एतदेवैक्यं यो भेदाभाव इति चेद्, वार्त्तमेतत्, तथाहि–पटशुक्लत्वयोर्भेदेनावस्थानाभावेऽपि नैकत्वापत्तिः, अत्रापि शुक्लत्वव्यतिरेकेण नापरः पटः कश्चिदप्यस्तीति चेद्, अशिक्षितस्योल्लापो, यतः शुक्लगुणविनाशे सर्वथा पटाभावापत्तिः स्यात्, तदात्मना विनष्ट एवेति चेत्, भवतु का नो हानिः?, अनन्तधर्म्मात्मकत्वाद्वस्तुनोऽपरमृद्वादिधर्म्मसद्भावे तद्धर्मविनाशेऽप्यविनष्ट एव, इत्येवमात्मनोऽपि प्रत्युत्पन्नज्ञानात्मकतया विनाशेऽप्यपरामूर्त्तत्वासङ्ख्येयप्रदेशताऽगुरुलघ्वादिधर्म्मसद्भावादवि-नाश एवेत्यलं प्रसङ्गेन । ननु च य आत्मा स विज्ञातेत्यत्र तृजन्तेन कर्तुरभिधानादात्मनश्च कर्तृत्वात्ततश्च य एवात्मा स एव विज्ञातेत्यत्र विप्रतिपत्त्यभावो, येन चासौ जानाति तद्भिन्नमपि स्यात्, तथाहि–तत्करणं क्रिया वा भवेद्?, यदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करणं तदात्मादिवद्भिन्नं स्यात्, अथ क्रिया सा यथा कर्तृस्था सम्भवत्येवं कर्म्मस्थाऽपीत्येवं भेदसम्भवे कुत ऐक्यमिति यश्चोदयेत्तं प्रति स्पष्टतरमाह—'येन' मत्यादिना ज्ञानेन करणभूतेन क्रियारूपेण वा विविधं–सामान्यविशेषाकारतया वस्तु जानाति विजानाति स आत्मा, न तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं, तथाहि–न करणतया भेदः, एकस्यापि कर्तृकर्म्मकरणभेदेनोपलब्धेः, तद्यथा–देवदत्त आत्मानमात्मना परिच्छिनत्ति, क्रियापक्षे पाक्षिको ह्यभेदो भवताऽप्यभ्युपगत एव, अपि च—'भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यत' इत्यादिनैकत्वमेवेति । ज्ञानात्मनोश्चैकत्वे यद्भवति तद्दर्शयितुमाह—'तं' ज्ञानपरिणामं 'प्रतीत्य'आश्रित्यात्मा तेनैव 'प्रतिसङ्ग'चायते' व्यपदिश्यते, तद्यथा–इन्द्रोपयुक्त इन्द्र इत्यादि, यदिवा मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी यावत्केवलज्ञानीति, यश्च ज्ञानात्मनोरेकत्वमभ्युपगच्छति स किंगुणः स्यादित्याह—'एषः' अनन्तरोक्तया नीत्या यथावस्थितात्मवादी स्यात्, तस्य च सम्यग्भावेन शमितया वा 'पर्यायः' संयमानुष्ठानरूपो व्याख्यातः। इत्यधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्॥ लोकसाराध्ययने पञ्चमोद्देशकः ॥

उक्तः पञ्चमोद्देशकः, साम्प्रतं षष्ठ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके ह्रदोपमेनाचार्येण भाव्यमित्येतदुक्तं, तथाभूताचार्यसंपर्काच्च कुमार्गपरित्यागो रागद्वेषहानिश्चावश्यंभाविनीत्यतस्तत्प्रतिपादनसम्बन्धेनागतस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचम-अध्ययने षष्ठ-उद्देशक: 'उन्मार्गवर्जन' आरब्ध:,

अणाणाए एगे सोवट्ठाणा आणाए एगे निरुवट्ठाणा, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सन्नी तन्निवेसणे (सू० १६६)

इह तीर्थकरगणधरादिनोपदेशगोचरीभूतो विनेयोऽभिधीयते, यदिवा सर्वभावसम्भवित्वाद्भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अनाज्ञा–अनुपदेशः स्वमनीषिकाचरितोऽनाचारस्तयाऽनाज्ञया तस्यां वा 'एके' इन्द्रियवशगा दुर्गतिं जिगमिषवः स्वाभिमानग्रहग्रस्ताः सह उपस्थानेन–धर्मचरणाभासोद्यमेन वर्त्तन्त इति सोपस्थानाः, किल वयमपि प्रव्रजिताः सद्सद्धर्मविशेषविवेकविकलाः सावद्यारम्भतया प्रवर्त्तन्ते, एके तु न कुमार्गवासितान्तःकरणाः, किन्तु आलस्यावर्णस्तम्भाद्युपबृंहितबुद्धयः, 'आज्ञायां' तीर्थकरोपदेशप्रणीते सदाचारे निर्गतमुपस्थानम्–उद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः–सर्वज्ञप्रणीतसदाचारानुष्ठानविकलाः। एतत्कुमार्गानुष्ठानं सन्मार्गावसीदनं च द्वयमपि 'ते' तव गुरुविनेयोपगतस्य दुर्गतिहेतुत्वान्मा भूदिति सुधर्म्मस्वामी स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह—'एतद्' यत्पूर्वोक्तं यदिवा अनाज्ञायां निरुपमस्थानत्वमाज्ञायां च सोपमस्थानत्वमित्येत् 'कुशलस्य' तीर्थकृतो दर्शनमभिप्रायः, यदिवैतद्वक्ष्यमाणं कुशलस्य दर्शनमित्याह–कुमार्गं परित्यज्य सदाऽऽचार्यान्तेवासिना एवंभूतेन भाव्यं, तस्य–आचार्यस्य दृष्टिस्तदृष्टिस्तया वर्त्तितव्यं, सा वा तीर्थकरप्रणीतागमदृष्टिस्तदृष्टिस्तयेति, तथा तस्य–आचार्यस्य तीर्थकृतो वा मुक्तिस्तन्मुक्तिस्तया, तथा तमाचार्यं सर्वकार्येषु पुरः करोतीति तत्पुरस्कारः–आचार्यानुमत्या क्रियानुष्ठायीत्यर्थः, तथा तत्संज्ञी–तज्ज्ञानोपयुक्तः, तथा तन्निवेशनः–सदा गुरुकुलनिवासी ॥ स एवंभूतः किंगुणः स्यादित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभिभूय अदक्खू अणभिभूए पभू निरालंबणयाए जे महं अबहिमणे, पवाएण प-
वायं जाणिज्जा, सहसंमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा (सू० १६७)

'अभिभूय' पराजित्य परीषहोपसर्गान् घातिचतुष्टयं वा तत्त्वमद्राक्षीत्, किं च–नाभिभूतोऽनभिभूतः अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परतीर्थिकैर्वा, स एवम्भूतः 'प्रभुः' समर्थो निरालम्बनतायाः–नात्र संसारे मातापितृकलत्रादिकमालम्बनमस्तीति तीर्थकृद्वचनमन्तरेण नरकादौ पततामित्येवम्भूतभावनायाः समर्थो भवति, कः पुनः परीषहोपसर्गाणां जेता केनचिदनभिभूतो निरालम्बनतायाः प्रभुर्भवति ? इत्येवं पृष्टे तीर्थकृत् सुधर्मस्वाम्यादिको वाऽऽचार्योऽन्तेवासिनमाह–यः पुरस्कृतमोक्षो 'महान्' महापुरुषो लघुकर्म्मा ममाभिप्रायान्न विद्यते बहिर्मनो यस्यासावबहिर्म्मनाः, सर्वज्ञोपदेशवर्त्तीति यावत्, कुतः पुनस्तदुपदेशनिश्चय इति चेदाह–प्रकृष्टो वादः प्रवादः–आचार्यपारम्पर्योपदेशः प्रवादस्तेन प्रवादेन प्रवादं–सर्वज्ञोपदेशं 'जानीयात्' परिच्छिन्द्यादिति । यदिवाऽणिमाद्यष्टविधैश्वर्यदर्शनादपि न तीर्थकृद्वचनाद्बहिर्मनो विधत्ते, तीर्थिकानिन्द्रजालिककल्पानिति मत्वा तदनुष्ठानं तद्वादांश्च पर्यालोचयति, कथमित्याह–'पवाएण पवायं जाणिज्जा' प्रकृष्टो वादः प्रवादः–सर्वज्ञवाक्यं तेन मौनीन्द्रेण प्रवादेन तीर्थिकप्रवादं 'जानीयात्' परीक्षयेत्, तद्यथा–वैशेषिकाः तनुभुवनकरणादिकमीश्वरकर्तृकमिति प्रतिपन्नाः, तदुक्तम्—"अन्यो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च ॥ १ ॥" इत्यादिकं प्रवादमात्मीयप्रवादेन पर्यालोचयेत्, तद्यथा–अभ्रेन्द्रधनुरादीनां विस्र-

॥ २२७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सापरिणामलब्धात्मलाभानां तदतिरिक्तेश्वरादिकारणपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गः स्यात्, तथा घटपटादीनां दण्डचक्रचीवरसलिलकुलालतुरीवेमशलाकाकुविन्दादिव्यापारानन्तरावाप्तात्मलाभानां तदनुपलब्धव्यापारेश्वरस्य कारणपरिकल्पनायां रासभादेरपि किं न स्यात्?, तनुकरणादीनामप्यवन्ध्यस्वकृतकर्म्मोपादितं वैचित्र्यं, कर्म्मणोऽनुपलब्धेः कुत एतदिति चेत्, समानः पर्यनुयोगः, अपि च–तुल्ये मातापित्रादिके कारणेऽपत्यवैचित्र्यदर्शनात्तदधिकेन निमित्तेन भाव्यं, तच्चेश्वराभ्युपगमेऽप्यदृष्टमेवेष्टव्यं, नान्यथा सुखदुःखसुभगदुर्भगादि जगद्वैचित्र्यं स्यादिति। तथा साङ्ख्या एवमाहुः–यथा 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारः, तस्मादेकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि, तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते, स चाकर्त्ता निर्गुणश्चेति, तथा प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते ततः कैवल्यावस्थायां द्रष्टाऽस्मीति निवर्त्तते' इत्यादिकं युक्तिविकलत्वान्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, तथाहि–प्रकृतेरचेतनत्वात् कुत आत्मोपकाराय क्रियाप्रवृत्तिः स्यात्?, कुतो वा दृष्टेत्यात्मोपकाराय प्रवृत्तिर्न स्यात्?, अचेतनायास्तद्विकल्पासम्भवात्, नित्यायाश्च प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावात्, पुरुषस्याप्यकर्तृत्वे संसारोद्वेगमोक्षौत्सुक्यभोक्तृत्वाद्यभावः स्यादिति, उक्तं च—"न विरक्तो न निर्विण्णो, न भीतो भवबन्धनात्। न मोक्षसुखकाङ्क्षी वा, पुरुषो निष्क्रियात्मकः ॥ १ ॥ कः प्रव्रजति साङ्ख्यानां, निष्क्रिये क्षेत्रभोक्तरि। निष्क्रियत्वात्कथं वाऽस्य, क्षेत्रभोक्तृत्वमिष्यते? ॥ २ ॥" इति। तथा शौद्धोदनिशिष्यका यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमित्येवं व्यवस्थिताः, तत्रोत्तरम्, यदि निरन्वयो विनाशः स्यात् ततः प्रतिनियतः कार्यकारणभाव एव न स्यात्, एकसन्तानान्तर्गतत्वात्स्यादिति चेत्, अशिक्षितस्योल्लापः, तथाहि–न सन्तानिव्यतिरेकेण कश्चित्सन्तानोऽस्ति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा च सति पूर्वकालक्षणावस्थायित्वमेव कारणत्वम्, एवं च सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्, सर्वस्य पूर्वकालक्षणावस्थायित्वाद्यत्किञ्चिदेतदिति, किं च—"यज्जातमात्रमेव प्रध्वस्तं तस्य का क्रिया कुम्भे ?। नोत्पन्नमात्रभग्ने क्षिप्रं सन्तिष्ठते वारि ॥ १ ॥ कर्त्तरि जातविनष्टे धर्माधर्म्मक्रिया न सम्भवति । तदभावे बन्धः को बन्धाभावे च को मोक्षः ? ॥ २ ॥" इत्यादि । बार्हस्पत्यानां तु भूतवादेनात्मपुण्यपापपरलोकाभाववादिनां निर्म्मर्यादतया जनतातिगानां न्यक्कारपदव्याधानमनुत्तरमेवोत्तरमिति । अपि च—"अब्रह्मचर्यरक्तैर्मूढैः परदारघर्षणाभिरतैः । मायेन्द्रजालविषववद्भर्त्सितमसत्किमन्यत्ततः ॥ १ ॥" तथा—"मिथ्या च दृष्टिर्भवदुःखधात्री, मिथ्यामतिश्चापि विवेकशून्या । धर्म्माय येषां पुरुषाधमानां, तेषामधर्मो भुवि कीदृशोऽन्यः ? ॥ २ ॥" इत्यनया दिशा सर्वेऽपि तीर्थिकवादाः सर्वज्ञवादमनुश्रित्य निराकार्या इति स्थितं । तन्निराकरणं च सर्वज्ञप्रवादं निराकार्यं च तीर्थिकप्रवादमेभिस्त्रिभिः प्रकारैर्जानीयादित्याह–मननं मतिः–ज्ञानं ज्ञानावरणीयक्षयक्षयोपशमान्यतरसद्भावानन्तरमेव सहसा–तत्क्षणमेव मत्या प्रातिभबोधावध्यादिज्ञानेन परिच्छिन्द्यात् सह वा ज्ञानेन ज्ञेयं सच्छोभनया मिथ्यात्वकलङ्काङ्करहितया मत्याऽवगच्छेत्, स्वपरावभासकत्वान्मतेरिति, कदाचित्परव्याकरणेनाप्यवगच्छेत् परः–तीर्थकृत्तस्य तेन वा व्याकरणं–यथावस्थितार्थप्रज्ञापनम् आगमः परव्याकरणं तेन वा जानीयात्, तथाऽप्यनवगमेऽन्येषामाचार्यादीनां अन्तिके श्रुत्वा यथावस्थितवस्तुसद्भावमवधारयेद् ॥ अवधार्य च किं कुर्यादित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६८] ॥१॥ दीप अनुक्रम [१८१] [१८२]

निद्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा सम्मं समभिण्णाय, इह आरामो परिव्वए निट्ठियट्ठी वीरे आगमेण सया परक्कमे (सू० १६८)

निर्दिश्यत इति निर्देशः–तीर्थकराद्युपदेशस्तं नातिवर्तेत 'मेधावी' मर्यादावानिति । किं कृत्वा निर्देशं नातिवर्तेतेत्यत आह–सुष्ठु प्रत्युपेक्ष्य हेयोपदेयतया तीर्थिकवादान् सर्वज्ञवादं च 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैर्द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपैः सर्वात्मना-सामान्यविशेषात्मकतया पदार्थान् पर्यालोच्य सहसन्मत्यादित्रिकेण परिच्छिद्य सदाऽऽचार्यनिर्देशवर्ती तीर्थिकप्रवादनि-राकरणं कुर्यात्, किं च कृत्वेत्यत आह–सम्यगेव स्वपरतीर्थिकवादान् 'समभिज्ञाय' बुद्ध्वा ततो निराकरणं कुर्यात् । किं च—'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके आरमणमारामो रतिरित्यर्थः, स चारामः परमार्थचिन्तायामात्यन्तिकैकान्तिकरति-रूपः संयमः तमासेवनपरिज्ञया परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च 'परिव्रजेत्' संयमानुष्ठाने विहरेत्, किंभूत इत्याह–निष्ठितो–मोक्षस्तेनार्थी यदिवा निष्ठितः–परिसमाप्तः अर्थः–प्रयोजनं यस्य स निष्ठितार्थः 'वीरः' कर्मविदारणसहिष्णुः सन् 'आ-गमेन' सर्वज्ञप्रणीताचारादिना 'सदा' सर्वकालं 'पराक्रमेथाः' कर्मरिपून् प्रति मोक्षाध्वनि वा गच्छेः । इत्यधिकारपरि-समाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । किमर्थं पुनः पौनःपुन्येनोपदेशदानमित्याह—

उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया । एए सोया विअक्खाया, जेहिं संगंति पासह ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रोतांसि–कर्म्मास्रवद्वाराणि तानि च प्रतिभवाभ्यासाद्विषयानुबन्धादीनि गृह्यन्ते, तत ऊर्द्धं श्रोतांसि–वैमानिकाङ्गनाऽभिलाषेच्छा वैमानिकसुखनिदानं वा, अधो भवनपतिसुखाभिलाषिता, तिर्यग् व्यन्तरमनुष्यतिर्यग्विषयेच्छा, यदिवा प्रज्ञापकापेक्षयोर्द्धं गिरिशिखरप्राग्भारनितम्बप्रपातोदकादीनि अधोऽपि स्वभ्रनदीकूलगुहालयनादीनि तिर्यगप्यारामसभाऽऽवसथादीनि प्राणिनां विषयोपभोगस्थानानि विविधमाहितानि–प्रयोगविस्रसाभ्यां स्वकर्म्मपरिणत्या वा जनितानि व्याहितानि, एतानि च कर्म्मास्रवद्वाराणीतिकृत्वा श्रोतांसीव श्रोतांसि, एभिश्च त्रिभिः प्रकारैरप्यन्यैश्च पापोपादानहेतुभूतैर्यैः 'सङ्गं' प्राणिनामासक्तिं कर्म्मानुषङ्गं वा पश्यत, इतिर्हेतौ, तस्मात्कर्मानुषङ्गात् कारणादेतानि स्रोतांसीत्यतोऽपदिश्यते, आगमेन सदा पराक्रमेथा इति ॥ किं च—

आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज वेयवी, विणइत्तु सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्मा
जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परिन्नाय (सू० १६९)

रागद्वेषकषायविषयावर्त्ते कर्म्मबन्धावर्त्ते वा तुशब्दः पुनःशब्दार्थे भावावर्त्ते पुनरुल्लेक्ष्य 'अत्र' अस्मिन् भावावर्त्ते विषयरूपे 'वेदविद्' आगमविद् 'विरमेद्' आस्रवद्वारनिरोधं विदध्यात्, पाठान्तरं वा "विवेगं किट्टइ वेदवी" आस्रवद्वारनिरोधेन तज्जनितकर्म्मविवेकम्–अभावं 'कीर्त्तयति' प्रतिपादयति वेदविदिति । आस्रवद्वारनिरोधेन च यत्स्यात्तदाह–स्रोतः–आस्रवद्वारं तद्विनेतुम्–अपनेतुं 'निष्क्रम्य' प्रव्रज्य 'एष' इति प्रत्यक्षः प्रस्तुतार्थस्य चावश्यंभावित्वादेष इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्षवाचिना सर्वनाम्नोक्तो यः कश्चिदित्यर्थः 'महान्' महापुरुषः अतिशयिककर्म्मविधायी, एवम्भूतश्च किंविशिष्टः स्यादिति दर्शयति—'अकर्म्मा'नास्य कर्म्म विद्यत इत्यकर्म्मा, कर्म्मशब्देन चात्र घातिकर्म्म विवक्षितं, तदभावाच्च जानाति विशेषतः पश्यति च सामान्यतः, सर्वाश्च लब्धयो विशेषोपयुक्तस्य भवन्तीत्यतः पूर्वं जानाति पश्चाच्च पश्यति, अनेन च क्रमोपयोग आविष्कृतः, स चोत्पन्नदिव्यज्ञानस्त्रैलोक्यललामचूडामणिः सुरासुरनरेन्द्रैकपूज्यः संसारार्णवपारवर्त्ती विदितवेद्यः सन् किं कुर्यादित्याह–स हि ज्ञातज्ञेयः सुरासुरनरोपहितां पूजामुपलभ्य कृत्रिमामनित्यामसारां सोपाधिकां च 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य हृषीकविजयजनितसुखनिःस्पृहतया तां नाकाङ्क्षति–नाभिलषतीति। किं च—'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके व्यवस्थितः सन् उत्पन्नज्ञानः प्राणिनामागतिं गतिं च संसारभ्रमणं तत्कारणं च ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निराकरोति ॥ तन्निराकरणे च यत्स्यात्तदाह—

अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संगे न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, (सू० १७०)

'अत्येति' अतिक्रामति जातिश्च मरणं च जातिमरणं तस्य 'वट्टमग्गं'ति पन्थानं मार्गं उपादानं कर्मेतियावत्, तदत्येति–अशेषकर्म्मक्षयं विधत्ते, तत्क्षयाच्च किंगुणः स्यादित्याह–विविधम्–अनेकप्रकारं प्रधानपुरुषार्थतयाऽऽरब्धशास्त्रार्थतया तपःसंयमानुष्ठानार्थत्वेन (आख्यातो) व्याख्यातो मोक्षः–अशेषकर्म्मक्षयलक्षणो विशिष्टाकाशप्रदेशाख्यो वा तत्र रतो व्याख्यातरतः, आत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधसुखक्षायिकज्ञानदर्शनसंपदुपेतोऽनन्तमपि कालं संतिष्ठते । किम्भूत इति चेत्, न तत्र शब्दानां प्रवृत्तिः, न च सा काचिदवस्थाऽस्ति या शब्दैरभिधीयेत इत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—'सर्वे' निरवशेषाः 'स्वरा'ध्वनयस्तस्मान्निवर्त्तन्ते, तद्वाच्यवाचकसम्बन्धे न प्रवर्त्तन्ते, तथाहि–शब्दाः प्रवर्त्तमाना रूपरसगन्धस्पर्शानामन्यतमे विशेषे सङ्केतकालगृहीते तत्तुल्ये वा प्रवर्त्तेरन्, न चैतत्तत्र शब्दादीनां प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति, अतः शब्दानभिधेया मोक्षावस्थेति । न केवलं शब्दानभिधेया, उल्लेखणीयाऽपि न सम्भवतीत्याह–सम्भवत्पदार्थविशेषास्तित्वाध्यवसाय ऊहस्तर्कः–एवमेवं चैतत्स्यात्, स च यत्र न विद्यते ततः शब्दानां कुतः प्रवृत्तिः स्यात्?। किमिति तत्र तर्काभाव इति चेदाह–मननं मतिः–मनसो व्यापारः पदार्थचिन्ता सौत्पत्तिक्यादिका चतुर्विधाऽपि मतिस्तत्र न ग्राहिका, मोक्षावस्थायाः सकलविकल्पातीतत्वात्, तत्र च मोक्षे कर्म्मांशसमन्वितस्य गमनमाहोश्विन्निष्कर्म्मणः?, न तत्र कर्म्मसमन्वितस्य गमनमस्तीत्येत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शयितुमाह—'ओजः' एकोऽशेषमलकलङ्काङ्करहितः, किं च– न विद्यते प्रतिष्ठानमौदारिकशरीरादेः कर्म्मणो वा यत्र सोऽप्रतिष्ठानो–मोक्षस्तस्य 'खेदज्ञो' निपुणो, यदिवा अप्रतिष्ठानो–नरकस्तत्र स्थित्यादिपरिज्ञानतया खेदज्ञो, लोकनाडिपर्यन्तपरिज्ञानावेदनेन च समस्तलोकखेदज्ञता आवेदिता भवति। सर्वस्वरनिवर्त्तनं च येनाभिप्रायेणोक्तवांस्तमभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह– 'स' परमपदाध्यासी लोकान्तक्रोशषड्भागक्षेत्रावस्थानोऽनन्तज्ञानदर्शनोपयुक्तः संस्थानमाश्रित्य न दीर्घो न ह्रस्वो न वृत्तो न त्र्यस्रो न चतुरस्रो न परिमण्डलो वर्णमाश्रित्य न कृष्णो न नीलो न लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो गन्धमाश्रित्य न सुरभिगन्धो न दुरभिगन्धो रसमाश्रित्य न तिक्तो न कटुको न कषायो नाम्लो न मधुरः स्पर्शमाश्रित्य न कर्कशो न मृदुर्न लघुर्न गुरुर्न शीतो नोष्णो न स्निग्धो न रुक्षो 'न काऊ' इत्यनेन लेश्या गृहीता, यदिवा न कायवान् यथा वेदान्तवादिनाम्–'एक एव मुक्तात्मा तत्कायमपरे क्षीणक्लेशा अनुप्रविशन्ति आदित्यरश्मय इवांशुमन्तमिति, तथा न रुहः 'रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च' रोहतीति रुहः, न रुहोऽरुहः, कर्म्मबीजाभावादपुनर्भावीत्यर्थः, न पुनर्यथा शाक्यानां दर्शननिकारतो मुक्तात्मनोऽपि पुनर्भवोपादानमिति, उक्तं च—"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम्। मुक्तः स्वयंकृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥ १ ॥" तथा च न विद्यते सङ्गोऽमूर्त्तत्वाद्यस्य स तथा, तथा न स्त्री न पुरुषो नान्यथेति–न नपुंसकः, केवलं सर्वैरात्मप्रदेशैः परिः–समन्ताद्विशेषतो जानातीति परिज्ञः, तथा सामान्यतः सम्यग्जानाति–पश्यतीति संज्ञः, ज्ञानदर्शनयुक्त इत्यर्थः, यदि नाम स्वरूपतो न ज्ञायते मुक्तात्मा तथाऽप्युपमाद्वारेणादित्यगतिरिव ज्ञायत एवेति चेत्, तन्न, यत आह–उपमीयते सादृश्यात् परिच्छि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यते यया सोपमा–तुल्यता सा मुक्तात्मनस्तज्ज्ञानसुखयोर्वा न विद्यते, लोकातिगत्वात्तेषा, कुत एतदिति चेदाह–तेषां मुक्तात्मनां या सत्ता सा अरूपिणी, अरूपित्वं च दीर्घादिप्रतिषेधेन प्रतिपादितमेव । किं च–न विद्यते पदम्–अवस्थाविशेषो यस्य सोऽपदः, तस्य पद्यते–गम्यते येनार्थस्तत्पदम्–अभिधानं तच्च 'नास्ति' न विद्यते, वाच्यविशेषाभावात्, तथाहि–योऽभिधीयते स शब्दरूपगन्धरसस्पर्शान्यतरविशेषेणाभिधीयते, तस्य च तदभाव इत्येतद्दर्शयितुमाह, यदिवा दीर्घ इत्यादिना रूपादिविशेषनिराकरणं कृतं, इह तु तत्सामान्यनिराकरणं कर्तुकाम आह—

से न सद्दे न रूवे न गंधे न रसे न फासे, इच्चेव त्तिबेमि (सू० १७१)॥ षष्ठ उद्देशकः।
लोकसाराध्ययनं समाप्तं ॥ ५–६ ॥

'स' मुक्तात्मा न शब्दरूपः न रूपात्मा न गन्धः न रसः न स्पर्श इत्येतावन्त एव वस्तुनो भेदाः स्युः, तत्प्रतिषेधाच्च नापरः कश्चिद्विशेषः सम्भाव्यते येनासौ व्यपदिश्येतेति भावार्थः । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । गतः सूत्रानुगमः, तद्गतौ चापवर्गमाप्त उद्देशकः, तदपवर्गाच्चासौ च नयवक्तव्यताऽतिदेशात्समाप्तं लोकसाराख्यं पञ्चममध्ययनमिति ॥ ग्रन्थाग्र० १११५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७१]

दीप अनुक्रम [१८५]

अथ धुताख्यं षष्ठमध्ययनम्

उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने लोकसारभूतः संयमो मोक्षश्च प्रतिपादितः, स च निःसङ्गताव्यतिरेकेण कर्म्मधुननमन्तरेण च न भवतीत्यतस्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागभाणि, उद्देशार्थाधिकारं तु निर्युक्तिकारो बिभणिषुराह—

पठमे नियगविहुणणा कम्माणं बितियए तइयगंमि। उवगरणसरीराणं चउत्थए गारवतिगस्स ॥ २५० ॥

प्रथमोद्देशके निजकाः–स्वजनास्तेषां विधूननेत्ययमर्थाधिकारः, द्वितीये कर्म्मणां, तृतीये उपकरणशरीराणां, चतुर्थे गौरवत्रिकस्य, विधूननेति सर्वत्र सम्बन्धनीयम्, उपसर्गाः सन्माननानि च, यथा साधुभिर्विधूतानि तथा पञ्चमोद्देशके प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारं परिसमाप्य निक्षेपमाह–स च त्रिधा, तत्रौघनिष्पन्नेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु धूतं, तच्च चतुर्द्धा, तत्रापि नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यभावधूतप्रतिपादनाय गाथाशकलम्—

उवसग्गा सम्माणयविहूआणि पञ्चमंमि उद्देसे। दव्वधुयं वत्थाई भावधुयं कम्म अट्ठविहं ॥ २५१ ॥

द्रव्यधूतं द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ-अध्ययनं 'द्युत' आरब्धः,

प्रत सूत्रांक [१७१]

दीप अनुक्रम [१८५]

व्यतिरिक्तं द्रव्यधूतं द्रव्यं च तद्वस्त्रादि धूतं च रजोऽपनयनार्थं द्रव्यधूतं, आदिग्रहणाद्वृक्षादि फलार्थं, भावधूतं कर्म्माष्टविधं, तद्विमोक्षार्थं धूयत इति गाथाशकलार्थः ॥ पुनरप्येनमेवार्थं विशेषतः प्रतिपादयितुमाह—

अहियासित्तुवसग्गे दिव्वे माणुस्सए तिरिच्छे य । जो विहुणइ कम्माइं भावधुयं तं वियाणाहि ॥ २५२ ॥

अधिकमासह्यात्यर्थं सोढ्वा, कानतिसह्य ?–उपसर्गान्, किंभूतान् ?–दिव्यान्मानुषांस्तैरश्चांश्च यः कर्म्माणि संसारतरुबीजानि विधुनाति–अपनयति तद्भावधुतमित्येवं जानीहि, क्रियाकारकयोरभेदाद्वा कर्म्मधूननं भावधूतं जानीहीति भावार्थः ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से नरे, जस्स इमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से नाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्ठियाणं निक्खित्तदण्डाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं, एवं (अवि) एगे महावीरा विप्परिक्कमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपन्ने से वेमि, से जहावि (सेवि) कुंमे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छन्नपलासे उम्मग्गं से नो लहइ भंजगा इव संनिवेसं नो चयंति एवं (अवि) एगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति नियाणओ ते न लभंति मुक्खं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठं-अध्ययने प्रथम-उद्देशकः 'स्वजन विधुनन' आरब्धः,

अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया,–गंडी अहवा कोढी, रायंसी अवमारियं । काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा ॥ १ ॥ उदरिं च पास मूयं च, सूणीयं च गिलासणिं । वेवइं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं ॥ २ ॥ सोलस एए रोगा अक्खाया अणुपुव्वसो । अह णं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा ॥ ३ ॥ मरणं तेसिं संपेहाए उववायं चवणं च नच्चा, परियागं च संपेहाए (सू० १७२)

स्वर्गापवर्गौ तत्कारणानि च तथा संसारं तत्कारणानि चावबुध्यमानोऽनावारकज्ञानसद्भावाद् 'इहे'ति मर्त्यलोके मानवेषु विषयभूतेषु धर्म्ममाख्याति स नरो भवोपग्राहिकर्म्मसद्भावात् मनुष्यभावव्यवस्थितः सन् धर्म्ममाचष्टे, न पुनर्यथा शाक्यानां कुड्यादिभ्योऽपि धर्म्मदेशनाः प्रादुष्ष्यन्ति, यथा वा वैशेषिकाणामुलूकभावेन पदार्थाविर्भावनम्, एवमस्माकं न, कथं ?–घातिकर्म्मक्षये तूत्पन्ननिरावरणज्ञानो मनुष्यभावापन्न एव कृतार्थोऽपि सत्त्वहिताय सदेवमनुजायां पर्षदि कथयतीति। किं तीर्थकर एव धर्म्ममाचष्टे उतान्योऽपि ?, अन्योऽपि यो विशिष्टज्ञानः सम्यक्पदार्थपरिच्छेदी स धर्म्माविर्भावनं करोतीति दर्शयितुमाह–यस्यातीन्द्रियज्ञानिनः श्रुतकेवलिनो वा 'इमाः' शस्त्रपरिज्ञायां साधितत्वात् प्रत्यक्षवाचिनेदमाऽभिहिताः 'जातयः' एकेन्द्रियादयः 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपैः सुष्ठु–शङ्कादिव्यु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७२] गाथा- १...३ दीप अनुक्रम [१८६... १९०]

दासेन 'प्रत्युपेक्षिताः' प्रति उप–सामीप्येन ईक्षिताः–ज्ञाता भवन्ति स धर्म्ममाचष्टे नापर इति । इदमेवाह—'आख्याति' कथयति 'स' तीर्थकृत्सामान्यकेवली अपरो वाऽतिशयज्ञानी श्रुतकेवली वा, किमाख्याति?—'ज्ञानं' ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्थाः येन तज्ज्ञानं–मत्यादि पञ्चधा, किम्भूतं ज्ञानमाख्याति?—'अनीदृशं' नान्यत्रेदृशमस्तीत्यनीदृशं, यदिवा सकलसंशयापनयनेन धर्म्ममाचक्षाण एव स आत्मनो ज्ञानमनन्यसदृशमाख्याति । केषां पुनः स धर्म्ममाचष्ट इत्यत आह—'स' तीर्थकृद्गणधरादिः 'कीर्त्तयति' यथावस्थितान् भावान् प्रतिपादयति 'तेषां' धर्म्मचरणाय सम्यगुत्थितानां, यदिवा उत्थिता द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः शरीरेण भावतो ज्ञानादिभिः, तत्र स्त्रियः समवसरणस्था उभयथाऽप्युत्थिताः शृण्वन्ति, पुरुषास्तु द्रव्यतो भाज्याः, भावोत्थितानां तु धर्म्ममावेदयति उत्तिष्ठासूनां च देवानां तिरश्चां च, येऽपि कौतुकादिना शृण्वन्ति तेभ्योऽप्याचष्टे, भावसमुत्थितान् विशिशेषयिषुराह–निक्षिप्ताः–संयमिताः मनोवाक्कायरूपाः प्राण्युपमर्दकारित्वाद्दण्डा इव दण्डा यैस्ते तथा तेषां निक्षिप्तदण्डानां, तथा 'समाहिताणं' सम्यगाहिताः–तपःसंयम उद्युक्ताः समाहिता अनन्यमनस्कास्तेषां, तथा प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानं तद्वतां सश्रुतिकानाम् 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'मुक्तिमार्गं' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं कीर्त्तयतीति सम्बन्धः । तस्य च तीर्थकृतः साक्षाद्धर्ममावेदयतः केचन लघुकर्म्माणस्तथैव प्रतिपद्य धर्मचरणायोद्यच्छन्त्यपरे त्वन्यथेत्येतत्प्रतिपादयितुमाह–अपिशब्दश्चार्थे, चशब्दश्च वाक्योपन्यासार्थे, एवं च तीर्थकृताऽऽवेदिते सत्येके–लब्धकर्म्मविवरा विविधं संयमसङ्ग्रामशिरसि पराक्रमन्ते, परान् वा इन्द्रियकर्म्मरिपून् आक्रमन्ते पराक्रमन्त इति । एतद्विपर्ययमाह–साक्षात्तीर्थकरे सकलसंशयच्छेत्तरि धर्म्ममावेदयति सत्येकान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७२] गाथा- १...३ दीप अनुक्रम [१८६... १९०]

प्रबलमोहोदयावृतान् संयमेऽवसीदतः पश्यत यूयं, किम्भूतानित्याह–नात्मने हिता प्रज्ञा येषां ते अनात्मप्रज्ञास्तानिति, कुतः पुनः संयमानुष्ठानेऽवसीदन्ति इत्यारेकायां सोऽहं ब्रवीमि । अत्र दृष्टान्तद्वारेण सोपपत्तिकं कारणमित्याह— सेशब्दस्तच्छब्दार्थे, अपिशब्दश्चार्थे, स च वाक्योपन्यासार्थः, तद्यथा च कूर्म्मो महाह्रदे विनिविष्टं चित्तं यस्यासौ विनिविष्टचित्तो–गार्द्ध्यमुपगतः पलाशैः–पत्रैः प्रच्छन्नः पलाशप्रच्छन्नः, सूत्रे तु प्राकृतत्वाद्व्यत्ययः, 'उम्मग्गं'ति विवरं उन्मज्यतेऽनेनेति वोन्मज्यम्, ऊर्द्धं वा मार्गमुन्मार्गं, सर्वथा अरन्ध्रमित्यर्थः , तदसौ न लभतः इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्– कश्चिद् ह्रदो योजनशतसहस्रविस्तीर्णः प्रबलशेवालघनकठिनवितानाच्छादितो नानारूपकरिमकरमत्स्यकच्छपादिजलचराश्रयः, तन्मध्ये चैकं विस्रसापरिणामापादितं कच्छपग्रीवामात्रप्रमाणं विवरमभूत्, तत्र चैकेन कूर्म्मेण निजयूथात् प्रभ्रष्टेन वियोगाकुलतयेतस्ततश्च शिरोधरां प्रक्षिपता कुतश्चित्तथाविधभवितव्यतानियोगेन तद्रन्ध्रे ग्रीवानिर्गमनमात्रं, तत्र चासौ शरच्चन्द्रचन्द्रिकया क्षीरोदसलिलप्रवाहकल्पयोपशोभितं विकचकुमुदनिकरकृतोपचारमिव तारकाकीर्णं नभस्तलमीक्षाञ्चक्रे, दृष्ट्वा चातीव मुमुदे, आसीच्चास्य मनसि–यदि तानि मद्बन्धूनेतत्स्वर्गदेश्यमदृष्टपूर्वं मनोरथानामप्यविषयभूतं पश्यन्ति ततः शोभनमापद्यत इत्येतदवधार्य तूर्णमन्वेषणाय बन्धूनामितश्चेतश्च बभ्राम, अवाप्य च निजान् पुनरपि तद्विवरान्वेषणार्थं सर्वतः पर्यटति, न च तद्विवरं विस्तीर्णतया ह्रदस्य प्रचुरतया यादसामीक्षते, तत्रैव च विनाशमुपयात इति । (अस्यायमर्थोपनयः–संसारह्रदे जीवकूर्म्मः कर्मशेवालविवरतो मनुष्यार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसम्यक्त्वावसाननभस्तलमासाद्य मोहोदयात् ज्ञात्यर्थं विषयोपभोगाय वा सदनुष्ठानविकलो न सफलतां नयति,) तत्त्यागे कुतः पुनः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसारह्रदान्तर्वर्त्तिनस्तदवाप्तिः ?, तस्मादवाप्य भवशतदुरापं कर्म्मविवरभूतं सम्यक्त्वं क्षणमप्येकं तत्र न प्रमादवता भाव्यमिति तात्पर्यार्थः । पुनरपि संसारानुषङ्गिणां दृष्टान्तान्तरमाह—'भङ्गगा' वृक्षास्त इव शीतोष्णप्रकम्पनच्छेदनशाखाकर्षणक्षोभामोटनभञ्जनरूपानुपद्रवान् सहमाना अपि 'सन्निवेशं' स्थानं कर्म्मपरतया न त्यजन्ति, एवमित्यादिना दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयति—'एव'मिति वृक्षोपमया 'अपिः' सम्भावने, 'एके' कर्म्मगुरवोऽनेकरूपेषु कुलेषूच्चावचेषु जाता धर्म्मचरणयोग्या अपि रूपेषु चक्षुरिन्द्रियानुकूलेषूपलक्षणार्थत्वाच्छब्दादिषु च विषयेषु 'सक्ताः' अध्युपपन्नाः शारीरमानसदुःखदुःखिता राजोपद्रवोपद्रुताः अग्निदाहदग्धसर्वस्वा नानानिमित्ताहिताधयोऽपि न सकलदुःखावासं गृहवासं कर्म्मनिष्ठास्त्यक्तुमलम्, अपि तु तत्स्था एव तेषु तेषु व्यसनोपनिपातेषु सत्सु 'करुणं स्तनन्ति' दीनमाक्रोशन्ति, तद्यथा—हा तात ! हा मातः हा दैव ! न युज्यते भवत एवंविधेऽवसरे एवम्भूतं व्यसनमापादयितुं, तदुक्तम्—"किमिदमचिन्तितमसदृशमनिष्टमतिकष्टमनुपमं दुःखम् । सहसैवोपनतं मे नैरयिकस्येव सत्त्वस्य ? ॥ १ ॥" इत्यादि, यदिवा रूपादिविषयासक्ता उपचितकर्म्माणो नरकादिवेदनामनुभवन्तः करुणं स्तनन्तीति, न च करुणं स्तनन्तोऽप्येतस्मात् दुःखान्मुच्यन्ते इत्येतद्दर्शयितुमाह—दुःखस्य निदानम्—उपादानं कर्म्म ततस्ते विलपन्तोऽपि न लभन्ते 'मोक्षं' दुःखापगमं मोक्षकारणं वा संयमानुष्ठानमिति । दुःखविमोक्षाभावे च यथा नानाव्याध्युपसृष्टाः संसारोदरे प्राणिनो विवर्त्तन्ते तथा दर्शयितुमाह—'अथ' इति वाक्योपन्यासार्थे पश्य त्वं तेषूच्चावचेषु कुलेषु, आत्मत्वाय—आत्मीयकर्म्मानुभवाय जाताः, तदुदयाच्चेमां अवस्थामनुभवन्तीत्याह—षोडशरोगवक्तव्यानुगतं श्लोकत्रयं, वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजं चतुर्द्धा गण्डं, तदस्यास्तीति गण्डी—गण्ड-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मालावानित्यादि, अथवेत्येतत्प्रतिरोगमभिसम्बध्यते, अथवा राजांसी अपस्मारीत्यादि, अथवा तथा—'कुष्ठी' कुष्ठमष्टादशभेदं तदस्यास्तीति कुष्ठी, तत्र सप्त महाकुष्ठानि, तद्यथा–अरुणोदुम्बरनिश्यजिह्वकपालकाकनादपौण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति, महत्त्वं चैषां सर्वधात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वाच्चेति, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि, तद्यथा–स्थूलारुष्क १ महाकुष्ठै २ ककुष्ठ ३–चर्मदल ४ परिसर्प्प ५ विसर्प्प ६ सिध्म ७ विचर्चिका ८ किटिभ ९ पामा १० शतारुक ११ संज्ञानीति, सर्वाण्यप्यष्टादश, सामान्यतः कुष्ठं सर्वं सन्निपातजमपि वातादिदोषोत्कटतया तु भेदभाग्भवतीति। तथा–राजांसो–राजयक्ष्मा सोऽस्यास्तीति राजांसी, क्षयीत्यर्थः, स च क्षयः सन्निपातजश्चतुर्भ्यः कारणेभ्यो भवति इति, उक्तं च—"त्रिदोषो जायते यक्ष्मा, गदो हेतुचतुष्टयात् । वेगरोधात् क्षयाच्चैव, साहसाद्विषमाशनात् ॥ १ ॥" तथा–अपस्मारो[1] वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजत्वाच्चतुर्धा, तद्वानपगतसदसद्विवेकः भ्रममूर्च्छादिकामवस्थामनुभवति प्राणीति, उक्तं च—"भ्रमावेशः ससंरम्भो, द्वेषोद्रेको हृतस्मृतिः । अपस्मार इति ज्ञेयो, गदो घोरश्चतुर्विधः ॥१॥" तथा 'काणियं'ति अक्षिरोगः, स च द्विधा–गर्भगतस्योत्पद्यते जातस्य च, तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेवैकाक्षिगतं काणं विधत्ते, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं वातानुगतं विकृताक्षं, जातस्य च वातादिजनितोऽभिष्यन्दो भवति, तस्माच्च सर्वे रोगाः प्रादुष्ष्यन्तीति, उक्तं च—"वातात्पित्तात्कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः । प्रायेण जायते घोरः, सर्वनेत्रामयाकरः ॥ १ ॥" इति, तथा—'झिमियं'ति जाड्यता सर्वशरीरावयवानामवशित्वमिति, तथा 'कुणियं'ति गर्भाधानदोषाद्

१ अपगतः स्मारः स्मरणं यस्मात् सः अपस्मारः तस्मिन्सति तद्रोगिणः सर्वविषया स्मृतिः नश्यति.

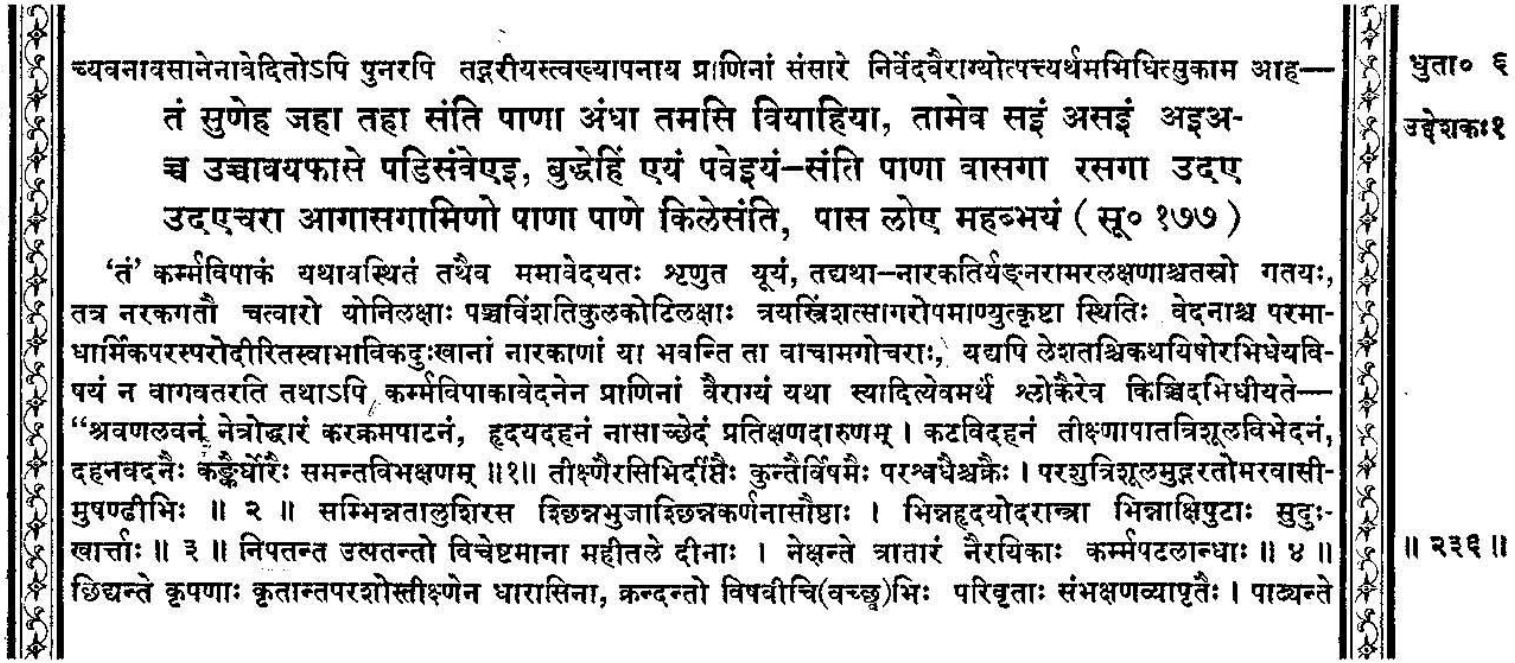
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ह्रस्वैकपादो न्यूनैकपाणिर्वा कुणिः, तथा 'खुज्जियं'ति कुब्जं पृष्ठादावस्यास्तीति कुब्जी, मातापितृशोणितशुक्रदोषेण गर्भस्थदोषोद्भवाः कुब्जवामनकादयो दोषा भवन्तीति, उक्तं च—"गर्भे वातप्रकोपेन, दौहृदे वाऽपमानिते । भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मन्मन एव वा ॥ १ ॥" मूको मन्मन एवेत्येतदेकान्तरिते मुखदोषे लगनीयमिति । तथा—'उदरिं च'त्ति चः समुच्चये वातपित्तादिसमुत्थमष्टधोदरं तदस्यास्तीत्युदरी, तत्र जलोदर्यसाध्यः शेषास्त्वचिरोत्थिताः साध्या इति, ते चामी भेदाः—"पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यैः, प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव । आगन्तुकं सप्तममष्टमं तु, जलोदरं चेति भवन्ति तानि ॥ १ ॥" इति, तथा 'पास मूयं च'त्ति पश्य–अवधारय मूकं मन्मनभाषिणं वा, गर्भदोषादेव जातं तदुत्तरकालं च, पञ्चषष्टिर्मुखे रोगाः सप्तस्वायतनेषु जायन्ते, तत्रायतनानि ओष्ठौ दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा तालु कण्ठः सर्वाणि चेति, तत्राष्टावोष्ठयोः पञ्चदश दन्तमूलेष्वष्टौ दन्तेषु पञ्च जिह्वायां नव तालुनि सप्तदश कण्ठे त्रयः सर्वेष्वायतनेष्विति, 'सूणियं च' त्ति शूनत्वं–श्वयथुर्वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्ताभिघातजोऽयं षोढेति, उक्तं च—"शोफः स्यात् षड्विधो घोरो, दोषैरुत्सेधलक्षणः । व्यस्तैः समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिघातजः ॥ १ ॥" इति, तथा 'गिलासणिं'ति भस्मको व्याधिः, स च वातपित्तोत्कटतया श्लेष्मन्यूनतयोपजायत इति, तथा 'वेवइं'ति वातसमुत्थः शरीरावयवानां कम्प इति, उक्तं च—"प्रकामं वेपते यस्तु, कम्पमानश्च गच्छति । कलापखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिनिबन्धनम् ॥ १ ॥" इति, तथा 'पीढसप्पिं च'त्ति जन्तुर्गर्भदोषात् पीढसर्पित्वेनोत्पद्यते, जातो वा कर्म्मदोषाद्भवति, स किल पाणिगृहीतकाष्ठः प्रसर्पतीति, तथा 'सिलिवयं'ति श्लीपदं–पादादौ काठिन्यं, तद्यथा–प्रकुपितवातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वङ्क्षणो(वक्षो)रुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शनैः शोफमुपजनयन्ति तच्छ्लीपदमित्याचक्षते —"पुराणोदकभूमिष्ठाः, सर्वर्त्तुषु च शीतलाः । ये देशास्तेषु जायन्ते, श्लीपदानि विशेषतः ॥ १ ॥ पादयोर्हस्तयोश्चापि, श्लीपदं जायते नृणाम् । कर्णोष्ठनासास्वपि च, केचिदिच्छन्ति तद्विदः ॥ २ ॥" तथा 'महुमेहणिं'ति मधुमेहो–बस्तिरोगः स विद्यते यस्यासौ मधुमेही, मधुतुल्यप्रस्रावत्वानित्यर्थः, तत्र प्रमेहाणां विंशतिर्भेदाः, स्तत्रास्यासाध्यत्वेनोपन्यासः, तत्र सर्व एव प्रमेहाः प्रायशः सर्वदोषोत्थास्तथापि वाताद्युत्कटभेदाद्विंशतिर्भेदा भवन्ति, तत्र कफादश षट् क्तित् वातजाश्चत्वार इति, सर्वेऽपि चैतेऽसाध्यावस्थायां मधुमेहत्वमुपयान्तीति, उक्तं च—"सर्व एव प्रमेहास्तु, कालेनाप्रतिकारिणः । मधुमेहत्वमायान्ति, तदाऽसाध्या भवन्ति ते ॥ १ ॥" इति । तदेवं षोडशाप्येते–अनन्तरोक्ताः 'रोगा' व्याधयो व्याख्याताः 'अनुपूर्वशो' अनुक्रमेण 'अथ' अनन्तरं 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'स्पृशन्ति' अभिभवन्ति 'आतङ्का' आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः 'स्पर्शाश्च' गाढप्रहारादिजनिता दुःखविशेषाः 'असमञ्जसाः' क्रमयौगपद्यनिमित्तानिमित्तोत्पन्नाः स्पृशन्तीति सम्बन्धः । न रोगातङ्कैरेव केवलैर्मुच्यते, अन्यदपि यत् संसारिणोऽधिकं स्यात्तदाह–तेषां कर्म्मगुरूणां गृहवासासक्तमनसामसमञ्जसरोगैः क्लेशितानां 'मरणं' प्राणत्यागलक्षणं 'संप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य पुनरुपपातं च्यवनं च देवानां कर्मोदयात् सञ्चितं ज्ञात्वा तद्विधेयं येन गण्डादिरोगाणां मरणोपपातयोश्चात्यन्तिकोऽभावो भवति, किं च–कर्म्मणां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाहितानामबाधोत्तरकालमुदयावस्थायां परिपाकं च 'सम्प्रेक्ष्य' शारीरमानसदुःखोत्पादकं पर्यालोच्य तदुच्छित्तये यतितव्यं॥ स च करुणं स्तनन्तीत्यादिना ग्रन्थेनोपपात-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचा-राङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ २३६ ॥

च्यवनावसानेनावेदितोऽपि पुनरपि तद्वैरीयस्त्वख्यापनाय प्राणिनां संसारे निर्वेदवैराग्योत्पत्त्यर्थमभिधित्सुकाम आह—

तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया, तामेव सइं असइं अइअ-
च्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ, बुद्धेहिं एयं पवेइयं–संति पाणा वासगा रसगा उदए
उदएचरा आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं (सू० १७७)

'तं' कर्म्मविपाकं यथावस्थितं तथैव ममावेदयतः शृणुत यूयं, तद्यथा–नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणाश्चतस्रो गतयः, तत्र नरकगतौ चत्वारो योनिलक्षाः पञ्चविंशतिकुलकोटिलक्षाः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिः वेदनाश्च परमाधार्मिकपरस्परोदीरितस्वाभाविकदुःखानां नारकाणां या भवन्ति ता वाचामगोचराः, यद्यपि लेशतश्चिकथयिषोरभिधेयविषयं न वागवतरति तथाऽपि कर्म्मविपाकावेदनेन प्राणिनां वैराग्यं यथा स्यादित्येवमर्थं श्लोकैरेव किञ्चिदभिधीयते—

"श्रवणलवनं नेत्रोद्धारं करक्रमपाटनं, हृदयदहनं नासाच्छेदं प्रतिक्षणदारुणम् । कटविदहनं तीक्ष्णापातत्रिशूलविभेदनं, दहनवदनैः कङ्कैर्घोरैः समन्तविभक्षणम् ॥१॥ तीक्ष्णैरसिभिर्दीप्तैः कुन्तैर्विषमैः परश्वधैश्चक्रैः । परशुत्रिशूलमुद्गरतोमरवासीमुषण्ढीभिः ॥ २ ॥ सम्भिन्नतालुशिरस श्छिन्नभुजाश्छिन्नकर्णनासौष्ठाः । भिन्नहृदयोदरान्त्रा भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्त्ताः ॥ ३ ॥ निपतन्त उत्पतन्तो विचेष्टमाना महीतले दीनाः । नेक्षन्ते त्रातारं नैरयिकाः कर्म्मपटलान्धाः ॥ ४ ॥ छिद्यन्ते कृपणाः कृतान्तपरशोस्तीक्ष्णेन धारासिना, क्रन्दन्तो विषवीचि(वच्छ्व)भिः परिवृताः संभक्षणव्यापृतैः । पाट्यन्ते

धुता० ६ उद्देशकः१

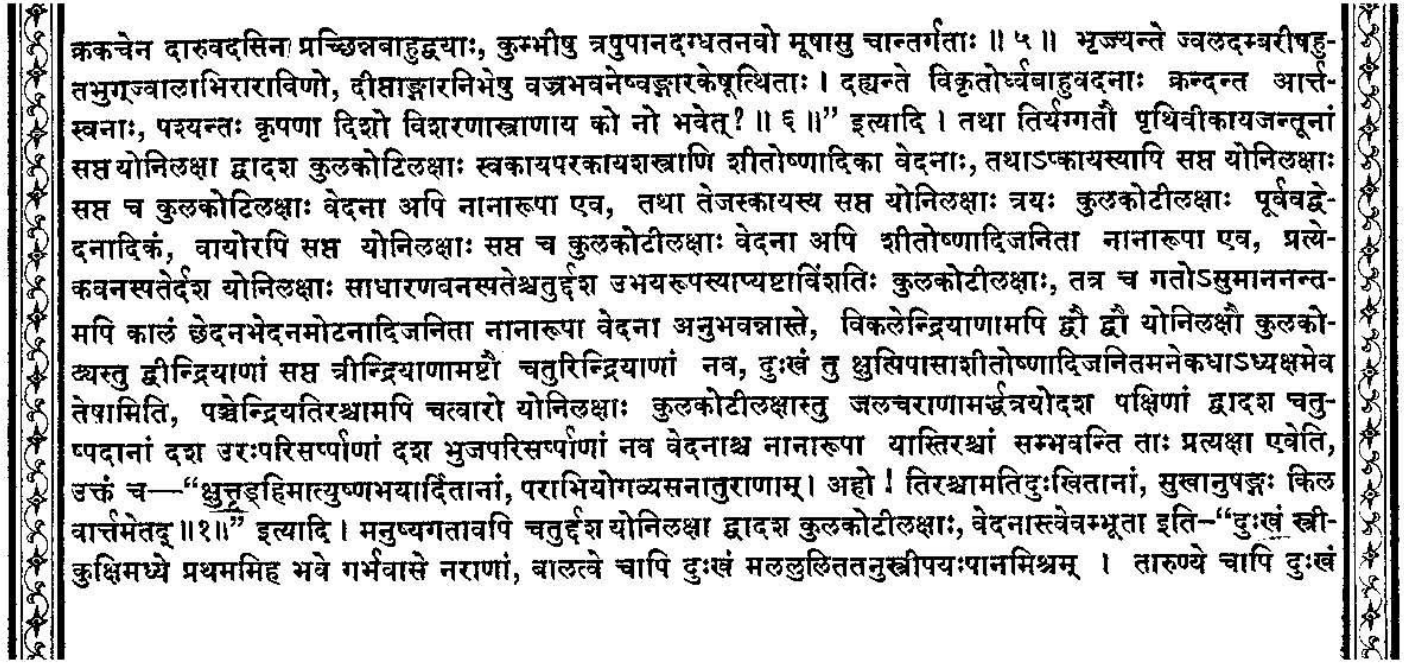
॥ २३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूल सम्पादकेन अत्र सूत्रक्रम- १७७ अलिखित, तन्मध्ये सूत्र-क्रम १७३ - १७६ न दृश्यते| (आद्य संपादक यहाँ सिर्फ सूत्र १७३ से १७६ का क्रम देना भूल गए है, मेटर के सम्पादनमे कोई भूल नहीं है)

प्रत सूत्रांक [१७७]

दीप अनुक्रम [१९०]



क्रकचेन दारुवदसिना प्रच्छिन्नबाहुद्वयाः, कुम्भीषु त्रपुपानदग्धतनवो मूषासु चान्तर्गताः ॥ ५ ॥ भृज्यन्ते ज्वलदम्बरीषहुतभुग्ज्वालाभिराराविणो, दीप्ताङ्गारनिभेषु वज्रभवनेष्वङ्गारकेषूत्थिताः । दह्यन्ते विकृतोर्ध्ववाहुवदनाः क्रन्दन्त आर्त्तस्वनाः, पश्यन्तः कृपणा दिशो विशरणास्त्राणाय को नो भवेत्? ॥ ६ ॥" इत्यादि । तथा तिर्यग्गतौ पृथिवीकायजन्तूनां सप्त योनिलक्षा द्वादश कुलकोटिलक्षाः स्वकायपरकायशस्त्राणि शीतोष्णादिका वेदनाः, तथाऽप्कायस्यापि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटिलक्षाः वेदना अपि नानारूपा एव, तथा तेजस्कायस्य सप्त योनिलक्षाः त्रयः कुलकोटीलक्षाः पूर्ववद्वेदनादिकं, वायोरपि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटीलक्षाः वेदना अपि शीतोष्णादिजनिता नानारूपा एव, प्रत्येकवनस्पतेर्दश योनिलक्षाः साधारणवनस्पतेश्चतुर्दश उभयरूपस्याप्यष्टाविंशतिः कुलकोटीलक्षाः, तत्र च गतोऽसुमाननन्तमपि कालं छेदनभेदनमोटनादिजनिता नानारूपा वेदना अनुभवन्नास्ते, विकलेन्द्रियाणामपि द्वौ द्वौ योनिलक्षौ कुलकोट्यस्तु द्वीन्द्रियाणां सप्त त्रीन्द्रियाणामष्टौ चतुरिन्द्रियाणां नव, दुःखं तु क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिजनितमनेकधाऽध्यक्षमेव तेषामिति, पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारो योनिलक्षाः कुलकोटीलक्षास्तु जलचराणामर्द्धत्रयोदश पक्षिणां द्वादश चतुष्पदानां दश उरःपरिसर्प्पाणां दश भुजपरिसर्प्पाणां नव वेदनाश्च नानारूपा यास्तिरश्चां सम्भवन्ति ताः प्रत्यक्षा एवेति, उक्तं च—"क्षुत्तृड्हिमात्युष्णभयार्दितानां, पराभियोगव्यसनातुराणाम्। अहो ! तिरश्चामतिदुःखितानां, सुखानुषङ्गः किल वार्त्तमेतद् ॥१॥" इत्यादि । मनुष्यगतावपि चतुर्दश योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्षाः, वेदनास्त्वेवम्भूता इति—"दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां, बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् । तारुण्ये चापि दुःखं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः, संसारे रे मनुष्या! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥ १ ॥ बाल्यात्प्रभृति च रोगैर्दष्टोऽभिभवश्च यावदिह मृत्युः । शोकवियोगायोगैर्दुर्गतदोषैश्च नैकविधैः ॥ २ ॥ क्षुत्तृड्हिमोष्णानिलशीतदाहदारिद्र्यशोकप्रियविप्रयोगैः । दौर्भाग्यमौर्ख्यानभिजात्यदास्यवैरूप्यरोगादिभिरस्वतन्त्रः ॥ ३ ॥" इत्यादि । देवगतावपि चत्वारो योनिलक्षाः षड्विंशतिः कुलकोटीलक्षाः तेषामपीर्ष्याविषादमत्सरच्यवनभयशल्यवितुद्यमानमनसां दुःखानुषङ्ग एव, सुखाभासाभिमानस्तु केवलमिति, उक्तं च—"देवेषु च्यवनवियोगदुःखितेषु, क्रोधेर्ष्यामदमदनातितापितेषु । आर्या! नस्तदिह विचार्य संगिरन्तु, यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ति ॥१॥" इत्यादि । तदेवं चतुर्गतिपतिताः संसारिणो नानारूपं कर्म्मविपाकमनुभवन्तीत्येतदेव सूत्रेण दर्शयितुमाह—'सन्ति' विद्यन्ते 'प्राणाः' प्राणिनः 'अन्धाः' चक्षुरिन्द्रियविकला भावान्धा अपि सद्विवेकविकलाः 'तमसि' अन्धकारे नरकगत्यादौ भावान्धकारेऽपि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायादिके कर्म्मविपाकापादिते व्यवस्थिता व्याख्याताः । किं च–तामेवावस्थां कुष्ठाद्यापादितामेकेन्द्रियापर्याप्तकादिकां वा सकृदनुभूय कर्म्मोदयात्तामेव असकृद्–अनेकशोऽतिगत्योच्चावचान्–तीव्रमन्दान् स्पर्शान्–दुःखविशेषान् 'प्रतिसंवेदयति' अनुभवति । एतच्च तीर्थकृद्भिरावेदितमित्याह—'बुद्धैः' तीर्थकृद्भिः 'एतद्' अनन्तरोक्तं प्रकर्षेणादौ वा वेदितं प्रवेदितम् । एतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह—'सन्ति' विद्यन्ते 'प्राणाः' प्राणिनो 'वासकाः' 'वासृ शब्दकुत्सायां' वासन्तीति वासकाः–भाषालब्धिसम्पन्ना द्वीन्द्रियादयः, तथा रसमनुगच्छन्तीति रसगाः–कटुतिक्तकषायादिरसवेदिनः संज्ञिन इत्यर्थः, इत्येवम्भूतः कर्म्मविपाकः संसारिणां सम्प्रेक्ष्य इति सम्बन्धः, तथा—'उदके' उदकरूपा एवैकेन्द्रिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जन्तवः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन व्यवस्थिताः, तथा उदके चरन्तीत्युदकचराः–पूतरकच्छेदनकलोडुणकत्रसा मत्स्यकच्छपादयः, तथा स्थलजा अपि केचन जलाश्रिता महोरगादयः पक्षिणश्च केचन तद्गतवृत्तयो द्रष्टव्याः, अपरे तु आकाशगामिनः पक्षिणः, इत्येवं सर्वेऽपि 'प्राणाः' प्राणिनोऽपरान् प्राणिनः आहाराद्यर्थं मत्सरादिना वा 'क्लेशयन्ति' उपतापयन्ति । यद्येवं ततः किमित्यत आह—'पश्य' अवधारय 'लोके' चतुर्दशरज्वात्मके, कर्म्मविपाकात्सकाशात् 'महद्भयं' नानागतिदुःखक्लेशविपाकात्मकमिति ॥ किमिति कर्म्मविपाकान्महद्भयमित्याह—

बहुदुक्खा हु जन्तवो, सत्ता कामेसु माणवा, अबलेण वहं गच्छन्ति सरीरेणं पभंगुरेण अट्टे से बहुदुक्खे इइ बाले पकुव्वइ एए रोगा बहू नच्चा आउरा परियावए नालं पास, अलं तवेएहिं, एयं पास मुणी! महब्भयं नाइवाइज्ज कंचणं (सू० १७८)

बहूनि दुःखानि कर्म्मविपाकापादितानि येषां जन्तूनां ते तथा, हुर्यस्मादेवं तस्मात्तत्राप्रमादवता भाव्यं । किमित्येवं भूयो भूयोऽपदिश्यत इत्यत आह–यस्मादनादिभवाभ्यासेनागणितोत्तरपरिणामाः 'सक्ताः' गृद्धाः 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मानवाः' पुरुषा इत्यतो न पुनरुक्तदोषानुषङ्गः । कामासक्ताश्च यदवाप्नुवन्ति तदाह–बलरहितेन निःसारेण तुषमुष्टिकल्पेनौदारिकेण शरीरेण 'प्रभङ्गुरेण' स्वत एव भङ्गशीलेन तत्सुखाधानाय कर्म्मोपचित्याऽनेकशो वधं गच्छन्ति, कः पुनरसौ विपाककटुकेषु कामेषु यो रतिं विदध्यादित्याह–मोहोदयादार्त्तः अगणितकार्याकार्यविवेकः सोऽसुमान्बहु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःखं प्राप्तव्यमनेनेति बहुदुःख इत्येनं कामानुषङ्गं प्राणिनां क्लेशं वा 'बालो' रागद्वेषाकुलितः प्रकर्षेण करोति प्रकरोति, तज्जनितकर्म्मविपाकाच्च अनेकशो वधं गच्छति, यदिवा रोगेषु सत्सु इत्येतद्वक्ष्यमाणं बालोऽज्ञः प्रकरोति तदाह– एतान्–गण्डकुष्ठराजयक्ष्मादीन् रोगान् बहुनूत्पन्नानिति ज्ञात्वा तद्रोगवेदनया आतुराः सन्तः चिकित्सायै प्राणिनः परितापयेयुः, 'लावकादिपिशिताशिनः किल क्षयव्याध्युपशमः स्यादि'त्यादिवाक्याकर्णनाज्जीविताशया गरीयस्यपि प्राण्युपमर्दे प्रवर्त्तेरन्, नैतदवधारयेयुः यथा–स्वकृतावन्ध्यकर्म्मविपाकोदयादेतत्, तदुपशमाच्चोपशमः, प्राण्युपमर्दचिकित्सया च किल्बिषानुषङ्ग एवेति, एतदेवाह–पश्यैतद्विमलविवेकावलोकनेन यथा 'नालं' न समर्थाः चिकित्साविधयः कर्म्मोदयोपशमं विधातुं, यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमिति दर्शयति—'अलं' पर्याप्तं 'तव' सदसद्विवेकिनः 'एभिः' पापोपादानभूतैश्चिकित्साविधिभिरिति । किं च—'एतत्' प्राण्युपमर्दादिकं 'पश्य' अवधारय हे 'मुने'! जगत्त्रयस्वभाववेदिन्, महद्–बृहद्भयहेतुत्वाद्भयं, यद्येवं ततः किं कुर्यादिति दर्शयति—'नातिपातयेत्' न हन्यात् कञ्चन प्राणिनं, यत एकस्मिन्नपि प्राणिनि–हन्यमानेऽष्टप्रकारमपि कर्म बध्यते,) तच्चानुत्तारसंसारगमनायेत्यतो महाभयमिति, यदिवा एए रोगे बहू णच्चेत्यादिको ग्रन्थः कामानधिकृत्य नेयः, एतान् रोगरूपान् कामान् बहून् ज्ञात्वा आसेवनाप्रज्ञयेति आतुराः–कामेच्छान्धा अपरान् प्राणिनः परितापयेयुः इत्यादिना प्रक्रमेणेति ॥ तदेवं रोगकामातुरतया सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तानामुपदेशदानपुरस्सरं महाभयं प्रदर्श्य तद्विपर्यस्तानां सत्स्वरूपां गुणवत्तां दिदर्शयिषुः प्रस्तावमारचयन्नाह—

आयाण भो सुस्सूस! भो धूयवायं पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया अभिनिव्वुडा अभिसंवुड्ढा अभिसंबुद्धा अभिनिक्कंता अणुपुव्वेण महामुणी (सू० १७९)

'भोः' इति शिष्यामन्त्रणं, यदहमुत्तरत्रावेदयिष्यामि भवतस्तद् 'आजानीहि'–अवधारय, 'शुश्रूषस्व' श्रवणेच्छां विधेहि 'भोः' इति पुनरप्यामन्त्रणमर्थगरीयस्त्वख्यापनाय, नात्र भवता प्रमादो विधेयो, धूतवादं कथयिष्याम्यहं, धूतम्–अष्टप्रकारकर्म्मधूननं ज्ञातिपरित्यागो वा तस्य वादो धूतवादः तं प्रवेदयिष्यामि, अवहितेन च भवता भाव्यमिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"धुतोवायं पवेयंति"अष्टप्रकारकर्म्मधूननोपायं निजधूननोपायं वा प्रवेदयन्ति तीर्थकरादयः । कोऽसावुपाय इत्यत आह—'इह' अस्मिन् संसारे 'खलुः' वाक्यालङ्कारे आत्मनो भाव आत्मता–जीवास्तिता स्वकृतकर्म्मपरिणतिर्वा तयाऽभिसम्भूताः–सञ्जाताः, न पुनः पृथिव्यादिभूतानां कायाकारपरिणामतया ईश्वरप्रजापतिनियोगेन वेति, तेषु तेषूच्चावचेषु कुलेषु यथास्वं कर्म्मोदयापादितेषु 'अभिषेकेण' शुक्रशोणितनिषेकादिक्रमेणेति, तत्रायं क्रमः—"सप्ताहं कललं विन्द्यात्ततः सप्ताहमर्बुदम् । अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशीतोऽपि घनं भवेत् ॥ १ ॥" इति, तत्र यावत्कललं तावदभिसम्भूताः, पेशीं यावदभिसञ्जाताः, ततः साङ्गोपाङ्गस्नायुशिरोरोमादिक्रमाभिनिवर्त्तनादभिनिर्वृत्ताः, ततः प्रसूताः सन्तोऽभिसंवृद्धाः, धर्म्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्त्तमाना धर्म्मकथादिकं निमित्तमासाद्योपलब्धपुण्यपापतयाऽभिसम्बुद्धाः, ततः सदसद्विवेकं जानानाः अभिनिष्क्रान्ताः, ततोऽधीताचारादिशास्त्रास्तदर्थभावनोपबृंहितचर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णपरिणामा अनुपूर्वेण शिक्षकगीतार्थक्षपकपरिहारविशुद्धिकैकाकिविहारिजिनकल्पिकावसाना मुनयोऽभूवन्निति ॥ अभिसम्बुद्धं च प्रविव्रजिषुमुपलभ्य यन्निजाः कुर्युस्तदर्शयितुमाह—

तं परिक्कमंतं परिदेवमाणा मा चयाहि इय ते वयंति–छंदोवणीया अज्झोववन्ना अक्कंदकारी जणगा रुयंति, अतारिसे मुणी (ण य) ओहं तरए जणगा जेण विप्पजढा, सरणं तत्थ नो समेइ, कहं नु नाम से तत्थ रमइ?, एयं नाणं सया समणुवासिज्जासि त्तिबेमि (सू० १८०) धूताध्ययनोद्देशकः ६–१ ॥

'तम्' अवगततत्त्वं गृहवासपराङ्मुखं महापुरुषसेवितं पन्थानं पराक्रममाणमुपलभ्य मातापितृपुत्रकलत्रादयः परिदेवमाना माऽस्मान् परित्यज 'इति' एतत् ते कृपामापादयन्तो वदन्ति, किं चापरं वदन्तीत्याह–छन्देनोपनीताः छन्दोपनीताः–तवाभिप्रायानुवर्त्तिनस्त्वयि चाभ्युपपन्नाः, तदेवम्भूतानस्मान्माऽवमंस्था इत्येवमाक्रन्दकारिणो 'जनका' मातापित्रादयो जना वा रुदन्ति । एवं च वदेयुरित्याह–न तादृशो मुनिर्भवति, न चौघं संसारं तरति, येन पाखण्डविप्रलब्धेन 'जनका' मातापित्रादयः 'अपोढाः' त्यक्ता इति । स चावगतसंसारस्वभावो यत्करोति तदाह–न ह्यसावनुरक्तमपि बन्धुवर्गं 'तत्र' तस्मिन्नवसरे शरणं समेति, न तदभ्युपगमं करोतीत्यर्थः । किमित्यसौ शरणं नैतीत्याह–कथं नु नामासौ 'तत्र' तस्मिन् गृहवासे सर्वनिकारास्पदे नरकप्रतिनिधौ शुभद्वारपरिघे रमते?, कथं गृहवासे द्वन्द्वै-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१८०]

दीप अनुक्रम [१९३]

कहेतौ विघटितमोहकपाटः सन् रतिं कुर्यादिति ?। उपसंहारमाह—'एतत्' पूर्वोक्तं ज्ञानं सदा आत्मनि 'सम्यगनुवासयेः' व्यवस्थापयेः, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । धूताध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके निजकविधूनना प्रतिपादिता, सा चैवं फलवति स्याद्यदि कर्म्मविधूननं स्याद्, अतः कर्म्मविधूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइ कुसीला (सू० १८१)

'लोकं' मातापितृपुत्रकलत्रादिकं तमातुरं स्नेहानुषङ्गतया वियोगात् कार्यावसादेन वा यदिवा जन्तुलोकं कामरागातुरम् 'आदाय' ज्ञानेन 'गृहीत्वा' परिच्छिद्य तथा त्यक्त्वा च 'पूर्वसंयोगं' मातापित्रादिसम्बन्धं, तथा 'हित्वा'गत्वोपशमं उषित्वापि ब्रह्मचर्ये, किम्भूतः सन्निति दर्शयति–वसु द्रव्यं तद्भूतः कषायकालिकादिमलापगमाद्वीतराग इत्यर्थः, तद्विपर्ययेणानुवसु सराग इत्यर्थः, यदिवा वसुः–साधुः अनुवसुः–श्रावकः, तदुक्तम्—"वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा । सरागो ह्यऽनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽपि वा ॥ १ ॥" तथा ज्ञात्वा 'धर्म्मं श्रुतचारित्राख्यं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठं-अध्ययने द्वितीय-उद्देशकः 'कर्मविधुनन' आरब्धः,

यथातथावस्थितं धर्मं प्रतिपद्याप्यथैके मोहोदयात्तथाविधभवितव्यतानियोगेन 'तं' धर्मं प्रति पालयितुं न शक्नुवन्ति, किंभूताः?–कुत्सितं शीलं येषां ते कुशीला इति, यत एव धर्मपालनाशक्ता अत एव कुशीलाः ॥ एवम्भूताश्च सन्तः किं कुर्युरित्याह—

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्ना चेए (सू० १८२)

केचिद्भवशतकोटिदुरापमवाप्य मानुषं जन्म समासाद्यालब्धपूर्वां संसारार्णवोत्तरणप्रत्यलां बोधिद्रोणीमङ्गीकृत्य मोक्षतरुबीजं सर्वविरतिलक्षणं चरणं पुनर्दुर्निवारतया मन्मथस्य परिप्लवतया मनसो लोलुपतयेन्द्रियग्रामस्यानेकभवाभ्यासापादितविषयमधुरतया प्रबलमोहनीयोदयादशुभवेदनीयोदयासन्नप्रादुर्भावादयशःकीर्त्युत्कटतया अवगणय्याऽऽयतिमविचार्य कार्याकार्यं उररीकृत्य महाव्यसनसागरं साम्प्रतेक्षितयाऽधःकृतकुलक्रमाचारास्तत्त्यजेयुः, तत्त्यागश्च धर्मोपकरणपरित्यागाद्भवतीत्यतस्तद्दर्शयति–वस्त्रमित्यनेन क्षौमिकः कल्पो गृहीतः, तथा 'पतद्ग्रहः' पात्रं 'कम्बलं' और्णिकं कल्पं पात्रनिर्योगं वा 'पादपुञ्छनकं' रजोहरणं एतानि निरपेक्षतया व्युत्सृज्य कश्चिद्देशविरतिमभ्युपगच्छति, कश्चिद्दर्शनमेवालम्बते, कश्चित्ततोऽपि भ्रश्यति । कथं पुनर्दुर्लभं चारित्रमवाप्य पुनस्तत्त्यजेदित्याह–परीषहान् दुरधिसहनीयान् 'अनुक-

॥ २४० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेण' परिपाट्या यौगपद्येन वोदीर्णाननधिसहमानाः–परीषहैर्भग्ना मोहपरवशतया पुरस्कृतदुर्गतयो मोक्षमार्गं परित्यजन्ति । भोगार्थं त्यक्तवतामपि पापोदयाद्यत्स्यात्तदाह—'कामान्' विरूपानपि 'ममायमाणस्स'त्ति स्वीकुर्वतो भोगाध्यवसायिनोऽन्तरायोदयात् 'इदानीं' तत्क्षणमेव प्रव्रज्यापरित्यागानन्तरमेव भोगप्राप्तिसमनन्तरमेव वा अन्तर्मुहूर्त्तेन वा कण्डरीकस्येवाहोरात्रेण वा ततोऽप्यूर्ध्वं शरीरभेदो भवत्यपरिमाणाय, एवम्भूत आत्मना सार्द्धं विवक्षितशरीरभेदो भवति येनानन्तेनापि कालेन पुनः पञ्चेन्द्रियत्वं न प्राप्नोति । एतदेवोपसञ्जिहीर्षुराह—'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण 'स' भोगाभिलाषी आन्तरायिकैः कामैः–बहुप्रत्यपायैः न केवलमकेवलं तत्र भवा आकेवलिकाः–सद्वन्द्वाः सप्रतिपक्षा इतियावत् असम्पूर्णा वा, तैः सन्निरवतीर्णाः संसारं तान् वा द्वितीयार्थे तृतीया, 'चः' समुच्चये, 'एत' इति भोगाभिलाषिणः, कामैरतृप्ता एव शरीरभेदमवाप्नुवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥ अपरे त्वासन्नतया मोक्षस्य कथञ्चित्कुतश्चित् कदाचिदवाप्य चरणपरिणामं प्रतिक्षणं लघुकर्म्मतया प्रवर्द्धमानाध्यवसायिनो भवन्तीति दर्शयितुमाह—

अहेगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सव्वं गिद्धिं परिन्नाय, एस पणए महामुणी, अइअच्च सव्वओ संगं न महं अत्थित्ति इय एगो अहं, अस्सिं जयमाणे इत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुंडे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए, से आकुट्ठे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्थ अ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुवा पकत्थ अतहेहिं सद्दफासेहिं इय संखाए एगयरे अन्नयरे अभिन्नाय तितिक्ख-माणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमाणा (सू० १८३)

'अथ' अनन्तरमेके विशुद्धपरिणामतया आसन्नापवर्गतया 'धर्म्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'आदाय' गृहीत्वा वस्त्रपतद्ग्रहादिधर्म्मोपकरणसमन्विता धर्म्मकरणेषु प्रणिहिताः परीषहसहिष्णवः सर्वज्ञोपदिष्टं धर्म्मं चरेयुरिति । अत्र च पूर्वाणि प्रमादसूत्राण्यप्रमादाभिप्रायेण पठितव्यानीति, उक्तं च—"यत्र प्रमादेन तिरोऽप्रमादः, स्याद्वाऽपि यत्नेन पुनः प्रमादः। विपर्ययेणापि पठन्ति तत्र, सूत्राण्यधीकारवशाद्विधिज्ञाः ॥ १ ॥" । किम्भूताः पुनर्धर्म्मं चरेयुरित्याह—कामेषु मातापित्रादिके वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमानाः—अनभिषक्ता धर्म्मचरणे 'दृढाः' तपःसंयमादौ दृढिमानमालम्बमाना धर्म्मं चरन्तीति, किं च—सर्वां 'गृद्धिं' भोगकाङ्क्षां दुःखरूपतया ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । तत्परित्यागे गुणमाह—'एष' इति कामपिपासापरित्यागी प्रकर्षेण नतः—प्रह्वः संयमे कर्म्मधुननायां वा महामुनिर्भवति नापर इति । किं च—'अतिगत्य' अत्येत्यातिक्रम्य 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः 'सङ्गं' सम्बन्धं पुत्रकलत्रादिजनितं कामानुषङ्गं वा, किं भावयेदित्याह—न मम किमप्यस्तीति यत्संसारे पतत आलम्बनाय स्यादिति, तदभावाच्च 'इति' उक्तक्रमेणैकोऽहमस्मिन्—संसारोदरे, न चाहमन्यस्य कस्यचिदिति । एतद्भावनाभावितश्च यत्कुर्यात्तदाह—'अत्र' अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने विरतः सन् सावद्यानुष्ठानादशविधचक्रवालसामाचार्यां यतमानः, कोऽसौ?—'अनगारः' प्रव्रजितः, एक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्वभावना भावयन्नवमौदर्ये संतिष्ठत इत्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः, इयमेव क्रिया अनन्तरसूत्रेष्वपि लगयितव्येति, किं च—'सर्वतः' द्रव्यतो भावतश्च मुण्डो 'रीयमाणः' संयमानुष्ठाने गच्छन्, किम्भूत इत्याह—यः 'अचेलः' अल्पचेलो जिनकल्पिको वा 'पर्युषितः' संयमे उद्युक्तविहारी अन्तप्रान्तभोजी, तदपि न प्रकामतयेत्याह—'संचिक्खइ' संतिष्ठते अवमौदर्ये। न्यूनोदरतायां वर्त्तमानः सन् कदाचित्प्रत्यनीकतया ग्रामकण्टकैस्तुद्येतेत्येतद्दर्शयितुमाह—'स' मुनिर्वाग्भिराक्रुष्टो वा दण्डादिभिर्हतो वा लुञ्चितो वा केशोत्पाटनतः पूर्वकृतकर्म्मपरिणत्युदयादेतदवगच्छन् सम्यक्तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति, एतच्च भावयेत्, तद्यथा—"[१]पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विंदुच्चिन्नाणं दुप्पडिक्कंताणं वेदयित्ता मुक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता" इत्यादि। कथं पुनर्वाग्भिराक्रुश्यत इत्याह—'पलिअं'ति कर्म्म जुगुप्सितमनुष्ठानं तेन पूर्वाचरितेन कुविन्दादिना प्रकथ्य जुगुप्स्यते, तद्यथा—भो कोलिक! प्रव्रजित! त्वमपि मया सार्द्धमेवं जल्पसीति, अथवा जकारचकारादिभिरपरैः प्रकारैः प्रकथ्य निन्दां विधत्ते, एभिर्वा वक्ष्यमाणैः प्रकारैरित्याह—'अतथ्यैः' वितथैरसद्भूतैः शब्दैश्चौरस्त्वं पारदारिक इत्येवमादिकैः स्पर्शैश्च असद्भूतैः साधोः कर्त्तुमयुक्तैः करचरणच्छेदादिभिः स्वकृताद्दष्टफलमित्येतत् 'सङ्ख्याय' ज्ञात्वा तितिक्षमाणः प्रव्रजेदिति, यदिवा एतत् सङ्ख्याय, तद्यथा—"[२]पंचहिं ठाणेहिं छउ-

१ पापानां च खलु भोः कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्राक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षः, नास्त्यवेदयित्वा, तपसा वा क्षपयित्वा. २ पञ्चभिः स्थानैश्छद्मस्थ उत्पन्नानुपसर्गान् सहते क्षमते तितिक्षते अध्यासयति, तद्यथा–यक्षाविष्टोऽयं पुरुषः, उन्मादप्राप्तोऽयं पुरुषः, दृप्तचित्तोऽयं पुरुषः मम च तद्भववेदनीयानि कर्माण्युदीर्णानि भवन्ति यदेष पुरुष आक्रोशति बध्नाति तेपते पिट्टयति परितापयति, मम च सम्यक् सहमानस्य यावदध्यासीनस्यैकान्ततः कर्मनिर्जरा भवति। पञ्चभिः स्थानैः केवली उदीर्णान् परीषहानुपसर्गान् यावदध्यासयेत् यावत् ममाध्यासयतः बहवश्छद्मस्थाः श्रमणा निर्ग्रन्था उदीर्णान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहिष्यन्ते यावद् अध्यासिष्यन्ते.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मत्थे उप्पन्ने उवसग्गे सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ, तंजहा–जक्खाइट्ठे अयं पुरिसे १, उम्मायपत्ते अयं पुरिसे २, दित्तचित्ते अयं पुरिसे ३, ममं च णं तब्भववेअणीयाणि कम्माणि उदिन्नाणि भवंति–जन्नं एस पुरिसे आउसइ बंधइ तिप्पइ पिट्टइ परितावेइ ४, ममं च णं सम्म सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स एगंतसो कम्मणिज्जरा हवइ ५। पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहे उवसग्गे जाव अहियासेज्जा, जाव ममं च णं अहियासेमाणस्स बहवे छउमत्था समणा निग्गंथा उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहिस्संति जाव अहियासिस्संति" इत्यादि, परीषहाश्चानुकूलप्रतिकूलतया भिन्ना इत्येतद्दर्शयितुमाह –एकतरान्–अनुकूलान् अन्यतरान्–प्रतिकूलान् परीषहानुदीर्णानभिज्ञाय सम्यक्तितिक्षमाणः परिव्रजेत् यदिवाऽन्यथा परीषहाणां द्वैविध्यमित्याह–ये च परीषहाः सत्कारपुरस्कारादयः साधोर्हारिणो–मनआह्लादकारिणो ये तु प्रतिकूलतया अहारिणो–मनसोऽनिष्टा, यदिवा ह्रीरूपाः–याचनाऽचेलादयः, अह्रीमनसश्च–अलज्जाकारिणः शीतोष्णादयः इत्येतान् द्विरूपानपि परीषहान् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति ॥ किं च—

चिच्चा सव्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिन्नाय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति, ते फासे पुट्ठो धीरे अहियासिज्जासि त्तिबेमि (सू० १८४) ॥ धूताध्ययने द्वितीयोद्देशकः ॥ ६–२ ॥

त्यक्त्वा सर्व्वां परीषहकृतां विस्रोतसिकां परीषहापादितान् स्पर्शान्–दुःखानुभवान् 'स्पृशेत्' अनुभवेत् सम्यगधिसहेत, स किम्भूतः ?–सम्यग् इतं–गतं दर्शनं यस्य स समितदर्शनः, सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः । तत्सहिष्णवश्च किम्भूताः स्युरित्याह—'भोः' इत्यामन्त्रणे 'एते' परीषहसहिष्णवो निष्किञ्चना निर्ग्रन्था भावनग्ना 'उक्ताः' अभिहिताः, यस्मिन्मनुष्यलोके अनागमनं धर्म्मो येषां तेऽनागमनधर्म्माणः, यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वान्न पुनर्गृहं प्रत्यागमनेप्सव इति, किं च–आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञा तया मामकं धर्म्मं सम्यगनुपालयेत् तीर्थकर एवमाहेति, यदिवा धर्म्मानुष्ठाय्येवमाह–धर्म्म एवैको मामकः अन्यत्तु सर्वं पारक्यमित्यतस्तमहमाज्ञया–तीर्थकरोपदेशेन सम्यक्करोमीति, किमित्याज्ञया धर्म्मोऽनुपाल्यत इत्यत आह—'एषः' अनन्तरोक्तः 'उत्तरवाद' उत्कृष्टवाद इह मानवानां व्याख्यात इति । किं च —'अत्र' अस्मिन् कर्म्मधुननोपाये संयमे उप–सामीप्येन रत उपरतः तद्–अष्टप्रकारं कर्म्म 'झोषयन्' क्षपयन् धर्म्मं चरेदिति, किं चापरं कुर्यादित्याह–आदीयत इत्यादानीयं–कर्म्म तत्परिज्ञाय मूलोत्तरप्रकृतिभेदतो ज्ञात्वा 'पर्यायेण' श्रामण्येन विवेचयति, क्षपयतीत्यर्थः । अत्र चाशेषकर्म्मधुननासमर्थं तपस्तद्वाह्यमधिकृत्योच्यते—'इह' अस्मिन् प्रवचने 'एकेषां' शिथिलकर्म्मणामेकचर्या भवति–एकाकिविहारप्रतिमाऽभ्युपगमो भवति, तत्र च नानारूपाभिग्रहविशे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१८४]

दीप अनुक्रम [१९७]

पास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यतस्तावत्प्राभृतिकामधिकृत्याह—'तत्र' तस्मिन्नेकाकिविहारे 'इतरे' सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा 'इतरेषु' अन्तप्रान्तेषु कुलेषु शुद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाहारादिना 'सर्वैषणये'ति सर्वा याऽऽहाराद्युद्गमोत्पादनग्रासैषणारूपा तया सुपरिशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति, बहुत्वेऽप्येकदेशतामाह—स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः संयमे परिव्रजेदिति, किं च–स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यात् अथवा दुर्गन्धः, न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात्, किं च–अथवा तत्रैकाकिविहारित्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो 'भैरवा' भयानका यातुधानादिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयुः, यदिवा 'भैरवा' बीभत्साः 'प्राणाः' प्राणिनो दीप्तजिह्वादयोऽपरान् प्राणिनः 'क्लेशयन्ति' उपतापयन्ति, त्वं तु पुनस्तैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् 'धीरः' अक्षोभ्यः सन्नतिसहस्व । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । धूताध्ययने द्वितीयोद्देशकः परिसमाप्तः ॥

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके कर्मधूननाऽभिहिता, सा च नोपकरणशरीरविधूननामन्तरेण, इत्यतस्तद्विधूननार्थमिदमारभ्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्—

एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ–परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि सुत्तं

॥ २४३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठं-अध्ययने तृतीय-उद्देशक: 'उपकरण-शरीर विधुनन' आरब्ध:,

जाइस्सामि सूइं जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वुक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए संमत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं (सू० १८५)

'एतत्' यत्पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा 'खुः' वाक्यालङ्कारे, आदीयते इत्यादानं–कर्म्म आदीयते वाऽनेन कर्म्मेत्यादानं-कर्म्मोपादानं, तच्च धर्म्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिः निर्झोषयितेति सम्बन्धः, किम्भूतः ?—'सदा' सर्वकालं सुष्ठ्वाख्यातो धर्म्मोऽस्येति स्वाख्यातधर्म्मा–संसारभीरुत्वाद्यथारोपितभारवाहीत्यर्थः, तथा विधूतः–क्षुण्णः सम्यग्स्पृष्टः कल्पः–आचारो येन स तथा, स एवम्भूतो मुनिरादानं झोषयित्वा आदानमपनेष्यति, कथं पुनस्तदादानं वस्त्रादि स्याद्येन तत् झोषयितव्यं भवेदित्याह–अल्पार्थे नञ्, यथाऽयं पुमानज्ञः, स्वल्पज्ञान इत्यर्थः, यः साधुर्नास्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चेलं–वस्त्रमस्तीत्यचेलः, अल्पचेल इत्यर्थः, संयमे 'पर्युषितो' व्यवस्थित इति, तस्य भिक्षोः 'नैतद्भवति' नैतत्कल्पते यथा परिजीर्णं मे वस्त्रमचेलकोऽहं भविष्यामि न मे त्वक्त्राणं भविष्यति, ततश्च शीताद्यर्दितस्य किं शरणं मे स्यादिति वस्त्रं विनेत्यतोऽहं कञ्चन श्रावकादिकं प्रत्यग्रं वस्त्रं याचिष्ये, तस्य वा जीर्णस्य वस्त्रस्य सन्धानाय सूत्रं याचिष्ये, सूचिं च याचिष्ये, अवाप्ताभ्यां च सूचिसूत्राभ्यां जीर्णवस्त्ररन्ध्रं सन्धास्यामि–पाटितं सेविष्यामि, लघु वा सदपरशकललगनत उत्कर्षयिष्यामि, दीर्घं वा सत् खण्डापनयनतो व्युत्कर्षयिष्यामि, एवं च कृतं सत्परिधास्यामि तथा प्रावरिष्यामीत्याद्यार्त्तध्यानोपहता असत्यपि जीर्णादिवस्त्रसद्भावे यद्भविष्यत्ताऽध्यवसायिनो धर्म्मैकप्रवणस्य न भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति, यदिवा जिनकल्पिकाभिप्रायेणैवैतत्सूत्रं व्याख्येयं, तद्यथा—'जे अचेले' इत्यादि, नास्य चेलं–वस्त्रमस्तीत्यचेलः–अच्छिद्रपाणित्वात् पाणिपात्रः, पाणिपात्रत्वात् पात्रादिसप्तविधतन्निर्योगरहितोऽभिग्रहविशेषात् त्यक्तकल्पत्रयः केवलं रजोहरणमुखवस्त्रिकासमन्वितस्तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैतद्भवति, यथा–परिजीर्णं मे वस्त्रं छिद्रं पाटितं चेत्येवमादि वस्त्रगतमपध्यानं न भवति, धर्म्मिणोऽभावाद्धर्म्माभावः, सति तु धर्म्मिणि धर्म्मान्वेषणं न्याय्यमिति सत्पथः, तथेदमपि तस्य न भवत्येव यथा–अपरं वस्त्रमहं याचिष्ये इत्यादि पूर्ववन्नेयं, योऽपि छिद्रपाणित्वात् पात्रनिर्योगसमन्वितः कल्पत्रयान्यतरयुक्तोऽसावपि परिजीर्णादिसद्भावे तद्गतमपध्यानं न विधत्ते, यथाकृतस्याल्पपरिकर्म्मणो ग्रहणात्सूचिसूत्रान्वेषणं न करोति। तस्य चाचेलस्याल्पचेलस्य वा तृणादिस्पर्शसद्भावे यद्विधेयं तदाह–तस्य ह्यचेलतया परिवसतो जीर्णवस्त्रादिकृतमपध्यानं न भवति, अथवैतत्स्यात्–तत्राचेलत्वे पराक्रममाणं पुनस्तं साधुमचेलं क्वचिद्ग्रामादौ त्वक्त्राणाभावात् तृण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शय्याशायिनं तृणानां स्पर्शाः परुषास्तृणैर्वा जनिताः स्पर्शाः–दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित् स्पृशन्ति, तांश्च सम्यग् अदीनमनस्कोऽतिसहत इति सम्बन्धः, तथा शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति–उपतापयन्ति, तेजः–उष्णस्तत्स्पर्शाः स्पृशन्ति, तथा दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति, एतेषां तु परीषहाणामेकतरेऽविरुद्धा दंशमशकतृणस्पर्शादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णादिपरीषहाणां वा परस्परविरुद्धानामन्यतरे प्रादुष्ष्युः, प्रत्येकं बहुवचननिर्देशश्च तीव्रमन्दमध्यमावस्थासंसूचकः, इत्येतदेव दर्शयति–विरूपं–बीभत्सं मनोऽनाह्लादि विविधं वा मन्दादिभेदाद्रूपं–स्वरूपं येषां ते विरूपरूपाः, के ते?—'स्पर्शाः' दुःखविशेषाः, तदापादकास्तृणादिस्पर्शा वा, तान् सम्यक्करणेनापध्यानरहितोऽधिसहते, कोऽसौ?—'अचेलः' अपगतचेलोऽल्पचेलो वा अचलनस्वरूपो वा सम्यक्तितिक्षते, किमभिसन्ध्य परीषहानधिसहत इत्यत आह–लघोर्भावो लाघवं, द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो ह्युपकरणलाघवं भावतः कर्म्मलाघवं 'आगमयन्' अवगमयन् बुध्यमान इतियावद् अधिसहते परीषहोपसर्गानिति, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"एवं खलु से उवगरणलाघवियं तवं कम्मक्खयकारणं करेइ" 'एवम्' उक्तक्रमेण भावलाघवार्थमुपकरणलाघवं तपश्च करोति इति भावार्थः । किं च—'से' तस्योपकरणलाघवेन कर्म्मलाघवमागमयतः कर्म्मलाघवेन चोपकरणलाघवमागमयतस्तृणादिस्पर्शानधिसहमानस्य 'तपः' कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिसमन्वागतं भवति–सम्यग् आभिमुख्येन सोढं भवति । एतच्च न मयोच्यते इत्येतदर्शयितुमाह—'यथा' येन प्रकारेण 'इद'मिति यदुक्तं वक्ष्यमाणं चैतद्भगवता–वीरवर्द्धमानस्वामिना प्रकर्षेणादौ वा वेदितं प्रवेदितमिति, यदि नाम भगवता प्रवेदितं ततः किमित्याह–तद्–उपकरणलाघवमाहारलाघवं वा 'अभिसमेत्य' ज्ञात्वा एवकारोऽवधारणे, तदेव लाघवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञात्वेत्यर्थः, कथमिति चेत् तदुच्यते–'सर्वत' इति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः आहारोपकरणादौ क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ कालतोऽहनि रात्रौ वा दुर्भिक्षादौ वा सर्वात्मनेति भावतः कृत्रिमकल्काद्यभावेन, तथा 'सम्यक्त्व'-मिति प्रशस्तं शोभनं एकं सङ्गतं वा तत्त्वं सम्यक्त्वं, यदुक्तम्—"प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः सङ्गत एव च । इत्येतैरुप-सृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते ॥ १ ॥" तदेवम्भूतं सम्यक्त्वमेव समत्वमेव वा 'समभिजानीयात्' सम्यगाभिमुख्येन जानीयात्–परिच्छिन्द्यात्, तथाहि–अचेलोऽप्येकचेलादिकं नावमन्यते, यत उक्तम्—"जोऽवि दुवत्थतिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ । ण हु ते हीलंति परं सव्वेऽवि य ते जिणाणाए ॥ १ ॥" तथा—"जे खलु विसरिसकप्पा संघयण-धियादिकारणं पप्प । णऽवमन्नइ ण य हीणं अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥ २ ॥ सव्वेऽवि जिणाणाए जहाविहिं कम्मखवणअ-ट्ठाए । विहरंति उज्जया खलु सम्मं अभिजाणई एवं ॥ ३ ॥" ति, यदिवा तदेव लाघवमभिसमेत्य सर्वतो द्रव्यादिना सर्वात्मना नामादिना सम्यक्त्वमेव सम्यगभिजानीयात्, तीर्थकरगणधरोपदेशात् सम्यक्कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाशक्यानुष्ठानं ज्वरहरतक्षकचूडालङ्काररत्नोपदेशवद्भवतः केवलमुपन्यस्यते, अपि त्वन्यैर्बहुभिश्चिरकालमासेवितमित्येत-दर्शयितुमाह—'एवम्' इत्यचेलतया पर्युषितानां तृणादिस्पर्शानधिसहमानानां तेषां महावीराणां सकललोकचमत्कृति-कारिणां 'चिररात्रं' प्रभूतकालं यावज्जीवमित्यर्थः, तदेव विशेषतो दर्शयति–'पूर्वाणि' प्रभूतानि वर्षाणि 'रीयमाणानां'

१ योऽपि द्विवस्त्रस्त्रिवस्त्र एकेन अचेलको वा निर्वहति । नैव हीलयति परं सर्वेऽपि च ते जिनाज्ञायाम् ॥ १ ॥ ये खलु विसदृशकल्पाः संहननधृत्यादिकारणं प्राप्य । नावमन्यते न च हीनमात्मानं मन्यते तेभ्यः ॥ २ ॥ सर्वेऽपि जिनाज्ञायां यथाविधि कर्मक्षपणार्थे । विहरन्त्युद्यताः खलु सम्यगभिजानात्येवम् ॥ ३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संयमानुष्ठानेन गच्छतां, पूर्वस्य तु परिमाणं वर्षाणां सप्ततिः कोटिलक्षाः षट्पञ्चाशच्च कोटिसहस्राः, तथा प्रभूतानि वर्षाणि रीयमाणानां, तत्र नाभेयादारभ्य शीतलं दशमतीर्थकरं यावत्पूर्वसङ्ख्यासद्भावात् पूर्वाणीत्युक्तं, ततः आरतः श्रेयांसादारभ्य वर्षसङ्ख्याप्रवृत्तेर्वर्षाणीत्युक्तमिति, तथा 'द्रव्याणां' भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानां 'पश्य' अवधारय यत्तृणस्पर्शादिकं पूर्वमभिहितं तदधिसोढव्यमिति सम्यक्करणेन स्पर्शातिसहनं कृतमेतदवगच्छेति ॥ एतच्चाधिसहमानानां यत्स्यात्तदाह—

आगयपन्नाणाणं किसा बाहवो भवंति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिन्नाय,
एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्तिबेमि (सू० १८६)

आगतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं येषां ते तथा तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परीषहातिसहनेन च कृशा 'बाहवः' भुजा भवन्ति, यदिवा सत्यपि महोपसर्गपरीषहादावागतप्रज्ञानत्वाद् 'बाधाः' पीडाः कृशा भवन्ति, कर्म्मक्षपणायोत्थितस्य शरीरमात्रपीडाकारिणः परीषहोपसर्गान् सहायानिति मन्यमानस्य न मनःपीडोत्पद्यत इति, तदुक्तम्—"णिम्मंसो णेइ परो छिय अप्पाण उ ण वेयणं सरीराणं। अप्पाणो छिअ हिअयस्स ण उण दुक्खं परो देइ ॥ १ ॥" इत्यादि, शरीरस्य तु पीडा भवत्येवेति दर्शयितुमाह–प्रतनुके च मांसं च शोणितं च मांसशोणिते द्वे अपि, तस्य हि रूक्षाहार-

१ विदधाति परो नैवात्मनो वेदनां शरीराणाम्। आत्मन एव हृदयस्य न पुनर्दुःखं परो ददाति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्वादल्पाहारत्वाच्च प्रायशः खलत्वेनैवाहारः परिणमति, न रसत्वेन, कारणाभावाच्च प्रतन्वेव शोणितं तत्तनुत्वान्मांसमपीति ततो मेदादीन्यपि, यदिवा प्रायशो रूक्षं वातलं भवति, वातप्रधानस्य च प्रतनुतैव मांसशोणितयोः, अचेलतया च तृणस्पर्शादिप्रादुर्भावेन शरीरोपतापात् प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति सम्बन्धः, 'संसारश्रेणी' संसारावतरणी रागद्वेषकषायसंततिस्तां क्षान्त्यादिना विश्रेणीं कृत्वा, तथा 'परिज्ञाय' ज्ञात्वा च समत्वभावनया, तद्यथा–जिनकल्पिकः कश्चिदेककल्पधारी द्वौ त्रीन् वा बिभर्त्ति, स्थविरकल्पिको वा मासार्द्धमासक्षपकः तथा विकृष्टाविकृष्टतपश्चारी प्रत्यहं भोजी कूरगडुको वा, एते सर्वेऽपि तीर्थकृद्वचनानुसारतः परस्परानिन्दया समत्वदर्शिन इति, उक्तं च—"जोवि दुवत्थतिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ । न हु ते हीलेंति परं सव्वेवि हु ते जिणाणाए ॥ १ ॥" तथा जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नो वा कश्चित्कदाचित् षडपि मासानात्मकल्पेन भिक्षां न लभेत तथाऽप्यसौ कूरगडुकमपि यथौदनमुण्डस्त्वमित्येवं न हीलयति । तदेवं समत्वदृष्टिप्रज्ञया विश्रेणीकृत्य 'एष' उक्तलक्षणो मुनिः तीर्णः संसारसागरं एष एव मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो विरतः सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो व्याख्यातो नापर इति । ब्रवीमीतिशब्दौ पूर्ववत् ॥ तदेवं संसारश्रेणीं विश्लेषयित्वा यः संसारसागरतीर्णवत्तीर्णो मुक्तवन्मुक्तो विरतो व्याख्यातः, तं च तथाभूतं किमरतिरभिभवेदुत नेति, अचिन्त्यसामर्थ्यात् कर्म्मणोऽभिभवेदित्येतदेवाह—

विरयं भिक्खुं रीयंतं चिररातोसियं अरई तत्थ किं विधारए?, संधेमाणे समुट्ठिए,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा जइया मेहाविणो पंडिया, एवं तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइय त्तिबेमि (सू० १८७) धूताध्ययने तृतीयोद्देशकः ॥ ६–३ ॥

विरतमसंयमाद् भिक्षणशीलं भिक्षुं 'रीयमाणं' निस्सरन्तमप्रशस्तेभ्योऽसंयमस्थानेभ्यः प्रशस्तेष्वपि गुणोत्कर्षादुपर्युपरि वर्त्तमानं चिररात्रं–प्रभूतं कालं संयमे उषितश्चिररात्रोषितस्तमेवंगुणयुक्तम् 'अरतिः' संयमोद्विग्नता 'तत्र' तस्मिन् संयमे प्रवर्त्तमानं 'किं विधारयेत्' किं प्रतिस्खलयेत् ?, किंशब्दः प्रश्ने, किं तथाभूतमपि मोक्षप्रस्थितं प्रणाय्य विषयमरतिर्विधारयेत्, ओमित्युच्यते, तथाहि–दुर्बलान्यविनयवन्ति चेन्द्रियाण्यचिन्त्या मोहशक्तिर्विचित्रा कर्म्मपरिणतिः किं न कुर्यादिति, उक्तं च—"कम्माणि णूणं घणचिक्कणाइं गरुयाइं वइरसाराइं । णाणट्ठिअंपि पुरिसं पंथाओ उप्पहं णिंति ॥१॥" यदिवा किं क्षेपे, किं तथाभूतं विधारयेदरतिः ?, नैव विधारयेदित्यर्थः, तथाहि–असौ क्षणे क्षणे विशुद्धतरचरणपरिणामतया विष्कम्भितमोहनीयोदयत्वाल्लघुकर्म्मा भवतीति, कुतस्तमरतिर्वि(नै वि)धारयेदित्याह–क्षणे क्षणेऽन्यवच्छेदेनोत्तरोत्तरं संयमस्थानकण्डकं संदधानः सम्यगुत्थितः समुत्थितः उत्तरोत्तरं गुणस्थानकं वा संदधानो यथाख्यातचा-

१ कर्माणि नूनं घनकठोराणि गुरुकानि वज्रसाराणि । ज्ञानस्थितमपि पुरुषं पथ उत्पथं नयन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रित्राभिमुखः समुत्थितोऽसावतस्तमरतिः कथं विधारयेदिति?। स चैवम्भूतो न केवलमात्मनस्त्राता परेषामप्यरतिविधारकत्वात् त्राणायेत्येतदर्शयितुमाह–द्विर्गता आपोऽस्मिन्निति द्वीपः, स च द्रव्यभावभेदात् द्वेधा–तत्र द्रव्यद्वीप आश्वासद्वीपः, आश्वास्यतेऽस्मिन्नित्याश्वासः आश्वासश्चासौ द्वीपश्चाश्वासद्वीपो, यदिवा आश्वसनमाश्वासः, आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपः, तत्र नदीसमुद्रबहुमध्यप्रदेशे भिन्नबोहित्थादयस्तमवाप्याश्वसन्ति, असावपि द्वेधा–सन्दीनोऽसन्दीनश्चेति, यो हि पक्षमासादावुदकेन प्लाव्यते स सन्दीनो, विपरीतस्त्वसन्दीनः सिंहलद्वीपादिः, यथा हि सांयात्रिकास्तं द्वीपमसन्दीनमुदन्वदादेरुत्तितीर्षवः समवाप्याश्वसन्ति एवं तं भावसंधानायोत्थितं साधुमवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वस्युः, यदिवा दीप इति प्रकाशदीपः, प्रकाशाय दीपः प्रकाशदीपः, स चादित्यचन्द्रमण्यादिरसन्दीनोऽपरस्तु विद्युदुल्कादिः सन्दीनो, यदिवा प्रचुरेन्धनतया विवक्षितकालावस्थाय्यसन्दीनो विपरीतस्तु सन्दीन इति, यथा ह्यसौ स्थपुटाद्यावेदनतो हेयोपादेयहानोपादानवतां निमित्तभावमुपयाति तथा क्वचित्समुद्राद्यन्तर्वर्त्तिनामाश्वासकारी च भवति एवं ज्ञानसंधानायोत्थितः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यतयाऽसन्दीनः साधुर्विशिष्टोपदेशदानतोऽपरेषामुपकारायेति, अपरे भावद्वीपं भावदीपं वा अन्यथा व्याचक्षते–तद्यथा–भावद्वीपः सम्यक्त्वं, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं क्षायोपशमिकं च संदीनो भावद्वीपः, क्षायिकं त्वसन्दीन इति, तं द्विविधमवाप्य परीतसंसारत्वात् प्राणिन आश्वसन्ति, भावदीपस्तु सन्दीनः श्रुतज्ञानम् असंदीनस्तु केवलमिति, तच्चावाप्य प्राणिनोऽवश्यमाश्वसन्त्येवेति, अथवा धर्म्मं संदधानः समुत्थितः सन्नरतेर्दुष्प्रधृष्यो भवतीत्युक्ते कश्चिच्चोदयेत्–किम्भूतोऽसौ धर्म्मो? यत्सन्धानाय समुत्थित इति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१८७]

दीप अनुक्रम [२००]

अत्रोच्यते, यथाऽसौ द्वीपोऽसन्दीनः–असलिलप्लुतोऽवरुग्णवाहनानामितरेषां च बहूनां जन्तूनां शरण्यतयाऽऽश्वासहेतुर्भवत्येवमसावपि धर्म्मः 'आर्यप्रदेशितः' तीर्थकरप्रणीतः कषतापच्छेदनिर्घट्टितोऽसन्दीनः, यदिवा कुतर्काप्रधृष्यताऽसन्दीनः–अक्षोभ्यः प्राणिनां त्राणायाश्वासभूमिर्भवति। तस्य चार्यदेशितस्य धर्म्मस्य किं सम्यगनुष्ठायिनः केचन सन्ति?, ओमित्युच्यते, यदि सन्ति किम्भूतास्त इत्यत आह—'ते' साधवो भावसन्धानोद्यताः संयमारतेः प्रणोदका मोक्षनेदिष्ठा भोगाननवकाङ्क्षन्तो धर्म्मे सम्यगुत्थानवन्तः स्युरिति, एतदुत्तरत्रापि योज्यम्, तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्तः, उपलक्षणार्थत्वात् शेषमहाव्रतग्रहणमायोज्यं, तथा कुशलानुष्ठानप्रवृत्तत्वाद्दयिताः सर्वलोकानां, तथा 'मेधाविनो' मर्यादाव्यवस्थिताः 'पण्डिताः' पापोपादानपरिहारितया सम्यक्पदार्थज्ञा धर्म्मचरणाय समुत्थिता भवन्तीति। ये पुनस्तथाभूतज्ञानाभावात् सम्यग्विवेकविकलतया नाद्यापि पूर्वोक्तसमुत्थानवन्तः स्युः ते तथाभूता आचार्यादिभिः सम्यगनुपाल्या यावद्विवेकिनोऽभूवन्नित्येतद्दर्शयितुमाह—'एवम्' उक्तविधिना 'तेषाम्' अपरिकर्मितमतीनां 'भगवतो' वीरवर्द्धमानस्वामिनो धर्म्मे सम्यगनुत्थाने सति तत्परिपालनतस्तथा सदुपदेशदानेन परिकर्मितमतित्वं विधेयमिति, अत्रैव दृष्टान्तमाह–द्विजः–पक्षी तस्य पोतः–शिशुः द्विजपोतः स यथा तेन द्विजेन गर्भप्रसवात् प्रभृत्यण्डकोच्छूनोच्छूनतरभेदादिकास्ववस्थासु यावन्निष्पन्नपक्षस्तावत्पाल्यते एवमाचार्येणापि शिक्षकः प्रव्रज्यादानादारभ्य सामाचार्युपदेशदानेनाध्यापनेन च तावदनुपाल्यते यावद्गीतार्थोऽभूत्, यः पुनराचार्योपदेशमुल्लङ्घ्य स्वैरित्वाद्यथा कथञ्चित्क्रियासु प्रवर्त्तते स उज्जयिनीराजपुत्रवद्विनश्येदिति, तद्यथा–उज्जयिन्यां जितशत्रो राज्ञो द्वौ पुत्रौ, तत्र ज्येष्ठो धर्म्मघो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षाचार्यसमीपे संसारासारतामवगम्य प्रव्रव्राज, क्रमेण चाधीताचारादिशास्त्रोऽवगततदर्थश्च जिनकल्पं प्रतिपित्सुः द्वितीयां सत्त्वभावनां भावयति, सा च पञ्चधा–तत्र प्रथमोपाश्रये द्वितीया तद्बहिः तृतीया चतुष्के चतुर्थी शून्यगृहे पञ्चमी श्मशाने, तत्र पञ्चमीं भावनां भावयतः स कनिष्ठो भ्राता तदनुरागादाचार्यान्तिकमागत्योवाच–मम ज्यायान् भ्राता क्वास्ते ?, साधुभिरभाणि–किं तेन ?, स आह–प्रव्रजाम्यहं, आचार्येणोक्तो–गृहाण तावत् प्रव्रज्यां पुनर्द्रक्ष्यसि, स तु तथैव चक्रे, पुनरपि पृच्छत आचार्या ऊचुः–किं तेन दृष्टेन ?, नासौ कस्यचिदुल्लापमपि ददाति, जिनकल्पं प्रतिपत्तुकाम इति, असावाह–तथाऽपि पश्यामि तावदिति, निर्बन्धे दर्शितः, तूष्णीभावस्थित एव वन्दितः, तदनुरागाच्च निषिद्धोऽप्याचार्येण निवार्यमाणोऽप्युपाध्यायेन म्रियमाणोऽपि साधुभिरसाम्प्रतमेतद्भवतो दुष्करं दुरध्यवसेयमित्येवं कथ्यमानेऽप्यहमपि तेनैव पित्रा जात इत्यवष्टम्भेन मोहात्तथैव तस्थौ यथा ज्येष्ठो भ्रातेति, इतरो देवतयाऽऽगत्य वन्दितः, शिक्षकस्तु न वन्दितः, ततोऽसावपरिकर्मितमतित्वात्कुपितः, अविधिरितिकृत्वा देवताऽपि तस्योपरि कुपिता सती तलप्रहारेणाक्षिगोलकौ बहिर्निश्चिक्षेप, ततस्तज्ज्यायान् हृदयेनैव देवतामाह–किमित्ययमज्ञस्त्वया कदर्थितः, तदस्याक्षिणी पुनर्नवीकुरु, सा त्ववादीत्–जीवप्रदेशैर्मुक्ताविमौ गोलकौ न शक्यौ पुनर्नवीकर्त्तुं इत्युक्त्वा ऋषिवचनमलङ्घनीयमित्यवधार्य तत्क्षणश्वपाकव्यापादितैलाक्षिगोलकौ गृहीत्वा तदक्ष्णोश्चकार । इत्येवमनुपदेशप्रवर्त्तनं सापायमित्यवधार्य शिष्येण सदाऽऽचार्योपदेशवर्त्तिना भाव्यम्, आचार्येणापि सदा स्वपरोपकारवृत्तिना सम्यक् स्वशिष्या यथोक्तविधिना प्रतिपालनीया इति स्थितम् । इत्येतदेवोपसंहरन्नाह–यथा द्विजपोतो मातापितृभ्यामनुपाल्यते एवमाचा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१८८]

दीप अनुक्रम [२०१]

येणापि शिष्या अहर्निशम् 'अनुपूर्वेण' क्रमेण 'वाचिताः' पाठिताः शिक्षां ग्राहिताः समस्तकार्यसहिष्णवः संसारोत्तरणसमर्थाश्च भवन्ति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । धूताध्ययने तृतीयोद्देशकः परिसमाप्त इति ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके शरीरोपकरणधूननाऽभिहिता, सा च परिपूर्णा न गौरवत्रिकसमन्वितस्येत्यतस्तद्धूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पन्नाणमन्तेहिं तेसिमंतिए पन्नाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं नोत्ति मन्नमाणा आघायं तु सुच्चा निसम्म, समणुन्ना जीविस्सामो एगे निक्खमंते असंभवंता विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववन्ना समाहिमाघायमजोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति (सू० १८८)

'एवम्' इति द्विजपोतसंवर्द्धनक्रमेणैव 'ते शिष्याः' स्वहस्तप्रव्राजिता उपसम्पदागताः प्रातीच्छकाश्च दिवा च रात्रौ च

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठं-अध्ययने चतुर्थ-उद्देशकः 'गौरवत्रिक विधुनन' आरब्धः,

'अनुपूर्वेण' क्रमेण 'वाचिताः' पाठिताः, तत्र कालिकमहः प्रथमचतुर्थपौरुष्योरध्याप्यते उत्कालिकं तु कालवेलावर्जं सकलमप्यहोरात्रमिति, तच्चाध्यापनमाचारादिक्रमेण क्रियते, आचारश्च त्रिवर्षपर्यायोऽध्याप्यत इत्यादिक्रमेणाध्यापिताः शिष्याश्चारित्रं च ग्राहिताः, तद्यथा–युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम् कूर्म्मवत्सङ्कुचिताङ्गेन भाव्यमित्याद्येवं शिक्षां ग्राहिता वाचिताः–अध्यापिताः, कैरिति दर्शयति–तैर्महावीरैः–तीर्थकरैर्गणधराचार्यादिभिः, किम्भूतैः?–प्रज्ञानवद्भिः, ज्ञानिभिरेवोपदेशादि दत्तं लगतीत्यतो विशेषणं, ते तु शिष्याः द्विप्रकारा अपि प्रेक्षापूर्वकारिणस्तेषाम्–आचार्यादीनाम् 'अन्तिके' समीपे प्रकर्षेण ज्ञायते अनेनेति प्रज्ञानं–श्रुतज्ञानं, तस्यैवापरस्मादाप्तिसद्भावादित्यतस्तद्, 'उपलभ्य' लब्ध्वा बहुश्रुतीभूताः प्रबलमोहोदयापनीतसदुपदेशोत्कटमदत्वात् त्यक्त्वोपशमं, स च द्वेधा–द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्योपशमः कतकफलाद्यापादितः कलुषजलादेः भावोपशमस्तु ज्ञानादित्रयात्, तत्र यो येन ज्ञानेनोपशाम्यति स ज्ञानोपशमः, तद्यथा–आक्षेपण्याद्यन्यतरया धर्म्मकथया कश्चिद् उपशाम्यतीत्यादि, दर्शनोपशमस्तु यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनापरमुपशमयति, यथा श्रेणिकेनाश्रद्दधानो देवः प्रतिबोधित इति, दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभिः कश्चिदुपशाम्यति, चारित्रोपशमस्तु क्रोधाद्युपशमो विनयनम्रतेति, तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोदन्वतोऽद्याप्युपर्येव प्लवमानास्तमेवंभूतमुपशमं त्यक्त्वा ज्ञानलवोत्तम्भितगर्वाध्माताः 'पारुष्यं' परुषतां 'समाददति' गृह्णन्ति, तद्यथा–परस्परगुणनिकायां मीमांसायां वा एकोऽपरमाह–त्वं न जानीषे न चैषां शब्दानामयमर्थो यो भवताऽभाणि, अपि च–कश्चिदेव मादृशः शब्दार्थनिर्णयायालं, न सर्व इति, उक्तं च—"दृष्टा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदम् नः । वादिनि च मल्लमुख्ये च मादृगेवान्तरं ग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च्छेत् ॥ १ ॥" द्वितीयस्त्वाह–नन्वस्मदाचार्या एवमाज्ञापयन्तीत्युक्ते पुनराह–सोऽपि वाचिकुण्ठो बुद्धिविकलः किं जानीते?, त्वमपि च शुकवत्पाठितो निरूहापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि दुर्गृहीतकतिचिदक्षरो महोपशमकारणं ज्ञानं विपरीततामापादयन् स्वौद्धत्यमाविर्भावयन् भाषते, उक्तं च—"अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय । कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥ १ ॥ क्रीडनकमीश्वराणां कुक्कुटलावकसमानवाग्भ्यः । शास्त्राण्यपि हास्यकथां लघुतां वा क्षुल्लको नयति ॥ २ ॥" इत्यादि, पाठान्तरं वा "हेच्चा उवसमं अहेगे पारुसियं समारुहंति" त्यक्त्वोपशमम् 'अथ' अनन्तरं बहुश्रुतीभूताः एके न सर्वे परुषतामालम्बन्ते, ततश्चालप्ताः शब्दिता वा तूष्णीभावं भजन्ते हुङ्कारशिरःकम्पनादिना वा प्रतिवचनं ददति । किं च–एके पुनर्ब्रह्मचर्यं–संयमस्तत्रोषित्वा आचारो वा ब्रह्मचर्यं तदर्थोऽपि ब्रह्मचर्यमेव तत्रोषित्वा आचारार्थानुष्ठायिनोऽपि तद्भर्त्सितास्तामाज्ञां–तीर्थकरोपदेशरूपां 'नो इति मन्यमानाः' नोशब्दो देशप्रतिषेधे देशतस्तीर्थकरोपदेशं न बहु मन्यमानाः सातागौरवबाहुल्याच्छरीरवाकुशिकतामालम्बन्ते, यदिवा अपवादमालम्ब्य वर्त्तमाना उत्सर्गचोदनाचोदिताः सन्तः नैषा तीर्थकराज्ञेत्येवं मन्यन्ते, दर्शयन्ति चापवादपदानि "कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहियं" इत्यादि, ततश्च यो येन ग्लायति तस्य तदपनयनार्थमाधाकर्म्माद्यपि कार्यं, स्यादेतत्–किं तेषां नाख्यातः कुशीलानां प्रत्यपायाः यथाऽऽशातनाबहुलानां दीर्घः संसार इति?, तदुच्यते—'तुः' अवधारणे, आख्यातमेवैतत्कुशीलविपाकादिकं श्रुत्वा 'निशम्य' अवबुध्य च शास्तारमेव परुषं वदन्तीति सम्बन्धः । किमर्थं तर्हि

१ कुर्याद्भिक्षुर्ग्लानस्य अग्लान्या समाहितं.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शृण्वन्तीति चेत्तदाह—'समनोज्ञा' लोकसम्मता जीविष्याम इतिकृत्वा प्रश्नव्याकरणार्थमेव शब्दशास्त्रादीनि शास्त्राण्यधीयते, यदिवा अनेनोपायेन लोकसम्मता जीविष्याम इतिकृत्वैके निष्क्रम्य, अथवा समनोज्ञा उद्युक्तविहारिणः सन्तो जीविष्यामः संयमजीवितेनेत्येवं निष्क्रम्य पुनर्मोहोदयाद् असम्भवन्तः–ते गौरवत्रिकान्यतरदोषात् ज्ञानादिके मोक्षमार्गे न सम्यग्भवन्तो–नोपदेशे वर्त्तमाना विविधं दह्यमानाः कामैर्गृद्धा गौरवत्रिकेऽध्युपपन्ना विषयेषु 'समाधिं' इन्द्रियप्रणिधानमाख्यातं तीर्थकृदादिभिः यमा(आ)वेदितं(तः)तं 'अजोषयन्तः' असेवमाना दुर्विदग्धा आचार्यादिना शास्त्राभिप्रायेण चोद्यमाना अपि तच्छास्तारमेव परुषं वदन्ति–नास्मिन्विषये भवान् किञ्चिज्जानाति, यथाऽहं सूत्रार्थं शब्दं गणितं निमित्तं वा जाने तथा कोऽन्यो जानीते?, इत्येवमाचार्यादिकं शास्तारं हीलयन्तः परुषं वदन्ति, यदिवा शास्ता–तीर्थकृदादिस्तमपि परुषं वदन्ति, तथाहि–क्वचित्स्खलिते चोदिता जगदुः–किमन्यदधिकं तीर्थकृद्भक्ष्यत्यस्मद्गलकर्त्तनादपीति, इत्यादिभिरपाचीनैरालापैरलीकविद्यामदावलेपाच्छास्त्रकृतामपि दूषणानि वदेयुः ॥ न केवलं शास्तारं परुषं वदन्त्यपरानपि साधूनपवदेयुरित्येतदाह—

सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बिइया मंदस्स बालया (सू० १८९)

शीलम्–अष्टादशशीलाङ्गसहस्रसङ्ख्यं, यदिवा महाव्रतसमाधानं पञ्चेन्द्रियजयः कषायनिग्रहस्त्रिगुप्तिगुप्तता चेत्येतच्छीलं विद्यते येषां ते शीलवन्तः, तथा उपशान्ताः कषायोपशमात्, अत्र शीलवद्ग्रहणेनैव गतार्थत्वादुपशान्ता इत्येतद्विशे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षणं कषायनिग्रहप्राधान्यख्यापनार्थं, सम्यक् ख्यायते–प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या–प्रज्ञा तया 'रीयमाणाः' संयमानुष्ठाने पराक्रममाणाः सन्तः कस्यचिद्विश्रान्तभागधेयतया अशीला एत इत्येवमनुवदतोऽनु–पश्चाद्वदतः पृष्ठतो वदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थादेः द्वितीयैषा 'मन्दस्य' अज्ञस्य 'बालता' मूर्खता, एकं तावत्स्वतश्चारित्रापगमः पुनरपरानुद्युक्तविहारिणोऽपवदत इत्येषा द्वितीया बालता, यदिवा शीलवन्त एते उपशान्ता वेत्येवमन्येनाभिहिते कैषां प्रचुरोपकरणानां शीलवत्तोपशान्तता वा इत्येवमनुवदतो हीनाचारस्य द्वितीया बालता भवतीति ॥ अपरे तु वीर्यान्तरायोदयात् स्वतोऽवसीदन्तोऽप्यपरसाधुप्रशंसान्विता यथावस्थितमाचारमावेदयेयुः, इत्येतदर्शयितुमाह—

नियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, नाणब्भट्ठा दंसणलूसिणो (सू० १९०)

एके–कर्म्मोदयात् संयमान्निवर्त्तमाना लिङ्गाद्वा, वाशब्दादनिवर्त्तमाना वा, यथावस्थितमाचारगोचरमाचक्षते, वयं तु कर्त्तुमसहिष्णव आचारस्त्वेवम्भूत इत्येवं वदतां तेषां द्वितीया बालता न भवत्येव, न पुनर्वदन्ति–एवंभूत एवाचारो योऽस्माभिरनुष्ठीयते, साम्प्रतं दुष्षमानुभावेन बलाद्यपगमान्मध्यभूतैव वर्त्तनी श्रेयसी नोत्सर्गावसर इति, उक्तं हि —"नात्यायतं न शिथिलं, यथा युञ्जीत सारथिः । तथा भद्रं वहन्त्यश्वा, योगः सर्वत्र पूजितः ॥ १ ॥" अपि च–[1]जो जत्थ होइ भग्गो, ओवासं सो परं अविंदंतो । गंतुं तत्थऽचयंतो, इमं पहाणंति घोसेति ॥ १ ॥") इत्यादि । किम्भूताः

१ यो यत्र भवति भग्नोऽवकाशं सोऽपरमविन्दन् । गन्तुं तत्रासमर्थ इदं प्रधानमिति घोषयति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुनरेतदेवं समर्थयेयुरित्याह–सदसद्विवेको ज्ञानं तस्माद्भ्रष्टा ज्ञानभ्रष्टाः, तथा 'दंसणलूसिणो'त्ति सम्यग्दर्शनविध्वंसिनोऽसदनुष्ठानेन स्वतो विनष्टा अपरानपि शङ्कोत्पादनेन सन्मार्गाच्यावयन्ति ॥ अपरे पुनर्बाह्यक्रियोपपेता अप्यात्मानं नाशयन्तीत्याह—

नममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामंति पुट्ठा वेगे नियट्टंति जीवियस्सेव कारणा, निक्खंतंपि तेसिं दुन्निक्खंतं भवइ, बालवयणिज्जा हु ते नरा, पुणो पुणो जाइं पकप्पिंति अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकथे अदुवा पकथे अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं (सू० १९१)

नमन्तोऽप्याचार्यादेर्द्रव्यतः श्रुतज्ञानार्थं ज्ञानादिभावविनयाभावात् कर्म्मोदयाद् एके न सर्वे संयमजीवितं 'विपरिणामयन्ति' अपनयन्ति, सच्चरितादात्मानं ध्वंसयन्तीत्यर्थः । किं चापरमित्याह–एके–अपरिकर्म्मितमतयो गौरवत्रिकप्रतिबद्धाः स्पृष्टाः परीषहैर्निर्वर्त्तन्ते संयमात् लिङ्गाद्वेति, किमर्थं ?–जीवितस्यैव–असंयमाख्यस्य कारणात्–निमित्तात् सुखेन वयं जीविष्याम इतिकृत्वा सावद्यानुष्ठानतया संयमान्निवर्त्तन्ते । तथाभूतानां च यत्स्यात्तदाह–तेषां गृहवासान्निष्क्रान्तमपि ज्ञानदर्शनचारित्रमूलोत्तरगुणान्यतरोपघाताद्दुर्निष्क्रान्तं भवति । तद्धर्म्मणां च यत्स्यात्तदाह–हुर्हेतौ यस्मादसम्यगनुष्ठानात् दुर्निष्क्रान्तास्तस्माद्बालानां–प्राकृतपुरुषाणामपि वचनीयाः–गर्ह्या बालवचनीयास्ते नरा इति । किं च–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पौनःपुन्येनारहट्टघटीयन्त्रन्यायेन जातिः–उत्पत्तिस्तां कल्पयन्ति, किम्भूतास्ते इत्याह–अधःसंयमस्थानेषु सम्भवन्तो-वर्त्तमाना अविद्यया वाऽधो वर्त्तमानाः सन्तो विद्वांसो वयमित्येवं मन्यमाना लघुतयाऽऽत्मानं व्युत्कर्षयेयुरिति–आत्मनः श्लाघां कुर्वते, यत्किञ्चिज्ज्ञानानोऽपि मानोन्नतत्वाद्रससातागौरवबहुलोऽहमेवात्र बहुश्रुतो यदाचार्यो जानाति तन्मयाऽ-ल्पेनैव कालेनाधीतमित्येवमात्मानं व्युत्कर्षयेदिति । नात्मश्लाघतयैवासते, अपरानप्यपवदेयुरित्याह—'उदासीनाः' राग-द्वेषरहिता मध्यस्था बहुश्रुतत्वे सत्युपशान्तास्तान् स्खलितचोदनोद्यतान् परुषं वदन्ति, तद्यथा–स्वयमेव तावत्कृत्यमकृत्यं वा जानीहि ततोऽन्येषामुपदेक्ष्यसीति । यथा च परुषं वदन्ति तथा सूत्रेणैव दर्शयितुमाह—'पलियं'ति अनुष्ठानं तेन पूर्वाचरितेनानुष्ठानेन तृणहारादिना प्रकथयेद्–एवम्भूतस्त्वमिति, अन्यथा वा कुण्टमण्टादिभिर्गुणैर्मुखविकारादिभिर्वा प्रकथयेदिति । किम्भूतैः?–'अतथ्यैः' अविद्यमानैरिति । उपसंहरन्नाह—'तद्' वाच्यमवाच्यं वा 'तं' वा धर्म्मं श्रुतचा-रित्राख्यं 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितो 'जानीयात्' सम्यक् परिच्छिन्द्यादिति ॥ सोऽसभ्यवादप्रवृत्तो बालो गुर्वादिना यथाऽनुशास्यते तथा दर्शयितुमाह—

अहम्मट्ठी तुमंसि नाम बाले आरंभट्ठी अणुवयमाणे हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए, एस विसन्ने वियद्दे वियाहिए त्तिबेमि (सू० १९२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थी, अधर्म्मेणार्थी अधर्म्मार्थी, यतो नाम त्वमेवम्भूतोऽतोऽनुशास्यसे, कुतोऽधर्म्मार्थी? यतो 'बालः' अज्ञः, कुतो बालो?, यत 'आरम्भार्थी' सावद्यारम्भप्रवृत्तः, कुतः आरम्भार्थी?, यतः प्राण्युपमर्दवादाननुवदन्नैतद् ब्रूषे, तद्यथा–जहि प्राणिनोऽपरैरेवं घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि गौरवत्रिकानुबद्धः पचनपाचनादिक्रियाप्रवृत्तांस्तत्सिण्डतर्की तत्समक्षं ताननुवदसि–कोऽत्र दोषो?, न ह्यशरीरैर्द्धर्म्मः कर्त्तुं पार्य्यते, अतो धर्म्माधारं शरीरं यत्नतः पालनीयमिति, उक्तं च—"शरीरं धर्म्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीराज्जायते धर्म्मो, यथा बीजात्सदङ्कुरः ॥ १ ॥" इति, किं चैवं ब्रवीषि त्वं, तद्यथा–'घोरः' भयानको धर्म्मः सर्वास्रवनिरोधात् दुरनुचरः उत्–प्राबल्येनेरितः–कथितः प्रतिपादितस्तीर्थकरगणधरादिभिरित्येवमध्यवसायी भवांस्तमनुष्ठानत 'उपेक्षते' उपेक्षां विधत्ते, 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, 'अनाज्ञया' तीर्थकरगणधरानुपदेशेन स्वेच्छया प्रवृत्त इति, क एवम्भूत इति दर्शयति—'एष' इत्यनन्तरोक्तोऽधर्म्मार्थी बाल आरम्भार्थी प्राणिनां हन्ता घातयिता घ्नतोऽनुमन्ता धर्म्मोपेक्षक इति, विषण्णः कामभोगेषु, विविधं तर्दतीति वितर्दो–हिंसकः 'तर्द हिंसाया'मित्यस्मात् कर्त्तरि पचाद्यच्, संयमे वा प्रतिकूलो वितर्दः इत्येवंरूपस्त्वमेष व्याख्यात इत्यतोऽहं ब्रवीमि–त्वं मेधावी धर्म्मं जानीया इति ॥ एतच्च वक्ष्यमाणमहं ब्रवीमीत्यत आह—

किमणेण भो! जणेण करिस्सामित्ति मन्नमाणे एवं एगे वइत्ता मायरं पियरं हिच्चा नायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उप्पइए पडिवयमाणे वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहमेगेसिं सिलोए पावए भवइ, से समणो भवित्ता विब्भंते २ पासहेगे समन्नागएहिं सह असमन्नागए नममाणेहिं अनममाणे विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए अभिसमिच्चा पंडिए मेहावी निट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्जासि त्तिबेमि (सू० १९३) ॥ इति धूताध्ययने चतुर्थ उद्देशकः ६–४ ॥

केचन–विदितवेद्या वीरायमाणाः सम्यगुत्थानेनोत्थाय पुनः प्राण्युपमर्दका भवन्तीति, कथमुत्थाय?–किमहमनेन 'भोः' इत्यामन्त्रणे 'जनेन' मातापितृपुत्रकलत्रादिना स्वार्थपरेण परमार्थतोऽनर्थरूपेण करिष्यामीति, न ममायं कस्यचिदपि कार्यस्य रोगापनयनादेरलमित्यतोऽनेन किमहं करिष्ये?, यदिवा प्रविव्रजिषुः केनचिदभिहितः किमनया सिकताकवलसन्निभया प्रव्रज्यया करिष्यति भवान्?, अदृष्टवशायातं तावद्भोजनादिकं भुङ्क्ष्वेत्यभिहितो विरागतामापन्नो ब्रवीति–किमहमनेन भोजनादिना करिष्ये?, भुक्तं मयाऽनेकशः संसारे पर्यटता तथापि तृप्तिर्नाभूत्, तत्किमिदानीमनेन जन्मना भविष्यतीत्येवं मन्यमाना एके विदितसंसारस्वभावा उदित्वाऽप्येवं ततो 'मातरं' जननीं 'पितरं' जनयितारं 'हित्वा' त्यक्त्वा 'ज्ञातयः' पूर्वापरसम्बन्धिनः स्वजनास्तान् परिगृह्यत इति परिग्रहः–धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदादिः तं, किम्भूताः?–वीरमिवात्मानमाचरन्तो वीरायमाणाः, सम्यक् संयमानुष्ठानेनोत्थाय समुत्थाय विविधैरुपायैर्हिंसा विहिंसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न विद्यते विहिंसा येषां तेऽविहिंसाः, तथा शोभनं व्रतं येषां ते सुव्रताः, तथेन्द्रियदमाद्दान्ताः, इत्येवं समुत्थाय, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—"समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसूया अविहिंसगा सुव्वया दंता परदत्तभोइणो पावं कम्मं न करेस्सामो समुट्ठाए" सुगमत्वान्न विव्रियते, इत्येवं समुत्थाय पूर्वं पश्चात् 'पश्य' निभालय 'दीनान्' शृगालत्वविहारिणो वान्तं जिघृक्षून् पूर्वमुत्पतितान् संयमारोहणात् पश्चात्तापोदयात् प्रतिपतत इति, किमिति दीना भवन्तीति दर्शयति–यतो 'वशार्त्ताः' वशा इन्द्रियविषयकषायाणां तत आर्त्ता वशार्त्ताः, तथाभूतानां च कर्म्मानुषङ्गः, तदुक्तम्—"सोइंदियवसट्टेणं भंते! कइ कम्मपगडीओ बंधइ?, गोयमा! आउअवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ जाव अणुपरिअट्टइ। कोहवसट्टेणं भंते! जीवे एवं तं चेव" एवं मानादिष्वपीति, तथा 'कातराः' परीषहोपसर्गोपनिपाते सति विषयलोलुपा वा कातराः, के ते?–जनाः, किं कुर्वन्ति?–ते प्रतिभग्नाः सन्तः 'लूषका भवन्ति' व्रतानां विध्वंसका भवन्ति, को ह्यष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि धारयिष्यतीत्येवमभिसन्धाय द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं वा परित्यज्य प्राणिनां विराधका भवन्ति। तेषां च पश्चात्कृतलिङ्गानां यत्स्यात्तदाह—'अथ' आनन्तर्ये 'एकेषां' भग्नप्रतिज्ञानामुत्प्रव्रजितानां तत्समनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन वा पञ्चत्वापत्तिः स्याद्, एकेषां तु 'श्लोको' श्लाघारूपः पापको भवेत्, स्वपक्षात्परपक्षाद्वा महत्ययशःकीर्त्तिर्भवति, तद्यथा–स एष पितृवनकाष्ठसमानो भोगाभिलाषी व्रजति तिष्ठति वा, नास्य विश्वसनीयं, यतो नास्याकर्त्तव्यमस्तीति, उक्तं च—"परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत्। आत्मानं यो न संधत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं

१ श्रोत्रेन्द्रियवशार्त्तो भदन्त! कति कर्मप्रकृतीर्बध्नाति?, गौतम! आयुर्वर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीर्यावत् अनुपरिवर्त्तते। क्रोधवशार्त्तो भदन्त! जीवः, एवमेव तद्.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हितः ? ॥ १ ॥" इत्यादि, यदिवा सूत्रेणैवाश्लाघ्यतां दर्शयितुमाह–सोऽयं श्रमणो भूत्वा विविधं भ्रान्तो–भग्नः श्रमण-विभ्रान्तो, वीप्सयाऽत्यन्तजुगुप्सामाह, किं च–पश्यत यूयं कर्म्मसामर्थ्यम् 'एके' विश्रान्तभागधेयाः समन्वागतैरुद्युक्त-विहारिभिः सह वसन्तोऽप्यसमन्वागताः–शीतलविहारिणः, तथा 'नममानैः' संयमानुष्ठानेन विनयवद्भिः 'अनममा-नान्' निर्घृणतया सावद्यानुष्ठायिनो, विरतैरविरता द्रव्यभूतैरद्रव्यभूताः पापकलङ्काङ्कितत्वादेवम्भूतैरपि साधुभिः सह वसन्तोऽपि, एवम्भूतान् 'अभिसमेत्य' ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यमिति दर्शयति—'पण्डितः' त्वं ज्ञातज्ञेयो 'मेधावी' मर्यादा-व्यवस्थितो 'निष्ठितार्थः' विषयसुखनिष्पिपासो 'वीरः' कर्म्मविदारणसहिष्णुर्भूत्वा 'आगमेन' सर्वज्ञप्रणीतोपदेशानु-सारेण 'सदा' सर्वकालं परिक्रामयेरिति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववद् ॥ धूताध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकः परिसमाप्तः ॥

उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पञ्चम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके कर्म्मविधूननार्थं गौरवत्र-यविधूननाऽभिहिता, सा च कर्मविधूननोपसर्गविधूननामन्तरेण न सम्पूर्णभावमनुभवति, नापि सत्कारपुरस्कारात्म-कसन्मानविधूननामन्तरेण गौरवत्रयविधूनना सम्पूर्णतामियादित्यत उपसर्गसन्मानविधूननार्थमिदमुपक्रम्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठं-अध्ययने पंचम-उद्देशक: 'उपसर्ग-सन्मान विधुनन' आरब्ध:,

वयेसु वा जणवयंतरेसु वा गामनयरंतरे वा गामजणवयंतरे वा नगरजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए, ओए समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विभए किट्टे वेयवी, से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं निव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं सत्ताणं सव्वेसिं जीवाणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा (सू० १९४)

'स' पण्डितो मेधावी निष्ठितार्थो वीरः सदा सर्वज्ञप्रणीतोपदेशानुविधायी गौरवत्रिकाप्रतिबद्धो निर्ममो निष्किञ्चनो निराश एकाकिविहारितया ग्रामानुग्रामं रीयमाणः क्षुद्रतिर्यग्नरामरकृतोपसर्गपरीषहापादितान् दुःखस्पर्शान् निर्जरार्थी सम्यगधिसहेत, क्व पुनर्व्यवस्थितस्य ते परीषहोपसर्गा अभिपतेयुरिति दर्शयति–आहाराद्यर्थं प्रविष्टस्य गृहेषु वा, उच्चनीचमध्यमावस्थासंसूचकं बहुवचनं, तथा गृहान्तरेषु वा, ग्रसन्ति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामाः तेषु वा तदन्तरालेषु वा, नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि तेषु वा तदन्तरालेषु वा, जनानां–लोकानां पदानि–अवस्थानानि येषु ते जनपदाः–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवन्त्यादयः साधुविहरणयोग्याः अर्द्धषड्विंशतिर्देशास्तेषु तदन्तरालेषु वा, तथा ग्रामनगरान्तरे वा ग्रामजनपदान्तरे वा नगरजनपदान्तरे वा उद्याने वा तदन्तरे वा विहारभूमिगतस्य वा गच्छतो वा, तदेवं तस्य भिक्षोर्ग्रामादीनधिशया-नस्य कायोत्सर्गादि वा कुर्वत एके कालुष्योपहतात्मानो ये जना लूषयन्तीति लूषका भवन्ति, 'लूष हिंसाया'मित्य-स्मात् ल्युड्, ते 'सन्ति' विद्यन्ते, तत्र नारकास्तावदुपसर्गकरणं प्रत्यवस्तु, तिर्यगमरयोरपि कादाचित्कत्वान्मानुष्याणा-मेवानुकूलप्रतिकूलसद्भावाज्जनग्रहणं, यदिवा जायन्त इति जनाः, ते च तिर्यग्नरामरा एव जनशब्दाभिहिताः, ते च जना अनुकूलप्रतिकूलान्यतरोभयोपसर्गापादानेनोपसर्गयेयुरिति, तत्र दिव्याश्चतुर्विधाः, तद्यथा–हास्यात् १ प्रद्वे-षाद् २ विमर्शात् ३ पृथग्विमात्रातो ४ वा, तत्र केलीकिलः कश्चिद्व्यन्तरो विविधानुपसर्गान् हास्यादेव कुर्यात्, यथा भिक्षार्थं प्रविष्टैः क्षुल्लकैर्भिक्षालाभार्थं पललविकटतर्पणादिनोपयाचितकं व्यन्तरस्य प्रपेदे, भिक्षावाप्तौ च तद्याचमानस्य कुतश्चिदुपलभ्य विकटादिकं तैर्दुर्दौके, तेनापि केल्यैव ते क्षुल्लकाः क्षीबा इव व्यधायिषत १, प्रद्वेषेण यथा भगवतो माघमासरजन्यन्ते तापसीरूपधारिण्या व्यन्तर्योदकजटाभारवल्कलविप्रुड्सिस्सेचनमकारि २, विमर्शात्किमयं दृढधर्म्मा न वेत्यनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परीक्षयेत्, यथा संविग्नसाधुभावितया कयाचिद्व्यन्तर्या स्त्रीवेषधारिण्या शून्यदेवकुलिकावासितः

१ 'पुरच्छिमेणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव मगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा जाव कोसंबीओ एत्तए, पच्छिमेणं जाव थूणाविसओ, उत्तरेणं जाव कुणालाविसओ, ताव आरिए खित्ते, नो कप्पइ इत्तो बाहिं'ति, अस्यां च आर्यभूमिकायां सार्द्धपञ्चविंशतिर्जनपदा धर्मक्षेत्राण्यर्ह-द्भिरुक्तानि ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधुरनुकूलोपसर्गैरुपसर्गितो दृढधर्मेति च कृत्वा वन्दित इति ३, तथा पृथग् विविधा मात्रा येषूपसर्गेषु ते पृथग्विमात्राः–हास्यादित्रयान्यतरारब्धा अन्यतरावसायिनो भवन्ति, तद्यथा भगवति सङ्गमकेनेव विमर्शारब्धाः प्रद्वेषेण पर्यवसिता इति, मानुषा अपि हास्यप्रद्वेषविमर्शकुशीलप्रतिसेवनाभेदाच्चतुर्द्धा, तत्र हास्यादेवसेनागणिका क्षुल्लकमुपसर्गयन्ती दण्डेन ताडिता राजानमुपस्थिता, क्षुल्लकेन तदाहृतेन श्रीगृहोदाहरणेन राजा प्रतिबोधित इति १, प्रद्वेषाद्गजसुकुमारस्यैव श्वशुरसोमभूतिनेति २, विमर्शाच्चन्द्रगुप्तो राजा चाणाक्यचोदितो धर्म्मपरीक्षार्थमन्तःपुरिकाभिर्धर्म्ममावेदयन्तं साधुमुपसर्गयति, साधुना च प्रताड्य ताः श्रीगृहोदाहरणं राज्ञे निवेदितमिति ३, तत्र कुत्सितं शीलं कुशीलं तस्य प्रतिसेवनं कुशीलप्रतिसेवनं तदर्थं कश्चिदुपसर्गं कुर्यात्, तद्यथा–ईर्ष्यालुगृहपर्युषितः साधुश्चतसृभिः सीमन्तिनीभिः प्रोषितभर्तृकाभिः सकलां रजनीमेकैकया प्रतियाममुपसर्गितो न चासौ तासु लुलुभे मन्दरवन्निष्प्रकम्पोऽभूदिति ४। तैर्यग्योनाअपि भयप्रद्वेषाहारापत्यसंरक्षणभेदाच्चतुर्द्धैव, तत्र भयात्सर्पादिभ्यः, प्रद्वेषाद्यथा भगवतश्चण्डकौशिकात्, आहारात् सिंहव्याघ्रादिभ्यः, अपत्यसंरक्षणात् काक्यादिभ्य इति । तदेवमुक्तविधिनोपसर्गापादकत्वाज्जना लूषका भवन्ति, अथवा तेषु ग्रामादिषु स्थानेषु तिष्ठतो गच्छतो वा स्पर्शाः–दुःखविशेषा आत्मसंवेदनीयाः स्पृशन्ति–अभिभवन्ति, ते चतुर्विधाः –तद्यथा–घट्टनताऽक्षिकणुकादेः पतनता भ्रमिमूर्च्छादिना स्तम्भनता वातादिना श्लेषणता तालुनः पातादङ्गुल्यादेर्वा स्यात्, यदिवा वातपित्तश्लेष्मादिक्षोभात् स्पर्शाः स्पृशन्ति, अथवा निष्किञ्चनतया तृणस्पर्शदंशमशकशीतोष्णाद्यापादिताः स्पर्शाः–दुःखविशेषाः कदाचित्स्पृशन्ति–अभिभवन्ति, तैश्च स्पृष्टः परीषहैस्तान् स्पर्शान्–दुःखविशेषान् 'धीरः'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अक्षोभ्योऽधिसहेत नरकादिदुःखभावनयाऽवन्ध्यकर्म्मोदयापादितं पुनरपि मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य सम्यक् तितिक्षेतेति । कीदृक्षोऽधिसहेतेत्यत आह, यदिवा स एवम्भूतो न केवलमात्मनस्त्राता सदुपदेशदानतः परेषामपीति दर्शयितुमाह—'ओजः' एको रागादिविरहात् सम्यग् इतं–गतं दर्शनमस्येति समितदर्शनः, सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः, यदिवा 'शमितम्' उपशमं नीतं 'दर्शनं' दृष्टिर्ज्ञानमस्येति शमितदर्शनः, उपशान्ताध्यवसाय इत्यर्थः, अथवा समतामितं–गतं दर्शनं–दृष्टिरस्येति समितदर्शनः, समदृष्टिरित्यर्थः, एवम्भूतः स्पर्शानधिसहेत, यदिवा धर्म्ममाचक्षीतेत्युत्तरक्रियया सह सम्बन्धः, किमभिसन्धाय धर्म्ममाचक्षीतेति दर्शयति—'दयां' कृपां 'लोकस्य' जन्तुलोकस्योपरि द्रव्यतो ज्ञात्वा क्षेत्रतः प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षीणमुदीचीनमपरानपि दिग्विभागानभिसमीक्ष्य सर्वत्र दयां कुर्वन् धर्म्ममाचक्षीत, कालतो यावज्जीवं, भावतोऽरक्तोऽद्विष्टः, कथमाचक्षीत?–तद्यथा–सर्वे जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सवः आत्मोपमया सदा द्रष्टव्या इति, उक्तं च–"न तत्परस्य संदध्यात्, प्रतिकूलं यदात्मनः । एष सङ्ग्राहिको धर्म्मः, कामादन्यः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥") इत्यादि, तथा धर्म्ममाचक्षाणो 'विभजेत्' द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदैराक्षेपण्यादिकथाविशेषैर्वा प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहरात्रीभोजनविरतिविशेषैर्वा धर्म्मं विभजेत्, यदिवा कोऽयं पुरुषः कं नतो देवताविशेषमभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वा? एवं विभजेत्, तथा कीर्त्तयेद्व्रतानुष्ठानफलं, कोऽसौ कीर्त्तयेद्?–वेदविद्, आगमविदिति । नागार्ज्जुनीयास्तु पठन्ति—"जे खलु समणे बहुस्सुए बज्झागमे आहरणहेउकुसले धम्मकहालद्धिसम्पन्ने खेत्तं कालं पुरिसं समासज्ज केऽयं पुरिसे कं वा दरिसणमभिसम्पन्नो? एवंगुणजाइए पभू धम्मस्स आघवित्तए" इति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कण्ठ्यं । स पुनः केषु निमित्तभूतेषु कीर्त्तयेदित्याह—'स' आगमवित् स्वसमयपरसमयज्ञः 'उत्थितेषु वा' भावोत्थानेन यतिषु, वाशब्दः उत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः, पार्श्वनाथशिष्येषु चतुर्यामोत्थितेष्वेव वर्द्धमानतीर्थाचार्यादिः पञ्चयामं धर्म्मं प्रवेदयेदिति, स्वशिष्येषु वा सदोत्थितेष्वज्ञातज्ञापनाय धर्मं प्रवेदयेदिति, 'अनुत्थितेषु वा' श्रावकादिषु 'शुश्रूषमाणेषु' धर्म्मं श्रोतुमिच्छत्सु गुर्वादेः पर्युपास्तिं कुर्वत्सु वा संसारोत्तारणाय धर्म्मं प्रवेदयेत् । किम्भूतं प्रवेदयेदित्याह–शमनं शान्तिः, अहिंसेत्यर्थः, तामाचक्षीत, तथा विरतिम्, अनेन च मृषावादादिशेषव्रतसङ्ग्रहः, तथा 'उपशमं' क्रोधजयाद्, अनेन चोत्तरगुणसङ्ग्रहः, तथा निर्वृतिः निर्वाणं मूलगुणोत्तरगुणयोरैहिकामुष्मिकफलभूतमाचक्षीत, तथा 'शौचं' सर्वोपाधिशुचित्वं निर्वाच्यव्रतधारणं, तथा आर्जवं मायावक्रतापरित्यागात्, तथा मार्दवं मानस्तब्धतापरित्यागात्, तथा लाघवं सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागात्, कथमाचक्षीतेति दर्शयति—'अनतिपत्य' यथावस्थितं वस्त्वागमाभिहितं तथाऽनतिक्रम्येत्यर्थः, केषां कथयति?—'सर्वेषां प्राणिनां' दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषां सामान्यतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां, तथा 'सर्वेषां भूतानां' मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन भूतानां–व्यवस्थितानां, तथा 'सर्वेषां जीवानां' संयमजीवितेन जीवतां जिजीविषूणां च, तथा 'सर्वेषां सत्त्वानां' तिर्यङ्नरामराणां संसारे क्लिश्यमानतया करुणास्पदानामेकार्थिकानि वैतानि प्राणादीनि वचनानि इत्यतस्तेषां क्षान्त्यादिकं दशविधं धर्म्मं यथायोगं प्रागुपन्यस्तं शान्त्यादिपदाभिहितम् 'अनुविचिन्त्य' स्वपरोपकाराय भिक्षणशीलो भिक्षुर्धर्म्मकथालब्धिमान् 'आचक्षीत' प्रतिपादयेदिति । यथा च धर्म्मं कथयेत्तथाऽऽह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे नो अत्ताणं आसाइज्जा नो परं आसाइज्जा नो अन्नाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्जा से अणासायए अणासायमाणे व-ज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी, एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए सं-क्खाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं परिनिव्वुडे, तम्हा संगंति पासह गंथेहिं गढिया नरा विसन्ना कामक्कंता तम्हा लूहाओ नो परिवित्तसिज्जा, जस्सिमे आरंभा सव्वओ स-व्वप्पयाए सुपरिन्नाया भवंति जेसिमे लूसिणो नो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च माणं य मायं च लोभं च एस तुट्टे वियाहिए त्तिबेमि (सू० १९५)

स भिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिन्त्य–पूर्वापरेण धर्मं पुरुषं वाऽऽलोच्य यो यस्य कथनयोग्यस्तं धर्ममाचक्षाणः आङिति मर्यादया यथाऽनुष्ठानं सम्यग्दर्शनादेः शातना आशातना तया आत्मानं नो आशातयेत्, तथा धर्ममाचक्षीत य-थाऽऽत्मन आशातना न भवेत्, यदिवाऽऽत्मन आशातना द्विधा–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो यथाऽऽहारोपकरणा-देर्द्रव्यस्य कालातिपातादिकृताऽऽशातना–बाधा न भवति तथा कथयेद्, आहारादिद्रव्यबाधया च शरीरस्यापि पीडा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावाशातनारूपा स्यात्, कथयतो वा यथा गात्रभङ्गरूपा भावाशातना न स्यात् तथा कथयेदिति, तथा नो परं शुश्रूषुं आशातयेद्–हीलयेद्, यतः परो हीलनया कुपितः सन्नाहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायै प्रवर्त्तेतेति, अतस्तदाशातनां वर्जयन् धर्म्मं ब्रूयादिति, तथाऽन्यान् वा सामान्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् सत्त्वान्नो आशातयेद्–बाधयेत्, तदेवं स मुनिः स्वतोऽनाशातकः परैरनाशातयन् तथाऽपरानाशातयतोऽननुमन्यमानो परेषां वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां जीवानां सत्त्वानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्म्मं कथयेदिति, तद्यथा–यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिदानानि प्रशंसति अवटतटागादीनि वा ततः पृथिवीकायादयो व्यापादिता भवेयुः, अथ दूषयति ततोऽपरेषां अन्तरायापादनेन तत्कृतो बन्धविपाकानुभवः स्यात्, उक्तं च—"जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं। जे उ णं पडिसेहिंति, वित्तिच्छेअं करिंति ते ॥ १ ॥"[1] तस्मात्तदानावटतडागादिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथावस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेत् सावद्यानुष्ठानं चेति, एवं च ब्रुवन्नुभयदोषपरिहारी जन्तूनामाश्वासभूमिर्भवतीति, एतदृष्टान्तद्वारेण दर्शयति–यथाऽसौ द्वीपोऽसन्दीनः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तद्रक्षणोपायोपदेशतः वध्यमानानां वधकानां च तदध्यवसायविनिवर्त्तनेन विशिष्टगुणस्थानापादनाच्छरण्यो भवति, तथाहि–यथोद्दिष्टेन कथाविधानेन धर्म्मकथां कथयन् कांश्चन प्रव्राजयति कांश्चन श्रावकान् विधत्ते कांश्चन सम्यग्दर्शनयुजः करोति, केषाञ्चित्प्रकृतिभद्रकतामापादयति । किंगुणश्चासौ द्वीप इव शरण्यो भवतीत्याह—'एव'मिति वक्ष्यमाणप्रकारेण 'स' शरण्यो महामुनिर्भावोत्थानेन

१ ये तु दानं प्रशंसन्ति वधमिच्छन्ति प्राणिनाम्। ये चैतत् प्रतिषेधयन्ति वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संयमानुष्ठानरूपेण उत्–प्राबल्येन स्थित उत्थितः, तथा स्थितो ज्ञानादिके मोक्षाध्वन्यात्मा यस्य स स्थितात्मा, तथा स्निह्यतीति स्निहो न स्निहोऽस्निहः–रागद्वेषरहितत्वात् अप्रतिबद्धः, तथा न चलतीत्यचलः परीषहोपसर्गवातेरिलो ऽपीति, तथा चलः अनियतविहारित्वात्, तथा संयमाद्बहिर्निर्तगा लेश्या-अध्यवसायो यस्य स बहिर्लेश्यः यो न तथा सोऽबहिर्लेश्यः, स एवम्भूतः परि-समन्तात् संयमानुष्ठाने व्रजेत् परिव्रजेत्, न क्वचित्प्रतिबध्यमान इतियावत्, स च किमिति संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह—'संख्याय' अवधार्य 'पेशलं' शोभनं 'धर्म्मं' अविपरीतार्थं दर्शनं–दृष्टिः सदनुष्ठानं वा सा यस्यास्त्यसौ दृष्टिमान्, स च कषायोपशमात् क्षयाद्वा, परिः–समन्तान्निर्वृतः–शीतीभूतो । यस्त्व-सङ्ख्यातवान् पेशलं धर्म्मं मिथ्यादृष्टिरसौ न निर्वातीति दर्शयितुमाह–इतिहेतौ यस्माद्विपरीतदर्शनो मिथ्यादृष्टिः सङ्गवान्न निर्वाति तस्मात् 'सङ्गं' मातापितृपुत्रकलत्रादिजनितं धनधान्यहिरण्यादिजनितं वा सङ्गविपाकं वा पश्यत यूयं विवेकेनावधारयत, सूत्रेणैव सङ्गमाह–त एवं सङ्गिनो नराः सबाह्याभ्यन्तरैर्ग्रन्थैर्ग्रथिता अवबद्धा विषण्णा ग्रन्थसङ्गे नि-मग्नाः कामैः–इच्छामदनरूपैराक्रान्ता अवष्टब्धा न निर्वान्ति, यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह–यस्मात्कामाद्यासक्तचे-तसः स्वजनधनधान्यादिमूर्च्छिताः कामजैः शारीरमानसादिभिर्दुःखैरुपतापितास्तस्माद् रूक्षात्–संयमान्निःसङ्गात्मकात् 'नो परिवित्रसेत्' न संयमानुष्ठानाद्बिभीयात्, यतः प्रभूततरदुःखानुषङ्गिणो हि सङ्गिन इति । कस्य पुनः संयमान्न परि-वित्रसनं सम्भाव्यत इत्याह–यस्य महामुनेरवगतसंसारमोक्षकारणस्येमे सङ्गाः–आरम्भा अनन्तरोक्ता अविगानतः सर्वज-नाचरितत्वात् प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमाऽभिहिताः 'सर्वतः' सर्वात्मकतया सुपरिज्ञाता भवन्ति, किम्भूता आरम्भाः ?–ये-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ष्विमे ग्रन्थग्रथिता विषण्णाः कामभराक्रान्ता जना 'लूषिणो' लूषणशीलाः हिंसका अज्ञानमोहोदयात् 'न परिवित्रसन्ति' न बिभ्यति, यो ह्येवम्भूतांश्चारम्भान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरति तस्यैते सुपरिज्ञाता भवन्ति । यश्चारम्भाणां परिज्ञाता स किमपरं कुर्यादित्याह–'स' महामुनिः पूर्वव्यावर्णितस्वरूपो 'वान्त्वा' त्यक्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं चेति, स्वगतभेदसंसूचनार्थो व्यस्तनिर्देशः, सर्वानुयायित्वात् क्रोधस्य प्रथमोपादानं तत्सम्बद्धत्वान्मानस्य लोभार्थं मायोपादीयत इत्यतस्तत्कारणत्वान्मायाया लोभस्यादावुपन्यासः ततः सर्वदोषाश्रयत्वात् सर्वगुरुत्वाच्च सर्वोपरि लोभस्य, क्षपणाक्रमं वाऽऽश्रित्यायमुपन्यास इति, चकारो हीतरेतरापेक्षया समुच्चयार्थः । स एवं क्रोधादीन् वान्त्वा मोहनीयं त्रोटयति, स चैषोऽपगतमोहनीयः संसारसन्ततेस्तुट्टः-अपसृतो व्याख्यातस्तीर्थकृदादिभिरितिरधिकार-परिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्येतत् पूर्वोक्तं ॥ यदि वैतद्वक्ष्यमाणमित्याह—

कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउत्तिबेमि (सू० १९६) ६–५॥

धूताध्ययनम् ॥ ६ ॥

'कायः' औदारिकादित्रयं घातिचतुष्टयं वा तस्य 'व्याघातो' विनाशः, अथवा चीयत इति कायस्तस्य विशेषेणाङ्गमर्यादयाऽऽयुष्कक्षयावधिलक्षणया घातो व्याघातः–शरीरविनाशः एष सङ्ग्रामशीर्षरूपतया व्याख्यातो, यथा हि सङ्ग्राम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

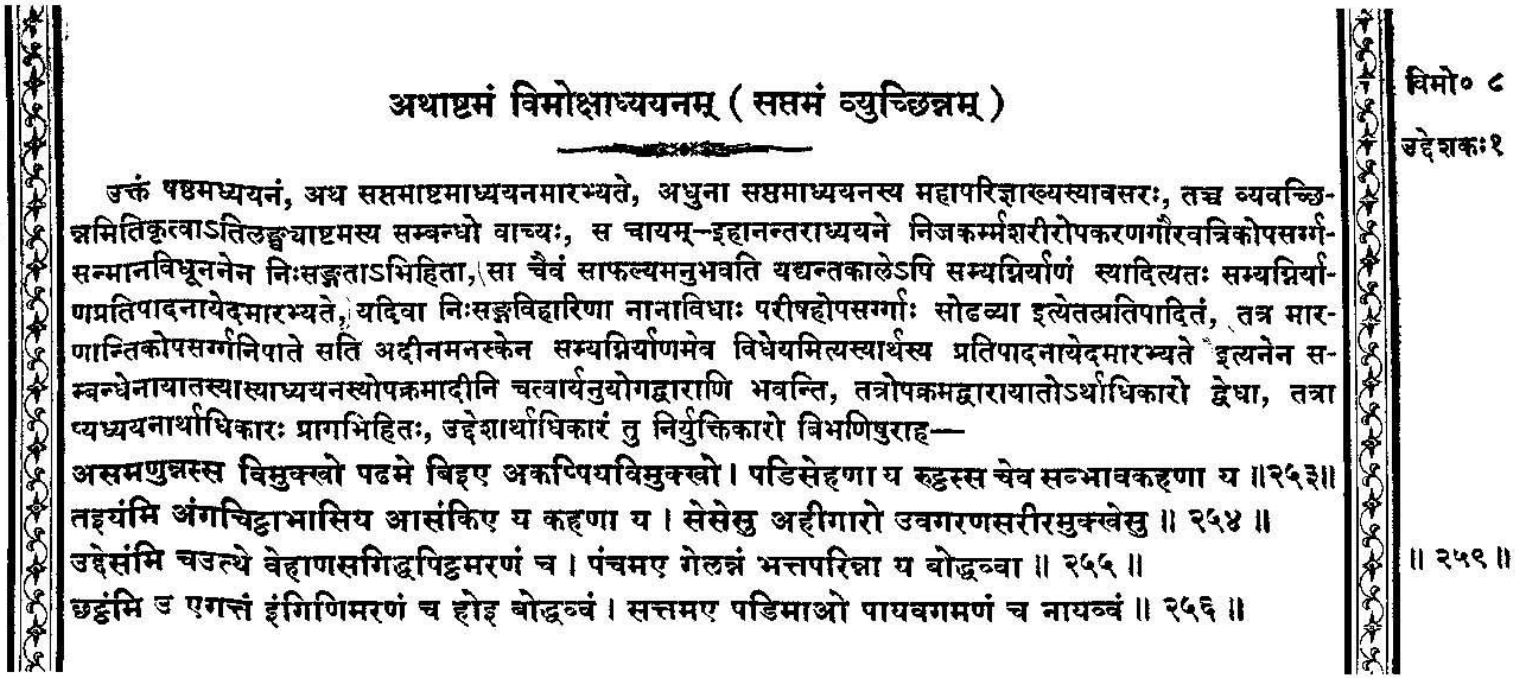
शिरसि परानीकनिशिताकृष्टकृपाणनिर्यत्प्रभासंवलितोद्यत्सूर्यत्विड्भूतविद्युन्नयनचमत्कृतिकारिणि कृतकरणोऽपि सुभटश्चित्तविकारं विधत्ते, एवं मरणकालेऽपि समुपस्थिते परिकर्म्मितमतेरप्यन्यथाभावः कदाचित्स्याद् अतो यो मरणकाले न मुह्यति स पारगामी मुनिः संसारस्य कर्म्मणो वा उत्क्षिप्तभारस्य वा पर्यन्तयायीति । किं च–विविधं परीषहोपसर्गैर्हन्यमानो विहन्यमानः न विहन्यमानोऽविहन्यमानः न निर्विण्णः सन् वैहानसं गार्द्धपृष्ठमन्यद्वा बालमरणं प्रतिपद्यत इति, यदिवा हन्यमानोऽपि सबाह्याभ्यन्तरतया तपःपरीषहोपसर्गैः फलकवदवतिष्ठते न कातरीभवति, तथा कालेनोपनीतः कालोपनीतो–मृत्युकालेनान्यवशतां प्रापितः सन् द्वादशवर्षसंलेखनयाऽऽत्मानं संलिख्य गिरिगह्वरादिस्थण्डिलपादपोपगमनेङ्गितमरणभक्तपरिज्ञान्यतरावस्थोपगतः 'कालं' मरणकालमायुष्कक्षयं यावच्छरीरस्य जीवेन सार्द्धं भेदो भवति तावदाकाङ्क्षेद्, अयमेव च मृत्युकालो यदुत शरीरभेदो, न पुनर्जीवस्यात्यन्तिको विनाशोऽस्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्यादिकं पूर्ववदिति, पञ्चमोद्देशकः, ततसमाप्तौ समाप्तं धूताख्यं षष्ठमध्ययनमिति ॥ ग्रं० ८३५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वकालात् अध्ययन - ७ व्युच्छिन्नम्, स्वयं वृत्तिकारेण अस्य अध्ययन-विषये न किंचित् अपि कथितम् |

प्रत सूत्रांक [१९६]

दीप अनुक्रम [२०९]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ २५९ ॥

अथाष्टमं विमोक्षाध्ययनम् (सप्तमं व्युच्छिन्नम्)

उक्तं षष्ठमध्ययनं, अथ सप्तमाष्टमाध्ययनमारभ्यते, अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरः, तच्च व्यवच्छिन्नमितिकृत्वाऽतिलङ्घ्याष्टमस्य सम्बन्धो वाच्यः, स चायम्–इहानन्तराध्ययने निजकर्म्मशरीरोपकरणगौरवत्रिकोपसर्ग्गसन्मानविधूननेन निःसङ्गताऽभिहिता, सा चैवं साफल्यमनुभवति यद्यन्तकालेऽपि सम्यग्निर्याणं स्यादित्यतः सम्यग्निर्याणप्रतिपादनायेदमारभ्यते, यदिवा निःसङ्गविहारिणा नानाविधाः परीषहोपसर्ग्गाः सोढव्या इत्येतत्प्रतिपादितं, तत्र मारणान्तिकोपसर्ग्गनिपाते सति अदीनमनस्केन सम्यग्निर्याणमेव विधेयमित्यस्यार्थस्य प्रतिपादनायेदमारभ्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमद्वारायातोऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागभिहितः, उद्देशार्थाधिकारं तु निर्युक्तिकारो बिभणिषुराह—

असमणुन्नस्स विमुक्खो पढमे बिइए अकप्पियविमुक्खो। पडिसेहणा य रुट्ठस्स चेव सब्भावकहणा य ॥२५३॥
तइयंमि अंगचिट्ठाभासिय आसंकिए य कहणा य। सेसेसु अहीगारो उवगरणसरीरमुक्खेसु ॥ २५४ ॥
उद्देसंमि चउत्थे वेहाणसगिद्धपिट्ठमरणं च। पंचमए गेलन्नं भत्तपरिन्ना य बोद्धव्वा ॥ २५५ ॥
छट्ठंमि उ एगत्तं इंगिणिमरणं च होइ बोद्धव्वं। सत्तमए पडिमाओ पायवगमणं च नायव्वं ॥ २५६ ॥

विमो० ८ उद्देशकः१

॥ २५९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययनं 'विमोक्ष' आरब्ध:,

अणुपुव्विविहारीणं भत्तपरिन्ना य इंगिणीमरणं । पायवगमणं च तहा अहिगारो होइ अट्ठमए ॥ २५७ ॥

अत्राद्योद्देशकेऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा–असमनुज्ञानाम-समनोज्ञानां वा त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां प्रावादुकशतानां विमोक्षः–परित्यागः कार्यः, तथा तदाहारोपधिशय्यातद्दृष्टिपरित्यागश्च, पार्श्वस्थादयः पुनश्चारित्रतपोविनयेष्वसमनोज्ञाः, यथाच्छन्दास्तु पञ्चस्वपि ज्ञानाचारादिष्वसमनोज्ञास्तेषां यथायोगं त्यागो विधेय इति १ । द्वितीये तु अकल्पिकस्य–आधाकर्म्मादेर्विमोक्षः–परित्यागः कार्यो, यदिवाऽऽधाकर्म्मणा कश्चिन्निमन्त्रयेत्, ततः प्रतिषेधो विधेयः, तत्प्रतिषेधे च रुष्टस्य सतः सिद्धान्तसद्भावः कथनीयो यथैवम्भूतं दानं तव मम च न गुणायेति २ । तृतीये तूद्देशकेऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा–गोचरगतस्य यतेः शीतादिना कम्पनादिकायामङ्गचेष्टायां सत्यां गृहस्थस्येयमारेका स्याद् यथा–ग्रामधर्म्मैरुद्ध्याध्यमानस्य शृङ्गारभावावेशादस्य यतेः कम्पनमित्येवं भाषिते आशङ्किते वा तदाशङ्काव्युदासाय यथावस्थितार्थकथना क्रियत इति ३ । शेषेषु तूद्देशकेषु पञ्चस्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा–उपकरणशरीराणां विमोक्षः–परित्यागस्तद्विषयः समासतो व्यासतस्तूच्यते–चतुर्थोद्देशके त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा–वैहानसम्–उद्बन्धनं गार्द्धपृष्ठम्–अपरमांसादिहृदयन्यासाद्वृद्धादिनाऽऽत्मव्यापादनम्, एतत् प्रकारद्वयं मरणं वाच्यं ४ । पञ्चमके तु ग्लानता भक्तपरिज्ञा च बोद्धव्या ५ । षष्ठे त्वेकत्वम्–एकत्वभावना तथेङ्गितमरणं च बोद्धव्यं ६ । सप्तमकेषु प्रतिमाः–भिक्षुप्रतिमा मासादिका वाच्याः, तथा पादपोपगमनं च ज्ञातव्यमिति ७ । अष्टमके त्वयमर्थाधिकारः, स्तद्यथा–अनुपूर्वविहारिणां–प्रतिपालितदीर्घसंयमानां शास्त्रार्थग्रहणप्रतिपादनोत्तरकालमवसीदत्–संयमाध्ययनाध्यापनक्रियाणां निष्पादितशिष्याणामुत्सर्गतः द्वादशसंवत्सरसंलेखनाक्रमसंलिखितदेहानां भक्तपरिज्ञेङ्गित-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मरणं पादपोपगमनं वा यथा भवति तथोच्यत इति गाथापञ्चकसमासार्थो, व्यासार्थस्तु प्रत्युद्देशकं वक्ष्यते । निक्षेपस्तु त्रिधा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु विमोक्ष इति नाम, तत्र विमोक्षस्य निक्षेपं चिकीर्षुः निर्युक्तिकार आह—

नामंठवणविमुक्खो दव्वे खित्ते य काल भावे य । एसो उ विमुक्खस्सा निक्खेवो छव्विहो होइ ॥ २५८॥

नामविमोक्षः स्थापनाविमोक्षो द्रव्यविमोक्षः क्षेत्रविमोक्षः कालविमोक्षो भावविमोक्षश्चेत्येवं विमोक्षस्य निक्षेपः षोढा भवतीति गाथासमासार्थः ॥ व्यासार्थप्रतिपादनाय तु सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यादिविमोक्षप्रतिपादनद्वारेणाह—

दव्वविमुक्खो नियलाइएसु खित्तंमि चारयाईसुं । काले चेइयमहिमाइएसु अणघायमाईओ ॥ २५९ ॥

द्रव्यविमोक्षो द्वेधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो निगडादिकेषु विषयभूतेषु यो विमोक्षः स द्रव्यविमोक्षः, सुब्व्यत्ययेन वा पञ्चम्यर्थे सप्तमी, निगडादिभ्यो द्रव्येभ्यः सकाशाद्विमोक्षो द्रव्यविमोक्षः, अपरकारकवचनसम्भवस्तु स्वयमभ्यूह्यायोज्यः, तद्यथा–द्रव्येण द्रव्यात् सचित्ताचित्तमिश्राद्विमोक्ष इत्यादि, क्षेत्रविमोक्षस्तु यस्मिन् क्षेत्रे चारकादिके व्यवस्थितो विमुच्यते क्षेत्रदानाद्वा यस्मिन्वा क्षेत्रे व्यावर्ण्यते स क्षेत्रविमोक्षः, कालविमोक्षस्तु चैत्यमहिमादिकेषु कालेष्वनाघातादिघोषणापादितो यावन्तं कालं मुच्यते यस्मिन्वा काले व्याख्यायते सोऽभिधीयते इति गाथार्थः ॥ भावविमोक्षप्रतिपादनायाह—

दुविहो भावविमुक्खो देसविमुक्खो य सव्वमुक्खो य । देसविमुक्खा साहू सव्वविमुक्खा भवे सिद्धा ॥२६०॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावविमोक्षो द्विधा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो, नोआगमतस्तु द्विधा–देशतः सर्वतश्च, तत्र देशतोऽविरतसम्यग्दृष्टिनामाद्यकषायचतुष्कक्षयोपशमाद्देशविरतानामाद्याष्टकषायक्षयोपशमाद्भवति, साधूनां च द्वादशकषायक्षयोपशमात् क्षपकश्रेण्यां च यस्य यावन्मात्रं क्षीणं तस्य तत्क्षयाद्देशविमुक्ततेत्यतः साधवो देशविमुक्ता, भवस्थकेवलिनोऽपि भवोपग्राहिसद्भावाद्देशविमुक्ता एव, सर्वविमुक्ताश्च सिद्धा भवेयुः इति गाथार्थः॥ ननु बन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य निगडादिमोक्षवदित्याशङ्क्याव्यवच्छेदार्थं बन्धाभिधानपूर्वकं मोक्षमाह—

कम्मयदव्वेहि समं संजोगो होइ जो उ जीवस्स। सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो॥ २६१॥

कर्म्मद्रव्यैः[1] कर्म्मवर्गणाद्रव्यैः 'समं' सार्द्धं यः संयोगो जीवस्य सबन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थश्च ज्ञातव्यः, तथैकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्तानन्तैः कर्म्मपुद्गलैर्बद्धः, बध्यमाना अप्यनन्तानन्ता एव, शेषाणामग्रहणयोग्यत्वात्, कथं पुनरष्टप्रकारं कर्म्म बध्नातीति चेद्, उच्यते, मिथ्यात्वोदयादिति, उक्तं च—"[2]कहं णं भंते! जीवा अट्ठ कम्मपगडीओ बंधंति?, गोअमा! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं निअच्छन्ति, दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छन्ति, मिच्छत्तेणं उइन्नेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बं-

१ अत्र कथमन्यथा? इत्येवंरूपा. २ कथं भदन्त! जीवा अष्टकर्मप्रकृतीर्बध्नन्ति?, गौतम! ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन दर्शनावरणीयं कर्म बध्नन्ति (उदयते), दर्शनमोहनीयस्य कर्मण उदयेन मिथ्यात्वं बध्नन्ति (उदयते), मिथ्यात्वेन उदितेन एवं खलु जीवोऽष्टकर्मप्रकृतीर्बध्नाति.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धइ" यदिवा—"णेहंतुप्पिअगत्तस्स रेणुओ लग्गई जहा अंगे । तह रागदोसणेहालियस्स कम्मंपि जीवस्स ॥ १ ॥" इत्यादि, तस्यैवम्भूतस्याष्टप्रकारस्य कर्म्मणः आस्रवनिरोधात् तपसाऽपूर्वकरणक्षपकश्रेणिप्रक्रमेण शैलेश्यवस्थायां वा योऽसौ वियोगः–क्षयः स मोक्षो भवेदिति गाथार्थः ॥ अस्य च प्रधानपुरुषार्थत्वात् प्रारब्धासिधाराव्रतानुष्ठानफलत्वात् तीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तिसद्भावाच्च यथावस्थितमव्यभिचारि मोक्षस्य स्वरूपं दर्शयितुमाह, यदिवा पूर्वं कर्म्मवियोगोद्देशेन मोक्षस्वरूपमभिहितं, साम्प्रतं जीववियोगोद्देशेन मोक्षस्वरूपं दर्शयितुमाह—

जीवस्स अत्तजणिएहि चेव कम्मेहिं पुव्वबद्धस्स । सव्वविवेगो जो तेण तस्स अह इत्तिओ मुक्खो ॥ २६२ ॥

जीवस्यासङ्ख्येयप्रदेशात्मकस्य स्वतोऽनन्तज्ञानस्वभावस्यात्मनैव–मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपरिणतेन जनितानि–बद्धानि यानि कर्म्माणि तैः पूर्वबद्धस्यानादिबन्धबद्धस्य प्रवाहापेक्षया तेन कर्म्मणा 'सर्वविवेकः' सर्वाभावरूपतया यो विश्लेषस्तस्य–जन्तोः 'अथे'त्युपप्रदर्शने एतावन्मात्र एव मोक्षो नापरः परपरिकल्पितो निर्वाणप्रदीपकल्पादिक इति गाथार्थः ॥ उक्तो भावविमोक्षः, स च यस्य भवति तस्यावश्यं भक्तपरिज्ञादिमरणत्रयान्यतरेण मरणेन भाव्यं, तत्र कार्ये कारणोपचारात् तन्मरणमेव भावविमोक्षो भवतीत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—

भत्तपरिन्ना इंगिणि पायवगमणं च होइ नायव्वं । जो मरइ चरिममरणं भावविमुक्खं वियाणाहि ॥ २६३ ॥

भक्तस्य परिज्ञा भक्तपरिज्ञाऽनशनमित्यर्थः, तत्र त्रिविधचतुर्विधाहारनिवृत्तिमान् सप्रतिकर्म्मशरीरो धृतिसंहननवान्

१ स्नेहभ्रक्षितगात्रस्य रेणुर्लगति यथाऽङ्गे । तथा रागद्वेषस्नेहार्द्रस्य कर्मापि जीवस्य ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यथा समाधिर्भवेत्तथाऽनशनं प्रतिपद्यते, तथेङ्गिते प्रदेशे मरणमिङ्गितमरणमिदं चतुर्विधाहारनिवृत्तिस्वरूपं विशिष्टसंहननवतः स्वत एवोद्वर्त्तनादिक्रियायुक्तस्यावगन्तव्यं, तथा परित्यक्तचतुर्विधाहारस्यैवाधिकृतचेष्टाव्यतिरेकेण चेष्टान्तराधिकृत्यैकान्तनिष्प्रतिकर्म्मशरीरस्य पादपस्येवोप–सामीप्येन गमनं–वर्त्तनं पादपोपगमनमेतच्च ज्ञातव्यं भवति, यो हि भवसिद्धिकश्चरमं–अन्तिमं मरणमाश्रित्य म्रियते स एतत्पूर्वोक्तत्रयान्यतरेण मरणेन म्रियते, नान्येन वैहानसादिना बालमरणनेत्येतच्चानन्तरोक्तं मरणं चेष्टाभेदोपाधिविशेषात् त्रैविध्यमनुभवद्भावमोक्षं विजानीहीति गाथार्थः॥ साम्प्रतमेतदेव मरणं सपराक्रमेतरभेदाद् द्विविधमिति दर्शयितुमाह—

सपरिक्कमे य अपरिक्कमए य वाघाय आणुपुव्वीए। सुत्तत्थजाणएणं समाहिमरणं तु कायव्वं ॥ २६४ ॥

'पराक्रमः' सामर्थ्यं सह पराक्रमेण वर्त्तत इति सपराक्रमस्तस्मिंश्च मरणं स्यात्, तद्विपर्यये चापराक्रमे–जङ्घाबलपरिक्षीणे तद्भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनभेदात्त्रिविधमपि मरणं सपराक्रमेतरभेदात् प्रत्येकं द्वैविध्यमनुभवति, तदपि व्याघातिमेतरभेदात् द्विधा भवेत्, तत्र व्याघातः सिंहव्याघ्रादिकृतोऽव्याघातस्तु प्रव्रज्यासूत्रार्थग्रहणादिकयाऽऽनुपूर्व्या विपक्रिममायुष्कक्षयमनुभवतो यो भवति सोऽव्याघात इहानुपूर्वीत्युक्तं, तत्र परमार्थोपक्षेपेणोपसंहरति–व्याघातेनानुपूर्व्या वा सपराक्रमस्यापराक्रमस्य वा मरणे समुपस्थिते सति सूत्रार्थज्ञेन कालज्ञतया समाधिमरणमेव कर्त्तव्यं, भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनानामन्यतरद् यथासमाधि विधेयं, न वैहानसादिकं बालमरणं कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥ तत्र सपराक्रममरणं दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१९६]

दीप अनुक्रम [२०९]

सपरक्कममाएसो जह मरणं होइ अज्जवइराणं । पायवगमणं च तहा एयं सपरक्कमं मरणं ॥ २६५ ॥

सह पराक्रमेण वर्त्तत इति सपराक्रमं, किं तत्?–मरणं आदिश्यते–इत्यादेशः आचार्यपारम्पर्यश्रुत्यायातो वृद्धवादो यमैतिह्यमाचक्षते, स आदेशो 'यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथैतत्तथाऽन्यदप्यनया दिशा द्रष्टव्यं, 'आर्यवैरा'वैरस्वामिनो यथा तेषां मरणमभूत् तथा पादपोपगमनं च, एतच्च सपराक्रमं मरणमन्यत्राप्यायोज्यमिति गाथार्थः ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्च प्रसिद्धमेव यथाऽऽर्यवैरैर्विस्मृतकर्णाहितशृङ्गवेरैः प्रमादादवगतासन्नमृत्युभिः सपराक्रमैरेव रथावर्त्तशिखरिणि पादपोपगमनमकारीति । साम्प्रतमपराक्रमं दर्शयितुमाह—

अपरक्कममाएसो जह मरणं होइ उदहिनामाणं । पाओवगमेऽवि तहा एयं अपरक्कमं मरणं ॥ २६६ ॥

न विद्यते पराक्रमः–सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमं, किं तत्?–मरणं, तच्च यथा जङ्घाबलपरिक्षीणानामुदधिनाम्नाम्-आर्यसमुद्राणां मरणमभूद्, अयमादेशो–दृष्टान्तो वृद्धवादायात इति, पादपोपगमनेऽपि तथैवादेशं जानीयाद् यथा पादपोपगमनेन तेषां मरणमभूदिति, एतद्–अपराक्रमं मरणं यदार्यसमुद्राणां सञ्जातमेवमन्यत्राप्यायोज्यमिति गाथाऽक्षरार्थः ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–आर्यसमुद्रा आचार्याः प्रकृतिकृशा एवासन्, पश्चाच्च तैर्जङ्घाबलपरिक्षीणैः शरीराऽभिमनपेक्ष्य तत्तित्यक्षुभिर्गच्छस्थैरेवानशनं विधाय प्रतिश्रयैकदेशे निर्हारिमं पादपोपगमनमकारि ॥ साम्प्रतं व्याघातिममाह—

वाघाइयमाएसो अवरद्धो हुज्ज अन्नतरएणं । तोसलि महिसीइ हओ एयं वाघाइयं मरणं ॥ २६७ ॥

विशेषेणाघातो व्याघातः–सिंहादिकृतः शरीरविनाशस्तेन निर्वृत्तं तत्र वा भवं व्याघातिमं, कश्चित्सिंहाद्यन्यतरेणाप-

॥ २६२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राद्धो भवेद्–आरब्धो भवेत् तेन यन्मरणं तद्भक्तपरिज्ञाघातिमं, तत्र वृद्धवादायात आदेशो–दृष्टान्तः, यथा–तोसलिनामाचार्यो महिष्याऽऽरब्धश्चतुर्विधाहारपरित्यागेन मरणमभ्युपगतवान् एतद्भक्तपरिज्ञाघातिमं मरणमिति गाथाऽक्षरार्थो, भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–तोसलिनामाचार्योऽरण्यमहिषीभिः प्रारब्धः, तोसलिदेशे वा बह्व्यो महिष्यः सम्भवन्ति, ताभिश्च कदाचिदेकः साधुरटव्यन्तर्वर्त्त्यारब्धः, स च ताभिः क्षुद्यमानोऽनिर्वाहमवगम्य चतुर्विधाहारं प्रत्याख्यातवानिति ॥ साम्प्रतमव्याघातिमप्रतिपादनेच्छयाऽऽह—

अणुपुव्विगमाएसो पव्वज्जासुत्तअत्थकरणं च । वीसज्जिओ(य)निन्तो मुक्को तिविहस्स नीयस्स ॥ २६८ ॥

आनुपूर्वी–क्रमस्तं गच्छतीत्यानुपूर्वीगः, कोऽसौ?–आदेशो–वृद्धवादः, स चायं, तद्यथा–पूर्वमुत्थितस्य प्रव्रज्यादानं, ततः सूत्रकरणं पुनरर्थग्रहणं, ततस्तदुभयनिर्म्मितः सुपात्रनिक्षिप्तसूत्रार्थः गुर्वादिनाऽनुज्ञातोऽभ्युद्यतो मरणत्रिकान्यतराय 'निर्यन्' निर्गच्छन् त्रिविधस्याहारोपधिशय्याख्यस्य नित्यपरिभोगान्नित्यस्य मुक्तो भवति, तत्र यद्याचार्यस्तदा शिष्यान्निष्पाद्याऽपरमाचार्यं विधायोत्सर्गेण द्वादशसांवत्सरिक्या संलेखनया संलिख्य ततो गच्छविसर्जितो गच्छानुज्ञया स्वस्थापिताचार्यविसर्जितो वा अभ्युद्यतमरणायापराचार्यान्तिकमियात्, एवमुपाध्यायः प्रवर्त्तिः स्थविरो गणावच्छेदकः सामान्यसाधुर्वाऽऽचार्यविसर्जितः कृतसंलेखनापरिकर्म्मा भक्तपरिज्ञादिकं मरणमभ्युपेयात्, तत्रापि भावसंलेखनां कुर्यात् ॥ द्रव्यसंलेखनायां तु केवलायां दोषसम्भवादित्याह—

पडिचोइओ य कुविओ रण्णो जह तिक्ख सीयला आणा। तंबोले य विवेगो घट्टणया जा पसाओ य ॥२६९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिचोदितः सन्नाचार्येण पुनरपि संलिखेत्येवमभिहितः 'कुपितः' क्रुद्धो यथा च राज्ञः पूर्वं तीक्ष्णाज्ञा पश्चाच्छीतलीभवति एवमाचार्यस्यापि, 'तम्बोले' नागवल्लीपत्रे च कुथिते शेषरक्षणाय 'विवेकः' परित्यागः कार्यः, ततः 'घट्टना' कदर्थना कार्या, तत्सहिष्णोः पश्चाद्यावत् प्रसाद इति गाथाऽक्षरार्थः, भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–एकेन साधुना द्वादशवर्षसंलेखनयाऽऽत्मानं संलिख्य पुनरभ्युद्यतमरणायाचार्यो विज्ञप्तः, तेनाप्यभाणि–यथाऽद्यापि संलिख, ततोऽसौ कुपितः त्वगस्थिशेषामङ्गुलीं भङ्क्त्वा दर्शयति, किमत्राशुद्धमिति ?, आचार्योऽपि येनाभिप्रायेणोक्तवाँस्तमाविष्करोति–अत एवाशुद्धो भवान्, यतो वचनसमनन्तरमेवाङ्गुलीभङ्गद्वारेण भावाशुद्धतामाविष्कृतवानित्युक्त्वाऽऽचार्यस्तत्प्रतिबोधनाय दृष्टान्तं दर्शयति, यथा–कस्यचिद्राज्ञो नित्यं निष्पन्दिनी लोचने, ते च स्ववैद्योपन्यस्तानुष्ठानवतोऽपि न स्वस्थतामियातां, पुनरागन्तुकेन वैद्येनाभिहितः–स्वस्थीकरोमि भवन्तं यदि मुहूर्त्तं वेदनां तितिक्षसे वेदनार्त्तश्च न मां घातयसीति, राज्ञा चाभ्युपगतं, अञ्जनप्रक्षेपानन्तरोद्भूततीव्रवेदनार्त्तेनापगते ममाक्षिणी इत्येवंवादिना व्यापादयितुमारेभे, ततो राज्ञस्तीक्ष्णाज्ञा, यतश्च पूर्वमव्यापादनमभ्युपगतमतः शीतलेति, मुहूर्त्ताच्चापगतवेदनः पटुनयनश्च पूजितवैद्यो मुमुदे राजेति, एवमाचार्यस्यापि तीक्ष्णा प्रतिचोदनादिकाऽऽज्ञा परमार्थतस्तु शीतलेति, यदि पुनरेवं कथितेऽपि नोपशाम्यति ततः शेषसंरक्षणार्थं विकृतनागवल्लीपत्रस्येव विवेकः क्रियते, अथाचार्योपदेशं प्रतिपद्यते ततो गच्छ एव तिष्ठतो घट्टना दुर्वचनादिभिः कदर्थना क्रियते, यदि च तथापि न ज्वलति ततः शुद्ध इतिकृत्वाऽनशनदानेन प्रतिजागरणेन च प्रसादः क्रियत इति ॥ किम्भूतः पुनः कियन्तं वा कालं कथं वाऽऽत्मानं संलिखेदित्येतत् हृदि व्यवस्थाप्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निप्फाईया य सीसा सउणी जह अंडगं पयत्तेणं । बारससंवच्छरियं सो संलेहं अह करेइ ॥ २७० ॥
चत्तारि विचित्ताइं विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि । संवच्छरे य दुन्नि उ एगंतरियं तु आयामं ॥ २७१ ॥
नाइविगिट्ठो उ तवो छम्मासे परिमियं तु आयामं । अन्नेऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥२७२॥
वासं कोडीसहियं आयामं काउ आणुपुव्वीए । गिरिकंदरंमि गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥ २७३ ॥

सूत्रार्थतदुभयैः स्वशिष्याः प्रातीच्छका वा 'निष्पादिता' योग्यतामापादिताः शकुनिनेवाण्डकं प्रयत्नेन, ततोऽसौ 'अथ' अनन्तरं द्वादशसांवत्सरिकीं संलेखनां करोति, तद्यथा–चत्वारि वर्षाणि 'विचित्राणि' विचित्रतपोऽनुष्ठानवन्ति भवन्ति, चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशादिके कृते पारणकं सविकृतिकमन्यथा वेति, पञ्चमादारभ्य संवत्सरादपराणि चत्वारि वर्षाणि निर्विकृतिकमेव पारणकमिति, नवमदशमसंवत्सरद्वयं त्वेकान्तरितमाचाम्लमेकस्मिन्नहनि चतुर्थमपरेद्युराचाम्लेन पारणकमिति, तत एकादशसंवत्सरं द्विधा विधत्ते–तत्राद्यं षण्मासं नातिविकृष्टं तपः करोति, चतुर्थं षष्ठं वा विधाय परिमितेनाचाम्लेन पारणकं विधत्ते, न्यूनोदरतां करोतीत्यर्थः, अपरषण्मासं तु विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वोक्तमेव पारणकं, द्वादशं तु संवत्सरं कोटीसहितमाचाम्लं करोति, प्रतिदिनमाचाम्लेन भुङ्क्ते, आचाम्लस्य कोट्याः कोटिं मीलयत्यतः कोटीसहितमित्युक्तं, चतुर्मासावशेषे तु संवत्सरे तैलगण्डूषानस्खलितनमस्काराद्यध्ययनायापगतवातमुखयन्त्रप्रचारार्थं पौनःपुन्येन करोतीति, तदेवमनयाऽऽनुपूर्व्या सर्वं विधाय सति सामर्थ्ये गुरुणाऽनुज्ञातो गिरिकन्दरं गत्वा स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्य 'अथ' अनन्तरं पादपोपगमनं करोति, इङ्गितमरणं वा भक्तप्रत्याख्यानं वा यथासमाधि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१९६]

दीप अनुक्रम [२०९]

विधत्त इति गाथाचतुष्टयार्थः॥ अनया च द्वादशसंवत्सरसंलेखनाऽऽनुपूर्व्या क्रमेण आहारं परित्तुं कुर्वत आहाराभिलाषोच्छेदो भवतीत्येतद्गाथाद्वयेन दर्शयितुमाह—

कह नाम सो तवोकम्मपंडिओ जो न निच्चुज्जुत्तप्पा। लहुवित्तीपरिक्खेवं वच्चइ जेमंतओ चेव ?॥ २७४॥
आहारेण विरहिओ अप्पाहारो य संवरनिमित्तं। हासंतो हासंतो एवाहारं निरुंभिज्जा॥ २७५॥

कथं नामासौ तपःकर्मणि पण्डितः स्यात्?, यो न नित्यमुद्युक्तात्मा सन् वर्त्तनं वृत्तिः—द्वात्रिंशत्कवलपरिमाणलक्षणा तस्याः परिक्षेपः—संक्षेपो वृत्तिपरिक्षेपः लघुर्वृत्तिपरिक्षेपोऽस्येति लघुवृत्तिपरिक्षेपः तद्भावं यो भुञ्जान एव न व्रजति कथमसौ तपःकर्मणि पण्डितः स्यात्?, तथाऽऽहारेण विरहितो द्वित्रान् पञ्चषान् वा वासरान् स्थित्वा पुनः पारयति तत्राप्यल्पाहारोऽसौ भवति, किमर्थं?—'संवरनिमित्तम्' अनशननिमित्तं, एवमसावुपवासैः प्रतिपारणकमल्पाहारतया च ह्रासयन् ह्रासयन्नाहारमुक्तविधिना पश्चान्निरुन्ध्याद्—भक्तप्रत्याख्यानं कुर्यादिति गाथाद्वयार्थः॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपस्तन्निर्युक्तिश्च, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से बेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा नो पादेज्जा नो निमंतिज्जा नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि (सू० १९७)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययने प्रथम-उद्देशक: 'असमनोज्ञ विमोक्ष' आरब्ध:,

सोऽहं ब्रवीमि योऽहं भगवतः सकाशात् ज्ञातज्ञेय इति, किं तद्ब्रवीमि ?–वक्ष्यमाणं, तद्यथा—'समनोज्ञस्य वा' वाशब्द उत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः, समनोज्ञो दृष्टितो लिङ्गतो न तु भोजनादिभिः तस्य, तद्विपरीतस्त्वसमनोज्ञः-शाक्यादिस्तस्य वा, अश्यत इत्यशनं–शाल्योदनादि, पीयत इति पानं–द्राक्षापानकादि, खाद्यत इति खादिमं–नालि-केरादि, स्वाद्यत इति स्वादिमं–कर्पूरलवङ्गादि, तथा वस्त्रं वा पात्रं वा पतद्ग्रहं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनं वा, नो प्रद-द्यात्–प्रासुकमप्रासुकं वा तदन्येषां कुशीलानामुपभोगाय नो वितरेत्, नापि दानार्थं निमन्त्रयेत्, न च तेषां वैया-वृत्त्यं कुर्यात्, परम्–अत्यर्थमाद्रियमाण इति, अत्यर्थमादरवान्न तेभ्यः किमपि दद्यात् नापि तानामन्त्रयेत् न च तेषां वैयावृत्त्यमुच्चावचं कुर्यादिति, ब्रवीमीत्यधिकारपरिसमाप्तौ ॥ एतच्च वक्ष्यमाणमहं ब्रवीमीत्याह—

धुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुंछणं वा लभिया नो लभिया भुंजिया नो भुंजिया पंथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाइज्जा वा निमंतिज्ज वा कुज्जा वेयावडियं परं अणाढायमाणे त्तिबेमि (सू० १९८)

ते हि शाक्यादयः कुशीला अशनादिकमुपदर्श्यैवं ब्रूयुः, यथा–ध्रुवं चैतज्जानीयात्–नित्यमस्मदावसथे भवति लभ्यते वाऽतो भवद्भिरेतदशनादिकमन्यत्र लब्ध्वावाऽलब्ध्वा वा भुक्त्वा वाऽभुक्त्वा वा अस्मद्धृतयेऽवश्यमागन्तव्यं, अलब्धे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लाभाय लब्धेऽपि विशेषाय भुक्ते पुनः पुनर्भोजनायाभुक्तेऽपि प्रथमालिकार्थमस्मद्धृतये यथाकथञ्चिदागन्तव्यं, यद्यथा वा भवतां कल्पनीयं भवति तत्तथा दास्याम इति, अनुपथ एवास्मदावसथो भवतां वर्त्तते, अन्यथाऽप्यस्मत्कृते पन्थानं व्यावर्त्यापि वक्रपथेनाप्यागन्तव्यमपक्रम्य वाऽन्यगृहाणि समागन्तव्यं, नात्रागमने खेदो विधेयः, किम्भूतोऽसौ शाक्यादिरिति दर्शयति—'विभक्तं' पृथग्भूतं धर्म्मं 'जुषन्' आचरन्, एतच्च कदाचिल्लतिश्रयमध्येन 'समेमाणे'त्ति समागच्छन् तथा 'चलेमाणे'त्ति गच्छन् ब्रूयाद् यदिवाऽशनादि प्रदद्यात् अशनादिदानेन वा निमन्त्रयेदन्यद्वा प्रश्रयबद्धैयावृत्त्यं कुर्यात्, तस्य कुशीलस्य नाभ्युपेयात् न तेन सह संस्तवमपि कुर्यात्, कथं परम्–अत्यर्थमनादियमाणः–अनादरवान्, एवं हि दर्शनशुद्धिर्भवतीति ब्रवीमीत्येतत्पूर्वोक्तं ॥ यदि वैतद्वक्ष्यमाणमित्याह—

इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि समणुजाणमाणा अदुवा अदिन्नमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति, तंजहा–अत्थि लोए नत्थि लोए धुवे लोए अधुवे लोए साइए लोए अणाइए लोए सपज्जवसिए लोए अपज्जवसिए लोए सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा साहुत्ति वा असाहुत्ति वा सिद्धित्ति वा असिद्धित्ति वा नि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रएत्ति वा अनिरएत्ति वा, जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्थवि जाणह अकस्मात् एवं तेसिं नो सुयक्खाए धम्मे नो सुपन्नत्ते धम्मे भवइ (सू० १९९)

'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'एकेषां' पुरस्कृताशुभकर्म्मविपाकानामाचरणमाचारो–मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो–विषयः नो सुष्ठु निशान्तः–परिचितो भवति, ते चापरिणताचारगोचरा यथाभूताः स्युः तथा दर्शयितुमाह—'ते' अनधीताचारगोचरा भिक्षाचर्याऽस्नानस्वेदमलपरीषहतर्जिताः सुखविहारिभिः शाक्यादिभिरात्मसात्परिणामिताः 'इह' मनुष्यलोके आरम्भार्थिनो भवन्ति, ते वा शाक्यादयोऽन्ये वा कुशीलाः सावद्यारम्भार्थिनः, तथा विहारारामतडागकूपकरणौदेशिकभोजनादिभिर्धर्म्मं वदन्तोऽनुवदन्तः, तथा जहि प्राणिन इत्येवमपरैर्घातयन्तो घ्नतश्चापि समनुजानन्तः, अथवा अदत्तं परकीयं द्रव्यमगणितविपाकास्तिरोहितशुभाध्यवसायाः 'आददति' गृह्णन्तीति, किं च–तत्र प्रथमतृतीयव्रते अल्पवक्तव्यत्वात् पूर्वं प्रतिपाद्य ततो बहुतरवक्तव्यत्वात् द्वितीयव्रतोपन्यास इति, 'अथवेति' पूर्वस्मात् पक्षान्तरोपक्षेपकः, तद्यथा अदत्तं गृह्णन्त्यथवा वाचो विविधं–नानाप्रकारा युञ्जन्ति, 'तद्यथे'त्युपक्षेपार्थः, अस्ति 'लोकः' स्थावरजङ्गमात्मकः, तत्र नवखण्डा पृथ्वी सप्तद्वीपा वसुन्धरेति वा, अपरेषां तु ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्ती, अपरेषां तु प्रभूतान्येवम्भूतानि ब्रह्माण्डान्युदकमध्ये प्लवमानानि संतिष्ठन्ते, तथा सन्ति जीवाः स्वकृतफलभुजः, अस्ति परलोकः, स्तो बन्धमोक्षौ, सन्ति पञ्च महाभूतानि इत्यादि, तथाऽपरे चार्वाका आहुः–नास्ति लोको मायेन्द्रजालस्वप्नकल्पमेवैतत्सर्वं, तथा ह्यविचारितरमणी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यतया भूताभ्युपगमोऽपि तेषामतो नास्ति परलोकानुयायी जीवो, न स्तः शुभाशुभे, किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद्भूतेभ्य एव चैतन्यमित्यादिना सर्वं मायाकारगन्धर्वनगरतुल्यम्, उपपत्त्यक्षमत्वादिति, उक्तं च—"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा । यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ? ॥ १ ॥ भौतिकानि शरीराणि, विषयाः करणानि च । तथापि मन्दैरन्यस्य, तत्त्वं समुपदिश्यते ॥ २ ॥" इत्यादि, तथा साङ्ख्यादय आहुः—'ध्रुवो' नित्यो लोकः, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पादविनाशयोः, असतोऽनुत्पादात् सतश्चाविनाशात्, यदिवा 'ध्रुवः' निश्चलः, सरित्समुद्रभूभूधराभ्राणां निश्चलत्वात्, शाक्यादयस्त्वाहुः–अध्रुवो लोकोऽनित्यः, प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावत्वात्, विनाशहेतोरभावात् नित्यस्य च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायामसामर्थ्यात्, यदिवा 'अध्रुवः' चलः, तथाहि–भूगोलः केषाञ्चिन्मतेन नित्यं चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव, तत्रादित्यमण्डलं दूरत्वाद्ये पूर्वतः पश्यन्ति तेषामादित्योदयः आदित्यमण्डलाधो व्यवस्थितानां मध्याह्नः ये तु दूरातिक्रान्तत्वान्न पश्यन्ति तेषामस्तमित इति, अन्ये पुनः सादिको लोक इति प्रतिपन्नाः, तथा चाहुः—"आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजङ्गमे । नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥ केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते । अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥ तस्य तत्र शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् । तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥ तस्मिन् पद्मे तु भगवान् दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः । ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥ अदितिः सुरसङ्घानां दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् । विनता विहङ्गमानां माता विश्वप्रकारा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णाम् ॥ ६ ॥ कद्रूः सरीसृपाणां सुलसा माता तु नागजातीनाम् । सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुनः सर्वबीजानाम् ॥ ७ ॥" इत्यादि, अपरे तु पुनरनादिको लोक इत्येवं प्रतिपन्नाः, यथा शाक्या एवमाहुः—अनवदग्रोऽयं भिक्षवः! संसारः, पूर्वा च कोटी न प्रज्ञायते, अविद्या निरावरणानां सत्त्वानां न विद्यते, न च सत्त्वोत्पाद इति, तथा सपर्यवसितो लोको, जगत्प्रलये सर्वस्य विनाशसद्भावात्, तथाऽपर्यवसितो लोकः, सतः आत्यन्तिकविनाशासम्भवात्, 'न कदाचिदनीदृशं जगदि'ति वचनात्, तत्र येषां सादिकस्तेषां सपर्यवसितो येषां त्वनादिकस्तेषामपर्यवसित इति, केषाञ्चित्तूभयमपीति, तथा चोक्तम्—"द्वावेव पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १ ॥" इत्यादि, तदेवं परमार्थमजानाना अस्तीत्याद्यभ्युपगमेन लोकं विवदमानाः नानाभूता वाचो नियुञ्जन्ति, तथाऽऽत्मानमपि प्रति विवदन्ते, तद्यथा–सुष्ठु कृतं सुकृतमिति वा दुष्कृतमिति वेत्येवं क्रियावादिनः संप्रतिपद्यन्ते, तथा सुष्ठु कृतं यत् सर्वसङ्गपरित्यागतो महाव्रतमग्राहि, तथाऽपरे दुष्कृतं भवता यदसौ मुग्धमृगलोचना पुत्रमनुत्पाद्योज्झितेति, तथा य एव कश्चिन्नव्योद्यतः कल्याण इत्येवमभिहितः स एवापरेण पाखण्डिकविप्रलब्धः क्लीबोऽयं गृहाश्रमपालनासमर्थोऽनपत्यः पाप इत्येवमभिधीयते, तथा साधुरिति वा असाधुरिति वा स्वमतिविकल्पितरुचिभिरभिधीयते, तथा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा नरक इति वा अनरक इति वा, एवमन्यदप्याश्रित्य स्वाग्रहग्रहिणो विवदन्त इति दर्शयति, 'यदिदं विप्रतिपन्ना' यत्पूर्वोक्तं लोकादिकं तदिदमाश्रित्य विविधं प्रतिपन्ना-विप्रतिपन्नाः, तथा चोक्तम्—"इच्छंति कृत्रिमं सृष्टिवादिनः सर्वमेव मितिलिङ्गम् । कृत्स्नं लोकं माहेश्वरादयः सादिपर्यन्तम् ॥ १ ॥ नारीश्वरजं केचित् केचित्सोमाग्निसम्भवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोकम् । द्रव्यादिषड्विकल्पं जगदेतत्केचिदिच्छन्ति ॥ २ ॥ ईश्वरप्रेरितं केचित्केचिद्ब्रह्मकृतं जगत् । अव्यक्तप्रभवं सर्वं, विश्वमिच्छन्ति कापिलाः ॥ ३ ॥ यादृच्छिकमिदं सर्वं, केचिद्भूतविकारजम् । केचिच्चानेकरूपं तु, बहुधा संप्रधाविताः ॥ ४ ॥" इत्यादि, तदेवमनवगाहितस्याद्वादोदन्वतामेकांशावलम्बिनां मतिभेदाः प्रादुष्यन्ति, तदुक्तम्—"लोकक्रियाऽऽत्मतत्त्वे विवदन्ते वादिनो विभिन्नार्थम् । अविदितपूर्वं येषां स्याद्वादविनिश्चितं तत्त्वम् ॥१॥" येषां तु पुनः स्याद्वादमतं निश्चितं तेषामस्तित्वनास्तित्वादेरर्थस्य नयाभिप्रायेण कथञ्चिदाश्रयणात् विवादाभाव एवेति, अत्र च बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद्, अन्यत्र च सूत्रकृतादौ विस्तरेण सुविहितत्वादिति । ते च विवदन्तः परस्परतो विप्रतिपन्नाः 'मामकम्' इत्यात्मीयं धर्म्मं प्रज्ञापयन्तः स्वतो नष्टाः परानपि नाशयन्ति, तथाहि–केचित्सुखेन धर्म्ममिच्छन्ति अपरे दुःखेनान्ये स्नानादिनेति, तथा मामक एवैको धर्म्मो मोक्षायानिर्वाच्यश्च नापर इत्येवं वदन्तोऽपुष्टधर्म्माणोऽविदितपरमार्थान् प्रतारयन्ति, तेषामुत्तरं दर्शयति–'अत्रापि' अस्ति लोको नास्ति वेत्यादौ जानीत यूयम् 'अकस्मादि'ति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना संस्कृतस्यैवोच्चारणादिहापि तथैवोच्चारित इति, कस्मादिति हेतुर्न कस्मादकस्माद् हेतोरभावादित्यर्थः, तत्रास्ति लोक इत्युक्तेऽत्राप्येवं जानीत यथा न भवत्येवमकस्माद्, हेतोरभावादिति, तथाहि–यद्येकान्तेनैव लोकोऽस्ति ततोऽस्तिना सह समानाधिकरण्याद्यदस्ति तल्लोकः स्याद् एवं च तत्प्रतिपक्षोऽप्यलोकोऽस्तीतिकृत्वा लोक एवालोकः स्याद्, व्याप्यसद्भावे व्यापकस्यापि सद्भावादलोकाभावः, तदभावे च तत्प्रतिपक्षभूतस्य लोकस्य प्रागेवाभावः सर्वगतत्वं वा लोकस्य स्यादिति, अथवा लोकोऽस्ति, न च लोको भवति, लोकोऽपि नामास्ति, न च लोकोऽलोकाभाव इत्येवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्, अनिष्टं चैतत्, किं च–अस्तेर्व्यापकत्वे लोकस्य घटपटादेरपि लोकत्वप्राप्तिः, व्याप्यस्य व्यापकसद्भावनान्तरीयकत्वात्, किं च-अस्ति लोकः इत्येषापि प्रतिज्ञा लोक इतिकृत्वा हेतोरप्यस्तित्वात्, प्रतिज्ञाहेत्वोरेकत्वावाप्तिः, तदेकत्वे हेत्वभावः, तदभावे किं केन सिद्ध्यतीति?, उतास्तित्वादन्यो लोक इत्येवं च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्, तदेवमेकान्तेनैव लोकास्तित्वेऽभ्युपगम्यमाने हेत्वभावः प्रदर्शितः, एवं नास्तित्वप्रतिज्ञायामपि वाच्यं, तथाहि–नास्ति लोक इति ब्रुवन् वाच्यः– किं भवानस्त्युत नेति?, यद्यस्ति किं लोकान्तर्वर्त्ती न वेति, यदि लोकान्तर्गतः कथं नास्ति लोक इति ब्रवीषि?, अथ बहिर्भूतस्ततः खरविषाणवदसद्भूत एवेति कस्य मयोत्तरं दातव्यम्, इत्यनया दिशैकान्तवादिनः स्वयमभ्यूह्य प्रतिक्षेप्तव्या इति, 'एव' मिति यथाऽस्तित्वनास्तित्ववादस्तेषामाकस्मिको–निर्युक्तिकः, एवं ध्रुवाध्रुवादयोऽपि वादा निर्युक्तिका एवेति, अस्माकं तु स्याद्वादवादिनां कथञ्चिदभ्युपगमान्न यथोक्तदोषानुषङ्गो, यतः स्वपरसत्ताव्युदासोपादानाप्राप्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्, अतः स्वद्रव्यक्षेत्रकालस्वभावतोऽस्ति परद्रव्यादिचतुष्टयान्नास्तीति, उक्तं च—"सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्?। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १ ॥" इत्यादि, अलमतिप्रसङ्गेनाक्षरगमनिकार्थत्वात् प्रयासस्य, एवं ध्रुवाध्रुवादिष्वपि पञ्चावयवेन दशावयवेन वाऽन्यथा वैकान्तपक्षं विक्षिप्य स्याद्वादपक्षोऽभ्यूह्यायोज्य इति। साम्प्रतमुपसंहरति—'एवं' उक्तनीत्या तेषामेकान्तवादिनां न स्वाख्यातो धर्म्मो भवति, नापि शास्त्रप्रणयनेन सुप्रज्ञापितो भवति ॥ किं स्वमनीषिकया भवतेदमभिधीयते?, नेत्याह–यदिवा किम्भूतस्तर्हि सुप्रज्ञापितो धर्म्मो भवतीत्याह—

से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्तिबेमि सव्वत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए, गामे वा अदुवा रण्णे नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया, जामा तिन्नि उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया (सू० २००)

तद्यथा 'इदं' स्याद्वादरूपं वस्तुनो लक्षणं समस्तव्यवहारानुयायि क्वचिदप्यप्रतिहतं 'भगवता' श्रीवर्द्धमानस्वामिना प्रवेदितम्, एतद्वाऽनन्तरोक्तं भगवता प्रवेदितमिति, किम्भूतेनेति दर्शयति–आशुप्रज्ञेन, निरावरणत्वात् सततोपयुक्तेनेत्यर्थः, किं यौगपद्येन ?, नेति दर्शयति—'जानता' ज्ञानोपयुक्तेन, तथा 'पश्यता' दर्शनोपयुक्तेनैतत्प्रवेदितं, यथा नैषामेकान्तवादिनां धर्म्मः स्वाख्यातो भवति, अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्य–भाषासमितिः कार्येत्येतत्प्रवेदितं भगवता, यदिवा अस्ति नास्ति ध्रुवाध्रुवादिवादिनां वादायोत्थितानां त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां प्रावादुकशतानां वादलब्धिमतां प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपन्यासद्वारेण तदुपन्यस्तदूषणोपन्यासेन च तत्पराजयापादनतः सम्यगुत्तरं देयम्, अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्य विधेयेत्येतदहं ब्रवीमि, वक्ष्यमाणं चेत्याह–तान् वादिनो वादायोत्थितानेवं ब्रूयाद्–यथा भवतां सर्वेषामपि पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पत्यारम्भः कृतकारितानुमतिभिरनुज्ञातोऽतः सर्वत्र 'सम्मतम्' अभिप्रेतमप्रतिषिद्धं 'पापं' पापानुष्ठानं, मम तु नैतत्सम्मतमित्येतद्दर्शयितुमाह—'तदेव' एतत्पापानुष्ठानमुप–सामीप्येनातिक्रम्य–अतिलङ्घ्य यतोऽहं व्यवस्थि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२००]

दीप अनुक्रम [२१३]

तोऽत एष मम विवेको व्याख्यातः, तत्कथमहं सर्वाप्रतिषिद्धास्त्रवद्वारैः संभाषणमपि करिष्ये ?, आस्तां तावद्वाद इत्येवमसमनुज्ञविवेकं करोतीति, अत्राह चोदकः–कथं तीर्थिकाः सम्मतपापा अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयोऽचरित्रिणोऽतपस्विनो वेति ?, तथाहि–तेऽप्यकृष्टभूमिवनवासिनो मूलकन्दाहारा वृक्षादिनिवासिनश्चेति, अत्राहाचार्यः–नारण्यवासादिना धर्मः, अपि तु जीवाजीवपरिज्ञानात् तत्पूर्वकानुष्ठानाच्च, तच्च तेषां नास्तीत्यतोऽसमनोज्ञास्ते इति । किं च–सदसद्विवेकिनो हि धर्म्मः, स च ग्रामे वा स्यात् अथवाऽरण्ये, नैवाधारो ग्रामो नैवारण्यं धर्म्मनिमित्तं, यतो भगवता न वसिममितरद्वाऽऽश्रित्य धर्म्मः प्रवेदितः, अपि तु जीवादितत्त्वपरिज्ञानात् सम्यगनुष्ठानाच्च, अतस्तं धर्ममाजानीत 'प्रवेदितं' कथितं 'माहणेण'त्ति भगवता, किम्भूतेन ?–'मतिमता' मननं–सर्वपदार्थपरिज्ञानं मतिस्तद्वता मतिमता केवलिनेत्यर्थः । किंभूतो धर्म्मः प्रवेदित इत्याह—'यामा' व्रतविशेषाः त्रय उदाहृताः, तद्यथा–प्राणातिपातो मृषावादः परिग्रहश्चेति, अदत्तादानमैथुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावात् त्रयग्रहणं, यदिवा यामा–वयोविशेषाः, तद्यथा–अष्टवर्षादाविंशतः प्रथमस्तत ऊर्द्ध्वमाषष्टेः द्वितीयस्तत ऊर्द्ध्वं तृतीय इति अतिबालवृद्धयोर्व्युदासो, यदिवा यम्यते–उपरम्यते संसारभ्रमणादेभिरिति यामाः–ज्ञानदर्शनचारित्राणीति ते 'उदाहृता' व्याख्याताः, यदि नामैवं ततः किमित्याह—'येषु' अवस्थाविशेषेषु ज्ञानादिषु वा इमे देशार्या अपाकृतहेयधर्म्मा वा सम्बुध्यमानाः सन्तः समुत्थिताः, के ?–ये 'निर्वृताः' क्रोधाद्यपगमेन शीतीभूताः पापेषु कर्म्मसु 'अनिदाना' निदानरहिताः ते 'व्याख्याताः' प्रतिपादिता इति ॥ क्व च पुनः पापकर्म्मस्वनिदाना इत्यत आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०१]

दीप अनुक्रम [२१४]

उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंति च णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारम्भेणं तं परिन्नाय मेहावी नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभाविज्जा नेवन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंतेऽवि समणुजाणेज्जा जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसिंपि वयं लज्जामो तं परिन्नाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा नो दंडभी दंडं समारंभिज्जासि त्तिबेमि (सू० २०१) ॥ विमोक्षाध्ययनोद्देशकः ८–१ ॥

ऊर्द्ध्वमधस्तिर्यग्दिक्षु 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः सर्वा याः काश्चन दिशः चशब्दादनुदिशश्च 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'प्रत्येकं जीवेषु' एकेन्द्रियसूक्ष्मेतरादिकेषु यः कर्म्मसमारम्भः–जीवानुद्दिश्य य उपमर्दरूपः क्रियासमारम्भः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे तं कर्म्मसमारम्भं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत, कोऽसौ ?—'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थित इति, कथं प्रत्याचक्षीतेत्याह–नैव स्वयमात्मना 'एतेषु' चतुर्दशभूतग्रामावस्थितेषु 'कायेषु' पृथिवीकायादिषु 'दण्डम्' उपमर्दं समारभेत, न चापरेण समारम्भयेत्, नैवान्यान् समारभमाणान् समनुजानीयात्, ये चान्ये दण्डं समारभन्ते, सुब्व्यत्ययेन तृतीयार्थे षष्ठी, तैरपि वयं लज्जाम इत्येवं कृताध्यवसायः सन् तज्जीवेषु कर्म्मसमारम्भं महतेऽनर्थाय 'परि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०१]

दीप अनुक्रम [२१४]

ज्ञाय' ज्ञात्वा 'मेधावी' मर्यादावान्, तथा पूर्वोक्तं दण्डमन्यद्वा मृषावादादिकं दण्डाद्बिभेतीति दण्डभीः सन् नो 'दण्डं' प्राण्युपमर्दादिकं समारभेथाः, करणत्रिकयोगत्रिकेण परिहरेदिति, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्। विमोक्षाध्ययने प्रथमोद्देशक इति ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशकेऽनघसंयमप्रतिपालनाय कुशीलपरित्यागोऽभिहितः, स चैतावताऽकल्पनीयपरित्यागमृते न सम्पूर्णतामियाद् अतोऽकल्पनीयपरित्यागार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा चिट्ठिज्ज वा निसीइज्ज वा तुयट्टिज्ज वा सुसाणंसि वा सुन्नागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा कुंभारायणंसि वा हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया–आउसंतो समणा! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययने द्वितीय-उद्देशकः 'अकल्पनीय विमोक्ष' आरब्धः,

अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुंजह व-
सह, आउसंतो समणा! भिक्खू तं गाहावइं समणसं सवयसं पडियाइक्खे–आउ-
संतो! गाहावई नो खलु ते वयणं आढामि नो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं
मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ पाणाइं वा ४ समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पा-
मिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएसि आवसहं वा समुस्सिणासि, से
विरओ आउसो गाहावई! एयस्स अकरणयाए (सू० २०२)

'स' कृतसामायिकः सर्वसावद्याकरणतया प्रतिज्ञामन्दरमारूढो भिक्षणशीलो भिक्षुः भिक्षार्थमन्यकार्याय वा 'पराक्रमेत' विहरेत् तिष्ठेद्वा ध्यानव्यग्रो निषीदेद्वा अध्ययनाध्यापनश्रवणश्रावणादृतः, तथा श्रान्तः क्वचिदध्वानादौ त्वग्वर्त्तनं वा विदध्यात्, कैतानि विदध्यादिति दर्शयति—'श्मशाने वा' शबानां शयनं श्मशानं–पितृवनं तस्मिन् वा, तत्र च त्व-ग्वर्त्तनं न सम्भवत्यतो यथासम्भवं पराक्रमणाद्यायोज्यं, तथाहि–गच्छवासिनस्तत्र स्थानादिकं न कल्पते, प्रमादस्खलि-तादौ व्यन्तराद्युपद्रवात्, तथा जिनकल्पार्थं सत्त्वभावनां भावयतोऽपि न पितृवनमध्ये निवासोऽनुज्ञातः, प्रतिमाप्रति-पन्नस्य तु यत्रैव सूर्योऽस्तमुपयाति तत्रैव स्थानं, जिनकल्पिकस्य वा, तदपेक्षया श्मशानसूत्रम्, एवमन्यदपि यथासम्भव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मायोज्यं, शून्यागारे वा गिरिगुहायां वा 'हुरत्था व'त्ति अन्यत्र वा ग्रामादेर्बहिस्तं भिक्षुं क्वचिद्विहरन्तं गृहपतिरुपसंक्रम्य विनेयदेशं गत्वा 'ब्रूयाद्' वदेदिति, यच्च ब्रूयात्तद्दर्शयितुमाह–साधुं श्मशानादिषु परिक्रमणादिकां क्रियां कुर्वाणमुपसङ्क्रम्य–उपेत्य पूर्वस्थितो वा गृहस्थः प्रकृतिभद्रकोऽभ्युपेतसम्यक्त्वो वा साध्वाचाराकोविदः साधुमुद्दिश्यैतद्ब्रूयात्–यथैते लब्धापलब्धभोजिनः त्यक्तारम्भाः सानुक्रोशाः सत्यशुचय एतेषु निक्षिप्तमक्षयमित्यतोऽहमेतेभ्यो दास्यामीत्यभिसन्धाय साधुमुपतिष्ठते, वक्ति च–आयुष्मन्! भोः श्रमण! अहं संसारार्णवं समुत्तितीर्षुः 'खलुः' वाक्यालङ्कारे 'तवार्थाय' युष्मन्निमित्तं अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा तथा वस्त्रं वा पतद्ग्रहं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनं वा समुद्दिश्य–आश्रित्य किं कुर्यादिति दर्शयति–पञ्चेन्द्रियोच्छ्वासनिश्वासादिसमन्विताः प्राणिनस्तान्, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भूतानि तानि, तथा जीवितवन्तो जीवन्ति जीविष्यन्तीति वा जीवाः तान्, सक्ताः सुखदुःखेष्विति सत्त्वास्तान् समारभ्य–उपमर्द्य, तथाहि–अशनाद्यारम्भे प्राण्युपमर्दोऽवश्यंभावी, एतच्च समस्तं व्यस्तं वा कश्चित्प्रतिपद्येत, इयं चाविशुद्धिकोटिर्गृहीता, सा चेमा—"[1]आहाकम्मुद्देसिअ मीसज्जा बायरा य पाहुडिआ । पूइअ अज्झोयरगो उग्गमकोडी अ छब्भेआ ॥ १ ॥" विशुद्धिकोटिं दर्शयति—'क्रीतं' मूल्येन गृहीतं 'पामिच्चं'ति अपरस्मादुच्छिन्नमुद्यतकं गृहीतं, बलात्कारितया वाऽन्यस्मादाच्छिद्य राजोपसृष्टो वाऽन्येभ्यो गृहिभ्यः साधोर्दास्यामीत्याच्छिन्द्यात्, तथा 'अनिसृष्टं' परकीयं यत्तदन्तिके तिष्ठति न च परेण तस्य निसृष्टं–दत्तं तदनिसृष्टं, तदेवंभूतमपि साधोर्दानाय प्रतिपद्यते, तथा स्वगृहादाहृत्य

१ आधाकर्मौद्देशिके मिश्रजातं बादरा च प्राभृतिका । पूतिश्च अध्यवपूरक उद्गमकोटी च षड्भेदा ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'चेएमि'त्ति ददामि तुभ्यं वितरामि, एवमशनादिकमुद्दिश्य ब्रूयात्, तथा 'आवसथं वा' युष्मदाश्रयं समुच्छृणोमि–आदेरारभ्यापूर्वं करोमि संस्कारं वा करोमीत्येवं प्राञ्जलिरवनतोत्तमाङ्गः सन् अशनादिना निमन्त्रयेत्, यथा–भुङ्क्ष्वाशनादिकं मत्संस्कृतावसथे वसेत्यादि, द्विवचनबहुवचने अप्यायोज्ये । साधुना तु सूत्रार्थविशारदेनादीनमनस्केन प्रतिषेधितव्यमित्याह—आयुष्मन्! श्रमण! भिक्षो! तं गृहपतिं समनसं सवयसमन्यथाभूतं वा प्रत्याचक्षीत, कथमिति चेद्दर्शयति –यथा आयुष्मन्! भो गृहपते! न खलु तवैवंभूतं वचनमहमाद्रिये, खलुशब्दोऽपिशब्दार्थे, स च समुच्चये, नापि तवैतद्वचनं 'परिजानामि' आसेवनपरिज्ञानेन परिविदधेऽहमित्यर्थः, यस्त्वं मम कृतेऽशनादि प्राण्युपमर्देन विदधासि यावदावसथसमुच्छ्रयं विदधासि, भो आयुष्मन् गृहपते! विरतोऽहमेवम्भूतादनुष्ठानात्, कथम्?–एतस्य–भवदुपन्यस्तस्याकरणतयेत्यतो भवदीयमभ्युपगमं न जानेऽहमिति ॥ तदेवं प्रसह्याशनादिसंस्कारप्रतिषेधः प्रतिपादितो, यदि पुनः कश्चिद्विदितसाध्वभिप्रायः प्रच्छन्नमेव विदध्यात्तदपि कुतश्चिदुपलभ्य प्रतिषेधयेदित्याह—

से भिक्खुं परिक्कमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइ भिक्खू परिघासेउं, तं च भिक्खू जाणिज्जा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुच्चा–अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव

॥ २७१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि (सू० २०३)

तं भिक्षुं क्वचित् श्मशानादौ विहरन्तमुपसङ्क्रम्य प्राञ्जलिर्वन्दित्वा गृहपतिः प्रकृतिभद्रकादिकः कश्चिदात्मगतया प्रेक्षयाऽनाविष्कृताभिप्रायः केनचिदलक्ष्यमाणो यथाऽहमस्य दास्यामीत्यशनादिकं प्राण्युपमर्देनारभेत, किमर्थमिति चेदर्शयति–तदशनादिकं भिक्षुं 'परिघासयितुं' भोजयितुं, साधुभोजनार्थमित्यर्थः, आवसथं च साधुभिरधिवासयितुमिति, तदशनादिकं साध्वर्थं निष्पादितं भिक्षुः 'जानीयात्' परिच्छिन्द्यात्, कथमित्याह—स्वसन्मत्या परव्याकरणेन वा तीर्थकरोपदिष्टोपायेन वा अन्येभ्यो वा तत्परिजनादिभ्यः श्रुत्वा जानीयादिति वर्त्तते, यथाऽयं खलु गृहपतिर्मदर्थमशनादिकं प्राण्युपमर्देन विधाय मह्यं ददात्यावसथं च समुच्छृणोति, तद्भिक्षुः सम्यक् 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्यावगम्य च ज्ञात्वा 'ज्ञापयेत्' तं गृहपतिमनासेवनया यथाऽनेन विधानेनोपकल्पितमाहारादिकं नाहं भुञ्जे एवं तस्य ज्ञापनं कुर्याद्, यद्यसौ श्रावकस्ततो लेशतः पिण्डनिर्युक्तिं कथयेद्, अन्यस्य च प्रकृतिभद्रकस्योद्गमादिदोषानाविर्भावयेत् प्रासुकदानफलं च प्ररूपयेत्, यथाशक्तितो धर्म्मकथां च कुर्यात्, तद्यथा—"काले देशे कल्प्यं श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च । सत्कृत्य च दातव्यं दानं प्रयतात्मना सद्म्यः ॥ १ ॥" तथा—"दानं सत्पुरुषेषु स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन । वटकणिकेव महान्तं न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥ २ ॥ दुःखसमुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन । लघुनेव मकरनिलयं वणिजः सद्यानपात्रेण ॥ ३ ॥" इत्यादि, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्येतत्पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं चेत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिक्खुं च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति, से हंता हणह खणह छिंदह दहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसाकारेह विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे, तक्किया णमणेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण संमं पडिलेहए आयतगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइयं (सू० २०४)

'चः' समुच्चये 'खलुः' वाक्यालङ्कारे भिक्षणशीलो भिक्षुस्तं भिक्षुं पृष्ट्वा कश्चिद्यथा भो भिक्षो ! भवदर्थमशनादिकमावसथं वा संस्करिष्येऽननुज्ञातोऽपि तेनासौ तत्करोत्यवश्यमयं चादुभिर्बलात्कारेण वा ग्राहयिष्यते, अपरस्त्वीषत्साध्वाचारविधिज्ञोऽतोऽपृष्ट्वैव छद्मना ग्राहयिष्यामीत्यभिसन्धायाशनादिकं विदध्यात्, स च तदपरिभोगे श्रद्धाभङ्गाच्चादुशताग्रहणाच्च रोषावेशान्निःसुखदुःखतयाऽलोकज्ञा इत्यनुशयाच्च राजानुसृष्टतया च न्यक्कारभावनातः प्रद्वेषमुपगतो हननादिकमपि कुर्यादिति दर्शयति–एकाधिकारे बहुतिदेशाद्य इमे प्रश्नपूर्वकमप्रश्नपूर्वकं वा आहारादिकं 'अन्थात्' महतो द्रव्यव्ययाद् 'आहृत्य' ढौकित्वा आहृतग्रन्था वा–व्ययीकृतद्रव्या वा तदपरिभोगे 'स्पृशन्ति' उपतापयन्ति, कथमिति चेदर्शयति—'स' ईश्वरादिः प्रद्विष्टः सन् हन्ता स्वतोऽपरांश्च हननादौ चोदयति, तद्यथा–हतैनं साधुं दण्डाभि-'क्षणुत'व्यापादयत छिन्नहस्तपादादिकं दहत अग्न्यादिना पचत उरुमांसादिकं आलुम्पत वस्त्रादिकं विलुम्पत सर्वस्वाः

॥ २७२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहारेण सहसात् कारयत–आशु पञ्चत्वं नयत तथा विविधं परामृशत–नानापीडाकरणैर्बाधयत, तांश्चैवम्भूतान् 'स्पर्शान्' दुःखविशेषान् 'धीरः' अक्षोभ्यः तैः स्पर्शैः स्पृष्टः सन्नधिसहेत, तथा परैः क्षुत्पिपासापरीषहैः स्पृष्टः सन्नधिसहेत, न तु पुनरुपसर्गैः परीषहैर्वा तर्जितो विक्लवतामापन्नस्तदुद्देशिकादिकमभ्युपेयादनुकूलैर्वा सान्त्ववादादिभिरुपसर्गितो नाद्याद्, अपि तु सति सामर्थ्ये जिनकल्पिकादन्यः आचारगोचरमाचक्षीतेत्याह–नानाविधोपसर्गजनितान् स्पर्शानधिसहेत, अथवा साधूनामाचारगोचरम्–आचारानुष्ठानविषयं मूलोत्तरगुणभेदभिन्नमाचक्षीत, न पुनर्नयैर्द्रव्यविचारं, तत्रापि मूलगुणस्थैर्यार्थमुत्तरगुणान् तत्रापि पिण्डैषणाविशुद्धिमाचक्षीत, अत्र च पिण्डैषणासूत्राणि पठितव्यानि, अपि च—"यत्स्वयमदुःखितं स्यान्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपग्रहकरं धर्म्मकृते तद्भवेद्देयम् ॥ १ ॥" किं सर्वस्य सर्वं कथयेत् ?, नेति दर्शयति—'तर्कयित्वा' पर्यालोच्य पुरुषं, तद्यथा–कोऽयं पुरुषः कश्च नतोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो मध्यस्थः प्रकृतिभद्रको वेत्येवमुपयुज्य यथार्हं यथाशक्ति चावेदयेत्, सत्यां च शक्तौ पञ्चावयवेनान्यथा वा वाक्येनानीदृशम्–अनन्यसदृशं स्वपरपक्षस्थापनाव्युदासद्वारेणावेदयेदिति, अथ सामर्थ्यविकलः स्यात् कुप्यति वा कथ्यमानेऽसावनुकूलप्रत्यनीकस्ततो वाग्गुप्तिर्विधेयेत्याह–सति सामर्थ्ये शृण्वति वा दातरि आचारगोचरमाचक्षीत, 'अथवे'त्यन्यथाभावे तु वाग्गुप्त्या व्यवस्थितः सन्नात्महितमाचरन् 'गोचरस्य' पिण्डविशुद्ध्यादेराचारगोचरस्य 'आनुपूर्व्या' उद्गमप्रश्नादिरूपया सम्यगशुद्धिं प्रत्युपेक्षेत, किम्भूतः ?–आत्मगुप्तः सन्, सततोपयुक्त इत्यर्थः, नैतन्मयोच्यत इत्याह—'बुद्धैः' कल्प्याकल्प्यविधिज्ञैः 'एतत्' पूर्वोक्तं प्रवेदितम् ॥ एतद्वा वक्ष्यमाणमित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से समणुन्ने असमणुन्नस्स असमणं वा जाव नो पाइज्जा नो निमंतिज्जा नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेमि (सू० २०५)

न केवलं गृहस्थेभ्यः कुशीलेभ्यो वा अकल्प्यमितिकृत्वाऽऽहारादिकं न गृह्णीयात्, स समनोज्ञोऽसमनोज्ञाय तत् पूर्वोक्तमशनादिकं न प्रदद्यात्, नापि परम्–अत्यर्थमाद्रियमाणोऽशनादिनिमन्त्रणतोऽन्यथा वा तेषां वैयावृत्त्यं कुर्यादिति, ब्रवीमीतिशब्दावधिकारपरिसमाप्त्यर्थौ । किम्भूतस्तर्हि किम्भूताय दद्यादित्याह—

धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा जाव कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे (सू० २०६) त्तिबेमि ॥ ८–२ ॥

'धर्म्मं' दानधर्म्मं जानीत यूयं 'प्रवेदितं' कथितं, केन ?–श्रीवर्द्धमानस्वामिना, किम्भूतेन ?—'मतिमता' केवलिना, किम्भूतं धर्म्ममिति दर्शयति–यथा समनोज्ञः–साधुरुद्युक्तविहारी अपरस्मै–समनोज्ञाय चारित्रवते संविग्नाय साम्भोगिकायैकसामाचारीप्रविष्टायाशनादिकं चतुर्विधं तथा वस्त्रादिकमपि चतुर्द्धा 'प्रदद्यात्' प्रयच्छेत्, तथा तदर्थं च निमन्त्रयेत्, पेशलमन्यद्वा वैयावृत्त्यम्–अङ्गमर्दनादिकं कुर्यात्, नैतद्विपर्यस्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः कुतीर्थिकेभ्यः पार्श्वस्थादिभ्योऽसंविग्नेभ्योऽसमनोज्ञेभ्यो वेत्येतत्पूर्वोक्तं कुर्यादिति, किन्तु समनोज्ञेभ्य एव परम्–अत्यर्थमाद्रियमाणस्तदर्थसीदने परमुत्त्थ्यमानः सम्यग्वैयावृत्त्यं कुर्यात्, तदेवं गृहस्थादयः कुशीलादयस्त्याज्या इति दर्शितम्, अयं तु विशेषो–गृहस्थेभ्यो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०६]

दीप अनुक्रम [२१९]

यावल्लभ्यते तावद्गृह्यते, केवलमकल्पनीयं प्रतिषिध्यते, असमनोज्ञेभ्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेध इति । इतिब्रवीमि-शब्दौ पूर्ववद् । विमोक्षाध्ययने द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥ ८–२ ॥

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशकेऽकल्पनीयाहारादिप्रति-षेधोऽभिहितस्तत्प्रतिषेधकुपितस्य दातुर्यथावस्थितपिण्डदानप्ररूपणा च, तदिहाप्याहारादिनिमित्तं प्रविष्टेन शीताद्यङ्गोत्क-म्पदर्शनान्यथाभाववतो गृहपतेर्यथावस्थितपदार्थावेदनतो गीतार्थेन साधुनाऽसदारेकाऽपनेयेत्यनेन सम्बन्धेनायातस्या-स्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया, सुच्चा मेहावी वयणं पंडियाणं निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा अपरिग्गहेमाणा नो परिग्गहावंती सव्वावंति च णं लोगंसि निहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए, ओए जुइमस्स खेयन्ने उववायं चवणं च नच्चा (सू० २०७)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययने तृतीय-उद्देशक: 'अंगचेष्टाभाषित' आरब्ध:,

इह त्रीणि वयांसि–युवा मध्यमवया वृद्धश्चेति, तत्र मध्यमवयाः परिपक्वबुद्धित्वाद्धर्म्मार्ह इत्यादौ दर्शयति–मध्यमेन वयसाऽप्येके सम्बुध्यमानाः धर्म्मचरणाय सम्यगुत्थिताः समुत्थिता इति, सत्यपि प्रथमचरमवयसोरुत्थाने यतो बाहुल्याद्योग्यत्वाच्च प्रायो विनिवृत्तभोगकुतूहल इति निष्प्रत्यूहधर्म्माधिकारीति मध्यमवयोग्रहणं । कथं सम्बुध्यमानाः समुत्थिता इत्याह–इह त्रिविधाः सम्बुध्यमानका भवन्ति, तद्यथा–स्वयंबुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः बुद्धबोधिताश्च, तत्र बुद्धबोधितेनेहाधिकार इति दर्शयति—'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितः 'पण्डितानां' तीर्थकृदादीनां 'वचनं' हिताहितप्राप्तिपरिहारप्रवर्त्तकं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य पूर्वं पश्चात् 'निशम्य' अवधार्य समतामालम्बेत, किमिति ?–यतः समतया–माध्यस्थ्येनार्यैः–तीर्थकृद्भिर्धर्म्मः–श्रुतचारित्राख्यः 'प्रवेदितः' आदौ प्रकर्षेण वा कथित इति, ते च मध्यमे वयसि श्रुत्वा धर्म्मं सम्बुध्यमानाः समुत्थिताः सन्तः किं कुर्युरित्याह–ते निष्क्रान्ताः मोक्षमभि प्रस्थिताः कामभोगानभिकाङ्क्षन्तः तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्तः परिग्रहमपरिगृह्णन्तः, आद्यन्तयोर्ग्रहणे मध्योपादानमपि द्रष्टव्यम्, तथा (तो) मृषावादमवदन्त इत्याद्यपि वाच्यम्, एवम्भूताः स्वदेहेऽप्यममत्वाः 'सव्वावंति'त्ति सर्वस्मिन्नपि लोके, चः समुच्चये स च भिन्नक्रमः, 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, नो परिग्रहवन्तश्च भवन्तीतियावत्, किं च–प्राणिनो दण्डयतीति दण्डः–परितापकारी तं दण्डं प्राणिषु प्राणिभ्यो वा 'निधाय' क्षिप्त्वा त्यक्त्वा 'पापं' पापोपादानं 'कर्म्म' अष्टादशभेदभिन्नं तत् 'अकुर्वाणः' अनाचरन्नेषु महान्,न विद्यते ग्रन्थः सबाह्याभ्यन्तरोऽस्येत्यग्रन्थः 'व्याख्यातः' तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादित इति । (कश्चैवम्भूतः स्यादित्याह—'ओजः' अद्वितीयो रागद्वेषरहितः 'द्युतिमान्' संयमो मोक्षो वा तस्य 'खेदज्ञो' निपुणो देवलोकेऽप्युपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा सर्वस्थानानि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्यताहितमतिः पापकर्म्मवर्जी स्यादिति । केचित्तु मध्यमवयसि समुत्थिता अपि परीषहेन्द्रियैर्ग्लानतां नीयन्त इति दर्शयितुमाह—

आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं (सू० २०८)

आहारेणोपचयो येषां ते आहारोपचयाः, के ते ?–दिह्यन्त इति देहास्तदभावे तु म्लायन्ते म्रियन्ते वा, तथा 'परीषहप्रभङ्गिनः' परीषहैः सद्भिर्भङ्गुरा देहा भवन्ति, ततश्चाहारोपचितदेहा अपि प्राप्तपरीषहा वातादिक्षोभेण वा पश्यत यूयमेके क्लीबाः सर्वैरिन्द्रियैर्ग्लायमानैः क्लीबतामीयुः, तथाहि–क्षुत्पीडितो न पश्यति न शृणोति न जिघ्रतीत्यादि, तत्र केवलिनोऽप्याहारमन्तरेण शरीरं ग्लानभावं यायाद् आस्तां तावदपरः प्रकृतिभङ्गुरशरीर इति, स्यान्मतं–अकेवल्यकृतार्थत्वात् क्षुद्वेदनीयसद्भावाच्चाहारयति दयादीनि व्रतान्यनुपालयति, केवली तु नियमात् सेत्स्यतीत्यतः किमर्थं शरीरं धारयति ? तद्धरणार्थं चाहारयतीति?, अत्रोच्यते, तस्यापि चतुःकर्म्मसद्भावान्नैकान्तेन कृतार्थता, तत्कृते शरीरं बिभृयात्, तद्धरणं च नाहारमन्तरेण, क्षुद्वेदनीयसद्भावाच्चेति, तथाहि–वेदनीयसद्भावात्तत्कृता एकादशापि परीषहाः केवलिनो व्यस्तसमस्ताः प्रादुष्यन्ति इत्यत आहारयत्येव केवलीति स्थितम्, अत आहारमृते ग्लानतेन्द्रियाणामिति प्रतिपादितं ॥ विदितवेद्यश्च परीषहपीडितोऽपि किं कुर्यादित्याह—

ओए दयं दयइ, जे संनिहाणसत्थस्स खेयन्ने से भिक्खू कालन्ने बलन्ने मायन्ने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खणन्ने विणयन्ने समयन्ने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाइ अपडिन्ने दुहओ छित्ता नियाइं (सू० २०९)

'ओजः' एको रागादिरहितः सन् सत्यपि क्षुत्पिपासादिपरीषहे 'दयामेव दयते' कृपां पालयति, न परीषहैः तर्जितो दयां खण्डयतीत्यर्थः । कः पुनर्दयां पालयतीत्याह–यो हि लघुकर्म्मा सम्यङ् निधीयते नारकादिगतिषु येन तत्सन्निधानं–कर्म्म तस्य स्वरूपनिरूपकं शास्त्रं तस्य खेदज्ञो–निपुणो, यदिवा सन्निधानस्य–कर्म्मणः शस्त्रं–संयमः सन्निधानशस्त्रं तस्य खेदज्ञः–सम्यक् संयमस्य वेत्ता, यश्च संयमविधिज्ञः स भिक्षुः कालज्ञः–उचितानुचितावसरज्ञः, एतानि च सूत्राणि लोकविजयपञ्चमोद्देशकव्याख्यानुसारेण नेतव्यानीति, तथा बलज्ञो मात्रज्ञः क्षणज्ञो विनयज्ञः समयज्ञः परिग्रहममत्वेन अचरन् कालेनोत्थायी अप्रतिज्ञः उभयतश्छेत्ता, स चैवम्भूतः संयमानुष्ठाने निश्चयेन याति निर्यातीति ॥ तस्य च संयमानुष्ठाने परिव्रजतो यत्स्यात्तदाह—

तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया–आउसंतो समणा ! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ?, आउसंतो गाहावई ! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अगणिकायं उज्जालित्तए वा (पज्जालित्तए वा) कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अन्नेसिं वा वयणाओ, सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि (सू० २१०) ॥ ८–३ ॥

'तम्' अन्तप्रान्ताहारतया निस्तेजसं निष्किञ्चनं भिक्षणशीलं भिक्षुमतिक्रान्तसोष्मयौवनावस्थं सम्यक्त्वक्राणाभावतया शीतस्पर्शपरिवेपमानगात्रं उपसङ्क्रम्य–आसन्नतामेत्य गृहपतिः–ऐश्वर्योष्मानुगतो मृगनाभ्यनुविद्धकश्मीरजबहलरसानुलिप्तदेहो मीनमदागुरुघनसारधूपितरल्लिकाच्छादितवपुः प्रौढसीमन्तिनीसन्दोहपरिवृतो वार्तीभूतशीतस्पर्शानुभवः सन् किमयं मुनिरुपहसितसुरसुन्दरीरूपसम्पदो मत्सीमन्तिनीरवलोक्य सात्त्विकभावोपेतः कम्पते उत शीतेनेत्येवं संशयानो ब्रूयात्–भो आयुष्मन्! श्रमण! कुलीनतामात्मन आविर्भावयन् प्रतिषेधद्वारेण प्रश्नयति–नो भवन्तं ग्रामधर्म्माः–विषया उत्–प्राबल्येन बाधन्ते?, एवं गृहपतिनोक्ते विदिताभिप्रायः साधुराह–अस्य हि गृहपतेरात्मसंवित्त्याऽङ्गनावलोकनाऽऽविष्कृतभावस्यासत्याशङ्काऽभूद् अतोऽहमस्यापनयामीत्येवमभिसन्धाय साधुर्बभाषे–आयुष्मन्! गृहपते! 'नो खलु' नैव ग्रामधर्म्मा मामुद्बाधन्ते, यत्पुनर्वेपमानगात्रयष्टिं मामीक्षांचकृषे तच्छीतस्पर्शविजृम्भितं, न मनसिजविकारः, शीतस्पर्शमहं न खलु शक्नोम्यधिसोढुं, एवमुक्तः सन् भक्तिकरुणारसाक्षिप्तहृदयो ब्रूयात्–सुप्रज्वलितमाशुशुक्षणिं किमिति न सेवसे?,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महामुनिराह–भो गृहपते ! न खलु मे कल्पतेऽग्निकायं मनाग् ज्वालयितुं (उज्ज्वालयितुं) प्रकर्षेण ज्वालयितुं प्रज्वालयितुं स्वतो ज्वलितादौ 'कायं' शरीरमीषत् तापयितुमातापयितुं वा प्रकर्षेण तापयितुं प्रतापयितुं वा, अन्येषां वा वचनात् ममैतत्कर्त्तुं न कल्पते, यदिवाऽग्निसमारम्भायान्यो वा वक्तुं न कल्पते ममेति । तं चैवं वदन्तं साधुमवगम्य गृहपतिः कदाचिदेतत्कुर्यादित्याह—स्यात्–कदाचित्स–परो गृहस्थ एवमुक्तनीत्या वदतः साधोरग्निकायमुज्वालय्य प्रज्वालय्य वा कायमातापयेत् प्रतापयेद्वा, तच्चोज्ज्वालनातापनादिकं भिक्षुः 'प्रत्युपेक्ष्य' विचार्य स्वसन्मत्या परव्याकरणेनान्येषां वाऽन्तिके श्रुत्वा–अवगम्य ज्ञात्वा तं गृहपतिमाज्ञापयेत्–प्रतिबोधयेत्, कया ?–अनासेवनया, यथैतत् ममायुक्तमासेवितुं, भवता तु पुनः साधुभक्त्यनुकम्पाभ्यां पुण्यप्राग्भारोपार्जनमकारीति, ब्रवीमीतिशब्दावुक्तार्थौ । विमोक्षाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः परिसमाप्तः ।

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके गोचरादिगतेन शीताद्यङ्गविकारदर्शनान्यथाभावापन्नस्य गृहस्थस्यासदारेका व्युदस्ता, यदि पुनर्गृहस्थाभावे योषित एवान्यथाभावाभिप्रायेणोपसर्गयेयुः ततो वैहानसगार्द्धपृष्ठादिकं मरणमप्यवलम्बनीयं, कारणाभावे तु तन्न कार्यमित्येतत्प्रतिपादनार्थमिदमारभ्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययने चतुर्थ-उद्देशक: 'वेहासनादि मरण' आरब्ध:,

प्रत सूत्रांक [२११]

दीप अनुक्रम [२२४]

जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं तस्स णं नो एवं भवइ–चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, नो धोइज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए, एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं (सू० २११)

इह प्रतिमाप्रतिपन्नो जिनकल्पिको वा अच्छिद्रपाणिः, तस्य हि पात्रनिर्योगसमन्वितं पात्रं कल्पत्रयं चायमेवौघोपधिर्भवति नौपग्रहिकः, तत्र शिशिरादौ क्षौमिकं कल्पद्वयं सार्द्धहस्तद्वयायामविष्कम्भं तृतीयस्त्वौर्णिकः, स च सत्यपि शीते नापरमाकाङ्क्षतीत्येतदर्शयति–यो भिक्षुः त्रिभिर्वस्त्रैः 'पर्युषितो' व्यवस्थितः, तत्र शीते पतत्येकं क्षौमिकं प्रावृणोति, ततोऽपि शीतासहिष्णुतया द्वितीयं क्षौमिकं, पुनरपि अतिशीततया क्षौमिककल्पद्वयोपर्यौर्णिकमिति, सर्वथौर्णिकस्य बाह्याच्छादनता विधेया, किम्भूतैस्त्रिभिर्वस्त्रैरिति दर्शयति—'पात्रचतुर्थैः' पतन्तमाहारं पातीति पात्रं, तद्ग्रहणेन च पात्रनिर्योगः सप्तप्रकारोऽपि गृहीतः, तेन विना तद्ग्रहणाभावात्, स चायम्—"पत्तं पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ । पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छओ पायणिज्जोगो ॥ १ ॥" तदेवं सप्तप्रकारं पात्रं कल्पत्रयं रजोहरणं १ मुखवस्त्रिका २ चेत्येवं द्वादशधोपधिः, स्तस्यैवम्भूतस्य भिक्षोः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'नैवं भवति' नायमध्यवसायो भवति, तद्यथा–न ममास्मिन्

१ पात्रं पात्रबन्धः पात्रस्थापनं च पात्रकेसरिका । पटलानि रजस्त्राणं च गोच्छकः पात्रनियोगः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काले कल्पत्रयेण सम्यक् शीतापनोदो भवत्यतश्चतुर्थं वस्त्रमहं याचिष्ये, अध्यवसायनिषेधे च तद्याचनं दूरोत्सादितमेव, यदि पुनः कल्पत्रयं न विद्यते शीतकालश्चापतितस्ततोऽसौ जिनकल्पिकादिर्यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत–उत्कर्षणापकर्षणरहितान्यपरिकर्म्माणि प्रार्थयेदिति, तत्र "उद्दिट्ठ १ पेहे २ अंतर ३ उज्झियधम्मा ४ य" चतस्रो वस्त्रैषणा भवन्ति, तत्र चाधस्तन्योर्द्वयोरग्रह इतरयोस्तु ग्रहः, तत्राप्यन्यतरस्यामभिग्रह इति, याचावाप्तानि च वस्त्राणि यथापरिगृहीतानि धारयेत्, न तत्रोत्कर्षणधावनादिकं परिकर्म्म कुर्याद् ॥ एतदेव दर्शयितुमाह—नो धावेत्–प्रासुकोदकेनापि न प्रक्षालयेत्, गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षादौ ग्लानावस्थायां वा प्रासुकोदकेन यतनया धावनमनुज्ञातं, न तु जिनकल्पिकस्येति, तथा–न धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत्, पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानीति, तथा ग्रामान्तरेषु गच्छन् वस्त्राण्यगोपयन् व्रजेद्, एतदुक्तं भवति–तथाभूतान्यसावन्तप्रान्तानि बिभर्ति यानि गोपनीयानि न भवन्ति, तदेवमसाववमचेलिकः, अवमं च तच्चेलं चावमचेलं प्रमाणतः परिमाणतो मूल्यतश्च, तद्यस्यास्त्यसाववमचेलिक इत्येतत्–पूर्वोक्तं 'खुः' अवधारणे, एतदेव वस्त्रधारिणः सामग्र्यं भवति–एषैव त्रिकल्पात्मिका द्वादशप्रकारौघिकोपध्यात्मिका वा सामग्री भवति, नापरेति ॥ शीतापगमे तान्यपि वस्त्राणि त्याज्यानीत्येतदर्शयितुमाह—

अह पुण एवं जाणिज्जा-उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले (सू० २१२)

॥ २७७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि तानि वस्त्राण्यपरहेमन्तस्थितिसहिष्णूनि तत उभयकालं प्रत्युपेक्षयन् बिभर्ति, यदि पुनर्जीर्णदेश्यानि जीर्णानीति जानीयात् ततः परित्यजतीत्यनेन सूत्रेण दर्शयति, अथ पुनरेवं जानीयाद्यथाऽपक्रान्तः खल्वयं हेमन्तो ग्रीष्मः प्रतिपन्नः अपगता शीतपीडा यथापरिजीर्णान्येतानि वस्त्राणि, एवमवगम्य ततः परिष्ठापयेत्–परित्यजेदिति, यदि पुनः सर्वाण्यपि न जीर्णानि ततो यद्यजीर्णं तत्तत्परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य च निस्सङ्गो विहरेत्, यदि पुनरतिक्रान्तेऽपि शिशिरे क्षेत्रकालपुरुषगुणाद्भवेच्छीतं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह–अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि, अथवा क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत्–सान्तरमुत्तरं–प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति क्वचित्पार्श्ववर्त्ति बिभर्त्ति, शीताशङ्क्या नाद्यापि परित्यजति, अथवाऽवमचेल एककल्पपरित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थः, अथवा शनैः शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् तत एकशाटकः संवृतः, अथवाऽऽत्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति, असौ मुखवस्त्रिकारजोहरणमात्रोपधिः॥ किमर्थमसावेकैकं वस्त्रं परित्यजेदित्याह—

लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ (सू० २१३)

लघोर्भावो लाघवं लाघवं विद्यते यस्यासौ लाघविक(स्त)मात्मानमागमयन्–आपादयन् वस्त्रपरित्यागं कुर्यात्, शरीरोपकरणकर्म्मणि वा लाघवमागमयन् वस्त्रपरित्यागं कुर्यादिति। तस्य चैवम्भूतस्य किं स्यादित्याह—'से' तस्य वस्त्रप-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रित्यागं कुर्वतः साधोस्तपोऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्, उक्तं च—"पंचहिं ठाणेहिं समणाणं निग्गंथाणं अचेलगत्ते पसत्थे भवति, तंजहा–अप्पा पडिलेहा १ वेसासिए रूवे २ तवे अणुमए ३ लाघवे पसत्थे ४ विउले इंदियनिग्गहे ५" ॥ एतच्च भगवता प्रवेदितमिति दर्शयितुमाह—

जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा (सू० २१४)

यदेतद्भगवता–वीरवर्द्धमानस्वामिना प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य–ज्ञात्वा 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः सर्वात्मतया सम्यक्त्वमेव समत्वं वा–सचेलाचेलावस्थयोस्तुल्यतां 'समभिजानीयात्' आसेवनापरिज्ञया आसेवेतेति ॥ यः पुनरल्पसत्त्वतया भगवदुपदिष्टं नैव सम्यग् जानीयात्स एतदध्यवसायी स्यादित्याह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए, सेऽवि तत्थ

१ पञ्चभिः कारणैः श्रमणानां निर्ग्रन्थानामचेलकत्वं प्रशस्तं भवति, तद्यथा—अल्पा प्रतिलेखना १ वैश्वसिकं रूपं २ तपोऽनुमतं ३ लाघवं प्रशस्तं ४ विपुल इन्द्रियनिग्रहः ५.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं तिबेमि (सू० २१५) ॥ ८–४ ॥ विमोक्षाध्ययने चतुर्थ उद्देशकः ॥

'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यस्य भिक्षोर्मन्दसंहननतया एवम्भूतोऽध्यवसायो भवति, तद्यथा–स्पृष्टः खल्वहमस्मि रोगातङ्कैः शीतस्पर्शादिभिर्वा रुग्ग्राद्युपसर्गैर्वा, ततो ममास्मिन्नवसरे शरीरविमोक्षं कर्त्तुं श्रेयो 'नालं' न समर्थोऽहमस्मि, 'शीतस्पर्शं' शीतापादितं दुःखविशेषं भावशीतस्पर्शं वा रुग्ग्राद्युपसर्गम् 'अध्यासयितुम्' अधिसोढुमित्यतो भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनमुत्सर्गतः कर्त्तुं युक्तं, न च तस्य ममास्मिन्नवसरेऽवसरो यतो मे कालक्षेपासहिष्णुरुपसर्गः समुत्थितो रोगवेदनां वा चिराय सोढुं नालमतो वेहानसं गार्द्धपृष्ठं वा आपवादिकं मरणमत्र साम्प्रतं, न पुनरुपसर्गितस्तदेवाभ्युपेयादित्याह—'स' साधुः वसु–द्रव्यं स चात्र संयमः स विद्यते यस्यासौ वसुमान्, सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना कश्चिदर्द्धकटाक्षनिरीक्षणादुपसर्गसम्भवे सत्यपि तदकरणतया आ–समन्ताद्वृत्तो–व्यवस्थित आवृत्तो, यदिवा शीतस्पर्शवातादिजनितं दुःखविशेषमसहिष्णुस्तच्चिकित्साया अकरणतया वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना आवृत्तो–व्यवस्थित इति, स चोपसर्गितो वातादिवेदनां चासहिष्णुः किं कुर्यादित्याह–हुर्हेतौ यस्माच्चिराय वातादिवेदनां सोढुमसहिष्णुः, यदिवा यस्मात् सीमन्तिनी उपसर्गयितुमुपस्थिता विषभक्षणोद्बन्धनाद्युपन्यासेनापि न मुञ्चति ततस्तपस्विनः प्रभूततरकालनानाविधोपायोपार्जिततपोधनस्य तदैव श्रेयो यदैकः कश्चिन्निजैः सपत्नीकोऽपवरके प्रवेशितः आरूढप्रण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यप्रेयसीप्रार्थितस्तन्निर्गमोपायमलभमान आत्मोद्बन्धनाय विहायोगमनं तदाऽऽदद्याद्विषं वा भक्षयेत् पतनं वा कुर्याद् दीर्घकालं वा शीतस्पर्शादिकमसहिष्णुः सुदर्शनवत् प्राणान् जह्यात्। ननु च वेहानसादिकं बालमरणमुक्तं, तच्चानर्थाय, तत्कथं तस्याभ्युपगमः?, तथा चागमः—"इच्चेएणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ जाव अणाइयं च णं अणवयग्गं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो परियट्टइ'त्ति, अत्रोच्यते, नैष दोषोऽत्रासाकमार्हतानां, नैकान्ततः किञ्चित्प्रतिषिद्धमभ्युपगतं वा मैथुनमेकं विहाय, अपि तु द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य तदेव प्रतिषिध्यते तदेव चाभ्युपगम्यते, उत्सर्गोऽप्यगुणायापवादोऽपि गुणाय कालज्ञस्य साधोरिति, एतद्दर्शयितुमाह—दीर्घकालं संयममप्रतिपालनं विधाय संलेखनाविधिना कालपर्यायेण भक्तपरिज्ञादिमरणं गुणायेति, एवंविधे त्ववसरे तत्रापि वेहानसगार्द्धप्रष्ठादिमरणे अपि कालपर्याय एव, यद्वत्कालपर्यायमरणं गुणाय एवं वेहानसादिकमपीत्यर्थः, बहुनाऽपि कालपर्यायेण यावन्मात्रं कर्म्मासौ क्षपयति तदसावल्पेनापि कालेन कर्म्मक्षयमवाप्नोतीति दर्शयति—'सोऽपि' वेहानसादेर्विधाता, न केवलमानुपूर्व्या भक्तपरिज्ञादेः कर्त्तेत्यपिशब्दार्थः, 'तत्र' तस्मिन् वेहानसादिमरणे 'विअंतिकारए'त्ति विशेषेणान्तिर्व्यन्तिः—अन्तक्रिया तस्याः कारको व्यन्तिकारकः, तस्य हि तस्मिन्नवसरे तद्वेहानसादिकमौत्सर्गिकमेव मरणं, यतोऽनेनाप्यापवादिकेन मरणेनानन्ताः सिद्धाः सेत्स्यन्ति च, उपसञ्जिहीर्षुराह—'इत्येतत्' पूर्वोक्तं वेहानसादिमरणं विगतमोहानामायतनम्—आश्रयः कर्त्तव्यतया तथा हितम् अपायपरिहारतया तथा सुखं जन्मान्तरेऽपि सुखहेतुत्वात् तथा 'क्षमं' युक्तं

१ इत्येतेन बालमरणेन म्रियमाणो जीवोऽनन्तैर्नैरयिकभवग्रहणैरात्मानं संयोजयति यावदनादिकं चानवदग्रं चातुरन्तं संसारकान्तारं भूयो भूयः परिवर्त्तते.

॥ २७९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [२१५]

दीप अनुक्रम [२२८]

प्राप्तकालत्वात् तथा निःश्रेयसं कर्म्मक्षयहेतुत्वात् तथा 'आनुगामिकं' तदर्जितपुण्यानुगमनात्, इतिब्रवीमिशब्दौ पूर्ववद् । विमोक्षाध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकः समाप्तः ॥

उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पञ्चम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके बालमरणं गार्द्धपृष्ठादिकमुपन्यस्तम्, इह तु तद्विपर्यस्तं ग्लानभावोपगतेन भिक्षुणा भक्तपरिज्ञाख्यं मरणमभ्युपगन्तव्यमित्येतत्प्रतिपाद्यते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायतइएहिं तस्स णं नो एवं भवइ–तइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा जाव एवं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं, अह पुण एवं जाणिज्जा–उवाइक्कंते खलु हेमन्ते गिम्हे पडिवण्णे, अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अहापरिजुन्नाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव स-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययने पंचम-उद्देशक: 'ग्लान-भक्त-परिज्ञा' आरब्ध:,

प्रत सूत्रांक [२१६]

दीप अनुक्रम [२२९]

मभिजाणिया, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–पुट्ठो अबलो अहमंसि नालमहमंसि गिहंतरसंकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा–आउसंतो! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं ४ भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे (सू० २१६)

तत्र त्रिकल्पपर्युषितः स्थविरकल्पिको जिनकल्पिको वा स्यात्, कल्पद्वयपर्युषितस्तु नियमाज्जिनकल्पिकपरिहारविशुद्धिकयथालन्दिकप्रतिमाप्रतिपन्नानामन्यतमः, अस्मिन् सूत्रेऽपदिष्टो यो भिक्षुर्जिनकल्पिकादिर्द्वाभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषितो वस्त्रशब्दस्य सामान्यवाचित्वादेकः क्षौमिकोऽपर और्णिक इत्याभ्यां कल्पाभ्यां पर्युषितः–संयमे व्यवस्थितः, किम्भूताभ्यां कल्पाभ्यां?–पात्रतृतीयाभ्यां पर्युषित इत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयं यावत् 'नालमहमंसि'त्ति स्पृष्टोऽहं वातादिभी रोगैः 'अबलः असमर्थः 'नालं' न समर्थोऽस्मि गृहाद्गृहान्तरं सङ्क्रमितुं, तथा भिक्षार्थं चरणं चर्या भिक्षाचर्या तद्गमनाय 'नालं' न समर्थ इति, तमेवम्भूतं भिक्षुमुपलभ्य स्याद्गृहस्थ एवम्भूतामात्मीयामवस्थां वदतः साधोरवदतोऽपि परो गृहस्थादिरनुकम्पाभक्तिरसार्द्रहृदयोऽभिहृतं–जीवोपमर्दनिर्वृत्तं, किं तद्?–अशनं पानं खादिमं स्वादिमं चेत्यादाहृत्य तस्मै साधवे 'दलएज्ज'त्ति दद्यादिति। तेन च ग्लानेनापि साधुना सूत्रार्थमनुसरता जीवितनिष्पिपासुनाऽवश्यं मर्त्तव्यमित्यध्यवसायिना किं विधेयमित्याह–स जिनकल्पिकादीनां चतुर्णामप्यन्यतमः पूर्वमेव–आदावेव 'आलोचयेत्' विचारयेत्, कतरे-

॥ २८० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णोद्गमादिना दोषेण दुष्टमेतत्?, तत्राभ्याहृतमिति ज्ञात्वाऽभ्याहृतं च प्रतिषेधयेत्, तद्यथा–आयुष्मन् गृहपते! न खल्वेतन्ममाभिहृतमभ्याहृतं च कल्पते अशनं भोक्तुं पानं पातुमन्यद्वैतत्प्रकारमाधाकर्म्मादिदोषदुष्टं न कल्पते, इत्येवं तं गृहपतिं दानायोद्यतमाज्ञापयेदिति, पाठान्तरं वा "तं भिक्खुं केइ गाहावई उवसंकमित्तु बूया–आउसंतो समणा! अहन्नं तव अट्ठाए असणं वा ४ अभिहडं दलामि, से पुव्वामेव जाणेज्जा–आउसंतो गाहावई! जन्नं तुमं मम अट्ठाए असणं वा ४ अभिहडं चेतेसि, णो य खलु मे कप्पइ एयप्पगारं असणं वा ४ भोत्तए वा पायए वा, अन्ने वा तहप्पगारे"त्ति, कण्ठ्यं, तदेवं प्रतिषिद्धोऽपि श्रावकसंज्ञिप्रकृतिभद्रकमिथ्यादृष्टीनामन्यतम एवं चिन्तयेत्, तद्यथा–एष तावत् ग्लानो न शक्नोति भिक्षामटितुं न चापरं कञ्चन ब्रवीति तदस्मै प्रतिषिद्धोऽप्यहं केनचिच्छद्मना दास्यामीत्येवमभिसन्धायाहारादिकं ढौकयति, तत्साधुरनेषणीयमितिकृत्वा प्रतिषेधयेत् ॥ किं च—

जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे–अहं च खलु पडिन्नत्तो अपडिन्नत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अप्पडिन्नत्तो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १, आहट्टु परिन्नं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि २, आहट्टु परिन्नं नो आण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१७]

दीप अनुक्रम [२३०]

क्खिस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३, आहट्टु परिन्नं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४ एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेसे तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहायणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं तिबेमि (सू० २१७) ८–५। विमोक्षाध्ययने पञ्चम उद्देशकः ॥

'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यस्य भिक्षोः परिहारविशुद्धिकस्य यथालन्दिकस्य वाऽयं–वक्ष्यमाणः 'प्रकल्पः' आचारो भवति, तद्यथा–अहं च खलु 'चः' समुच्चये 'खलुः' वाक्यालङ्कारे अहं क्रियमाणं वैयावृत्त्यमपरैः 'स्वादयिष्यामि' अभिलषिष्यामि, किम्भूतोऽहं?–प्रतिज्ञप्तो–वैयावृत्त्यकरणायापरैरुक्तः–अभिहितो यथा तव वयं वैयावृत्त्यं यथोचितं कुर्म्म इति, किम्भूतैः परैः?–अप्रतिज्ञप्तैः–अनुक्तैः, किम्भूतोऽहं–ग्लानो–विकृष्टतपसा कर्त्तव्यताऽशक्तो वातादिक्षोभेण वा ग्लान इति, किम्भूतैरपरैः?–अग्लानैः–उचितकर्त्तव्यसहिष्णुभिः, तत्र परिहारविशुद्धिकस्यानुपारिहारिकः करोति कल्पस्थितो वा परो, यदि पुनस्तेऽपि ग्लानास्ततोऽन्ये न कुर्वन्ति, एवं यथालन्दिकस्यापीति, केवलं तस्य स्थविरा अपि कुर्वन्तीति दर्शयति–निर्जराम् 'अभिकाङ्क्ष्य' उद्दिश्य 'साधर्म्मिकैः' सदृशकल्पिकैरेककल्पस्थैरपरसाधुभिर्वा क्रियमाणं वैयावृत्त्यमहं 'स्वादयिष्यामि' अभिकाङ्क्षयिष्यामि यस्यायं भिक्षोः प्रकल्पः–आचारः स्यात् स तमाचारमनुपालयन् भक्तपरिज्ञयाऽपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवितं जह्यात्, न पुनराचारखण्डनं कुर्यादिति भावार्थः । तदेवमन्येन साधर्म्मिकेण वैयावृत्त्यं क्रियमाणमनुज्ञातं, साम्प्रतं स एवापरस्य कुर्यादिति दर्शयितुमाह—'चः' समुच्चये अपिशब्दः पुनःशब्दार्थे, स च पूर्वस्माद्विशेषदर्शनार्थः, 'खलुः' वाक्यालङ्कारे, अहं च पुनरप्रतिज्ञप्तः–अनभिहितः प्रतिज्ञप्तस्य–वैयावृत्त्यकरणायाभिहितस्य अग्लानो ग्लानस्य निर्जरामभिकाङ्क्ष्य साधर्म्मिकस्य वैयावृत्त्यं कुर्या, किमर्थं?—'करणाय' तदुपकरणाय तदुपकारायेत्यर्थः, तदेवं प्रतिज्ञां परिगृह्यापि भक्तपरिज्ञया प्राणान् जह्यात्, न पुनः प्रतिज्ञामिति सूत्रभावार्थः । इदानीं प्रतिज्ञाविशेषद्वारेण चतुर्भङ्गिकामाह–एकः कश्चिदेवम्भूतां प्रतिज्ञां गृह्णाति, तद्यथा–ग्लानस्यापरस्य साधर्मिकस्याहारादिकमन्वेषयिष्यामि, अपरं च वैयावृत्त्यं यथोचितं करिष्यामि, तथाऽपरेण च साधर्मिकेणाहृतमानीतमाहारादिकं स्वादयिष्यामि–उपभोक्ष्ये, एवम्भूतां प्रतिज्ञामाहृत्य–गृहीत्वा वैयावृत्त्यं कुर्यादिति १, तथाऽपर आहृत्य–प्रतिज्ञां गृहीत्वा यथाऽपरनिमित्तमन्वीक्षिष्ये आहारादिकमाहृतं चापरेण न स्वादयिष्यामीति २, तथाऽपर आहृत्य प्रतिज्ञामेवम्भूतां, तद्यथा–नापरनिमित्तमन्वीक्षिष्याम्याहारादिकमाहृतं चान्येन स्वादयिष्यामीति ३, तथाऽपर आहृत्य प्रतिज्ञामेवम्भूतां, तद्यथा–नान्वीक्षिष्येऽपरनिमित्तमाहारादिकं नाप्याहृतमन्येन स्वादयिष्यामीति ४, एवम्भूतां च नानाप्रकारां प्रतिज्ञां गृहीत्वा कुतश्चिद् ग्लायमानोऽपि जीवितपरित्यागं कुर्यात्, न पुनः प्रतिज्ञालोपमिति । अमुमेवार्थमुपसंहारद्वारेण दर्शयितुमाह—'एवम्' उक्तविधिना 'स' भिक्षुरवगततत्त्वः शरीरादिनिष्पिपासुः यथाकीर्त्तितमेव धर्म्मम्–उक्तस्वरूपं सम्यगभिजानन्–आसेवनापरिज्ञया आसेवमानः, तथा लाघविकमागमयन्नित्यादि यच्चतुर्थोद्देशकेऽभिहितं तदत्र वाच्यमिति, तथा 'शान्तः' कषायोपशमाच्छान्तो वा अ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२१७]

दीप अनुक्रम [२३०]

नादिसंसारपर्यटनाद् विरतः सावद्यानुष्ठानात् शोभनाः समाहृता–गृहीता लेश्याः–अन्तःकरणवृत्तयस्तैजसीप्रभृतयो वा येन स सुसमाहृतलेश्यः, एवम्भूतः सन् पूर्वगृहीतप्रतिज्ञापालनासमर्थो ग्लानभावोपगतस्तपसा रोगातङ्केन वा प्रतिज्ञालोपमकुर्वन् शरीरपरित्यागाय भक्तप्रत्याख्यानं कुर्यात्, 'तत्रापि' भक्तपरिज्ञायामपि 'तस्य' कालपर्यायेणानागतायामपि कालपर्याय एव निष्पादितशिष्यस्य संलिखितदेहस्य यः कालपर्यायो–मृत्योरवसरोऽत्रापि ग्लानावसरेऽसावेव कालपर्याय इति, कर्म्मनिर्जराया उभयत्र समानत्वात्, स भिक्षुस्तत्र–ग्लानतयाऽनशनविधाने व्यन्तिकारकः–कर्म्मक्षयविधायीति । उद्देशकार्थमुपसञ्जिहीर्षुराह–सर्वं पूर्ववद् । विमोक्षाध्ययनस्य पञ्चमोद्देशकः परिसमाप्तः ॥

उक्तः पञ्चमोद्देशकः, साम्प्रतं षष्ठ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके ग्लानतया भक्तप्रत्याख्यानमुक्तम्, इह धृतिसंहननादिबलोपेत एकत्वभावनां भावयन्निङ्गितमरणं कुर्यादित्येतत्प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादौ सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिईएण, तस्स णं नो एवं भवइ–बिइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिम्हे

॥ २८२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययने षष्ठ-उद्देशक: 'एकत्व भावना/इंगित मरण' आरब्ध:,

पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठविज्जा २ त्ता अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणीया (सू० २१८)

गतार्थं ॥ तस्य च भिक्षोरभिग्रहविशेषात् सपात्रमेकं वस्त्रं धारयतः परिकर्म्मितमतेर्लघुकर्म्मतया एकत्वभावनाऽध्यवसायः स्यादिति दर्शयितुमाह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्सवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जाव समभिजाणिया (सू० २१९)

'णमू' इति वाक्यालङ्कारे, यस्य भिक्षोः 'एव'मिति वक्ष्यमाणं भवति,(तद्यथा—एकोऽहमस्मि संसारे पर्यटतो न मे पारमार्थिक उपकारकर्तृत्वेन द्वितीयोऽस्ति, न चाहमन्यस्य दुःखापनयनतः कस्यचिद् द्वितीय इति, स्वकृतकर्म्मफलेश्वरत्वात्प्राणिनां, एवमसौ साधुरेकाकिनमेवात्मानम्—अन्तरात्मानं सम्यगभिजानीयात्, नास्यात्मनो नरकादिदुःखत्राणतया शरण्यो द्वितीयोऽस्तीत्येवं संदधानो यद्यद्रोगादिकमुपतापकारणमापद्यते तत्तदपरशरणनिरपेक्षो मयैवैतत्कृतं मयैव सोढव्यमित्येतदध्यवसायी सम्यगधिसहते)। कुत एतदधिसहत इत्यत आह—लाघवियमित्यादि, चतुर्थोद्देशकवद्गतार्थं, यावत् 'सम्मत्तमेव समभि जाणिय'त्ति॥ इह द्वितीयोद्देशके उद्गमोत्पादनैषणा प्रतिपादिता, तद्यथा—'आउसंतो समणा! अहं खलु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्र अद्धाए असणं वा ४ वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसिट्ठं आहट्टु चेएमि' इत्यादिना ग्रन्थेनेति, तथाऽनन्तरोद्देशके ग्रहणैषणा प्रतिपादिता, "सिया य से एवं वयंतस्सवि परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलएज्जा" इत्यादिना ग्रन्थेन, ततो ग्रासैषणाऽवशिष्यते, अतस्तत्प्रतिपादनायाह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा ४ आहारेमाणे नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासायमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेवं अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव अ(सम)भिजाणिया (सू० २२०)

'स' पूर्वव्यावर्णितो 'भिक्षुः' साधुः साध्वी वा अशनादिकमाहारमुद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं प्रत्युत्पन्नं ग्रहणैषणाशुद्धं च गृहीतं सदङ्गारिताभिधूमितवर्जमाहारयेत्, (तयोश्चाङ्गारिताभिधूमितयो रागद्वेषौ निमित्तं,) तयोरपि सरसनीरसोपलब्धिः, कारणाभावे च कार्याभाव इतिकृत्वा रसोपलब्धिनिमित्तपरिहारं दर्शयति—स भिक्षुराहारमाहारयन्नो वामतो हनुतो दक्षिणां हनुं रसोपलब्धये सञ्चारयेदास्वादयन्नशनादिकं, नापि दक्षिणतो वामां सञ्चारयेदास्वादयन्, तत्सञ्चारास्वादनेन

॥ २८३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हि रसोपलब्धौ रागद्वेषनिमित्ते अङ्गारितत्वाभिधूमितत्वे स्यातामतो यत्किञ्चिदप्यास्वादनीयं नास्वादयेत्, पाठान्तरं वा 'आढायमाणे' आदरवानाहारे मूर्च्छितो गृद्धो न सञ्चारयेदिति, हन्वन्तरसङ्क्रमवदन्यत्रापि नास्वादयेदिति दर्शयति–स ह्याहारं चतुर्विधमप्याहारयन् रागद्वेषौ परिहरन्नास्वादयेदिति, तथा कुतश्चिन्निमित्ताद्धन्वन्तरं सञ्चारयन्नप्यनास्वादयन् सञ्चारयेदिति। किमिति यत आह–आहारलाघवमागमयन्-आपादयन् नो आस्वादयेदित्यास्वादनिषेधेन चान्तप्रान्ताहाराभ्युपगमोऽभिहितो भवति, एवं च तपः 'से' तस्य भिक्षोरभिसमन्वागतं भवतीत्यादि गतार्थं यावत् 'सम्मत्तमेव समभिजाणिय'त्ति॥ तस्य चान्तप्रान्ताशितयाऽपचितमांसशोणितस्य जरदस्थिसन्ततेः क्रियाऽवसीदत्कायचेष्टस्य शरीरपरित्यागबुद्धिः स्यादित्याह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा, अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिवुडच्चे (सू० २२१)

'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यस्यैकत्वभावनाभावितस्य भिक्षोराहारोपकरणलाघवं गतस्य 'एव'मिति वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति, 'से' इति तच्छब्दार्थे तच्छब्दोऽपि वाक्योपन्यासार्थे, 'चः' शब्दसमुच्चये 'खलुः' अवधारणे, अहं चास्मिन् 'समये'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवसरे संयमावसरे ग्लायामि ग्लानिमेव गतो रूक्षाहारतया तत्समुत्थेन वा रोगेण पीडितोऽतो न शक्नोमि रूक्षतपोभिरभिनिष्टप्तं शरीरकमानुपूर्व्या–यथेष्टकालावश्यकक्रियारूपया परिवोढुं–नालमहं क्रियासु व्यापारयितुम्, अस्मिन्नवसरे इदं प्रतिक्षणं शीर्यमाणत्वाच्छरीरकमिति मत्वा स भिक्षुरानुपूर्व्या–चतुर्थषष्ठाचाम्लादिकया आहारं 'संवर्त्तयेत्' संक्षिपेत् न पुनर्द्वादशसंवत्सरसंलेखनाऽऽनुपूर्वीह गृह्यते, ग्लानस्य तावन्मात्रकालस्थितेरभावाद्, अतस्तत्कालयोग्ययाऽऽनुपूर्व्या द्रव्यसंलेखनार्थमाहारं निरुन्ध्यादिति। द्रव्यसंलेखनया संलिख्य च यदपरं कुर्यात्तदाह–षष्ठाष्टमदशमद्वादशादिकयाऽऽनुपूर्व्याऽऽहारं संवर्त्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा सर्वकालं हि कषायतानवं विधेयं विशेषतस्तु संलेखनावसरे इत्यतस्तान् प्रतनून् कृत्वा सम्यगाहिता–व्यवस्थापिता अर्चा–शरीरं येन स समाहितार्चः, नियमितकायव्यापार इत्यर्थः, यदिवा अर्चा–लेश्या सम्यगाहिता–जनिता लेश्या येन स समाहितार्चः, अतिविशुद्धाध्यवसाय इत्यर्थः, यदिवाऽर्चा–क्रोधाद्यध्यवसायात्मिका ज्वाला समाहिता–उपशमिताऽर्चा येन स तथा, 'फलं' कर्म्मक्षयरूपं तदेव फलकं तेनापदि–संसारभ्रमणरूपायामर्थः–प्रयोजनं फलकापदर्थः स विद्यते यस्यासौ फलकापदर्थी, यदिवा फलकवद्वास्यादिभिरुभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चावकृष्टः फलकावकृष्ट इत्येवं विगृह्यार्षत्वात् 'फलगावयट्ठी' इत्युक्तं, यदिवा तक्ष्यमाणोऽपि दुर्वचनवास्यादिभिः कषायाभावतया फलकवदवतिष्ठते तच्छीलश्चेति फलकावस्थायी, वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः, स एवम्भूतः प्रतिदिनं साकारभक्तप्रत्याख्यायी बलवति रोगावेगे उत्थाय–अभ्युद्यतमरणोद्यमं विधायाभिनिर्वृत्तार्चः–शरीरसन्तापरहितो धृतिसंहननाद्युपेतो महापुरुषाचीर्णमार्गानुविधायीङ्गितमरणं कुर्यात् ॥ कथं कुर्यादित्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२२]

दीप अनुक्रम [२३५]

अणुपविसित्ता गामं वा नगरं वा खेडं वा कब्बडं वा मडंबं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा सन्निवेसं वा नेगमं वा रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता इत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आईयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिन्ने तत्थावि तस्स कालपरियाए जाव अणुगामियं तिबेमि (सू० २२२) ८–६ ॥ विमोक्षाध्ययने षष्ठ उद्देशकः ॥ ८ ॥

ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति गम्यो वाऽष्टादशानां कराणामिति ग्रामः, सर्वत्र वाशब्दः पक्षान्तरदर्शनार्थः, नात्र करो विद्यत इति नकरं, पांशुप्राकारवद्धं खेटं, क्षुल्लकप्राकारवेष्टितं कर्वटं, अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितं मडम्बं, पत्तनं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तु द्विधा–जलपत्तनं स्थलपत्तनं च, जलपत्तनं यथा काननद्वीपः, स्थलपत्तनं यथा मथुरा, 'द्रोणमुखं' जलस्थलनिर्गम-प्रवेशं यथा भरुकच्छं तामलिप्ती वा,'आकरो' हिरण्याकरादिः, 'आश्रमः' तापसावसथोपलक्षित आश्रयः, 'सन्निवेशः' यात्रा-समागतजनावासो जनसमागमो वा 'नैगमः' प्रभूततरवणिग्वर्गावासः 'राजधानी' राजाधिष्ठानं राज्ञः पीठिकास्थानमि-त्यर्थः, एतेष्वेतानि वा प्रविश्य तृणानि याचेत, ततः किमित्याह–संस्तारकाय प्रासुकानि दर्भवीरणादिकानि क्वचिद्ग्रामादौ तृणस्वामिनमशुषिराणि तृणानि याचित्वा स तान्यादायैकान्ते–गिरिगुहादावपक्रामेद्–गच्छेदेकान्तं–रहोऽपक्रम्य च प्रासुकं महास्थण्डिलं प्रत्युपेक्षते, किम्भूतं तद्दर्शयति–अल्पान्यण्डानि कीटिकादीनां यत्र तदल्पाण्डं तस्मिन्, अल्पशब्दोऽत्राभावे वर्त्तते, अण्डकरहित इत्यर्थः, तथाऽल्पाः प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयो यस्मिन् तत्तथा, तथा अल्पानि बीजानि नीवारश्यामा-कादीनां यत्र तत्तथा, तथा अल्पानि हरितानि–दूर्वाप्रवालादीनि यत्र तत्तथा, तथाऽल्पावश्याये–अधस्तनोपरितनावश्याय-विप्रुड्वर्जिते, तथाऽल्पोदके–भौमान्तरिक्षोदकरहिते, तथोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानरहिते, तत्रोत्तिङ्गः–पिपी-लिकासन्तानकः पनको–भूम्यादावुल्लिविशेषः उदकमृत्तिका–अचिराप्कायार्द्रीकृता मृत्तिका मर्कटसन्तानको–लूतातन्तु-जालं, तदेवम्भूते महास्थण्डिले तृणानि संस्तरेत्, किं कृत्वा?–तत् स्थण्डिलं चक्षुषा प्रत्युपेक्ष्य २, वीप्सया भृशभावमाह, एवं रजोहरणादिना प्रमृज्य २, अत्रापि वीप्सया भृशार्थता सूचिता, संस्तीर्य च तृणान्युच्चारप्रस्रवणभूमिं च प्रत्युपेक्ष्य पूर्वा-भिमुखसंस्तारकगतः करतललल्लाटस्पर्शिधूतरजोहरणः कृतसिद्धनमस्कारः आवर्त्तितपञ्चनमस्कारोऽत्रापि समये अपिश-ब्दादन्यत्र वा समये 'इत्वर'मिति पादपोपगमनापेक्षया नियतदेशप्रचाराभ्युपगमादिङ्गितमरणमुच्यते, न तु पुनरित्वरं

॥ २८५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२२]

दीप अनुक्रम [२३५]

साकारं प्रत्याख्यानं, साकारप्रत्याख्यानस्यान्यस्मिन्नपि काले जिनकल्पिकादेरसम्भवात्, किं पुनर्यावत्कथिकभक्तप्रत्याख्यानावसर इति, इत्वरं हि रोगातुरः श्रावको विधत्ते, तद्यथा–यद्यहमस्माद्रोगात् पञ्चभिरहोभिर्मुक्तः स्यां ततो भोक्ष्ये, नान्यथेत्यादि, तदेवमित्वरम्–इङ्गितमरणं धृतिसंहननादिबलोपेतः स्वकृतत्वग्वर्त्तनादिक्रियो यावज्जीवं चतुर्विधाहारनियमं कुर्यादिति, उक्तं च—"पच्चक्खइ आहारं चउव्विहं णियमओ गुरुसमीवे । इंगियदेसंमि तहा चिट्ठंपि हु नियमओ कुणइ ॥ १ ॥ उव्वत्तइ परिअत्तइ काइगमाईऽवि अप्पणा कुणइ । सव्वमिह अप्पणच्चिअ ण अन्नजोगेण धितिबलिओ ॥ २ ॥" तच्चेङ्गितमरणं किम्भूतं किम्भूतश्च प्रतिपद्यत इत्याह—'तद्' इङ्गितमरणं सद्भ्यो हितं सत्यं,–सुगतिगमनाविसंवादनात्सर्वज्ञोपदेशाच्च सत्यं–तथ्यं, तथा स्वतोऽपि सत्यं वदितुं शीलमस्येति सत्यवादी, यावज्जीवं यथोक्तानुष्ठानाद्यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारनिर्वहणादित्यर्थः, तथा 'ओजः' रागद्वेषरहितः, तथा 'तीर्णः' संसारसागरं, भाविनि भूतवदुपचारात्तीर्णवत्तीर्ण इत्यर्थः, तथा 'छिन्ना' अपनीता 'कथं' कथमपि या 'कथा' रागकथादिका विकथारूपा येन स छिन्नकथंकथः, यदिवा कथमहमिङ्गितमरणप्रतिज्ञां निर्वहिष्ये इत्येवंरूपा या कथा सा छिन्ना येन स छिन्नकथंकथः, दुष्करानुष्ठानविधायी हि कथंकथी भवति, स तु पुनर्महापुरुषतया न व्याकुलतामियादिति, तथा आ–समन्तादतीव इता–ज्ञाता परिच्छिन्ना जीवादयोऽर्था येन सोऽयमातीतार्थः आदत्तार्थो वा, यदिवाऽतीताः–सामस्त्येनातिक्रान्ताः अर्थाः–

१ प्रत्याख्याति आहारं चतुर्विधं नियमाद् गुरुसमीपे । इङ्गितदेशे तथा चेष्टामपि नियमतः करोति ॥ १ ॥ उद्वर्तते परिवर्तते कायिक्याद्यपि आत्मना करोति । सर्वमिहात्मनैव नान्ययोगेन धृतिबलिकः ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजनानि यस्य स तथा, उपरतव्यापार इत्यर्थः, तथा आ–समन्तादतीव इतो–गतोऽनाद्यनन्ते संसारे आतीतः न आतीतः अनातीतः, अनादत्तो वा संसारो येन स तथा, संसारार्णवपारगामीत्यर्थः, स एवम्भूत इङ्गितमरणं प्रतिपद्यते, विधिना 'त्यक्त्वा' प्रोज्झ्य स्वयमेव भिद्यते इति भिदुरं–प्रतिक्षणविशरारुं 'कायं' कर्म्मवशाद्गृहीतमौदारिकं शरीरं त्यक्त्वा, तथा 'संविधूय' परीषहोपसर्गान् प्रमथ्य 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारान् सोढ्वा 'अस्मिन्' सर्वज्ञप्रणीत आगमे 'विस्रम्भ-णतया' विश्वासास्पदे तदुक्तार्थाविसंवादाध्यवसायेन भैरवं–भयानकमनुष्ठानं क्लीबैर्दुरध्यवसमिङ्गितमरणाख्यमनुचीर्णवान्–अनुष्ठितवानिति, तच्च तेन यद्यपि रोगातुरतया व्यधायि तथापि तत्कालपर्यायागततुल्यफलमिति दर्शयितुमाह—'त-त्रापि' रोगपीडाऽऽहितेङ्गितमरणाभ्युपगमेऽपि, न केवलं कालपर्यायेणेत्यपिशब्दार्थः, 'तस्य' कालज्ञस्य भिक्षोरसावेव कालपर्यायः, कर्म्मक्षयस्योभयत्र समानत्वादिति, आह च—'सेवि तत्थ वियंतिकारए' इत्यादि पूर्ववद्गतार्थम्, इतिब्रवी-मिशब्दावपि क्षुण्णार्थाविति विमोक्षाध्ययनस्य षष्ठोद्देशकः समाप्तः ॥

उक्तः षष्ठोद्देशकः, साम्प्रतं सप्तमव्याख्या प्रतन्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके एकत्वभावनाभावि-तस्य धृतिसंहननाद्युपेतस्येङ्गितमरणमभिहितम्, इह तु सैवैकत्वभावना प्रतिमाभिर्निष्पाद्यत इतिकृत्वाऽतस्ताः प्रतिपा-द्यन्ते, तथा विशिष्टतरसंहननोपेतश्च पादपोपगमनमपि विदध्यादित्येतच्चेत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–चाएमि अहं तणफासं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

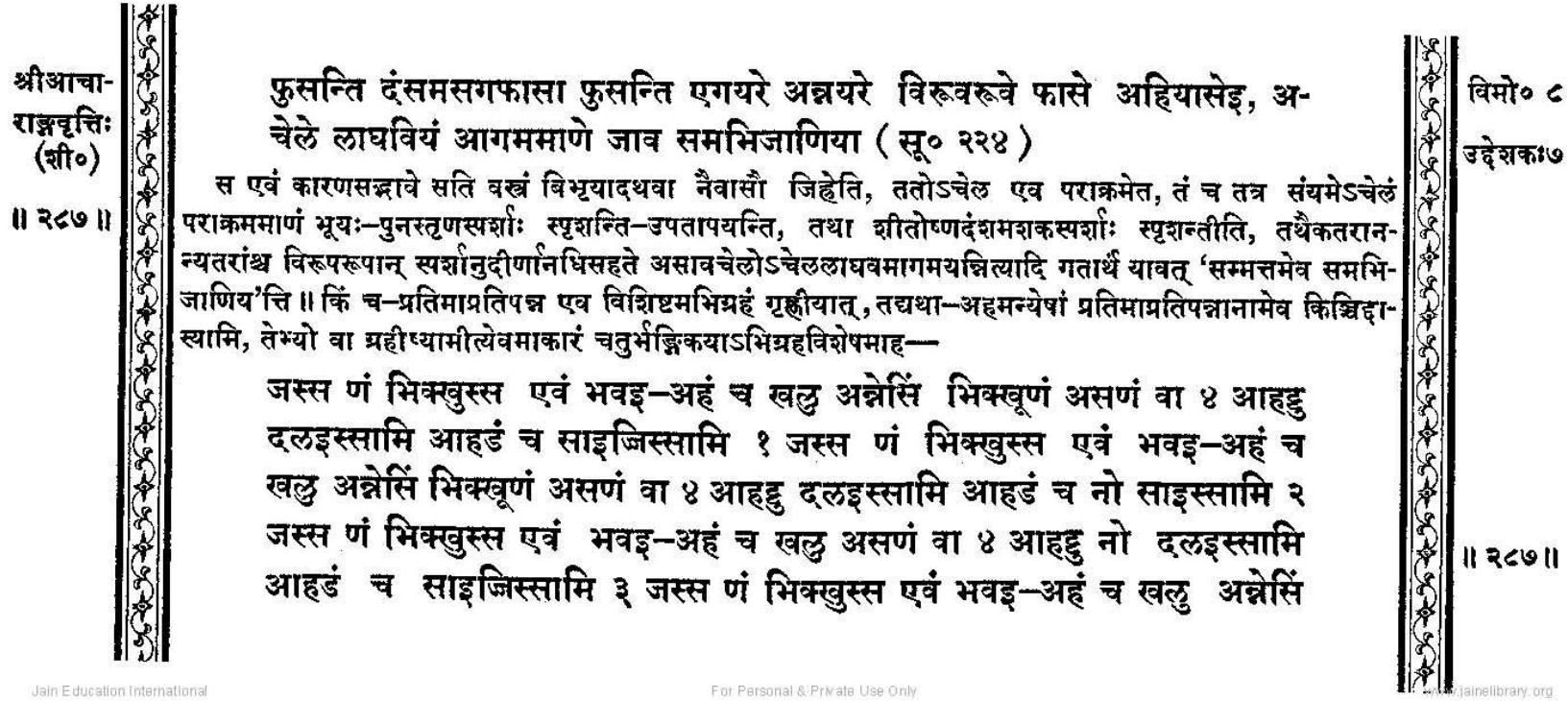
अष्टम-अध्ययने सप्तम-उद्देशकः 'पादपोपगमन' आरब्धः,

अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए तेउफासं अहियासित्तए दंसमसगफासं अहियासित्तए एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहिआसित्तए , एवं से कप्पेइ कडिबंधणं धारित्तए ॥ (सू० २२३)

यो भिक्षुः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽभिग्रहविशेषादचेलो–दिग्वासाः 'पर्युषितः' संयमे व्यवस्थितो 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'तस्य' भिक्षोः 'एव'मिति वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति, तद्यथा–शक्नोम्यहं तृणस्पर्शमपि सोढुं धृतिसंहननाद्युपेतस्य वैराग्यभावनाभावितान्तःकरणस्यागमेन प्रत्यक्षीकृतनारकतिर्यग्वेदनाऽनुभवस्य न मे तृणस्पर्शो महति फलविशेषेऽभ्युद्यतस्य किञ्चित् प्रतिभासते, तथा शीतोष्णदंशमशकस्पर्शमधिसोढुमिति, तथा एकतरान् अन्यतरांश्चानुकूलप्रत्यनीकान् विरूपरूपान् 'स्पर्शान्' दुःखविशेषानध्यासयितुं–सोढुमिति, किं त्वहं ह्री–लज्जा तया गुह्यप्रदेशस्य प्रच्छादनं ह्रीप्रच्छादनं, तच्चाहं त्यक्तुं न शक्नोमि, एतच्च प्रकृतिलज्जालुकतया साधनविकृतरूपतया वा स्यात्, एवमेभिः कारणैः 'से' तस्य 'कल्पते' युज्यते 'कटिबन्धनं' चोलपट्टकं कर्त्तुं, स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको हस्तो दैर्घ्येण कटिप्रमाण इति गणनाप्रमाणेनैकः, पुनरेतानि कारणानि न स्युः ततोऽचेल एव पराक्रमेत, अचेलतया शीतादिस्पर्शे सम्यगधिसहेतेति ॥ एतत्प्रतिपादयितुमाह—

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसन्ति सीयफासा फुसन्ति तेउफासा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



फुसन्ति दंसमसगफासा फुसन्ति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिजाणिया (सू० २२४)

स एवं कारणसद्भावे सति वस्त्रं बिभृयादथवा नैवासौ जिह्रेति, ततोऽचेल एव पराक्रमेत, तं च तत्र संयमेऽचेलं पराक्रममाणं भूयः–पुनस्तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति–उपतापयन्ति, तथा शीतोष्णदंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्तीति, तथैकतरान्यतरांश्च विरूपरूपान् स्पर्शानुदीर्णानधिसहते असावचेलोऽचेललाघवमागमयन्नित्यादि गतार्थं यावत् 'सम्मत्तमेव समभिजाणिय'त्ति ॥ किं च–प्रतिमाप्रतिपन्न एव विशिष्टमभिग्रहं गृह्णीयात्, तद्यथा–अहमन्येषां प्रतिमाप्रतिपन्नानामेव किञ्चिद्दास्यामि, तेभ्यो वा ग्रहीष्यामीत्येवमाकारं चतुर्भङ्गिकयाऽभिग्रहविशेषमाह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि १ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु दलइस्सामि आहडं च नो साइस्सामि २ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–अहं च खलु असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च साइज्जिस्सामि ३ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–अहं च खलु अन्नेसिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२५]

दीप अनुक्रम [२३८]

भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्टु नो दलइस्सामि आहडं च नो साइज्जिस्सामि ४, अहं च खलु तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएणं असणेण वा ४ अभिकङ्ख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहं वावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएणं असणेण वा पाणेण वा ४ अभिकङ्ख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया (सू० २२५)

एतच्च पूर्वं व्याख्यातमेव, केवलमिह संस्कृतेनोच्यते–यस्य भिक्षोरेवं भवति–वक्ष्यमाणम्, तद्यथा–अहं च खल्वन्येभ्यो–भिक्षुभ्योऽशनादिकमाहृत्य दास्याम्यपराहृतं च स्वादयिष्यामीत्येको भङ्गकः १, तथा यस्य भिक्षोरेवं भवति, तद्यथा–अहं च खल्वन्येभ्योऽशनादिकमाहृत्य दास्याम्यपराहृतं च नो स्वादयिष्यामीति द्वितीयः २ यस्य भिक्षोरेवं भवति, तद्यथा–अहं च खल्वन्येभ्योऽशनादिकमाहृत्य नो दास्याम्यपराहृतं च स्वादयिष्यामीति तृतीयः ३ तथा यस्य भिक्षोरेवं भवति, तद्यथा–अहं च खल्वन्येभ्यो भिक्षुभ्योऽशनादिकमाहृत्य नो दास्याम्यपराहृतं च नो स्वादयिष्यामीति चतुर्थः ४ । इत्येवं चतुर्णामभिग्रहाणामन्यतरमभिग्रहं गृह्णीयात्, अथवा एतेषामेवाद्यानां त्रयाणां भङ्गानामेकपदेनैव कञ्चिदभिग्रहं गृह्णी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यादिति दर्शयितुमाह–यस्य भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहविशेषो भवति, तद्यथा–अहं च खलु तेन यथाऽतिरिक्तेन–आत्मपरिभोगाधिकेन यथैषणीयेन यत्तेषां प्रतिमाप्रतिपन्नानामेषणीयमुक्तम्, तद्यथा–पञ्चसु प्राभृतिकासु अग्रहः द्वयोरभिग्रहः तथा यथापरिगृहीतेनात्मार्थं स्वीकृतेनाशनादिना निर्जरामभिकाङ्क्षन्य साधर्म्मिकस्य वैयावृत्यं कुर्याद्, यद्यपि ते प्रतिमाप्रतिपन्नत्वादेकत्र न भुञ्जते तथाप्येकाभिग्रहापादितानुष्ठानत्वात्साम्भोगिका भण्यन्ते, अतस्तस्य समनोज्ञस्य करणाय–उपकरणार्थं वैयावृत्यं कुर्यामित्येवंभूतमभिग्रहं कश्चिद्गृह्णाति । तथाऽपरं दर्शयितुमाह–वाशब्दः पूर्वस्मात्पक्षान्तरमाह–अपिशब्दः पुनःशब्दार्थे, अहं वा पुनस्तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेनाशनेन ४ निर्जरामभिकाङ्क्ष्य साधर्म्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वादयिष्यामि–अभिलषिष्यामि, यो वाऽन्यः साधर्म्मिकोऽन्यस्य करोति तं चानुमोदयिष्यामि–यथा सुष्ठु भवता कृतमेवंभूतया वाचा, तथा कायेन च प्रसन्नदृष्टिमुखेन तथा मनसा चेति, किमित्येवं करोति?–लाघविकमित्यादि, गतार्थं ॥ तदेवमन्यतराभिग्रहवान् भिक्षुरचेलः सचेलो वा शरीरपीडायां सत्यामसत्यां वा आयुःशेषतामवगम्योद्यतमरणं विदध्यादिति दर्शयितुमाह—

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ–से गिलामि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेणं परिवहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा २ कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे अणुपविसित्ता गामं वा नगरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२६]

दीप अनुक्रम [२३९]

वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा जाव सन्थरिज्जा, इत्थवि समए कायं च जोगं च ईरियं च पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आइयट्ठे अणाईए चिच्चाणं भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणाए भेरवमणुचिन्ने तत्थवि तस्स कालपरियाए, सेवि तत्थ विअन्तिकारए, इच्चेयं विमोहायणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं तिबेमि (सू० २२६)८–७ ॥

णमिति वाक्यालङ्कारे, यस्य भिक्षोरेवंभूतो–वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति, तद्यथा–ग्लायामि खल्वहमित्यादि यावत्तृणानि संस्तरेत्, संस्तीर्य च तृणानि यदपरं कुर्यात्तदाह–अत्रापि समये–अवसरे न केवलमन्यत्रानुज्ञाप्य संस्तारकमारुह्य सिद्धसमक्षं स्वत एव पञ्चमहाव्रतारोपणं करोति, ततश्चतुर्विधमप्याहारं प्रत्याचष्टे, ततः पादपोपगमनाय कायं च–शरीरं प्रत्याचक्षीत, तद्योगं च–आकुञ्चनप्रसारणोन्मेषनिमेषादिकम्, तथेरणमीर्यां तां च सूक्ष्मां कायवाग्गतां मनोगतां वाऽप्रशस्तां प्रत्याचक्षीत, तच्च सत्यं सत्यवादीत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयम् । इतिब्रवीमिशब्दावपि क्षुण्णार्थाविति विमोक्षाध्ययनस्य सप्तमोद्देशकः समाप्तः ८–७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२४०]

उक्तः सप्तमोद्देशकः, साम्प्रतमष्टम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशकेषु रोगादिसम्भवे कालपर्यायागतं परिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनविधानमुक्तम्, इह तु तदेवानुपूर्वीविहारिणां कालपर्यायागतमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रमुच्यते—

अनुष्टुप् ॥ अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज । वसुमन्तो मइमन्तो, सव्वं नच्चा अणेलिसं ॥ १ ॥ दुविहंपि विइत्ता णं, बुद्धा धम्मस्स पारगा । अणुपुव्वीइ संखाए, आरम्भाओ(य)तिउट्टई ॥ २ ॥ कसाए पयणू किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए । अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अन्तियं ॥ ३ ॥ जीवियं नाभिकङ्खिज्जा, मरणं नोवि पत्थए । दुहओऽवि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा ॥ ४ ॥

आनुपूर्वी–क्रमः, तद्यथा–प्रव्रज्याशिक्षासूत्रार्थग्रहणपरिनिष्ठितस्यैककिविहारित्वमित्यादि, यदिवा आनुपूर्वी–संलेखनाक्रमश्चत्वारि विकृष्टानीत्यादि तथा आनुपूर्व्या यान्यभिहितानि, कानि पुनस्तानि?—'विमोहानि' विगतो मोहो येषु येषां वा येभ्यो वा तानि तथा–भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनानि यान्येवंभूतानि यथाक्रममायातानि धीराः–अक्षोभ्याः समासाद्य–प्राप्य वसु–द्रव्यं संयमस्तद्वन्तो वसुमन्तः, तथा मननं मतिः–हेयोपादेयहानोपादानाध्यवसायस्तद्वन्तो मतिमन्तः, तथा 'सर्वं' कृत्यमकृत्यं च ज्ञात्वा यद्यस्य वा भक्तपरिज्ञानादिकं मरणविधानमुचितं धृतिसंहननाद्यपेक्षयाऽनन्यस-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अष्टम-अध्ययने अष्टम-उद्देशक: 'अनशन-मरण' आरब्ध:,

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [२४३]

दृशम्–अद्वितीयम्, सर्वं ज्ञात्वा समाधिमनुपालयेदिति ॥ १ ॥ किं च–द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधं तपो बाह्यमभ्यन्तरं च, तद्विदित्वा–आसेव्य यदिवा मोक्षाधिकारे विमोक्तव्यं द्विविधं, तदपि बाह्यं शरीरोपकरणादि आन्तरं रागादि, तद्धेयतया विदित्वा त्यक्त्वेत्यर्थः, हेयपरित्यागफलत्वात् ज्ञानस्य, 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे, के विदित्वा ?—'बुद्धा' अवगततत्त्वा धर्म्मस्य–श्रुतचारित्राख्यस्य पारगाः–सम्यग्वेत्तारः, ते बुद्धा धर्म्मस्वरूपवेदिनः 'आनुपूर्व्या' प्रव्रज्यादिक्रमेण संयममनुपाल्य मम जीवतः कश्चिद्गुणो नास्तीत्यतः शरीरमोक्षावसरः प्राप्तः तथा कस्मै मरणायालमहमित्येवं 'संख्याय' ज्ञात्वा, आरम्भणमारम्भः–शरीरधारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मकस्तस्मात् त्रुट्यति–अपगच्छतीत्यर्थः, सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे चतुर्थी, पाठान्तरं वा 'कम्मुणाओ तिअट्टई' कर्माष्टभेदं तस्मात् त्रुटयिष्यतीति त्रुट्यति 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वे'-(पा० ३-३-१३१)त्यनेन भविष्यत्कालस्य वर्त्तमानता॥२॥ स चाभ्युद्यतमरणाय संलेखनां कुर्वन् प्रधानभूतां भावसंलेखनां कुर्यादित्येतदर्शयितुमाह–कषः–संसारस्तस्यायाः कषायाः–क्रोधादयश्चत्वारस्तान् प्रतनून् कृत्वा ततो यत्किञ्चनाश्नीयात्, तदपि न प्रकाममिति दर्शयति–'अल्पाहारः' स्तोकाशी षष्ठाष्टमादि संलेखनाक्रमायातं तपः कुर्व्वन् यत्रापि पारयेत्तत्राप्यल्पमित्यर्थः, (अल्पाहारतया च क्रोधोद्भवः स्यादतस्तदुपशमो विधेय) इति दर्शयति–तितिक्षते–असदृशजनादपि दुर्भाषितादि क्षमते, रोगातङ्कं वा सम्यक् सहत इति, तथा च संलेखनां कुर्व्वन्नाहारस्याल्पतया 'अर्थे'त्यानन्तर्ये 'भिक्षुः' मुमुक्षुः 'ग्लायेत्' आहारेण विना ग्लानतां व्रजेत्, क्षणे मूर्च्छन्नाहारस्यैवान्तिकं–पर्यवसानं व्रजेदिति, चत्वारि विकृष्टानीत्यादि संलेखनाङ्गं विहायाशनं विदध्यादित्यर्थः, यदिवा ग्लानतामुपगतः सन्नाहारस्यान्तिकं–समीपं न व्रजेत्, तथाहि–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आहारयामि तावत्कतिचिद्दिनानि पुनः संलेखनाशेषं विधास्येऽहमित्येवं नाहारान्तिकमियादिति ॥३॥ किं च--तत्र संलेखनायां व्यवस्थितः सर्वदा वा साधुर्जीवितं–प्राणधारणलक्षणं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि क्षुद्वेदनापरीषहमनधिसहमानो मरणं प्रार्थयेद् 'उभयतोऽपि' जीविते मरणे वा न सङ्गं विदध्यात् जीविते मरणे तथा ॥४॥ किं भूतस्तर्हि स्यादित्याह—

मज्झत्थो निज्जरापेही, समाहिमणुपालए । अन्तो बहिं विऊस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥ ५ ॥ जं किंचुवक्कमं जाणे, आऊखेमस्समप्पणो । तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पण्डिए ॥ ६ ॥ गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया । अप्पपाणं तु विन्नाय, तणाइं संथरे मुणी ॥ ७ ॥ अणाहारो तुयट्टिज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए । नाइवेलं उवचरे, माणुस्सेहि विपुट्ठवं ॥ ८ ॥

रागद्वेषयोर्मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, यदिवा जीवितमरणयोर्निराकाङ्क्षतया मध्यस्थो निर्जरामपेक्षितुं शीलमस्येति निर्जरापेक्षी, स एवंभूतः समाधिं–मरणसमाधिमनुपालयेत्–जीवितमरणाशंसारहितः कालपर्यायेण यन्मरणमापद्यते तत् समाधिस्थोऽनुपालयेदिति भावः । अन्तः कषायान् बहिरपि शरीरोपकरणादिकं व्युत्सृज्यात्मन्यध्यात्मम्–अन्तःकरणं तच्छुद्धं सकलद्वन्द्वोपरमाद्विस्रोतसिकारहितमन्वेषयेत्–प्रार्थयेदिति ॥ ५ ॥ किं च— उपक्रमणमुपक्रमः–उपायस्तं यं कञ्चन जानीत, कस्योपक्रमः ?—'आयुःक्षेमस्य' आयुषः क्षेमं–सम्यक्पालनं तस्य,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कस्य सम्बन्धि तदायुः ?–आत्मनः, एतदुक्तं भवति–आत्मायुषो यं क्षेमप्रतिपालनोपायं जानीत तं क्षिप्रमेव शिक्षेत्–व्यापारयेत् पण्डितो–बुद्धिमान्, 'तस्यैव' संलेखनाकालस्य 'अन्तरद्धाए'त्ति अन्तरकालेऽर्द्धसंलिखित एव देहे देही यदि कश्चित् वातादिक्षोभात् आतङ्क आशुजीवितापहारी स्यात् ततः समाधिमरणमभिकाङ्क्षन् तदुपशमोपायमेषणीयविधिनाऽभ्यङ्गादिकं विदध्यात्, पुनरपि संलिखेत्, यदिवाऽऽत्मनः आयुःक्षेमस्य–जीवितस्य यत्किमप्युपक्रमणम्–आयुःपुद्गलानां संवर्त्तनं समुपस्थितं तज्जानीत, ततस्तस्यैव संलेखनाकालस्य मध्येऽव्याकुलितमतिः क्षिप्रमेव भक्तपरिज्ञानादिकं शिक्षेत –आसेवेत पण्डितो–बुद्धिमानिति ॥ ६ ॥ संलेखनाशुद्धकायश्च मरणकालं समुपस्थितं ज्ञात्वा किं कुर्यादित्याह—ग्रामः–प्रतीतो, ग्रामशब्देन चात्र प्रतिश्रय उपलक्षितः, प्रतिश्रय एव स्थण्डिलं–संस्तारकभुवं प्रत्युपेक्ष्य, तथा अरण्ये वेत्यनेन चोपाश्रयाद्बहिरित्येतदुपलक्षितम्, उद्याने गिरिगुहायामरण्ये वा स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्य विज्ञाय चाल्पप्राणं–प्राणिरहितम्, ग्रामादियाचितानि प्रासुकानि दर्भादिमयानि तृणानि संस्तरेत् 'मुनिः' यथोचितकालस्य वेत्तेति॥७॥ संस्तीर्य च तृणानि यत्कुर्यात्तदाह—न विद्यते आहारोऽस्येत्यनाहारः तत्र यथाशक्ति यथासमाधानं च त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याख्यायारोपितपञ्चमहाव्रतः क्षान्तः–क्षामितसमस्तप्राणिगणः समसुखदुःखः आवर्जितपुण्यप्राग्भारतया मरणाद्बिभ्यत् संस्तारके त्वग्वर्त्तनं कुर्यात्, तत्र च स्पृष्टः परीषहोपसर्गैस्त्यक्तदेहतया सम्यक्कानध्यासयेद्–अधिसहेत, तत्र मानुष्यैरनुकूलप्रतिकूलैः परीषहोपसर्गैः स्पृष्टो–व्याप्तो नातिवेलमुपचरेत्–न मर्यादोल्लङ्घनं कुर्यात्, पुत्रकलत्रादिसम्बन्धान्नार्तध्यानवशगो भूयात्, प्रतिकूलैर्वा परीषहोपसर्गैर्न क्रोधनिघ्नः स्यादिति ॥ ८ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥९॥

दीप अनुक्रम [२४८]

संसप्पगा य जे पाणा, जे य उड्ढमहाचरा । भुञ्जन्ति मंससोणियं, न छणे न पमज्जए ॥ ९ ॥ पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ नवि उब्भमे । आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणोऽहियासए ॥ १० ॥ गन्थेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए। पग्गहियतरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ ॥ ११ ॥ अयं से अवरे धम्मे, नायपुत्तेण साहिए। आयवज्जं पडीयारं, विजहिज्जा तिहा तिहा ॥ १२ ॥

संसर्प्पन्तीति संसर्प्पकाः–पिपीलिकाक्रोष्ट्रादयो ये प्राणाः–प्राणिनो ये चोर्द्ध्वंचरा–गृध्रादयो ये चाधश्चराः बिलवासित्वात्सर्प्पादयस्त एवंभूता नानाप्रकाराः 'भुञ्जन्ते' अभ्यवहरन्ति मांसं सिंहव्याघ्रादयः तथा शोणितं मशकादयः, तांश्च प्राणिन आहारार्थिनः समागतानवन्तिसुकुमारवद्धस्तादिभिर्न्न क्षुणयात्–न हन्यात् न च भक्ष्यमाणं शरीरावयवं रजोहरणादिना प्रमार्जयेदिति ॥ ९ ॥ किं च–प्राणाः–प्राणिनो देहं मम (वि)हिंसन्ति, न तु पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्राणीत्यतस्त्यक्तदेहाशिनस्तानन्तरायभयान्न निषेधयेत्, तस्माच्च स्थानान्नाप्युद्गमेत्–नान्यत्र यायात्, किंभूतः सन्?–आश्रवैः–प्राणातिपातादिभिर्विषयकषायादिभिर्वा 'विविक्तैः' पृथग्भूतैरविद्यमानैः शुभाध्यवसायी तैर्भक्ष्यमाणोऽप्यमृतादिना तृप्यमाण इव सम्यक्तत्कृतां वेदनां तैस्तप्यमानो वाऽध्यासयेद्–अधिसहेत ॥ १० ॥ किं च– ग्रन्थैः सबाह्याभ्यन्तरैः शरीररागादिभिः 'विविक्तैः' त्यक्तैः सद्भिर्ग्रन्थैर्वा–अङ्गानङ्गप्रविष्टैरात्मानं भावयन् धर्म्मशुक्ल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानान्यतरोपेतः 'आयुःकालस्य' मृत्युकालस्य 'पारगः' पारगामी स्यात्–यावदन्त्या उच्छ्वासनिश्वासास्तावत्तद्विदध्याद्, एतन्मरणविधानकारी सिद्धिं त्रिविष्टपं वा प्राप्नुयादिति गतं भक्तपरिज्ञामरणं। साम्प्रतमिङ्गितमरणं श्लोकार्द्धादिनोच्यते– तद्यथा—'प्रगृहीततरकं चेदं' प्रकर्षेण गृहीततरं प्रगृहीततरं तदेव प्रगृहीततरकम्, 'इद'मिति वक्ष्यमाणमिङ्गितमरणम्, एतद्धि भक्तप्रत्याख्यानात्सकाशान्नियमेन चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानादिङ्गितप्रदेशसंस्तारकमात्रविहाराभ्युपगमाच्च विशिष्ट-तरधृतिसंहननाद्युपेतेन प्रकर्षेण गृह्यत इति, कस्यैतद्भवति ?–द्रव्यं–संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकस्तस्य 'विजा-नतो' गीतार्थस्य जघन्यतोऽपि नवपूर्वविशारदस्य भवति, नान्यस्येति, अत्रापीङ्गितमरणे यत्संलेखनातृणसंस्तारा-दिकमभिहितं तत्सर्वं वाच्यम् ॥ ११ ॥ अयमपरो विधिरित्याह—'अयं स' इति सोऽयम् 'अपरः' अन्यो भक्तप्रत्याख्यानाद्भिन्न इङ्गितमरणस्य 'धर्म्मो' विशेषो 'ज्ञातपुत्रेण' वीरवर्द्धमानस्वामिना सुष्ठाहितः–उपलब्धः स्वाहितः, अस्य चानन्तरं वक्ष्यमाणत्वात्प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमाऽभिधानं, अत्रापीङ्गितमरणे प्रव्रज्यादिको विधिः संलेखना च पूर्व-वद्द्रष्टव्या, तथोपकरणादिकं हित्वा स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्यालोचितप्रतिक्रान्तः पञ्चमहाव्रतारूढश्चतुर्विधमाहारं प्रत्याख्याय संस्तारके तिष्ठति, अयमत्र विशेषः–आत्मवर्जं प्रतिचारम्–अङ्गव्यापारं विशेषेण जह्यात्–त्यजेत् 'त्रिविधत्रिविधेने'ति मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिः स्वव्यापारव्यतिरेकेण परित्यजेत्, स्वयमेव चोद्वर्त्तनपरिवर्त्तनं कायिकायोगादिकं विधत्ते ॥ १२ ॥ सर्वथा प्राणिसंरक्षणं पौनःपुन्येन विधेयमिति दर्शयितुमाह–

हरिएसु न निवज्जिज्जा, थण्डिलं मुणिया सए। विओसिज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थऽ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हियासए ॥ १३ ॥ इन्दिएहिं गिलायन्तो, समियं आहरे मुणी । तहावि से अगरिहे,
अचले जे समाहिए ॥ १४ ॥ अभिक्कमे पडिक्कमे, सङ्कुचए पसारए । कायसाहार-
णट्ठाए, इत्थं वावि अचेयणो ॥ १५ ॥ परिक्कमे परिकिलन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए ।
ठाणे ण परिकिलन्ते, निसीइज्जा य अंतसो ॥ १६ ॥

हरितानि–दूर्वाङ्कुरादीनि तेषु न शयीत स्थण्डिलं मत्वा शयीत तथा सबाह्याभ्यन्तरमुपधिं व्युत्सृज्य–त्यक्त्वाऽनाहारः सन् स्पृष्टः परीषहोपसर्गैः 'तत्र' तस्मिन् संस्तारके व्यवस्थितः सन् सर्वमध्यासयेद्–अधिसहेत ॥ १३ ॥ किं च— स ह्यनाहारतया मुनिर्ग्लायमान इन्द्रियैः शमिनो भावः शमिता–समता तां साम्यं वा आत्मन्याहारयेद्–व्यवस्थापयेत् नार्त्तध्यानोपगतो भूयादिति, यथासमाधानमास्ते, तद्यथा–सङ्कोचननिर्विण्णो हस्तादिकं प्रसारयेत् तेनापि निर्विण्ण उपविशेत् यथेङ्गितदेशे सञ्चरेद्वा, तथाप्यसौ स्वकृतचेष्टत्वादगर्ह्य एव, किंभूत इति दर्शयति–अचलो यः समाहितः, यद्यप्यसाविङ्गितप्रदेशे स्वतः शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युद्यतमरणान्न चलतीत्यचलः सम्यगाहितं–व्यवस्थापितं धर्म्मध्याने शुक्लध्याने वा मनो येन स समाहितः, भावाचलितश्चेङ्गितप्रदेशे चङ्क्रमणादिकमपि कुर्यादिति ॥१४॥ एतदर्शयितुमाह —प्रज्ञापकापेक्षयाऽभिमुखं क्रमणमभिक्रमणं, संस्तारकाद्गमनमित्यर्थः, तथा प्रतीपं–पश्चादभिमुखं क्रमणं प्रतिक्रमणमागमनमित्यर्थः, नियतदेशे गमनागमने कुर्यादितियावत्, तथा निष्पन्नो निषण्णो वा यथासमाधानं भुजादिकं सङ्को-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चयेत्प्रसारयेद्वा, किमर्थमेतदिति चेदुच्यते–कायस्य–शरीरस्य प्रकृतिपेलवस्य साधारणार्थं, कायसाधारणाच्च तत्पीडाकृतायुष्कोपक्रमपरिहारेण स्वायुःस्थितिक्षयान्मरणं यथा स्यात्, न पुनस्तेषां महासत्त्वतया शरीरपीडोत्थापितचित्तस्यान्यथाभावः स्यादिति भावः, ननु च निरुद्धसमस्तकायचेष्टस्य शुष्ककाष्ठवदचेतनतया पतितस्य प्रचुरतरपुण्यप्राग्भारोऽभिहित इति, नायं नियमः, संविशुद्धाध्यवसायतया यथाशक्त्यारोपितभारनिर्वाहिणः तत्तुल्य एव कर्म्मक्षयः अत्राप्यसौ वाशब्दात्तत्र वा पादपोपगमनेऽचेतनवत्सक्रियोऽपि निष्क्रिय एव, यदिवा 'अत्रापि' इङ्गितमरणेऽचेतनवच्छुष्ककाष्ठवत्सर्वक्रियारहितो यथा पादपोपगमने तथा सति सामर्थ्ये तिष्ठेद् ॥ १५ ॥ एतत्सामर्थ्याभावे चैतत्कुर्यादित्याह—यदि निषण्णस्यानिषण्णस्य वा गात्रभङ्गः स्यात्, ततः परिक्रामेत्–चङ्क्रम्याद् यथानियमिते देशेऽकुटिलया गत्या गतागतानि कुर्यात्, तेनापि श्रान्तः सन् अथवोपविष्टस्तिष्ठेत्, 'यथायतो' यथाप्रणिहितगात्र इति, यदा पुनः स्थानेनापि परिक्रमियात् तद्यथा–निषण्णो वा पर्यङ्केण वा अर्द्धपर्यङ्केण वोत्कुटुकासनो वा परिताम्यति तदा निषण्णः स्यात्, तत्राप्युत्तानको वा पार्श्वशायी वा दण्डायतो वा लगण्डशायी वा यथा समाधानमवतिष्ठेत् ॥ १६ ॥ किं च—

आसीणेऽणेलिसं मरणं, इन्दियाणि समीरए । कोलावासं समासज्ज, वितहं पाउरे सए ॥ १७ ॥ जओ वज्जं समुप्पज्जे, न तत्थ अवलम्बए । तउ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए ॥ १८ ॥ अयं चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए । सव्वगायनिरो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१९||

दीप अनुक्रम [२५८]

हेऽवि, ठाणाओ नवि उब्भमे ॥ १९ ॥ अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे ।
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठ माहणे ॥ २० ॥

'आसीनः' आश्रितः किं तत्?–मरणम्, किंभूतम्?—'अनीदृशम्' अनन्यसदृशमितरजनदुरध्यवसेयम्, तथाभूतश्च किं कुर्यादिति दर्शयति–इन्द्रियाणीष्टानिष्टस्वविषयेभ्यः सकाशाद्रागद्वेषाकरणतया सम्यगीरयेत्–प्रेरयेदिति, कोलाघुणकीटकास्तेषामावासः कोलावासस्तमन्तर्घुणक्षतमुद्देहिकानिचितं वा 'समासाद्य'लब्ध्वा तस्माद्यद्धितथम्–आगन्तुकतदुत्थजन्तुरहितमवष्टम्भनाय प्रादुरेषयेत्–प्रकटं प्रत्युपेक्षणयोग्यमशुषिरमन्वेषयेत् ॥१७॥ इङ्गितमरणे चोदनामभिधाय यन्निषेध्यं तद्दर्शयितुमाह—'यतो' यस्मादनुष्ठानादवष्टम्भनादेर्वज्रवद्गुरुं–गुरुत्वात्कर्म्म अवद्यं वा–पापं वा तत्समुत्पद्येत–प्रादुष्यात्, न तत्र घुणक्षतकाष्ठादावबलम्बेत–नावष्टम्भनादिकां क्रियां कुर्यात्, तथा 'ततः' तस्मादुत्क्षेपणापक्षेपणादेः कायोयोगाद्दुष्प्रणिहितवाग्योगादार्त्तध्यानादिमनोयोगाच्चावद्यसमुत्पत्तिहेतोरात्मानमुत्कर्षेद्–उत्क्रामयेत्, पापोपादानादात्मानं निवर्त्तयेदितियावत्, तत्र च धृतिसंहननाद्युपेतोऽप्रतिकर्म्मशरीरः प्रवर्धमानशुभाध्यवसायकण्डकोऽपूर्वापूर्वपरिणामारोही सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण पदार्थस्वरूपनिरूपणाहितमतिः अन्यदिदं शरीरं त्याज्यमित्येवंकृताध्यवसायः सर्वान् स्पर्शान्–दुःखविशेषाननुकूलप्रतिकूलोपसर्गपरीषहापादितान् तथा वातपित्तश्लेष्मद्वन्द्वेतरप्रोद्भूतान् कर्म्मक्षयायोद्यतो मयैवैतदवद्यं कृतं सोढव्यं चेत्येतदध्यवसायी अध्यासयेद्–अधिसहेत, यतो यन्मया त्यक्तं शरीरकमेतदेवोपद्रवन्ति न पुनर्जिघृक्षितं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म्माचरणमित्याकलय्य सर्वपीडासहिष्णुर्भवेदिति ॥ १८ ॥ गत इङ्गितमरणाधिकारः, साम्प्रतं पादपोपगमनमाश्रित्याह— अनन्तरमभिधास्यमानत्वाद्योऽयं प्रत्यक्षो मरणविधिः, स चाऽऽयततरो, (न केवलं भक्तपरिज्ञाया इङ्गितमरणविधिराय-ततरः, अयं च तस्मादायततर इति चशब्दार्थः, आयततर इत्याऽभिविधौ सामस्त्येन यत आयतः, अयमनयोरति-शयेनायत आयततरः, यदिवाऽयमनयोरतिशयेनात्तो–गृहीत आत्ततरः, यत्नेनाध्यवसित इत्यर्थः, तदेवमयं पाद-पोपगमनमरणविधिरात्ततरो–दृढतरः स्याद्भवेत् , अत्रापि यदिङ्गितमरणे प्रव्रज्यासंलेखनादिकमुक्तं तत्सर्वं द्रष्टव्यमिति, यद्यसावायततरः ततः किमिति दर्शयति–यो भिक्षुः 'एवम्' उक्तविधिनैव पादपोपगमनविधिमनुपालयेत् 'सर्वगात्रनि-रोधेऽपि' उत्तप्यमानकायोऽपि मूर्च्छन्नपि मरणसमुद्घातगतो वा भक्ष्यमाणमांसशोणितोऽपि क्रोष्टुगृध्रपिपीलिकादि-भिर्महासत्त्वतयाऽऽशंसितमहाफलविशेषः संस्तस्मात्स्थानात्–प्रदेशात् द्रव्यतो भावतोऽपि शुभाध्यवसायस्थानान्न व्युद्ग-मेत्–न स्थानान्तरं यायात् ॥ १९ ॥ किं च—'अय' मित्यन्तःकरणनिष्पन्नत्वात्प्रत्यक्षः 'उत्तमः' प्रधानो मरणविधिः सर्वो-त्तरत्वाद्धर्म्मो–विशेषः पादपोपगमनरूपो मरणविशेष इति, उत्तमत्वे कारणं दर्शयति—'पूर्वस्थानस्य प्रग्रह' इति पञ्चम्यर्थे षष्ठी पूर्वस्थानाद्भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणरूपात्प्रकर्षेण ग्रहोऽत्र पादपोपगमने, प्रगृहीततरमेतदित्यर्थः, तथाहि–अत्र यदिङ्गि-तमरणानुमतं कायपरिस्पन्दनं तदपि निषेध्यते अच्छिन्नमूलपादपवन्निश्चेष्टो निष्क्रियो दह्यमानश्छिद्यमानो वा विषमप-तितो वा तथैवास्ते न तस्मात्स्थानाच्चलति, चिलातपुत्रवत्, एतदेव दर्शयति–अचिरं स्थानं, तच्च स्थण्डिलं तत्पूर्वविधिना प्रत्युपेक्ष्य तस्मिन् प्रत्युपेक्षिते स्थण्डिले बिहरेदिति, अत्र पादपोपगमनाधिकाराद्विहरणं तद्विधिपालनमुक्तं, तच्च स्थाना-

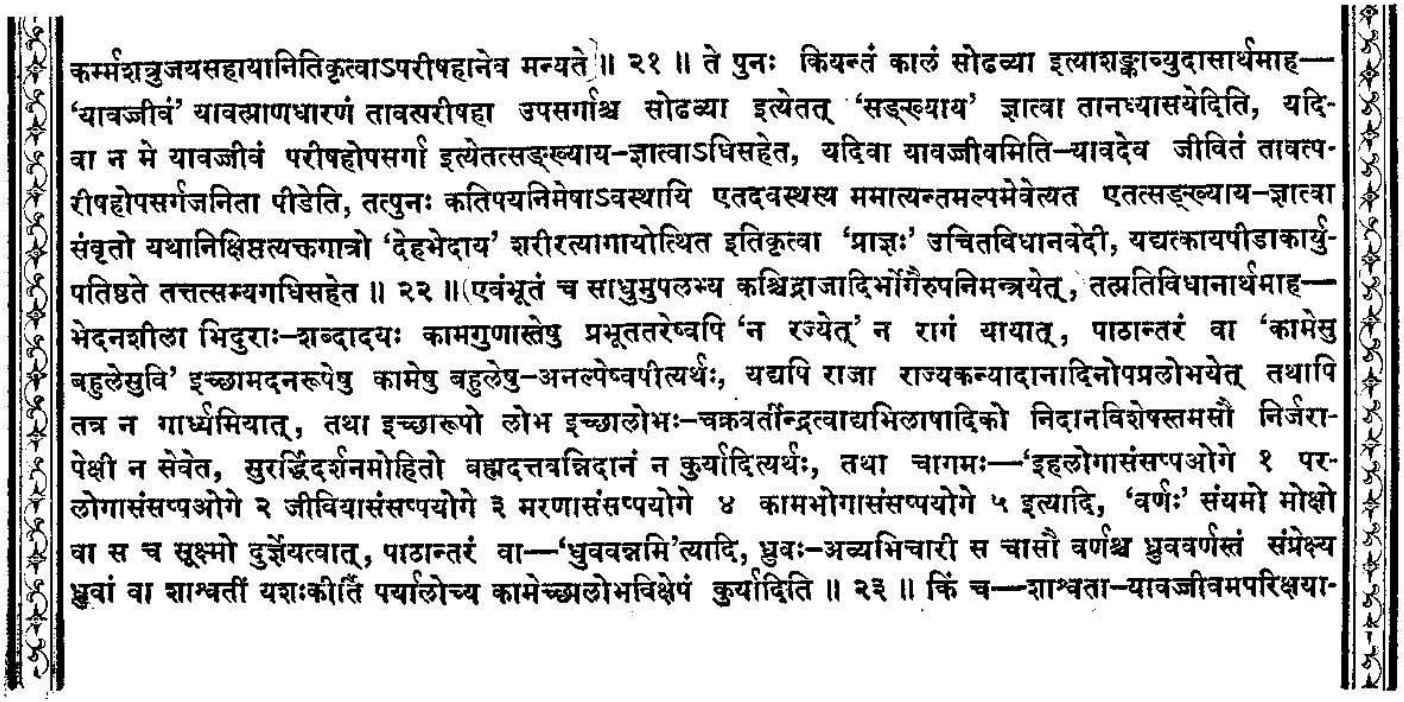
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्स्थानान्तरसंक्रमणम्, एतदेव च दर्शयति–तिष्ठेत् सर्वगात्रनिरोधेऽपि, स्थानान्तरासङ्क्रमणं कुर्यादित्यर्थः, कोऽसौ ?— 'माहणे'त्ति साधुः, स हि निषण्णोऽनिषण्ण ऊर्ध्वस्थितो वा निष्प्रतिकर्म्मा यद्यथानिक्षिप्तमङ्गमचेतन इव न चालयेदितियावत् ॥ २० ॥ एतदेव प्रकारान्तरेण दर्शयितुमाह—

अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं । वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा ॥ २१ ॥ जावज्जीवं परीसहा, उवसग्गा इति सङ्ख्या । संवुडे देहभेयाए, इय पन्नेऽहियासए ॥ २२ ॥ भेउरेसु न रज्जिज्जा, कामेसु बहुतरेसुवि । इच्छा लोभं न सेविज्जा, धुववन्नं सपेहिया ॥ २३ ॥ सासएहिं निमन्तिज्जा, दिव्वमायं न सद्दहे । तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं नूमं विहूणिया ॥ २४ ॥

न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तम्–अचेतनं जीवरहितमित्यर्थः, तच्च स्थण्डिलं फलकादि वा 'समासाद्य' लब्ध्वा फलकेऽपि समर्थः कश्चित्काष्ठे वाऽवष्टभ्य तत्रात्मानं स्थापयेत्, व्यवस्थाप्य च त्यक्तचतुर्विधाहारो मेरुरिव निष्प्रकम्पः कृतालोचनादिपरिकर्म्मा गुरुभिरनुज्ञातो व्युत्सृजेत्, 'सर्वशः' सर्वात्मना 'कायं'देहं, व्युत्सृष्टदेहस्य च यदि केचन परीषहोपसर्गाः स्युस्ततो भावयेत्–'न मे देहे परीषहाः' मत्सम्बन्धी देह एव न भवति, परित्यक्तत्वात्, तदभावे कुतः परीषहाः ?, यदिवा न मम देहे परीषहाः, सम्यक्करणेन सहमानस्य तत्कृतपीडयोद्वेगाभावात्, अतः परीषहान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



कर्म्मशत्रुजयसहायानितिकृत्वाऽपरीषहानेव मन्यते ॥ २१ ॥ ते पुनः कियन्तं कालं सोढव्या इत्याशङ्क्याद्युदासार्थमाह— 'यावज्जीवं' यावत्प्राणधारणं तावत्परीषहा उपसर्गाश्च सोढव्या इत्येतत् 'सङ्ख्याय' ज्ञात्वा तानध्यासयेदिति, यदिवा न मे यावज्जीवं परीषहोपसर्गा इत्येतत्सङ्ख्याय–ज्ञात्वाऽधिसहेत, यदिवा यावज्जीवमिति–यावदेव जीवितं तावत्परीषहोपसर्गजनिता पीडेति, तत्पुनः कतिपयनिमेषाऽवस्थायि एतदवस्थस्य ममात्यन्तमल्पमेवेत्यत एतत्सङ्ख्याय–ज्ञात्वा संवृतो यथानिक्षिप्तत्यक्तगात्रो 'देहभेदाय' शरीरत्यागायोत्थित इतिकृत्वा 'प्राज्ञः' उचितविधानवेदी, यद्यत्कायपीडाकार्युपतिष्ठते तत्तत्सम्यगधिसहेत ॥ २२ ॥(एवंभूतं च साधुमुपलभ्य कश्चिद्राजादिर्भोगैरुपनिमन्त्रयेत्, तत्प्रतिविधानार्थमाह— भेदनशीला भिदुराः–शब्दादयः कामगुणास्तेषु प्रभूततरेष्वपि 'न रज्येत्' न रागं यायात्, पाठान्तरं वा 'कामेसु बहुलेसुवि' इच्छामदनरूपेषु कामेषु बहुलेषु–अनल्पेष्वपीत्यर्थः, यद्यपि राजा राज्यकन्यादानादिनोपप्रलोभयेत् तथापि तत्र न गार्ध्यमियात्, तथा इच्छारूपो लोभ इच्छालोभः–चक्रवर्तीन्द्रत्वाद्यभिलाषादिको निदानविशेषस्तमसौ निर्जरापेक्षी न सेवेत, सुरर्द्धिदर्शनमोहितो वह्मदत्तवन्निदानं न कुर्यादित्यर्थः, तथा चागमः—'इहलोगासंसप्पओगे १ परलोगासंसप्पओगे २ जीवियासंसप्पयोगे ३ मरणासंसप्पयोगे ४ कामभोगासंसप्पयोगे ५ इत्यादि, 'वर्णः' संयमो मोक्षो वा स च सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयत्वात्, पाठान्तरं वा—'ध्रुववन्नमि'त्यादि, ध्रुवः–अव्यभिचारी स चासौ वर्णश्च ध्रुववर्णस्तं संप्रेक्ष्य ध्रुवां वा शाश्वतीं यशःकीर्तिं पर्यालोच्य कामेच्छालोभविक्षेपं कुर्यादिति ॥ २३ ॥ किं च—शाश्वता–यावज्जीवमपरिक्षया-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२४||

दीप अनुक्रम [२६४]

अतिदिनदानाद्वाऽर्थास्तैस्तथाभूतैर्विभवैः कश्चिन्निमन्त्रयेत् तत्रातिबुध्यस्व यथा शरीरार्थं धनं मृग्यते तदेव शरीरमशाश्वतमिति, तथा दिव्यां मायां न श्रद्दधीत, तद्यथा–यदि कश्चिद्देवो मीमांसया प्रत्यनीकतया वा भक्त्या वाऽन्यथा वा कौतुकादिना नानर्द्धिदानतो निमन्त्रयेत्, तां च तत्कृतां मायां न श्रद्दधीत, तथा बुध्यस्व यथा देवमायैषा, अन्यथा कुतोऽयमाकस्मिकः पुरुषो दुर्लभमेतद्द्रव्यं प्रभूततरमेवंभूते क्षेत्रे काले भावे च दद्यात्?, एवं द्रव्यादिनिरूपणया देवमायां बुध्यस्व इति, तथा देवाङ्गना वा यदि दिव्यं रूपं विधाय प्रार्थयेत् तामपि बुध्यस्वेति, 'माहणे'त्ति साधुः 'सर्वम्' अशेषं 'नूमं'ति कर्म्म मायां वा तत् तां वा 'विधूय' अपनीय देवादिमायां बुध्यस्वेति क्रिया ॥ २४ ॥ किं च—

सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए । तितिक्खं परमं नच्चा, विमोहन्नयरं हियं
॥ २५ ॥ तिबेमि ॥ विमोक्षाध्ययनमष्टमं समाप्तम् । उद्देशः ॥ ८–८ ॥

सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः–पञ्चप्रकाराः कामगुणास्तत्सम्पादका वा द्रव्यनिचयास्तैस्तेषु वा अमूर्च्छितः–अनध्युपपन्नः आयुःकालस्य यावन्मात्रं कालमायुः संतिष्ठते असौ आयुःकालस्तस्य पारम्–आयुष्कपुद्गलानां क्षयो मरणं तद्गच्छतीति पारगः, यथोक्तविधिना पादपोपगमनव्यवस्थितः प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायः स्वायुःकालान्तगः स्यादिति । तदेवं पादपोपगमनविधिं परिसमाप्य्योपसंहारद्वारेण त्रयाणामपि मरणानां कालक्षेत्रपुरुषावस्थाश्रयणात्तुल्यकक्षतां पश्चार्द्धेन दर्शयति–तितिक्षा–परीषहोपसर्गापादितदुःखविशेषसहनं तत्रयाणामपि परमं–प्रधानमस्तीति 'ज्ञात्वा' अवधार्य 'विमोहान्यतरं

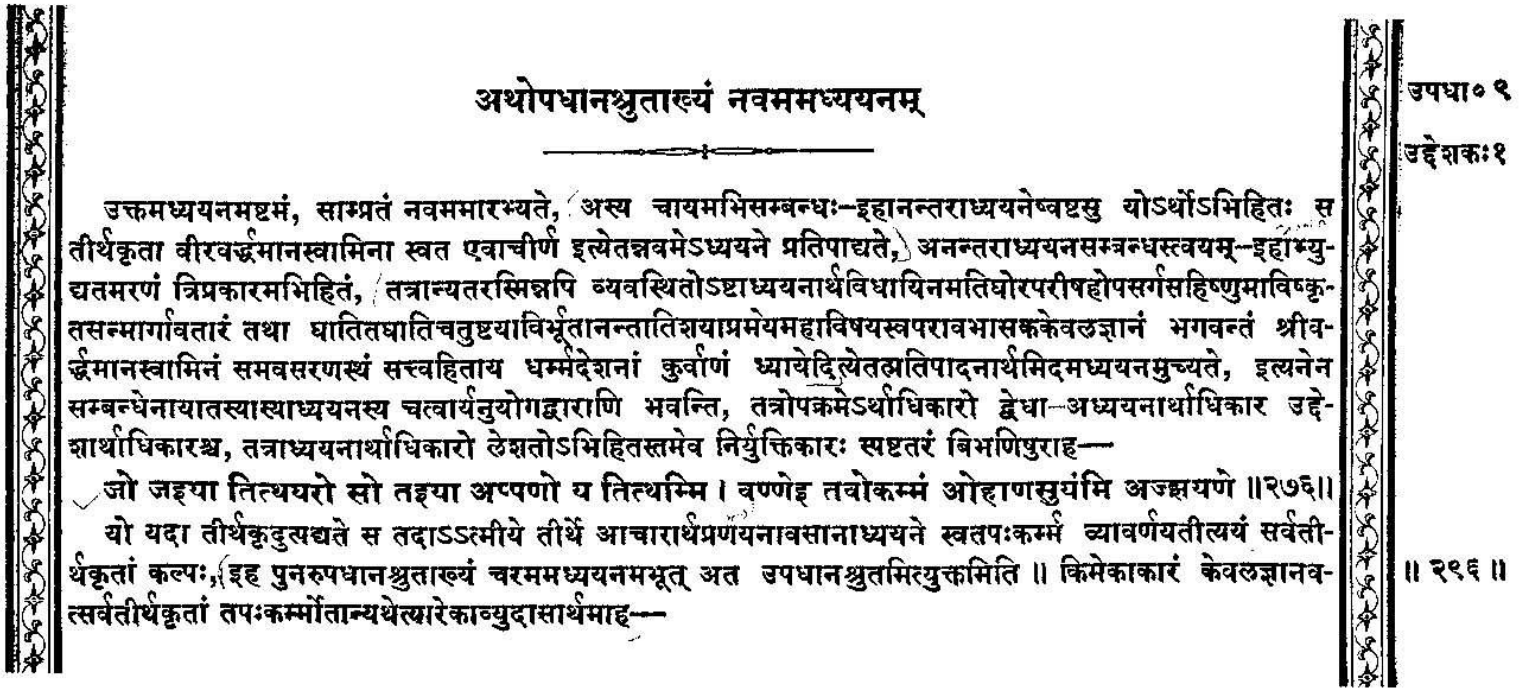
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हित'मिति विगतो मोहो येषु तानि विमोहानि–भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनानि तेषामन्यतरत्कालक्षेत्रादिकमाश्रित्य तुल्यफलत्वाद्धितं अभिप्रेतार्थसाधनादतो यथाशक्ति त्रयाणामन्यतरत्तुल्यबलत्वाद्यथावसरं विधेयं, इति अधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत्, नयविचारादिकमनुगतं वक्ष्यमाणं च द्रष्टव्यमिति विमोक्षाध्ययनस्याष्टमोद्देशकः समाप्तः । समाप्तं च विमोक्षाध्ययनमष्टममिति ॥ ग्रन्थाग्रम् ॥ १०२० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२६]

दीप अनुक्रम [२६४]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ २९६ ॥

अथोपधानश्रुताख्यं नवममध्ययनम्

उपधा० ९

उद्देशकः १

उक्तमध्ययनमष्टमं, साम्प्रतं नवममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययनेष्वष्टसु योऽर्थोऽभिहितः स तीर्थकृता वीरवर्द्धमानस्वामिना स्वत एवाचीर्ण इत्येतन्नवमेऽध्ययने प्रतिपाद्यते, अनन्तराध्ययनसम्बन्धस्त्वयम्–इहाभ्युद्यतमरणं त्रिप्रकारमभिहितं, तत्रान्यतरस्मिन्नपि व्यवस्थितोऽष्टाध्ययनार्थविधायिनमतिघोरपरीषहोपसर्गसहिष्णुमाविष्कृतसन्मार्गावतारं तथा घातितघातिचतुष्टयाविर्भूतानन्तातिशयाप्रमेयमहाविषयस्वपरावभासककेवलज्ञानं भगवन्तं श्रीवर्द्धमानस्वामिनं समवसरणस्थं सत्त्वहिताय धर्म्मदेशनां कुर्वाणं ध्यायेदित्येतत्प्रतिपादनार्थमिदमध्ययनमुच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा–अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारो लेशतोऽभिहितस्तमेव निर्युक्तिकारः स्पष्टतरं बिभणिषुराह—

जो जइया तित्थयरो सो तइया अप्पणो य तित्थम्मि। वण्णेइ तवोकम्मं ओहाणसुयंमि अज्झयणे ॥२७६॥

यो यदा तीर्थकृदुत्पद्यते स तदाऽऽत्मीये तीर्थे आचारार्थप्रणयनावसानाध्ययने स्वतपःकर्म्म व्यावर्णयतीत्ययं सर्वतीर्थकृतां कल्पः, इह पुनरुपधानश्रुताख्यं चरममध्ययनमभूत् अत उपधानश्रुतमित्युक्तमिति ॥ किमेकाकारं केवलज्ञानवत्सर्वतीर्थकृतां तपःकर्म्मोतान्यथेत्यारेकाव्युदासार्थमाह—

॥ २९६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नवम-अध्ययनं 'उपधानश्रुत' आरब्धः,

सव्वेसिं तवोकम्मं निरुवसग्गं तु वण्णिय जिणाणं । नवरं तु वद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥ २७७ ॥
तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झियव्वय धुवम्मि । अणिगूहियबलविरिओ तवोविहाणंमि उज्जमइ ॥
किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होइ न उज्जमियव्वं सपच्चवायंमि माणुस्से ? ॥ २७९ ॥
गाथात्रयमप्युत्तानार्थम् ॥ अध्ययनार्थाधिकारं प्रतिपाद्योद्देशार्थाधिकारं प्रतिपादयन्नाह—
चरिया १सिज्जा य २ परीसहा य ३ आयंकिया(ए)चिगिच्छा ४ य।तवचरणेणऽहिगारो चउसुद्देसेसु नायव्वो॥२८०॥
चरणं चर्यत इति वा चर्या–श्रीवीरवर्द्धमानस्वामिनो विहारः, अयं प्रथमोद्देशकेऽर्थाधिकारः १, द्वितीयोद्देशके त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा–शय्या–वसतिः सा च यादृग्भगवत आसीत् तादृग्वक्ष्यते २, तृतीये त्वयमर्थाधिकारः–मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः, उपलक्षणार्थत्वादुपसर्गाश्चानुकूलप्रतिकूला वर्द्धमानस्वामिनो येऽभूवन् तेऽत्र प्रतिपाद्यन्ते ३, चतुर्थे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा—'आतङ्किते' क्षुत्पीडायामातङ्कोत्पत्तौ विशिष्टाभिग्रहावाप्तावाहारेण चिकित्सेदिति ४, तपश्चरणाधिकारस्तु चतुर्ष्वप्युद्देशकेष्वनुयायीति गाथार्थः॥ निक्षेपस्त्रिधा–ओघनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, तत्रौघनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तूपधानश्रुतमिति द्विपदं नाम, तत्रोपधानस्य श्रुतस्य च यथाक्रमं निक्षेपः कर्तव्य इति न्यायादुपधाननिक्षेपचिकीर्षयाऽऽह—
नामंठवणुवहाणं दव्वे भावे य होइ नायव्वं । एमेव य सुत्तस्सवि निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥ २८१ ॥
नामोपधानं स्थापनोपधानं द्रव्योपधानं भावोपधानं च, श्रुतस्याप्येवमेव चतुर्द्धा निक्षेपः, तत्र द्रव्यश्रुतमनुपयुक्तस्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यत् श्रुतं द्रव्यार्थं वा यत् श्रुतं कुप्रावचनिकश्रुतानि चेति द्रव्यश्रुतम्, भावश्रुतं त्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतविषयोपयोगः ॥ तत्र सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्याद्युपधानप्रतिपादनायाह—

दव्वुवहाणं सयणे भावुवहाणं तवो चरित्तस्स । तम्हा उ नाणदंसणतवचरणेहिं इहाहिगयं ॥ २८२ ॥

उप–सामीप्येन धीयते–व्यवस्थाप्यत इत्युपधानं द्रव्यभूतमुपधानं द्रव्योपधानं, तत्पुनः शय्यादौ सुखशयनार्थं शिरोऽवष्टम्भनवस्तु, 'भावोपधान'मिति भावस्योपधानं भावोपधानं, तत्पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्राणि तपो वा सबाह्याभ्यन्तरं, तेन हि चारित्रपरिणतभावस्योपष्टम्भनं क्रियते, यत एवं तस्मात् ज्ञानदर्शनतपश्चरणैरिहाधिकृतमिति गाथार्थः ॥ किं पुनः कारणं चारित्रोपष्टम्भकतया तपो भावोपधानमुच्यते इत्याह—

जह खलु मइलं वत्थं सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं । एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥ २८३ ॥

'यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः यथैतत्तथाऽन्यदपि द्रष्टव्यमित्यर्थः, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, यथा मलिनं वस्त्रमुदकादिभिर्द्रव्यैः शुद्धिमुपयाति एवं जीवस्यापि भावोपधानभूतेन सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा अष्टप्रकारं कर्म्म शुद्धिमुपयातीति ॥ अस्य च कर्म्मक्षयहेतोस्तपस उपधानश्रुतत्वेनात्रोपात्तस्य 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'तिकृत्वा पर्यायदर्शनायाह–यदिवा तपोऽनुष्ठानेनापादिता अवधूननादयः कर्म्मापगमविशेषाः सम्भवन्तीत्यतस्तान् दर्शयितुमाह—

ओधूणण धुणण नासण विणासणं झवण खवण सोहिकरं । छेयण भेयण फेडण डहणं धुवणं च कम्माणं ॥२८४॥

तत्रावधूननम्–अपूर्वकरणेन कर्म्मग्रन्थेर्भेदापादनं, तच्च तपोऽन्यतरभेदसामर्थ्याद्भवतीत्येषा क्रिया शेषेष्वप्येकादश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सु पदेष्वायोज्या, तथा 'धूनन' भिन्नग्रन्थेरनिवर्त्तिकरणेन सम्यक्त्वावस्थानं, तथा 'नाशनं' कर्म्मप्रकृतेः स्तिबुकसङ्क्रमेण प्रकृत्यन्तरगमनं, तथा 'विनाशनं' शैलेश्यवस्थायां सामस्त्येन कर्म्माभावापादनं, तथा ध्यापनम्–उपशमश्रेण्यां कर्म्मानुदयलक्षणं विध्यापनं, तथा 'क्षपणम्' अप्रत्याख्यानादिप्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यभावापादनं, तथा 'शुद्धिकर'मित्यनन्तानुबन्धिक्षयप्रक्रमेण क्षायिकसम्यक्त्वापादनं, तथा 'छेदनम्' उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात्स्थितिह्रासजननं, तथा 'भेदनं' बादरसम्परायावस्थायां सञ्ज्वलनलोभस्य खण्डशो विधानं, तथा 'फेडण'न्ति अपनयनं चतुःस्थानिकादीनामशुभप्रकृतीनां रसतस्त्र्यादिस्थानापादनं, तथा 'दहनं' केवलिसमुद्घातध्यानाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणं, शेषस्य च दग्धरज्जुतुल्यत्वापादनं, तथा 'धावनं' शुभाध्यवसायान्मिथ्यात्वपुद्गलानां सम्यक्त्वभावसंजननमिति, एताश्च कर्म्मणोऽवस्थाः प्रायश उपशमश्रेणिक्षपकश्रेणिकेवलिसमुद्घातशैलेश्यवस्थाप्रकटनेन प्रभूता आविर्भाविता भवन्तीत्यतस्तत्प्रकटनाय प्रक्रम्यते, तत्रोपशमश्रेण्यामादावेवानन्तानुबन्धिनामुपशमना तावत्कथ्यते, इहासंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तानामन्यतरोऽन्यतरयोगे वर्त्तमान आरम्भको भवति, तत्रापि दर्शनसप्तकमेकेनोपशमयति, तद्यथा–अनन्तानुबन्धिनश्चतुरः, उपरितनलेश्यात्रिके च विशुद्धे साकारोपयोग्यन्तःकोटीकोटीस्थितिसत्कर्म्मा परिवर्त्तमानाः शुभप्रकृतीरेव बध्नन् प्रतिसमयमशुभप्रकृतीनामनुभागमनन्तगुणहान्या ह्रासयन् शुभानां चानन्तगुणवृद्ध्याऽनुभागं व्यवस्थापयन् पल्योपमासङ्ख्येयभागहीनमुत्तरोत्तरं स्थितिबन्धं कुर्वन् करणकालादपि पूर्वमन्तर्मुहूर्त्ते विशुध्यमानः करणत्रयं विधत्ते, तच्च प्रत्येकमान्तर्मौहूर्त्तिकं, तद्यथा–यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं चेति, चतुर्थ्युप-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शान्ताद्धा, तत्र यथाप्रवृत्तकरणे प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्धिमनुभवति, न तत्र स्थितिघातरसघातगुणश्रेणीगुणसङ्क्रमाणामन्यतमोऽपि विद्यते, तथा द्वितीयमपूर्वकरणं, किमुक्तं भवति ?–अपूर्वामपूर्वां क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणं, तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमा अन्यश्च स्थितिबन्ध इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्त्तन्त इत्यपूर्वकरणं, तथाऽनिवृत्तिकरणमित्यन्योऽन्यं नातिवर्त्तन्ते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणं, एतदुक्तं भवति–प्रथमसमयप्रतिपन्नानां तत्करणमसुमतां सर्वेषां तुल्यः परिणामः, एवं द्वितीयादिष्वप्यायोज्यं, अत्रापि पूर्वोक्ता एव स्थितिघातादयः पञ्चाप्यधिकारा युगपत्प्रवर्त्तन्त इति, तत एभिस्त्रिभिरपि करणैर्यथोक्तक्रमेणानन्तानुबन्धिनः कषायानुपशमयति, उपशमनं नाम यथा धूलिरुदकेन सिक्ता द्रुघणादिभिर्हता न वाय्वादिभिः प्रसर्पणादिविकारभाग्भवति, एवं कर्म्मधूल्यपि विशुद्ध्युदकार्द्रीकृता अनिवृत्तिकरणक्रियाहता सत्युदयोदीरणसङ्क्रमनिधत्तनिकाचनाकरणानामयोग्या भवति, तत्रापि प्रथमसमयोपशान्तं कर्म्मदलिकं स्तोकं द्वितीयादिषु समयेष्वसङ्ख्येयगुणवृद्ध्योपशम्यमानमन्तर्मुहूर्त्तेन सर्वमप्युपशान्तं भवति, एवमेकीयमतेनानन्तानुबन्धिनामुपशमोऽभिहितः, अन्ये त्वनन्तानुबन्धिनां विसंयोजनामेवाभिदधति, तद्यथा–क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयश्चतुर्गतिका अप्यनन्तानुबन्धिनां विसंयोजकाः, तत्र नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टयस्तिर्यञ्चोऽविरतदेशविरता मनुष्या अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्ताः, एते सर्वेऽपि यथासम्भवं विशोधिविवेकेन परिणता अनन्तानुबन्धिविसंयोजनार्थं प्रागुक्तं करणत्रयं कुर्वन्ति, तत्राप्यनन्तानुबन्धिनां स्थितिमपवर्त्तयन्नपवर्त्तयन् यावत्पल्योपमासङ्ख्येयभागमात्रा तावद्विधत्ते, तमपि पल्योपमासङ्ख्येयभागं वध्यमानासु मोहप्रकृतिषु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिसमयं सङ्क्रामयति, तत्रापि प्रथमसमये स्तोकं द्वितीयादिष्वसङ्ख्येयगुणं एवं यावच्चरमसमये सर्वसङ्क्रमेणावलिकागतं मुक्त्वा सर्वं सङ्क्रामयति, आवलिकागतमपि स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानास्वपरप्रकृतिषु सङ्क्रामयति, एवमनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिता भवन्ति । इदानीं दर्शनत्रिकोपशमना भण्यते–तत्र मिथात्वस्योपशमको मिथ्यादृष्टिर्वेदकसम्यग्दृष्टिर्वा सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदक एवोपशमकः, तत्र मिथ्यात्वस्योपशमं कुर्वंस्तस्यान्तरं कृत्वा प्रथमस्थितिं विपाकेनानुभूयोपशान्तमिथ्यात्वः सन्नुपशमसम्यग्दृष्टिर्भवतीति । साम्प्रतं वेदकसम्यग्दृष्टिरुपशमश्रेणिं प्रतिपद्यमानोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य संयमे वर्त्तमानो दर्शनत्रिकमुपशमयत्यनेन विधिना, तत्र यथाप्रवृत्तादीनि प्राग्वत्रीणि करणानि कृत्वाऽन्तरकरणं कुर्वन् वेदकसम्यक्त्वस्य प्रथमस्थितिमान्तर्मौहूर्त्तिकीं करोति, इतरां त्वावलिकामात्रां, ततः किञ्चिन्यूनमुहूर्त्तमात्रां स्थितिं खण्डयित्वा बध्यमानानां प्रकृतीनां स्थितिबन्धमात्रेण कालेन तत्कर्म्मदलिकं सम्यक्त्वप्रथमस्थितौ प्रक्षिपन्नेत्येवमनया प्रक्रियया सम्यक्त्वबन्धाभावादन्तरं क्रियमाणं कृतं भवति, मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वप्रथमस्थितिदलिकमावलिकामात्रपरिमाणं सम्यक्त्वप्रथमस्थितौ स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, तस्यामपि सम्यक्त्वप्रथमस्थितौ क्षीणायां सत्यामुपशान्तदर्शनत्रिको भवतीति । तदनन्तरं चारित्रमोहनीयमुपशमयन् पूर्ववत् करणत्रयं करोति, नवरं यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थान एव भवति, द्वितीयं त्वपूर्वकरणमष्टममेव गुणस्थानकं, तस्य च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमापूर्वस्थितिबन्धा यौगपद्येन पञ्चाप्यधिकाराः प्रवर्त्तन्ते, तत्रापूर्वकरणसङ्ख्येयभागे गते निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततोऽपि बहुषु स्थितिखण्डकसहस्रेषु गतेषु सत्सु परभविकनाम्नां चरमसमये त्रिंशतो नाम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

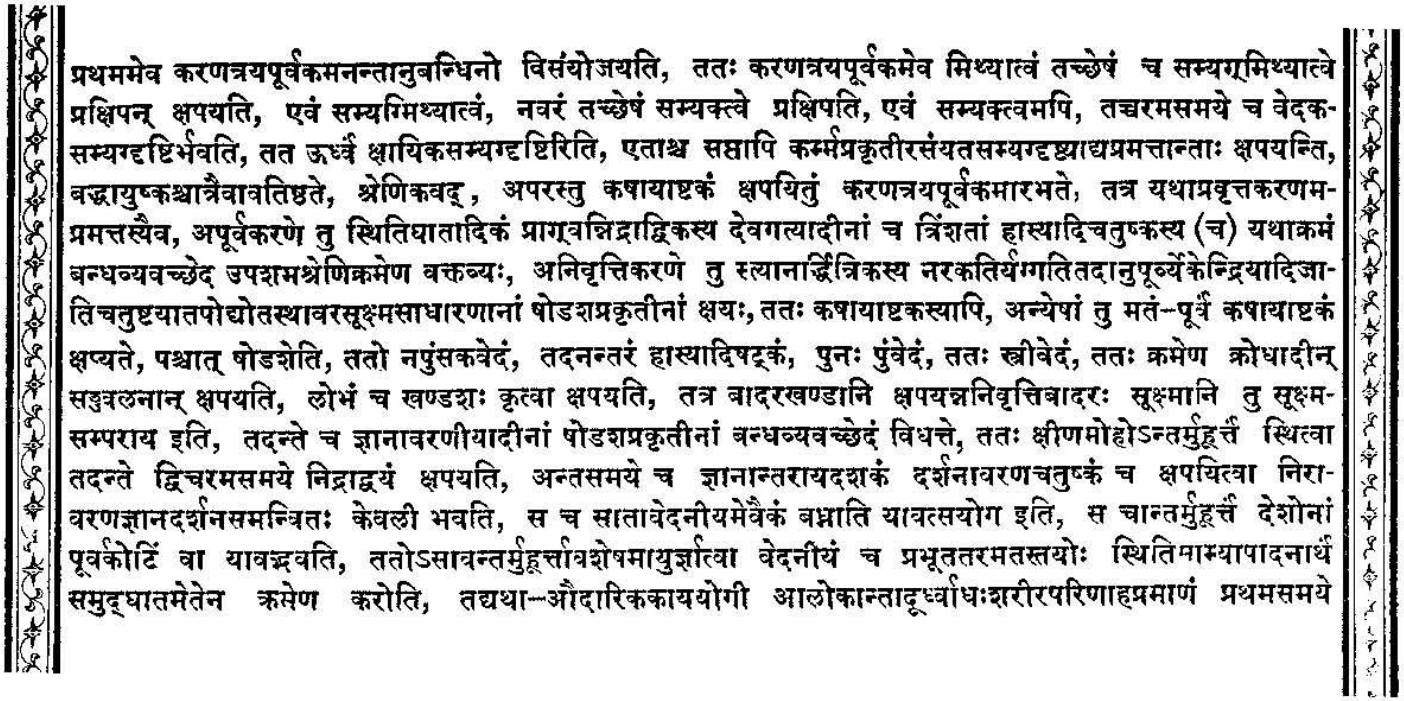
॥ २९९ ॥

प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदं विधत्ते, ताश्चेमाः–देवगतिस्तदानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियाहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गानि तैजस-कार्मणशरीरे चतुरस्रसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येक-स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्म्माणतीर्थकरनामानि चेति, ततोऽपूर्वकरणचरमसमये हास्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः, हास्यादिषट्कस्य तूदयव्यवच्छेदश्च, सर्वकर्म्मणामप्रशस्तो (णां देशो) पशमनानिधत्तनिकाचनाकरणानि च व्यवच्छि-द्यन्ते, तदेवमसंयतसम्यग्दृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणान्तेषु सप्त कर्म्माण्युपशान्तानि लभ्यन्ते, तत ऊर्ध्वमनिवृत्तिकरणं, स च नवमो गुणः, तत्र व्यवस्थित एकविंशतीनां मोहप्रकृतीनामन्तरं कृत्वा नपुंसकवेदमुपशमयति, तदनन्तरं स्त्रीवेदं, ततो हास्यादिसप्तकं (षट्कं), पुनः पुंवेदस्य बन्धोदयव्यवच्छेदः, तत ऊर्ध्वं समयोनावलिकाद्वयेन पुंवेदोपशमः, ततः क्रोधद्वयस्य पुनः सञ्ज्वलनक्रोधस्यैवं मानत्रिकस्य मायात्रिकस्य च, ततः सञ्ज्वलनलोभं सूक्ष्मखण्डानि विधत्ते, तत्करणकालचरम-समये लोभद्वयमुपशमयति, एवं चानिवृत्तिकरणान्ते सप्तविंशतिरुपशान्ता भवति, ततः सूक्ष्मखण्डान्यनुभवन् सूक्ष्मस-म्परायो भवति, तदन्ते ज्ञानान्तरायदशकदर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः, तदेवमष्टाविंशति-मोहप्रकृत्युपशमे सत्युपशान्तवीतरागो भवति, स च जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, तत्प्रतिपातश्च भवक्षये-णाद्धाक्षयेण वा स्यात्, स च यथाऽऽरूढो बन्धादिव्यवच्छेदं च यथा कृतवांस्तथैव प्रतिपतन्विधत्ते, कश्चिच्च मिथ्या-त्वमपि गच्छेदिति, यस्तु भवक्षयेण प्रतिपतति तस्य प्रथमसमय एव सर्वकरणानि प्रवर्त्तन्ते, एकभव एव कश्चिद् वारद्वय-मुपशमं विदध्यादिति । साम्प्रतं क्षपकश्रेणिर्व्यावर्ण्यते–अस्याश्च मनुष्य एवाष्टवर्षोपरि वर्त्तमान आरम्भको भवति, स च

उपधा० ९ उद्देशकः१

॥ २९९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



प्रथममेव करणत्रयपूर्वकमनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयति, ततः करणत्रयपूर्वकमेव मिथ्यात्वं तच्छेषं च सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिपन् क्षपयति, एवं सम्यग्मिथ्यात्वं, नवरं तच्छेषं सम्यक्त्वे प्रक्षिपति, एवं सम्यक्त्वमपि, तच्चरमसमये च वेदक-सम्यग्दृष्टिर्भवति, तत ऊर्ध्वं क्षायिकसम्यग्दृष्टिरिति, एताश्च सप्तापि कर्म्मप्रकृतीरसंयतसम्यग्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ताः क्षपयन्ति, बद्धायुष्कश्चात्रैवावतिष्ठते, श्रेणिकवद्, अपरस्तु कषायाष्टकं क्षपयितुं करणत्रयपूर्वकमारभते, तत्र यथाप्रवृत्तकरणम-प्रमत्तस्यैव, अपूर्वकरणे तु स्थितिघातादिकं प्राग्वन्निद्राद्विकस्य देवगत्यादीनां च त्रिंशतां हास्यादिचतुष्कस्य (च) यथाक्रमं बन्धव्यवच्छेद उपशमश्रेणिक्रमेण वक्तव्यः, अनिवृत्तिकरणे तु स्त्यानार्द्धित्रिकस्य नरकतिर्यग्गतितदानुपूर्व्येकेन्द्रियादिजा-तिचतुष्टयातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणानां षोडशप्रकृतीनां क्षयः, ततः कषायाष्टकस्यापि, अन्येषां तु मतं–पूर्वं कषायाष्टकं क्षप्यते, पश्चात् षोडशेति, ततो नपुंसकवेदं, तदनन्तरं हास्यादिषट्कं, पुनः पुंवेदं, ततः स्त्रीवेदं, ततः क्रमेण क्रोधादीन् सञ्ज्वलनान् क्षपयति, लोभं च खण्डशः कृत्वा क्षपयति, तत्र बादरखण्डानि क्षपयन्ननिवृत्तिबादरः सूक्ष्मानि तु सूक्ष्म-सम्पराय इति, तदन्ते च ज्ञानावरणीयादीनां षोडशप्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदं विधत्ते, ततः क्षीणमोहोऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा तदन्ते द्विचरमसमये निद्राद्वयं क्षपयति, अन्तसमये च ज्ञानान्तरायदशकं दर्शनावरणचतुष्कं च क्षपयित्वा निरा-वरणज्ञानदर्शनसमन्वितः केवली भवति, स च सातावेदनीयमेवैकं बध्नाति यावत्सयोग इति, स चान्तर्मुहूर्त्तं देशोनां पूर्वकोटिं वा यावद्भवति, ततोऽसावन्तर्मुहूर्त्तावशेषमायुर्ज्ञात्वा वेदनीयं च प्रभूततरमतस्तयोः स्थितिमाप्यापादनार्थं समुद्घातमेतेन क्रमेण करोति, तद्यथा–औदारिककाययोगी आलोकान्तादूर्ध्वाधःशरीरपरिणाहप्रमाणं प्रथमसमये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२२६]

दीप अनुक्रम [२६४]

दण्डं करोति, पुनर्द्वितीयसमये तिरश्चीनमालोकान्तात्कायप्रमाणमेवौदारिककार्म्मणशरीरयोगी कपाटवत्कपाटं विधत्ते, तृतीयसमये त्वपरदिक्तिरश्चीनमेव कार्म्मणशरीरयोगी मन्थानवन्मन्थानं करोति, अनुश्रेणिगमनाच्च लोकस्य प्रायशो बहु पूरितं भवति, ततश्चतुर्थसमये कार्मणकाययोगेनैव मन्थान्तरालव्यापनात्सह निष्कुटैर्लोकः पूरितो भवति, पुनरनेनैव क्रमेण पश्चानुपूर्व्या समुद्घातावस्थां चतुर्भिरेव समयैरुपसंहरंस्तद्व्यापारवांस्तत्तद्योगो भवति, केवलं षष्ठसमये मन्थानमुपसंहरन्नौदारिकमिश्रयोगी स्यादिति, तदेवं केवली समुद्घातं संहृत्य प्रत्यर्प्य च फलकादिकं ततो योगनिरोधं विधत्ते, तद्यथा–पूर्वं मनोयोगं बादरं निरुणद्धि, पुनर्वाग्योगं काययोगं च बादरमेवेति, पुनरनेनैव क्रमेण सूक्ष्ममनोयोगं निरुणद्धि, ततः सूक्ष्मवाग्योगं निरुणद्धि, ततः सूक्ष्मकाययोगं निरुन्धन् सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति तृतीयं शुक्लध्यानभेदमारोहति, तन्निरोधे च व्युपरतक्रियमनिवर्त्ति चतुर्थं शुक्लध्यानमारोहति, तदारूढश्चायोगिकेवलिभावमुपगतः सन्नन्तर्मुहूर्त्तं यावत्कालमजघन्योत्कृष्टमास्ते, तत्र चासौ येषां कर्म्मणामुदयो नास्ति तानि स्थितिक्षयेण क्षपयन् वेद्यमानासु चापरप्रकृतिषु सङ्क्रामयन् क्षपयंश्च तावद्गतो यावद्द्विचरमसमयं, तत्र च द्विचरमसमये देवगतिसहगताः कर्म्मप्रकृतीः क्षपयति, ताश्चेमाः–देवगतिस्तदानुपूर्वी वैक्रियाहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गचतुष्टयमेतद्बन्धनसङ्घातावितिच, तथा तत्रैवापरा इमाः क्षपयति, तद्यथा–औदारिकतैजसकार्मणानि शरीराणि एतद्बन्धनानि त्रीणि सङ्घातांश्च षट् संस्थानानि षट् संहननानि औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गं वर्णगन्धरसस्पर्शा मनुष्यानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतयस्तथाऽपर्याप्तकप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुःस्वरानादेययशःकीर्त्तिनिर्म्माणानि तथा नीचैर्गोत्रमन्यतरद्वेदनीयमिति,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२६५]

चरमसमये तु मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तकसुभगादेययशःकीर्त्तितीर्थकरत्वान्यतरद्वेदनीयायुष्कोच्चैर्गोत्राण्येता द्वादश तीर्थकृत् केषांचिन्मतेनानुपूर्वीसहितास्त्रयोदश अतीर्थकृच्च द्वादशैकादश वा क्षपयति, अशेषकर्म्मक्षयसमनन्तरमेव चास्पर्शवद्गत्या ऐकान्तिकात्यन्तिकानाबाधलक्षणं सुखमनुभवन् सिद्धा(द्ध्या)ख्यं लोकाग्रमुपैतीत्यर्थं गाथातात्पर्यार्थः ॥ साम्प्रतमुपसंहरंस्तीर्थकरासेवनतः प्ररोचनतां दर्शयितुमाह—

एवं तु समणुचिन्नं वीरवरेणं महाणुभावेणं । जं अणुचरित्तु धीरा सिवमचलं जन्ति निव्वाणं ॥ २८४ ॥

'एवम्' उक्तविधिना भावोपधानं–ज्ञानादि तपो वा वीरवर्द्धमानस्वामिना स्वतोऽनुष्ठितमतोऽन्येनापि मुमुक्षुणैतदनुष्ठेयमिति गाथार्थः ॥ समाप्ता ब्रह्मचर्याध्ययननिर्युक्तिः ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अहासुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाए । संखाए तंसि हेमंते अहुणो पव्वइए रीइत्था ॥ १ ॥ णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते । से पारए आवकहाए, एयं खु अणुधम्मियं तस्स ॥ २ ॥ चत्तारि साहिए मासे, बहवे पाणजाइया आगम्म । अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरुसिया णं तत्थ हिंसिंसु ॥३॥ संवच्छरं साहियं मासं जं न रिक्कासि वत्थगं भगवं।अचेलए तओ चाइ तं वोसिज्ज वत्थमणगारे ॥ ४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुद्रणदोषात् अत्र निर्युक्ति: क्रम- २८४ पुन: लिखितम्

नवम-अध्ययने प्रथम-उद्देशक: 'चर्या' आरब्ध:,

प्रत सूत्रांक ||४||

दीप अनुक्रम [२६८]

आर्यसुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिने पृच्छते कथयति, यथाश्रुतं यथासूत्रं वा वदिष्यामि, (तद्यथा–स श्रमणो भगवान् वीरवर्द्धमानस्वाम्युत्थाय–उद्यतविहारं प्रतिपद्य सर्वालङ्कारं परित्यज्य पञ्चमुष्टिकं लोचं विधायैकेन देवदूष्येणेन्द्रप्रक्षिप्तेन युक्तः कृतसामायिकप्रतिज्ञ आविर्भूतमनःपर्यायज्ञानोऽष्टप्रकारकर्म्मक्षयार्थं तीर्थप्रवर्त्तनार्थं चोत्थाय 'संख्याय'ज्ञात्वा तस्मिन् हेमन्ते मार्गशीर्षदशम्यां प्राचीनगामिन्यां छायायां प्रव्रज्याग्रहणसमनन्तरमेव 'रीयते स्म' विजहार,) तथा च किल कुण्डग्रामान्मुहूर्त्तशेषे दिवसे कर्मारग्राममाप, तत्र च भगवानित आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानधिसहमानो महासत्त्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादश वर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार, अत्र च सामायिकारोपणसमनन्तरमेव सुरपतिना भगवदुपरि देवदूष्यं चिक्षिपे, तत् भगवताऽपि निःसङ्गाभिप्रायेणैव धर्मोपकरणमृते न धर्म्मोऽनुष्ठातुं मुमुक्षुभिरपरैः शक्यत इति कारणापेक्षया मध्यस्थवृत्तिना तथैवावधारितं, न पुनस्तस्य तदुपभोगेच्छाऽस्तीति ॥ एतद्दर्शयितुमाह–न चैवाहमनेन वस्त्रेणेन्द्रप्रक्षिप्तेनात्मानं पिधास्यामि–स्थगयिष्यामि तस्मिन् हेमन्ते तद्वा वस्त्रं त्वक्त्राणीकरिष्यामि, लज्जाप्रच्छादनं वा विधास्यामि, किंभूतोऽसाविति दर्शयति–'स' भगवान् प्रतिज्ञायाः परीषहाणां संसारस्य वा पारं गच्छतीति पारगः, कियन्तं कालमिति दर्शयति–यावत्कथं यावज्जीवमित्यर्थः, किमर्थं पुनरसौ बिभर्त्तीति चेद्दर्शयति–खुरवधारणे स च भिन्नक्रमः, एतद्वस्त्रावज्ञावधारणं तस्य भगवतोऽनु–पश्राद्धार्म्मिकमनुधार्मिकमेवेति, अपरैरपि तीर्थकृद्भिः समाचीर्णमित्यर्थः, तथा चागमः—"से बेमि जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवन्तो जे य पव्वयन्ति जे अ पव्वइस्सन्ति सव्वे ते सोवही धम्मो देसिअव्वोत्तिकट्टु तित्थधम्मयाए

॥ ३०१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एसाऽणुधम्मिगत्ति एगं देवदूसमायाए पव्वइंसु वा पव्वयंति वा पव्वइस्सन्ति व"त्ति, अपि च–'गरीयस्त्वात्सचेलस्य, धर्म्मस्यान्यैस्तथागतैः । शिष्यस्य प्रत्ययाच्चैव, वस्त्रं दध्रे न लज्जया ॥ १ ॥"इत्यादि ॥ तथा भगवतः प्रव्रजतो ये दिव्याः सुगन्धिपटवासा आसंस्तद्गन्धाकृष्टाश्च भ्रमरादयः समागत्य शरीरमुपतापयन्तीति, एतद्दर्शयितुमाह–चतुरः समधिकान् मासान् बहवः प्राणिजातयो–भ्रमरादिकाः समागत्य आरुह्य च 'कायं' शरीरं 'विजहुः' काये प्रविचारं चक्रुः, तथा मांसशोणितार्थितयाऽऽरुह्य 'तत्र' काये 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे, 'हिंसिंसु' इतश्चेतश्च विलुम्पन्ति स्मेत्यर्थः ॥ कियन्मात्रं कालं तद्देवदूष्यं भगवति स्थितमित्येतद्दर्शयितुमाह–तदिन्द्रोपाहितं वस्त्रं संवत्सरमेकं साधिकं मासं 'जं ण रिक्कासि'त्ति यन्न त्यक्तवान् भगवान् तत्स्थितकल्प इतिकृत्वा, तत ऊर्ध्वं तद्वस्त्रपरित्यागी, व्युत्सृज्य च तदनगारो भगवानचेलोऽभूदिति, तच्च सुवर्णवालुकानदीपूराहृतकण्टकावलग्नं धिग्जातिना गृहीतमिति॥ किं च—

अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अन्तसो झायइ । अह चक्खुभीया संहिया ते हन्ता हन्ता बहवे कंदिंसु ॥ ५ ॥ सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थिओ तत्थ से परिन्नाय । सागारियं न सेवेइ य, से सयं पवेसिया झाइ ॥ ६ ॥ जे के इमे अगारत्था मीसीभावं पहाय से झाई । पुट्ठोवि नाभिभासिंसु गच्छइ नाइवत्तइ अंजू

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥८॥

दीप अनुक्रम [२७२]

॥ ७ ॥ णो सुकरमेयमेगेसिं नाभिभासे य अभिवायमाणे । हयपुव्वे तत्थ दण्डेहिं लूसियपुव्वे अप्पपुण्णेहिं ॥ ८ ॥

'अथ' आनन्तर्ये पुरुषप्रमाणा पौरुषी–आत्मप्रमाणा वीथी तां गच्छन् ध्यायतीर्यासमितो गच्छति, तदेव चात्र ध्यानं यदीर्यासमितस्य गमनमिति भावः, किंभूतां तां?–तिर्यग्भित्तिं–शकटोर्द्धिवदादौ सङ्कटामग्रतो विस्तीर्णामित्यर्थः, कथं ध्यायति?,—'चक्षुरासाद्य' चक्षुर्दत्त्वाऽन्तः–मध्ये दत्तावधानो भूत्वेति, तं च तथा रीयमाणं दृष्ट्वा कदाचिदव्यक्तव-यसः कुमारादय उपसर्गयेयुरिति दर्शयति—'अथ' आनन्तर्ये चक्षुःशब्दोऽत्र दर्शनपर्यायो, दर्शनादेव भीता दर्शनभीताः संहिता–मिलितास्ते बहवो डिम्भादयः पांसुमुष्ट्यादिभिर्हत्वा हत्वा चक्रन्दुः, अपरांश्च चुक्रुशुः–पश्यत यूयं नग्नो मुण्डितः, तथा कोऽयं कुतोऽयं किमीयो वा अयमित्येवं हलबोलं चक्रुरिति ॥ किं च–शय्यत एष्विति शयनानि–वसतयस्तेषु कुतश्चिन्नि-मित्ताद्यतिमिश्रेषु गृहस्थतीर्थिकैः, तत्र व्यवस्थितः सन् यदि स्त्रीभिः प्रार्थ्यते ततस्ताः शुभमार्गार्गला इति ज्ञात्वा ज्ञप-रिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरन् सागारिकं–मैथुनं न सेवेत, शून्येषु च भावमैथुनं न सेवेत,इत्येवं स भगवान् स्वय-मू-आत्मना वैराग्यमार्गमात्मानं प्रवेश्य धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायति ॥ तथा–ये केचन इमेऽगारं–गृहं तत्र तिष्ठन्तीति अगारस्थाः–गृहस्थास्तैर्मिश्रीभावमुपगतोऽपि द्रव्यतो भावतश्च तं मिश्रीभावं प्रहाय–त्यक्त्वा स भगवान् धर्मध्यानं ध्या-यति, तथा कुतश्चिन्निमित्ताद्गृहस्थैः पृष्टोऽपृष्टो वा न वक्ति, स्वकार्याय गच्छत्येव, न तैरुक्तो मोक्षपथमतिवर्त्तते ध्यानं वा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अंजु'त्ति ऋजुः ऋजोः संयमस्यानुष्ठानात्, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–'पुट्ठो व सो अपुट्ठो व णो अणुन्नाइ पावगं भगवं' कण्ठ्यम् ॥ किं च–नैतद्वक्ष्यमाणमुक्तं वा एकेषाम्–अन्येषां सुकरमेव, नान्यैः प्राकृतपुरुषैः कर्त्तुमलं, किं तत्तेन कृतमिति दर्शयति–अभिवादयतो नाभिभाषते, नाप्यनभिवादयन्प्रः कुप्यति, नापि प्रतिकूलोपसर्गैरन्यथाभावं यातीति दर्शयति –दण्डैर्हतपूर्वः 'तत्र' अनार्यदेशादौ पर्यटन् तथा 'लूषितपूर्वो' हिंसितपूर्वः केशलुञ्चनादिभिरपुण्यैः–अनार्यैः पापाचारैरिति ॥ किं च—

फरुसाइं दुत्तितिक्खाइ अइअच्च मुणी परक्कममाणे । आघायनट्टगीयाइं दण्डजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ॥ ९ ॥ गढिए मिहुकहासु समयंमि नायसुए विसोगे अदक्खु । एयाइ से उरालाइं गच्छइ नायपुत्ते असरणयाए ॥ १० ॥ अवि साहिए दुवे वासे सीओदं अभुच्चा निक्खन्ते । एगत्तगए पिहियच्चे से अहिन्नायदंसणे सन्ते ॥ ११ ॥

'परुषाणि' कर्कशानि वाग्दुष्टानि तानि चापरैर्दुःखेन तितिक्ष्यन्त इति दुस्तितिक्षाणि तान्यतिगत्य–अविगणय्य 'मुनिः' भगवान् विदितजगत्स्वभावः पराक्रममाणः सम्यक्तितिक्षते, तथा आख्यातानि च तानि नृत्यगीतानि च आख्यातनृत्यगीतानि तानि उद्दिश्य न कौतुकं विदधाति, नापि दण्डयुद्धमुष्टियुद्धान्याकर्ण्य विस्मयोत्फुल्ललोचन उद्भूतरोमकूपो भवति, तथा 'अ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

थितः' अवबद्धो 'मिथः' अन्योऽन्यं 'कथासु' स्वैरकथासु समये वा कश्चिदवबद्धस्तं स्त्रीद्वयं वा परस्य कथायां गृद्धमपेक्ष्य तस्मिन्नवसरे 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् विशोको विगतहर्षश्च तान्मिथःकथाऽवबद्धान् मध्यस्थोऽद्राक्षीत्, एतान्यन्यानि चानुकूलप्रतिकूलानि परीषहोपसर्गरूपाण्युरालानि दुष्प्रधृष्याणि दुःखान्यस्मरन् 'गच्छति' संयमानुष्ठाने पराक्रमते, [ज्ञाताः–क्षत्रियास्तेषां पुत्रः–अपत्यं ज्ञातपुत्रः–वीरवर्द्धमानस्वामी स भगवान्नैसद्दुःखस्मरणाय गच्छति–पराक्रमत इति सम्बन्धः, यदिवा शरणं–गृहं नात्र शरणमस्तीत्यशरणः–संयमस्तस्मै अशरणाय पराक्रमत इति, तथाहि–किमत्र चित्रं यद्भगवानपरिमितबलपराक्रमः प्रतिज्ञामन्दरमारूढः पराक्रमते इति?, स भगवानप्रव्रजितोऽपि प्रासुकाहारानुवर्त्त्यासीत्, श्रूयते च किल पञ्चत्वमुपगते मातापितरि समाप्तप्रतिज्ञोऽभूत्, ततः प्रविव्रजिषुः ज्ञातिभिरभिहितो, यथा–भगवन्! मा कृथाः क्षते क्षारावसेचनमित्येवमभिहितेन भगवताऽवधिना व्यज्ञायि, यथा–मय्यस्मिन्नवसरे प्रव्रजति सति बहवो नष्टचित्ता विगतासवश्च स्युरित्यवधार्य तानुवाच–कियन्तं कालं पुनरत्र मया स्थातव्यमिति?, ते ऊचुः–संवत्सरद्वयेनास्माकं शोकापगमो भावीति, भट्टारकोऽप्योमित्युवाच, किं त्वाहारादिकं मया स्वेच्छया कार्यं, नेच्छाविघाताय भवद्भिरुपस्थातव्यं, तैरपि यथाकथञ्चिदयं! तिष्ठत्विति मत्वा तैः सर्वैस्तथैव प्रतिपेदे ॥ ततो भगवांस्तद्वचनमनुवर्त्त्यात्मीयं च निष्क्रमणावसरमवगम्य संसारासारतां विज्ञाय तीर्थप्रवर्त्तनायोद्यत इति दर्शयितुमाह–अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकमभुक्त्वा–अनभ्यवहृत्यापीत्येवार्थः, अपरा अपि पादधावनादिकाः क्रियाः प्रासुकेनैव प्रकृत्य ततो निष्क्रान्तो, यथा च प्राणातिपातं परिहृतवान् एवं शेषव्रतान्यपि पालितवानिति, तथा 'एकत्व'मिति तत एकत्वभावनाभावितान्तःकरणः पिहिता–स्थगिताऽर्च्चा–क्रोधज्वाला येन स तथा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥११॥

दीप अनुक्रम [२७५]

यदिवा पिहितार्त्तो–गुप्ततनुः स भगवान् छद्मस्थकालेऽभिज्ञातदर्शनः–सम्यक्त्वभावनया भावितः शान्तः इन्द्रियनो-इन्द्रियैः ॥ स एवंभूतो भगवान् गृहवासेऽपि सावद्यारम्भत्यागी, किं पुनः प्रव्रज्यायामिति दर्शयितुमाह—

पुढविं च आउकायं च तेउकायं च वाउकायं च । पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सव्वसो नच्चा ॥ १२ ॥ एयाइं सन्ति पडिलेहे, चित्तमन्ताइ से अभिन्नाय । परिवज्जिय विहरित्था इय सङ्काय से महावीरे ॥ १३ ॥ अदु थावरा य तसत्ताए, तसा य थावर-त्ताए । अदुवा सव्वजोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥ १४ ॥ भगवं च एवमन्नेसिं सोवहिए हु लुप्पई बाले । कम्मं च सव्वसो नच्चा तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ॥ १५ ॥ दुविहं समिच्च मेहावी किरियमक्खायऽणेलिसं नाणी । आयाणसो-यमइवायसोयं जोगं च सव्वसो णच्चा ॥ १६ ॥

श्लोकद्वयस्याप्ययमर्थः–एतानि पृथिव्यादीनि चित्तमन्त्यभिज्ञाय तदारम्भं परिवर्ज्य विहरति स्म, क्रियाकारकसम्बन्धः, तत्र पृथिवी सूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा, सूक्ष्मा सर्वगा, बादराऽपि श्लक्ष्णकठिनभेदेन द्विधैव, तत्र श्लक्ष्णा शुक्लादिपञ्चवर्णा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिना तु पृथ्वीशर्करावालुकादि षट्त्रिंशद्भेदा शस्त्रपरिज्ञानुसारेण द्रष्टव्या, अप्कायोऽपि सूक्ष्मबादरभेदाद्विधा, तत्र सूक्ष्मः पूर्ववद्बादरस्तु शुद्धोदकादिभेदेन पञ्चधा, तेजःकायोऽपि पूर्ववत् नवरं बादरोऽङ्गारादि पञ्चधा, वायुरपि तथैव, नवरं बादर उत्कलिकादिभेदेन पञ्चधा, वनस्पतिरपि सूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा, तत्र सूक्ष्मः सर्वगो बादरोऽग्रमूलस्कन्धपर्वबीजसम्मूर्छनभेदात्सामान्यतः षोढा, पुनर्द्विधा–प्रत्येकः साधारणश्च, तत्र प्रत्येको वृक्षगुच्छादिभेदाद्बादशधा, साधारणस्त्वनेकविध इति, स एवं भेदभिन्नोऽपि वनस्पतिः सूक्ष्मस्य सर्वगतत्वादतीन्द्रियत्वाच्च तद्व्युदासेन बादरो भेदत्वेन संगृहीतः, तद्यथा–पनकग्रहणेन बीजाङ्कुरभावरहितस्य पनकादेरुल्यादिविशेषापन्नस्य ग्रहणं, बीजग्रहणेन त्वग्रबीजादेरुपादानं, हरितशब्देन शेषस्येत्येतानि पृथिव्यादीनि भूतानि 'सन्ति' विद्यन्त इत्येवं प्रत्युपेक्ष्य तथा 'चित्तवन्ति' सचेतनान्यभिधाय–ज्ञात्वा 'इति' एतत्सङ्ख्याय–अवगम्य स भगवान्महावीरस्तदारम्भं परिवर्ज्य विहृतवानिति ॥ पृथिवीकायादीनां जन्तूनां त्रसस्थावरत्वेन भेदमुपदर्श्य साम्प्रतमेषां परस्परतोऽनुगमनमप्यस्तीत्येतदर्शयितुमाह—'अथ' आनन्तर्ये 'स्थावराः' पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः ते 'त्रसतया' द्वीन्द्रियादितया 'विपरिणमन्ते' कर्मवशाद् गच्छन्ति, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, तथा 'त्रसजीवाश्च' कृम्यादयः 'स्थावरतया' पृथिव्यादित्वेन कर्मनिष्पाः समुत्पद्यन्ते, तथा चान्यत्राप्युक्तम्—"[१]अयण्णं भन्ते! जीवे पुढविक्काइयत्ताए जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे?, हन्ता गोअमा! असइं अदुवाऽणंतखुत्तो जाव उववण्णपुव्वे"त्ति, अथवा सर्वा योनयः–उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्त्वानां ते सर्वयोनिकाः

१ अयं भदन्त! जीवः पृथ्वीकायिकतया यावत् त्रसकायिकतयोत्पन्नपूर्वः?, हन्त गौतम! असकृत् अनन्तकृत्वो यावदुत्पन्नपूर्वः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सत्त्वाः सर्वगतिभाजः, ते च 'बाला'रागद्वेषाकलिताः स्वकृतेन कर्मणा पृथक्तया सर्वयोनिभाक्त्वेन च 'कल्पिताः' व्यवस्थिता इति, तथा चोक्तम्—"णत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमित्तोऽवि । जम्मणमरणाबाहा अणेगसो जत्थ णवि पत्ता ॥ १ ॥" अपि च–"रज्जूभूमिर्न सा काचिच्छुद्धा जगति विद्यते । विचित्रैः कर्म्मनेपथ्यैर्यत्र सत्त्वैर्न नाटितम् ॥ २ ॥" इत्यादि ॥ किं च–भगवांश्च–असौ वीरवर्द्धमानस्वाम्येवममन्यत–ज्ञातवान् सह उपधिना वर्त्तत इति सोपधिकः–द्रव्यभावोपधियुक्तः, हुरवधारणे, लुप्यत एव–कर्म्मणा क्लेशमनुभवत्येव 'अज्ञो' बाल इति, यदिवा हुर्हेतौ यस्मात्सोपधिकः कर्म्मणा लुप्यते बालस्तस्मात्कर्म्म च सर्वशो ज्ञात्वा तत्कर्म्म प्रत्याख्यातवांस्तदुपादानं च पापकमनुष्ठानं भगवान् वर्द्धमानस्वामीति ॥ किं च–द्वे विधे–प्रकारावस्येति द्विविधं, किं तत्?–कर्म्म, तच्चेर्याप्रत्ययं साम्परायिकं च, तद्विविधमपि 'समेत्य' ज्ञात्वा 'मेधावी' सर्वभावज्ञः, 'क्रियां' संयमानुष्ठानरूपां कर्म्मोच्छेत्रीमनीदृशीम्–अनन्यसदृशीमाख्यातवान्, किंभूतो?–ज्ञानी, केवलज्ञानवानित्यर्थः, किं चापरमाख्यातवानिति दर्शयति–आदीयते कर्म्मानेनेति आदानं–दुष्प्रणिहितमिन्द्रियमादानं च तत् स्रोतश्चादानस्रोतस्तत् ज्ञात्वा तथाऽतिपातस्रोतश्च उपलक्षणार्थत्वादस्य मृषावादादिकमपि ज्ञात्वा तथा 'योगं च' मनोवाक्कायलक्षणं दुष्प्रणिहितं 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैः कर्म्मबन्धायेति ज्ञात्वा क्रियां संयमलक्षणामाख्यातवानिति सम्बन्धः ॥ किं च—

अइवत्तियं अणाउट्टिं सयमन्नेसिं अकरणयाए। जस्सित्थिओ परिन्नाया सव्वकम्मावहा-

१ नास्ति किल स प्रदेशो लोके वालाग्रकोटीमात्रोऽपि । जन्ममरणाबाधा अनेकशो यत्र नैव प्राप्ताः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१७||

दीप अनुक्रम [२८१]

उ से अदक्खु ॥ १७ ॥ अहाकडं न से सेवे सव्वसो कम्म अदक्खू । जं किंचि पावगं भगवं तं अकुव्वं वियडं भुञ्जित्था ॥ १८ ॥ णो सेवइ य परवत्थं परपाएवी से न भुञ्जित्था । परिवज्जियाण उमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए ॥ १९ ॥ मायण्णे असणपाणस्स नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने । अच्चिंछपि नो पमज्जिज्जा नोवि य कंडूयए मुणी गायं ॥ २० ॥

आकुट्टिः–हिंसा नाकुट्टिरनाकुट्टिरहिंसेत्यर्थः, किंभूताम् ?–अतिक्रान्ता पातकादतिपातिका–निर्दोषा तामाश्रित्य, स्वतोऽन्येषां चाकरणतया–अव्यापारतया प्रवृत्त इति, तथा यस्य स्त्रियः स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति, सर्वे कर्म्मावहन्तीति सर्वकर्म्मावहाः–सर्वपापोपादानभूताः स एवाद्राक्षीत्–स एव यथावस्थितं संसारस्वभावं ज्ञातवानिति, एतदुक्तं भवति–स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् परमार्थदर्श्यभूदिति ॥ मूलगुणानाख्यायोत्तरगुण-(णान्)प्रचिकटयिषुराह—'यथा' येन प्रकारेण पृष्ट्वा वाऽपृष्ट्वा वा कृतं यथाकृतम्–आधाकर्म्मादि नासौ सेवते, किमिति ? –यतः 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैस्तदासेवनेन कर्म्मणाऽष्टप्रकारेण बन्धमद्राक्षीत्–दृष्टवान्, अन्यदप्येवंजातीयकं न सेवत इति दर्शयति–यत्किञ्चित्पापकं–पापोपादानकारणं तद्भगवानकुर्वन् 'विकटं' प्रासुकमभुङ्क्त–उपभुक्तवान् ॥ किं च–नो से-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वते च–नोपभुङ्क्ते च परवस्त्रं–प्रधानं वस्त्रं परस्य वा वस्त्रं परवस्त्रं नासेवते, तथा परपात्रेऽप्यसौ न भुङ्क्ते, तथा परिवर्ज्यापमानम्–अवगणय्य गच्छति असावाहाराय सङ्क्षण्ड्यन्ते प्राणिनोऽस्यामिति सङ्क्षण्डिस्तामाहारपाकस्थानभूतामशरणाय शरणमनालम्बमानोऽदीनमनस्कः कल्प इतिकृत्वा परीषहविजयार्थं गच्छतीति ॥ किं च–आहारस्य मात्रां जानातीति मात्राज्ञः, कस्य?–अश्यत इत्यशनं–शाल्योदनादि पीयत इति पानं–द्राक्षापानकादिः तस्य च, तथा नानुगृद्धो 'रसेषु' विकृतिषु, भगवतो हि गृहस्थभावेऽपि रसेषु गृद्धिर्नासीत्, किं पुनः प्रव्रजितस्येति?, तथा रसेष्वेव ग्रहणं प्रत्यप्रतिज्ञो, यथा–मयाऽद्य सिंहकेसरा मोदका एव ग्राह्या इत्येवंरूपप्रतिज्ञारहितोऽन्यत्र तु कुल्माषादौ सप्रतिज्ञ एव, तथाऽक्ष्यपि रजःकणुकाद्यपनयनाय नो प्रमार्जयेन्नापि च गात्रं मुनिरसौ कण्डूयते–काष्ठादिना गात्रस्य कण्डूव्यपनोदं न विधत्त इति ॥ किं च—

अप्पं तिरियं पेहाए अप्पिं पिट्ठओ पेहाए । अप्पं बुइएऽपडिभाणी पंथपेहि चरे जयमाणे ॥ २१ ॥ सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने तं वोसिज्ज वत्थमणगारे । पसारित्तु बाहुं परक्कमे नो अवलम्बियाण कंधंमि ॥ २२ ॥ एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया । बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रियंति ॥२३॥ त्तिबेमि ॥ उपधानश्रुताध्ययनोद्देशः१॥९–१॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||२३||

दीप अनुक्रम [२८७]

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

अल्पशब्दोऽभावे वर्त्तते, अल्पं तिर्यक्-तिरश्चीनं गच्छन् प्रेक्षते, तथाऽल्पं पृष्टतः स्थित्वोलेक्षते, तथा मार्गादि केनचित्पृष्टः सन्नप्रतिभाषी सन्नल्पं ब्रूते, मौनेन गच्छत्येव केवलमिति दर्शयति–पथिप्रेक्षी 'चरेद्' गच्छेद्यतमानः–प्राणिविषये यत्नवानिति ॥ किं च–अध्वप्रतिपन्ने शिशिरे सति तद्देवदूष्यं वस्त्रं व्युत्सृज्यानगारो भगवान् प्रसार्य बाहू पराक्रमते, न तु पुनः शीतार्दितः सन् सङ्कोचयति, नापि स्कन्धेऽवलम्ब्य तिष्ठतीति ॥ साम्प्रतमुपसञ्जिहीर्षुराह–एष चर्याविधिरनन्तरोक्तोऽनुक्रान्तः–अनुचीर्णः 'माहणेण'त्ति श्रीवर्द्धमानस्वामिना 'मतिमता' विदितवेद्येन 'बहुशः' अनेकप्रकारमप्रतिज्ञेन–अनिदानेन 'भगवता' ऐश्वर्यादिगुणोपेतेन, 'एवम्' अनेन पथा भगवदनुचीर्णेनान्ये मुमुक्षवोऽशेषकर्म्मक्षयाय साधवो 'रीयन्ते' गच्छन्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववद्, उपधानश्रुताध्ययनस्य प्रथमोद्देशक इति ॥ उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके भगवतश्चर्याऽभिहिता, तत्र चावश्यं कयाचिच्छय्यया–वसत्या भाव्यमतस्तत्प्रतिपादनायायमुद्देशकः प्रक्रम्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्—

चरियासणाइं सिज्जाओ एगइयाओ जाओ बुइयाओ । आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्था से महावीरे ॥ १ ॥ आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासो । अदुवा पलियठाणेसु पलालपुञ्जेसु एगया वासो ॥ २ ॥ आगन्तारे आरा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नवम-अध्ययने द्वितीय-उद्देशक: 'शय्या' आरब्ध:,

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [२८८]

मागारे तह य नगरे व एगया वासो। सुसाणे सुण्णगारे वा रुक्खमूले व एगया वासो ॥ ३ ॥ एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे । राइं दिवंपि जयमाणे अ-पमत्ते समाहिए झाइ ॥ ४ ॥

चर्यायामवश्यंभावितया यानि शय्यासनान्यभिहितानि सामर्थ्यायातानि तानि शयनासनानि–शय्याफलकादीन्या-चक्ष्व सुधर्म्मस्वामी जम्बूनाम्नाऽभिहितो यानि सेवितवान् महावीरो–वर्द्धमानस्वामीति, अयं च श्लोकश्चिरन्तनटीका-कारेण न व्याख्यातः, तत्र किं सुगमत्वादुताभावात्, सूत्रपुस्तकेषु तु दृश्यते, तदभिप्रायं च वयं न विद्म इति ॥ प्रश्नप्रति-वचनमाह–भगवतो ह्याहाराभिग्रहवत् प्रतिमाव्यतिरेकेण प्रायशो न शय्याऽभिग्रह आसीत्, नवरं यत्रैव चरमपौरुषी भवति तत्रैवानुज्ञाप्य स्थितवान्, तदर्शयति–आ–समन्ताद्विशन्ति यत्र तदावेशनं–शून्यगृहं सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वासिलोकास्थायिकार्थमागन्तुकशयनार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते, 'प्रपा' उदकदानस्थानम् आवेशनं च सभा च प्रपा च आवेशनसभाप्रपास्तासु, तथा 'पण्यशालासु' आपणेषु 'एकदा' कदाचिद्वासो भगवतोऽथवा 'पलिय'न्ति कर्म्म तस्य स्थानं कर्म्मस्थानं–अयस्कारवर्द्धकिकुड्यादिकं, तथा पलालपुञ्जेषु मञ्चोपरि व्यवस्थितेष्वधो, न पुनस्तेष्वेव, ऋषिरत्वा-दिति ॥ किं च–प्रसङ्गायाता आगत्य वा यत्र तिष्ठन्ति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामान्नगराद्वा बहिः स्थानं तत्र, तथा आरा-मेऽगारं–गृहमारामागारं तत्र वा तथा नगरे वा एकदा वासः, तथा श्मशाने शून्यागारे वा, आवेशनशून्यागारयोर्भेदः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकुड्याकुड्यकृतो, वृक्षमूले वा एकदा वास इति ॥ किं च—'एतेषु' पूर्वोक्तेषु 'शयनेषु' वसतिषु स 'मुनिः' जगत्त्रयवेत्ता ऋतुबद्धेषु वर्षासु वा 'श्रमणः' तपस्युद्युक्तः समना वाऽऽसीत् निश्चलमना इत्यर्थः, कियन्तं कालं यावदिति दर्शयति— 'पतेलसवासे'त्ति प्रकर्षेण त्रयोदशं वर्षं यावत्समस्तां रात्रिं दिनमपि यतमानः संयमानुष्ठान उद्युक्तवान् तथाऽप्रमत्तो–निद्रादिप्रमादरहितः 'समाहितमनाः' विस्रोतसिकारहितो धर्म्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायतीति ॥ किं च—

णिद्दंपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए । जग्गावइ य अप्पाणं इसिं साई य अपडिन्ने ॥ ५ ॥ संबुज्झमाणे पुणरवि आसिंसु भगवं उट्ठाए । निक्खम्म एगया राओ बहि चंकमिया मुहुत्तागं ॥ ६ ॥ सयणेहिं तत्थुवसग्गा भीमा आसी अणेगरूवा य । संसप्पगा य जे पाणा अदुवा जे पक्खिणो उवचरन्ति ॥ ७ ॥ अदु कुचरा उवचरन्ति गामरक्खा य सत्तिहत्था य । अदु गामिया उवसग्गा इत्थी एगइया पुरिसा य ॥ ८ ॥

निद्रामप्यसावपरप्रमादरहितो न प्रकामतः सेवते, तथा च किल भगवतो द्वादशसु संवत्सरेषु मध्येऽस्थिकग्रामे व्यन्तरोपसर्गान्ते कायोत्सर्गव्यवस्थितस्यैवान्तर्मुहूर्त्तं यावत्स्वप्नदर्शनाध्यासिनः सकृन्निद्राप्रमाद आसीत्, ततोऽपि चोत्थायात्मानं 'जागरयति' कुशलानुष्ठाने प्रवर्त्तयति, यत्रापीषच्छैथ्याऽऽसीत् तत्राप्यप्रतिज्ञः–प्रतिज्ञारहितो, न त-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रापि स्वापाभ्युपगमपूर्वकं शयित इत्यर्थः ॥ किं च–स मुनिर्निद्राप्रमादाद् व्युत्थितचित्तः 'संबुध्यमानः' संसारपातायायं प्रमाद इत्येवमवगच्छन् पुनरप्रमत्तो भगवान् संयमोत्थानेनोत्थाय यदि तत्रान्तर्व्यवस्थितस्य कुतश्चिन्निद्राप्रमादः स्यात् ततस्तस्मान्निष्क्रम्यैकदा शीतकालरात्रादौ बहिश्चङ्क्रम्य मुहूर्त्तमात्रं निद्राप्रमादापनयनार्थं ध्याने स्थितवानिति ॥ किं च–शय्यते–स्थीयते उत्कुटुकासनादिभिर्येष्विति शयनानि–आश्रयस्थानानि तेषु तैर्वा तस्य भगवत उपसर्गा 'भीमा' भयानका आसन् अनेकरूपाश्च शीतोष्णादिरूपतयाऽनुकूलप्रतिकूलरूपतया वा, तथा संसर्प्पन्तीति संसर्प्पकाः–शून्यगृहादावहिनकुलादयो ये प्राणिनः 'उपचरन्ति'उप–सामीप्येन मांसादिकमश्नन्ति अथवा श्मशानादौ पक्षिणो गृध्रादय उपचरन्तीति वर्त्तते ॥ किं च—'अथ' अनन्तरं कुत्सितं चरन्तीति कुचराः–चौरपारदारिकादयस्ते च क्वचिच्छून्यगृहादौ 'उपचरन्ति' उपसर्गयन्ति, तथा ग्रामरक्षादयश्च त्रिकचत्वरादिव्यवस्थितं शक्तिकुन्तादिहस्ता उपचरन्तीति, अथ 'ग्रामिका' ग्रामधर्म्माश्रिता उपसर्गा एकाकिनः स्युः, तथाहि–काचित्स्त्री रूपदर्शनाध्युपपन्ना उपसर्गयेत् पुरुषो वेति ॥ किं च—

इहलोइयाइं परलोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं । अवि सुब्भि दुब्भिगन्धाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥ ९ ॥ अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं । अरइं रइं अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाई ॥ १० ॥ स जणेहिं तत्थ पुच्छिंसु एगचरावि एगया राओ । अव्वाहिए कसाइत्था पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥ ११ ॥ अयमंतरंसि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को इत्थ? अहमंसित्ति भिक्खु आहट्टु । अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए कसाइए झाइ ॥१२॥

इहलोके भवा ऐहलौकिकाः–मनुष्यकृताः के ते?–'स्पर्शाः' दुःखविशेषा दिव्यास्तैरश्चाश्च पारलौकिकास्तानुपसर्गापादितान् दुःखविशेषानध्यासयति–अधिसहते, यदिवा इहैव जन्मनि ये दुःखयन्ति दण्डप्रहारादयः प्रतिकूलोपसर्गास्त ऐहलौकिकाः, तद्विपर्यस्तास्तु पारलौकिकाः, 'भीमा' भयानका 'अनेकरूपाः' नानाप्रकाराः, तानेव दर्शयति–अपि सुरभिगन्धाः–स्रक्चन्दनादयो दुर्गन्धाः–कुथितकडेवरादयः, तथा शब्दाश्चानेकरूपा वीणावेणुमृदङ्गादिजनिताः, तथा क्रमेलकरसिताद्युत्थापितास्तांश्चाविकृतमना 'अध्यासयति' अधिसहते, 'सदा' सर्वकालं सम्यगितः समितः–पञ्चभिः समितिभिर्युक्तः, तथा स्पर्शान्–दुःखविशेषानरतिं संयमे रतिं चोपभोगाभिष्वङ्गेऽभिभूय–तिरस्कृत्य 'रीयते' संयमानुष्ठाने व्रजति, 'माहणे'त्ति पूर्ववद् 'अबहुवादी' अबहुभाषी, एकद्विव्याकरणं क्वचिन्निमित्ते कृतवानिति भावः ॥ 'स' भगवानर्द्धत्रयोदश पक्षाधिकाः समा एकाकी विचरन् तत्र शून्यगृहादौ व्यवस्थितः सन् 'जनैः' लोकैः पृष्टः, तद्यथा–को भवान्? किमत्र स्थितः? कुतस्त्यो वेत्येवं पृष्टोऽपि तूष्णींभावमभजत्, तथोपपत्याद्या अप्येकचरा–एकाकिन एकदा–कदाचिद्रात्रावह्नि वा पप्रच्छुः, अव्याहृते च भगवता कषायिताः ततोऽज्ञानावृतदृष्टयो दण्डमुष्ट्यादिताडनतोऽनार्यत्वमाचरन्ति, भगवांस्तु तत्समाधिं प्रेक्षमाणो धर्म्मध्यानोपगतचित्तः सन् सम्यक्तितिक्षते, किंभूतः?—'अप्रतिज्ञो' नास्य वैरनिर्यातनप्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः॥ कथं ते पप्रच्छुरिति दर्शयितुमाह–अयमन्तः–मध्ये कोऽत्र व्यवस्थितः?, एवं सङ्केतागता दुश्चारिणः पृच्छन्ति कर्म्मकरादयो वा, तत्र नित्यवासिनो दुष्प्रणिहितमानसाः पृच्छन्ति, तत्र चैवं पृच्छतामेषां भवतां-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१३॥ दीप अनुक्रम [३००]

स्तूष्णीभावमेव भजते, क्वचिद्बहुतरदोषापनयनाय जल्पत्यपि, कथमिति दर्शयति–अहं भिक्षुरस्मीति, एवमुक्ते यदि ते-ऽवधारयन्ति ततस्तिष्ठत्येव, अथाभिप्रेतार्थव्याघातात् कषायिता मोहान्धाः साम्प्रतेक्षितयैवं ब्रूयुः, यथा–तूर्णमस्मात्स्थानान्निर्गच्छ, ततो भगवानचियत्तावग्रह इतिकृत्वा निर्गच्छत्येव, यदिवा न निर्गच्छत्येव भगवान् किंतु सोऽयमुत्तमः प्रधानो धर्म्म आचार इतिकृत्वा स कषायितेऽपि तस्मिन् गृहस्थे तूष्णीभावव्यवस्थितो यद्भविष्यत्तया ध्यायत्येव–न ध्यानात्प्रच्यवते ॥ किं च—

जंसिप्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते । तंसिप्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति ॥ १३ ॥ संघाडीओ पवेसिस्सामो एहा य समादहमाणा । पिहिया व सक्खामो अइदुक्खे हिमगसंफासा ॥ १४ ॥ तंसि भगवं अपडिन्ने अहे विगडे अहीयासए । दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए ॥ १५ ॥ एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया । बहुसो अपडिण्णेण भगवया एवं रीयन्ति ॥ १६ ॥ त्तिबेमि ॥ नवमस्य द्वितीय उद्देशकः ९–२ ॥

यस्मिन् शिशिरादावप्येके त्वक्त्राणाभावतया 'प्रवेपन्ते' दन्तवीणादिसमन्विताः कम्पन्ते, यदिवा 'प्रवेदयन्ति'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शीतजनितं दुःखस्पर्शमनुभवन्ति, आर्त्तध्यानवशगा भवन्तीत्यर्थः, तस्मिंश्च शिशिरे हिमकणिनि मारुते च प्रवाति सत्येके न सर्वे 'अनगाराः' तीर्थिकप्रव्रजिता हिमवाते सति शीतपीडितास्तदपनोदाय पावकं प्रज्वालयन्ति–अङ्गारशकटिकामन्वेषयन्ति, प्रावारादिकं याचन्ते, यदिवाऽनगारा इति–पार्श्वनाथतीर्थप्रव्रजिता गच्छवासिन एव शीतार्दिता निवातमेषन्ति–गच्छशालादिकावसतीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्ति ॥ किं च–इह सङ्घाटीशब्देन शीतापनोदक्षमं कल्पद्वयं त्रयं वा गृह्यते, ताः सङ्घाटीः शीतार्दिता वयं प्रवेक्ष्यामः, एवं शीतार्दिता अनगारा अपि विदधति, तीर्थिकप्रव्रजितास्त्वेधाः–समिधः काष्ठानीतियावद् एताश्च समादहन्तः शीतस्पर्शं सोढुं शक्ष्यामः, तथा संघाट्या वा पिहिताः–स्थगिताः कम्बलाद्यावृतशरीरा इति, किमर्थमेतत्कुर्वन्तीति दर्शयति–यतोऽतिदुःखमेतद्–अतिदुःसहमेतद्यदुत हिमसंस्पर्शाः–शीतस्पर्शवेदना दुःखेन सह्यन्त इतियावत् ॥ तदेवमेवंभूते शिशिरे यथोक्तानुष्ठानवत्सु च स्वयूथ्येतरेष्वनगारेषु यद्भगवान् व्यधात्तद्दर्शयितुमाह—'तस्मिन्' एवंभूते शिशिरे हिमवाते शीतस्पर्शे च सर्वकषे 'भगवान्' ऐश्वर्यादिगुणोपेतस्तं शीतस्पर्शमध्यासयति–अधिसहते, किंभूतोऽसौ ?—'अप्रतिज्ञो' न विद्यते निवातवसतिप्रार्थनादिका प्रतिज्ञा यस्य स तथा, क्वाध्यासयति ?—'अधो विकटे' अधः–कुड्यादिरहिते छन्नेऽप्युपरि तदभावेऽपि चेति, पुनरपि विशिनष्टि–रागद्वेषविरहाद्द्रव्यभूतः कर्म्मग्रन्थिद्रावणाद्वा द्रवः–संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकः, स च तथाऽध्यासयन् यद्यत्यन्तं शीतेन बाध्यते ततस्तस्मात् छन्नान्निष्क्रम्य बहिरेकदा-रात्रौ मुहूर्त्तमात्रं स्थित्वा पुनः प्रविश्य स भगवान् शमितया सम्यग्वा समतया वा व्यवस्थितः सन् तं शीतस्पर्शं रासभदृष्टान्तेन सोढुं शक्नोति–अधिसहत इति ॥ एतदेवोद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥ दीप अनुक्रम [३०४]

राह–एस विही इत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयमिति । इतिब्रवीमीतिशब्दौ पूर्ववद् । उपध्यानश्रुतस्य द्वितीयोद्देशकः परिसमाप्त इति ॥

उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके भगवतः शय्याः प्रतिपादिताः, तासु च व्यवस्थितेन ये यथोपसर्गाः परीषहाश्च सोढास्तत्प्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

तणफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य । अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं ॥ १ ॥ अह दुच्चरलाढमचारी वज्जभूमिं च सुब्भभूमिं च । पंतं सिज्जं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ॥ २ ॥ लाढेहिं तस्सुवसग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु । अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु निवइंसु ॥ ३ ॥ अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे । छुच्छुकारिंति आहंसु समणं कुक्कुरा दसंतुत्ति ॥ ४ ॥

तृणानां–कुशादीनां स्पर्शास्तृणस्पर्शाः तथा शीतस्पर्शाः तथा तेजःस्पर्शा–उष्णस्पर्शाश्चातापनादिकाले आसन् यदिवा गच्छतः किल भगवतस्तेजःकाय एवासीत्, तथा दंशमशकादयश्च, एतान् तृणस्पर्शादीन् 'विरूपरूपान्' नानाभूतान्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नवम-अध्ययने तृतीय-उद्देशक: परीषह' आरब्ध:,

भगवानध्यासयति, सम्यगितः–सम्यग्भावं गतः समितिभिः समितो वेति ॥ किं च—'अथ' आनन्तर्ये दुःखेन चर्यतेऽस्मिन्निति दुश्चरः स चासौ लाढश्च–जनपदविशेषो दुश्चरलाढस्तं चीर्णवान्–विहृतवान्, स च द्विरूपो–वज्रभूमिः शुभ्रभूमिश्च, तं द्विरूपमपि विहृतवान्, तत्र च प्रान्तां 'शय्यां' वसतिं शून्यगृहादिकामनेकोपद्रवोपद्रुता सेवितवान्, तथा प्रान्तानि चासनानि–पांशूत्करशर्करालोष्टाद्युपचितानि च काष्ठानि च दुर्घटितान्यासेवितवानिति ॥ किं च–लाढा नाम जनपदविशेषास्तेषु च द्विरूपेष्वपि लाढेषु 'तस्य' भगवतो बहव उपसर्गाः प्रायशः प्रतिकूला आक्रोशश्वभक्षणादय आसन्, तानेव दर्शयति–जनपदे भवा जानपदा–अनार्याऽऽचारिणो लोकाः ते भगवन्तं लूषितवन्तो–दन्तभक्षणोल्मुकदण्डप्रहारादिभिर्जिहिंसुः, अथशब्दोऽपिशब्दार्थे, स चैवं द्रष्टव्यः, भक्तमपि तत्र 'रूक्षदेश्यं' रूक्षकल्पमन्तप्रान्तमितियावत्, ते चानार्यतया प्रकृतिक्रोधनाः कर्पासाद्यभावत्वाच्च तृणप्रावरणाः सन्तो भगवति विरूपमाचरन्ति, तथा तत्र 'कुर्कुराः' श्वानस्ते च जिहिंसुः, उपरि च निपेतुरिति ॥ किं च—'अल्पः' स्तोकः स जनो यदि परं सहस्राणामेको यदिवा नास्त्येवासाविति यस्तान् शुनो लूषकान् दशतो 'निवारयति' निषेधयति, अपि तु दण्डप्रहारादिभिर्भगवन्तं हत्वा तत्प्रेरणाय सीत्कुर्वन्ति, कथं नामैनं श्रमणं कुर्कुराः श्वानो दशन्तु–भक्षयन्तु ?, तत्र चैवंविधे जनपदे भगवान् षण्मासावधिं कालं स्थितवानिति ॥ किं च—

एलिक्खए जणा भुज्जो बहवे वज्जभूमि फरुसासी। लट्ठिं गहाय नालियं समणा तत्थ य

॥ ३१० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विहरिंसु ॥ ५ ॥ एवंपि तत्थ विहरन्ता पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणिएहिं । संलुञ्चमाणा सुणएहिं दुच्चराणि तत्थ लाढेहिं ॥ ६ ॥ निहाय दण्डं पाणेहिं तं कायं वोसज्जमणगारे । अह गामकण्टए भगवन्ते अहिआसए अभिसमिच्चा ॥ ७ ॥ नागो संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे । एवंपि तत्थ लाढेहिं अलद्धपुव्वोवि एगया गामो ॥ ८ ॥

'इदृक्षः' पूर्वोक्तस्वभावो यत्र जनस्तं तथाभूतं जनपदं भगवान् 'भूयः' पौनःपुन्येन विहृतवान्, तस्यां च वज्रभूमौ बहवो जनाः परुषाशिनो–रूक्षाशिनो रूक्षाशितया च प्रकृतिक्रोधनास्ततो यतिरूपमुपलभ्य कदर्थयन्ति, ततस्तत्रान्ये श्रमणाः शाक्यादयो यष्टिं–देहप्रमाणां चतुरङ्गुलाधिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिषेधनाय विजह्रुरिति ॥ किं च–एवमपि यष्ट्यादिकया सामग्र्या श्रमणा विहरन्तः 'स्पृष्टपूर्वा' आरब्धपूर्वाः श्वभिरासन्, तथा 'संलुच्यमाना' इतश्चेतश्च भक्ष्यमाणाः श्वभिरासन्, दुर्निवारत्वात्तेषां, 'तत्र' तेषु लाढेष्वार्यलोकानां दुःखेन चर्यन्त इति दुश्चराणि–ग्रामादीनीति ॥ तदेवंभूतेष्वपि लाढेषु कथं भगवान् विहृतवानिति दर्शयितुमाह–प्राणिषु यो दण्डनाद्दण्डो–मनोवाक्कायादिकस्तं भगवान् 'निधाय' त्यक्त्वा, तथा तच्छरीरमप्यनगारो व्युत्सृज्याथ 'ग्रामकण्टकान्' नीचजनरूक्षालापानपि भगवांस्तांस्तान् सम्यक्करणतया निर्जरामभिसमेत्य–ज्ञात्वाऽध्यासयति–अधिसहते ॥ कथमधिसहत इति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—'नागो'हस्ती य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

थाऽसौ संग्राममूर्द्धनि परानीकं जित्वा तत्पारगो भवति, एवं भगवानपि महावीरस्तत्र लाढेषु परीषहानीकं विजित्य पारगोऽभूत्, किं च–'तत्र' लाढेषु विरलत्वाद्ग्रामाणां क्वचिदेकदा वासायालब्धपूर्वो ग्रामोऽपि भगवता ॥ किं च—

उवसंकमन्तमपडिन्नं गामंतियम्मि अप्पत्तं । पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु एयाओ परं पलेहित्ति ॥ ९ ॥ हयपुव्वो तत्थ दण्डेण अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्तफलेण । अदु लेलुणा कवालेण हन्ता हन्ता बहवे कन्दिंसु ॥ १० ॥ मंसाणि छिन्नपुव्वाणि उट्ठुभिया एगया कायं । परीसहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा उवकरिंसु ॥ ११ ॥ उच्चालइय निहणिंसु अदुवा आसणाउ खलइंसु । वोसट्ठकायपणयाऽऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ॥ १२ ॥

'उपसङ्क्रामन्तं' भिक्षायै वासाय वा गच्छन्तं, किंभूतम्?—'अप्रतिज्ञं' नियतनिवासादिप्रतिज्ञारहितं ग्रामान्तिकं प्राप्तमप्राप्तमपि तस्माद्ग्रामात्प्रतिनिर्गत्य ते जना भगवन्तमलूषिषुः, एतच्चोचुः–इतोऽपि स्थानात्परं दूरतरं स्थानं 'पर्येहि' गच्छेति ॥ किं च–तत्र ग्रामादेर्बहिर्व्यवस्थितः पूर्वं हतो हतपूर्वः, केन?–दण्डेनाथवा मुष्टिनाऽथवा कुन्तादिफलेनाथवा लेष्टुना कपालेन–घटखर्पराादिना हत्वा हत्वा बहवोऽनार्याश्चक्रन्दुः–पश्यत यूयं किंभूतोऽयमित्येवं कलकलं चक्रुः ॥ किं

॥ ३११ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ||१३||

दीप अनुक्रम [३१६]

च–मांसानि च तत्र भगवतच्छिन्नपूर्वाणि एकदा कायमवष्टभ्य–आक्रम्य तथा नानाप्रकाराः प्रतिकूलपरीषहाश्च भगवन्तमलुञ्चिषुः, अथवा पांसुनाऽवकीर्णवन्त इति ॥ किं च–भगवन्तमूर्ध्वमुत्क्षिप्य भूमौ 'निहतवन्तः' क्षिप्तवन्तः, अथवा 'आसनात्' गोदोहिकोत्कुटुकासनवीरासनादिकात् 'स्खलितवन्तो' निपातितवन्तः, भगवांस्तु पुनर्व्युत्सृष्टकायः परीषहसहनं प्रति प्रणत आसीत्, परीषहोपसर्गकृतं दुःखं सहत इति दुःखसहो भगवान्, नास्य दुःखचिकित्साप्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः ॥ कथं दुःखसहो भगवानित्येतदृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—

सूरो सङ्गामसीसे वा संवुडे तत्थ से महावीरे । पडिसेवमाणे फरुसाइं अचले भगवं रीयित्था ॥ १३ ॥ एस विही अणुक्कन्तो० जाव रीयं ॥ १४ ॥ तिबेमि ९–३ ॥

यथा हि संग्रामशिरसि 'शूरः' अक्षोभ्यः परैः कुन्तादिभिर्भिद्यमानोऽपि वर्म्मणा संवृताङ्गो न भङ्गमुपयातीति, एवं स भगवान्महावीरः 'तत्र' लाढादिजनपदे परीषहानीकतुद्यमानोऽपि प्रतिसेवमानश्च 'परुषान्' दुःखविशेषान् मेरुरिवाचलो–निष्प्रकम्पो धृत्या संवृताङ्गो भगवान् 'रीयते स्म' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके मोक्षाध्वनि पराक्रमते स्मेति ॥ उद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह–'एस विही'त्यादि पूर्ववद् । उपधानश्रुताध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः परिसमाप्तः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक ॥१॥

दीप अनुक्रम [३१८]

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके भगवतः परीषहोपसर्गाधिसहनं प्रतिपादितं, तदिहापि रोगातङ्कपीडाचिकित्साव्युदासेन सम्यगधिसहते तदुत्पत्तौ च नितरां तपश्चरणायोद्यच्छतीत्येतत्प्रतिपाद्यते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

ओमोयरियं चाएइ अपुट्ठेऽवि भगवं रोगेहिं । पुट्ठे वा अपुट्ठे वा नो से साइज्जई तेइच्छं ॥ १ ॥ संसोहणं च वमणं च गायब्भंगणं च सिणाणं च । संबाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए ॥ २ ॥ विरए गामधम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई । सिसिरंमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीय ॥ ३ ॥ आयावइ य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडुए अभित्तावे । अदु जाव इत्थ लूहेणं ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥

अपि शीतोष्णदंशमशकाक्रोशताडनाद्याः शक्याः परीषहाः सोढुं न पुनरवमोदरतां, भगवांस्तु पुना रोगैरस्पृष्टोऽपि वातादिक्षोभाभावेऽप्यवमौदर्यं न्यूनोदरतां शक्नोति कर्तुं, लोको हि रोगैरभिद्रुतः संस्तदुपशमनायावमोदरतां विधत्ते भगवांस्तु तदभावेऽपि विधत्त इत्यपिशब्दार्थः, अथवाऽस्पृष्टोऽपि कासश्वासादिभिर्द्रव्यरोगैः अपिशब्दात्स्पृष्टोऽप्यसद्वेदनीयादिभिर्भावरोगैर्न्यूनोदरतां करोति, अथ किं द्रव्यरोगातङ्का भगवतो न प्रादुष्यन्ति येन भावरोगैः स्पृष्ट इत्युक्तं?, तदुच्यते, भगवतो हि न प्राकृतस्येव देहजाः कासश्वासादयो भवन्ति, आगन्तुकास्तु शस्त्रप्रहारजा भवेयुः, इत्येतदेव

॥ ३१२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नवम-अध्ययने चतुर्थ-उद्देशक: 'आतंकित' आरब्ध:,

दर्शयति–स च भगवान् स्पृष्टो वा श्वभक्षणादिभिरस्पृष्टो वा कासश्वासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलषति, न द्रव्यौषधाद्युपयोगतः पीडोपशमं प्रार्थयतीति ॥ एतदेव दर्शयितुमाह–गात्रस्य सम्यक् शोधनं संशोधनं–विरेचनं निःसोत्रादिभिः तथा वमनं मदनफलादिभिः, चशब्द उत्तरपदसमुच्चयार्थो, गात्राभ्यङ्गनं च सहस्रपाकतैलादिभिः स्नानं चोद्वर्त्तनादिभिः संबाधनं च हस्तपादादिभिस्तस्य–भगवतो न कल्पते, तथा सर्वमेव शरीरमशुच्यात्मकमित्येवं 'परिज्ञाय' ज्ञात्वा दन्तकाष्ठादिभिर्दन्तप्रक्षालनं च न कल्पत इति ॥ किं च–'विरतो' निवृत्तः केभ्यो?–'ग्रामधर्मेभ्यो' यथास्वमिन्द्रियाणां शब्दादिभ्यो विषयेभ्यो 'रीयते' संयमानुष्ठाने पराक्रमते, 'माहणे'त्ति, किंभूतो भगवान्? असावबहुवादी, सकृद्व्याकरणभावाद्बहुशब्दोपादानम्, अन्यथा हि अवादीत्येव ब्रूयात्, तथैकदा शिशिरसमये स भगवांश्छायायां धर्म्मशुक्लध्यानध्याय्यासीच्चेति ॥ किं च–सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे षष्ठी, ग्रीष्मेष्वातापयति, कथमिति दर्शयति–तिष्ठत्युत्कुटुकासनोऽभितापं–तापाभिमुखमिति, 'अथ' आनन्तर्ये धर्म्माधारं देहं यापयति स्म रूक्षेण–स्नेहरहितेन केन?–'ओदनमन्थुकुल्माषेण' ओदनं च–कोद्रवौदनादि मन्थु च–बदरचूर्णादिकं कुल्माषाश्च–माषविशेषा एवोत्तरापथे धान्यविशेषभूताः पर्युषितमाषा वा सिद्धमाषा वा ओदनमन्थुकुल्माषमिति समाहारद्वन्द्वः तेनात्मानं यापयतीति सम्बन्ध इति ॥ एतदेव कालावधिविशेषणतो दर्शयितुमाह—

एयाणि तिन्नि पडिसेवे अट्ठ मासे अ जावयं भगवं । अपि इत्थ एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि ॥ ५ ॥ अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा विह-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रित्था । राओवरायं अपडिन्ने अन्नगिलायमेगया भुञ्जे ॥ ६ ॥ छट्ठेण एगया भुञ्जे अदुवा अट्ठमेण दसमेणं । दुवालसमेण एगया भुञ्जे पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ॥७॥ णच्चा णं से महावीरे नोऽविय पावगं सयमकासी । अन्नेहिं वा ण कारित्था कीरंतंपि नाणुजाणित्था ॥ ८ ॥

'एतानि' ओदनादीन्यनन्तरोक्तानि प्रतिसेवते, तानि च समाहारद्वन्द्वेन तिरोहितावयवसमुदायप्रधानेन निर्देशात्कस्यचिन्मन्दबुद्धेः स्यादारेका यथा–त्रीण्यपि समुदितानि प्रतिसेवत इति, अतस्तद्व्युदासाय त्रीणीत्यनया सङ्ख्यया निर्देश इति, त्रीणि समस्तानि व्यस्तानि वा यथालाभं प्रतिसेवत इति, कियन्तं कालमिति दर्शयति–अष्टौ मासान् ऋतुबद्धसंज्ञकानात्मानं अयापयद्–वर्त्तितवान् भगवानिति, तथा पानमप्यर्द्धमासमथवा मासं भगवान् पीतवान् ॥ अपि च–मासद्वयमपि साधिकम् अथवा षडपि मासान् साधिकान् भगवान्पानकमपीत्वाऽपि 'रात्रोपरात्र'मित्यहर्निशं विहृतवान्, किंभूतः?—'अप्रतिज्ञः' पानाभ्युपगमरहित इत्यर्थः, तथा 'अन्नगिलाय'न्ति पर्युषितं तदेकदा भुक्तवानिति ॥ किं च–षष्ठेनैकदा भुङ्क्ते, षष्ठं हि नामैकस्मिन्नहन्येकभक्तं विधाय पुनर्दिनद्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽह्न्येकभक्तमेव विधत्ते, ततश्चाद्यन्तयोरेकभक्तदिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां भक्तानां परित्यागात्षष्ठं भवति, एवं दिनादिवृद्ध्याऽष्टमाद्यायोज्यमिति, अथाष्टमेन दशमेनाथवा द्वादशमेनैकदा कदाचिद्भुक्तवान्, 'समाधिं' शरीरसमा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धानं 'प्रेक्षमाणः' पर्यालोचयन् न पुनर्भगवतः कथंचिद्दौर्मनस्यं समुत्पद्यते, तथाऽप्रतिज्ञः–अनिदान इति ॥ किं च–ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीरः कर्मप्रेरणसहिष्णुर्नापि च पापकं कर्म्म स्वयमकार्षीत् न चाप्यन्यैरचीकरत् न च क्रियमाणमपरै-रनुज्ञातवानिति ॥ किं च—

गामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए । सुविसुद्धमेसिया भगवं आयतजोग-याए सेवित्था ॥ ९ ॥ अदु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता । घासेस-णाए चिट्ठन्ति सययं निवइए य पेहाए ॥ १० ॥ अदुवा माहणं च समणं वा गाम-पिण्डोलगं च अतिहिं वा । सोवागमूसियारिं वा कुक्कुरं वावि विट्ठियं पुरओ ॥ ११ ॥ वित्तिच्छेयं वज्जन्तो तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो । मन्दं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥ १२ ॥

ग्रामं नगरं वा प्रविश्य भगवान् ग्रासमन्वेषयेत्, परार्थाय कृतमित्युद्गमदोषरहितं, तथा सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहितं, तथैषणादोषपरिहारेणैषित्वा–अन्वेष्य भगवानायतः–संयतो योगो–मनोवाक्कायलक्षणः आयतश्चासौ योगश्चायतयोगो –ज्ञानचतुष्टयेन सम्यग्योगप्रणिधानमायतयोगस्य भाव आयतयोगता तया सम्यगाहारं शुद्धं ग्रासैषणादोषपरिहारेण से-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वितवानिति ॥ किं च—अथ भिक्षां पर्यटतो भगवतः पथि वायसाः–काका 'दिगिंछ'त्ति बुभुक्षा तयाऽऽर्त्ता बुभुक्षार्त्ता ये चान्ये रसैषिणः–पानार्थिनः कपोतपारापतादयः सत्त्वाः तथा ग्रासस्यैषणार्थम्–अन्वेषणार्थं च ये तिष्ठन्ति तान् सततम्–अनवरतं निपतितान् भूमौ 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वा तेषां वृत्तिव्यवच्छेदं वर्जयन्मन्दमाहारार्थी पराक्रमते ॥ किं च–अथ ब्राह्मणं लाभार्थमुपस्थितं दृष्ट्वा तथा श्रमणं शाक्याजीवकपरिव्राट्तापसनिर्ग्रन्थानामन्यतमं 'ग्रामपिण्डोलक' इति भिक्षोदरभरणार्थं ग्राममाश्रितस्तुन्दपरिमृजो द्रमक इति, तथाऽतिथिं वा–आगन्तुकम् तथा श्वपाकं–चाण्डालं मार्जारीं वा कुकुरं वापि–श्वानं विविधं स्थितं 'पुरतः' अग्रतः समुपलभ्य तेषां वृत्तिच्छेदं वर्जयन् मनसो दुष्प्रणिधानं च वर्जयन् मन्दं–मनाक् तेषां त्रासमकुर्वन् भगवान् पराक्रमते, तथा परांश्च कुन्थुकादीन् जन्तून् अहिंसन् ग्रासमन्वेषितवानिति ॥ किं च—

अवि सूइयं वा सुक्कं वा सीयं पिंडं पुराणकुम्मासं । अदु बुक्कसं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे दविए ॥ १३ ॥ अवि झाइ से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं । उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिन्ने ॥ १४ ॥ अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई । छउमत्थोऽवि परक्कममाणो न पमायं सइंपि कुव्वित्था ॥ १५ ॥ सयमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहीए । अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं

॥ ३१४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समियासी ॥ १६ ॥ एस विही अणु० रीयइ ॥ १७ ॥ त्तिबेमि ९–४ ब्रह्मचर्यश्रुतस्कन्धे नवमाध्ययने चतुर्थ उद्देशकः ॥ ९ ॥

'सूइयं'त्ति दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि तथाभूतं शुष्कं वा–वल्लचनकादि शीतपिण्डं वा–पर्युषितभक्तम् तथा 'पुराणकुल्माषं वा' बहुदिवससिद्धस्थितकुल्माषं, 'बुक्कसं'ति चिरन्तनधान्यौदनं, यदिवा पुरातनसक्तुपिण्डं, यदिवा बहुदिवससम्भृतगोरसं गोधूममण्डकं चेति, तथा 'पुलाकं' यवनिष्पावादि, तदेवम्भूतं पिण्डमवाप्य रागद्वेषविरहाद् द्रविको भगवान् तथाऽन्यस्मिन्नपि पिण्डे लब्धेऽलब्धे वा द्रविक एव भगवानिति, तथाहि–लब्धे पर्याप्ते शोभने वा नोत्कर्षं याति, नाप्यलब्धेऽपर्याप्तेऽशोभने वाऽऽत्मानमाहारदातारं वा जुगुप्सते ॥ किं च—तस्मिंस्तथाभूत आहारे लब्ध उपभुक्तेऽलब्धे चापि ध्यायति स महावीरो, दुष्प्रणिधानादिना नापध्यानं विधत्ते, किमवस्थो ध्यायतीति दर्शयति–आसनस्थः-उत्कुटुकगोदोहिकावीरासनाद्यवस्थोऽकौत्कुचः सन्–मुखविकारादिरहितो ध्यानं–धर्म्मशुक्लयोरन्यतरदारोहति, किं पुनस्तत्र ध्येयं ध्यायतीति दर्शयितुमाह–ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्लोकस्य ये जीवपरमाण्वादिका भावा व्यवस्थितास्तान् द्रव्यपर्यायनित्यानित्यादिरूपतया ध्यायति, तथा समाधिम्–अन्तःकरणशुद्धिं च प्रेक्षमाणोऽप्रतिज्ञो ध्यायतीति ॥ किं च–न कषाय्यकषायी तदुदयापादितभ्रकुट्यादिकार्याभावात्, तथा विगता गृद्धिः–गार्ध्यं यस्यासौ विगतगृद्धिः, तथा शब्दरूपादिष्विन्द्रियार्थेष्वमूर्च्छितो ध्यायति, मनोऽनुकूलेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूदिति, तथा छद्मनि–ज्ञानदर्शना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वरणीयमोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थ इत्येवंभूतोऽपि विविधम्–अनेकप्रकारं सदनुष्ठाने पराक्रममाणो न प्रमादं –कषायादिकं सकृदपि कृतवानिति ॥ किं च–स्वयमेव–आत्मना तत्त्वमभिसमागम्य विदितसंसारस्वभावः स्वयंबुद्धः संस्तीर्थप्रवर्त्तनायोद्यतवान्, तथा चोक्तम्—"आदित्यादिर्विबुधविसरः सारमस्यां त्रिलोक्यामास्कन्दन्तं पदमनुपमं यच्छिवं त्वामुवाच। तीर्थं नाथो लघुभवभयच्छेदि तूर्णं विधत्स्वेत्येतद्वाक्यं त्वदधिगतये नो किमु स्यान्नियोगः? ॥ १ ॥" इत्यादि, कथं तीर्थप्रवर्त्तनायोद्यत इति दर्शयति—'आत्मशुद्ध्या' आत्मकर्म्मक्षयोपशमोपशमक्षयलक्षणयाऽऽयतयोगं–सुप्रणिहितं मनोवाक्कायात्मकं विधाय विषयकषायाद्युपशमादिभिर्निर्वृत्तः–शीतीभूतः, तथा अमायावी–मायारहित उपलक्षणार्थत्वादस्याक्रोधाद्यपि द्रष्टव्यं, 'यावत्कथ'मिति यावज्जीवं भगवान् पञ्चभिः समितिभिः समितः तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तश्चासीदिति ॥ श्रुतस्कन्धाध्ययनोद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह–एषः–अनन्तरोक्तः शस्त्रपरिज्ञादेरारभ्य योऽभिहितः सोऽनुक्रान्तः–अनुष्ठित आसेवनापरिज्ञया सेवितः, केन?–श्रीवर्द्धमानस्वामिना 'मतिमता' ज्ञानचतुष्टयान्वितेन बहुशः–अनेकशोऽप्रतिज्ञेन–अनिदानेन भगवता–ऐश्वर्यादिगुणोपेतेन, अतोऽपरोऽपि मुमुक्षुरनेनैव भगवदाचीर्णेन मोक्षप्रगुणेन पथाऽऽत्महितमाचरन् रीयते–पराक्रमते, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिने कथयति–सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवद्वदनारविन्दादर्थजातं निर्यातमवधारितमिति ॥ उक्तोऽनुगमः सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपश्च ससूत्रस्पर्शनिर्युक्तिकः, साम्प्रतं नयाः, ते च नैगमसङ्ग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदभिन्नाः सामान्यतः सप्त, ते चान्यत्र सम्मत्यादौ लक्षणतो विधानतश्च न्यक्षेणाभिहिता इति, इह पुनस्त एव ज्ञानक्रियानयान्तर्भावद्वारेण समासतः प्रो-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च्यन्ते, अधिकृताचाराङ्गस्य ज्ञानक्रियात्मकतयोभयरूपत्वात् ज्ञानक्रियाधीनत्वान्मोक्षस्य तदर्थं च शास्त्रप्रवृत्तेरिति भावः, अत्र च परस्परतः सव्यपेक्षावेव ज्ञानक्रियानयौ विवक्षितकार्यसिद्धयेऽलं नान्योऽन्यनिरपेक्षावित्येतत्प्रपञ्च्यते, तत्र ज्ञाननयाभिप्रायोऽयम्–यथा ज्ञानमेव प्रधानं न क्रियेति, समस्तहेयोपादेयहानोपादानप्रवृत्तेर्ज्ञानाधीनत्वात्, तथा हि–सुनिश्चितात् सम्यग्ज्ञानात्प्रवृत्तोऽर्थक्रियार्थी न विसंवाद्यते, तथा चोक्तम्—"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनाद् ॥ १ ॥" इत्यादि, संविन्निष्ठत्वाच्च विषयव्यवस्थितीनां तत्पूर्वकसकलदुःखप्रहीणत्वाच्चान्वयव्यतिरेकदर्शनाच्च ज्ञानस्य प्राधान्यं, तथाहि–ज्ञानाभावेऽनर्थपरिहाराय प्रवर्त्तमानोऽपि तत्करोति येन नितरां पतङ्गवदनर्थेन संयुज्यते, ज्ञानसद्भावे च समस्तानप्यर्थानर्थसंशयांश्च यथाशक्तितः परिहरति, तथा चागमः —'पढमं नाणं तओ' इत्यादि, एवं तावत्क्षायोपशमिकं ज्ञानमाश्रित्योक्तं, क्षायिकमप्याश्रित्य तदेव प्रधानं, यस्माद्भगवतः प्रणतसुरासुरमुकुटकोटिवेदिकाङ्कितचरणयुगलपीठस्य भवाम्भोधितटस्थस्य प्रतिपन्नदीक्षस्य त्रिलोकबन्धोस्तपश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिः सञ्जायते यावज्जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदरूपं घनघातिकर्म्मसंहतिक्षयात्केवलज्ञानं नोत्पन्नमित्यतो ज्ञानमेव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वादिति । अधुना क्रियानयाभिप्रायोऽभिधीयते, तद्यथा–क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, यस्माद्दर्शितेऽपि ज्ञानेनार्थक्रियासमर्थेऽर्थे प्रमाता प्रेक्षापूर्वकारी यदि हानोपादानरूपां प्रवृत्तिक्रियां न कुर्यात् ततो ज्ञानं विफलतामियात्, तदर्थत्वात्तस्येति, यस्य हि यदर्थं प्रवृत्तिस्तत्तस्य प्रधानमितरदप्रधानमिति न्यायात्, संविदा विषयव्यवस्थानस्याप्यर्थक्रियार्थत्वात्क्रि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यायाः प्राधान्यम्, अन्वयव्यतिरेकावपि क्रियायां समुपलभ्येते, यतः–सम्यक्चिकित्साविधिज्ञोऽपि यथार्थौषधावाप्तावपि उपयोगक्रियारहितो नोल्लाघतामेति, तथा चोक्तम्—"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् । संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, किं ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ?॥ १ ॥" तथा "क्रियैव फलदा पुसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥ १ ॥" इत्यादि, तत्क्रियायुक्तस्तु यथाऽभिलषितार्थभाग्भवत्यपि, कुत इति चेत् न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न च सकललोकप्रत्यक्षसिद्धेऽर्थेऽन्यत्प्रमाणान्तरं मृग्यत इति, तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि तपश्चरणादिका क्रियैव कर्तव्या, मौनीन्द्रं प्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितं, यत उक्तं—'चेइयकुलगणसङ्घे आयरियाणं च पवयण सुए य । सव्वेसुऽवि तेण कयं तवसञ्जममुज्जमन्तेणं ॥ १ ॥" इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं, यतस्तीर्थकृदादिभिः क्रियारहितं ज्ञानमप्यफलमुक्तं, उक्तं च—'सुबहुं पि सुअमधीतं किं काहि चरणविप्पहूण(मुक्क)स्स ?। अंधस्स जह पलित्ता दीवसतसहस्सकोडीवि ॥ १ ॥" दृशिक्रियापूर्वकक्रियाविकलत्वात्तस्येति भावः, न केवलं क्षायोपशमिकाज्ज्ञानात्क्रिया प्रधाना, क्षायिकादपि, यतः सत्यपि जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदके ज्ञाने समुल्लसिते न व्युपरतक्रियानिवर्त्तिध्यानक्रियामन्तरेण भवधारणीयकर्म्मोच्छेदः, तदच्छेदाच्च न मोक्षावाप्तिरित्यतो न ज्ञानं प्रधानं, चरणक्रियायां पुनरैहिकामुष्मिकफलावाप्तिरित्यतः सैव प्रधानभावमनुभवतीति, तदेवं ज्ञानमृते सम्यक्रियाया अभावः, तदभावाच्च तदर्थप्रवृत्तस्य ज्ञानस्य वैफल्यम् । एवमादीनां युक्तीनामुभयत्राप्युपलब्धेर्व्याकुलितमतिः

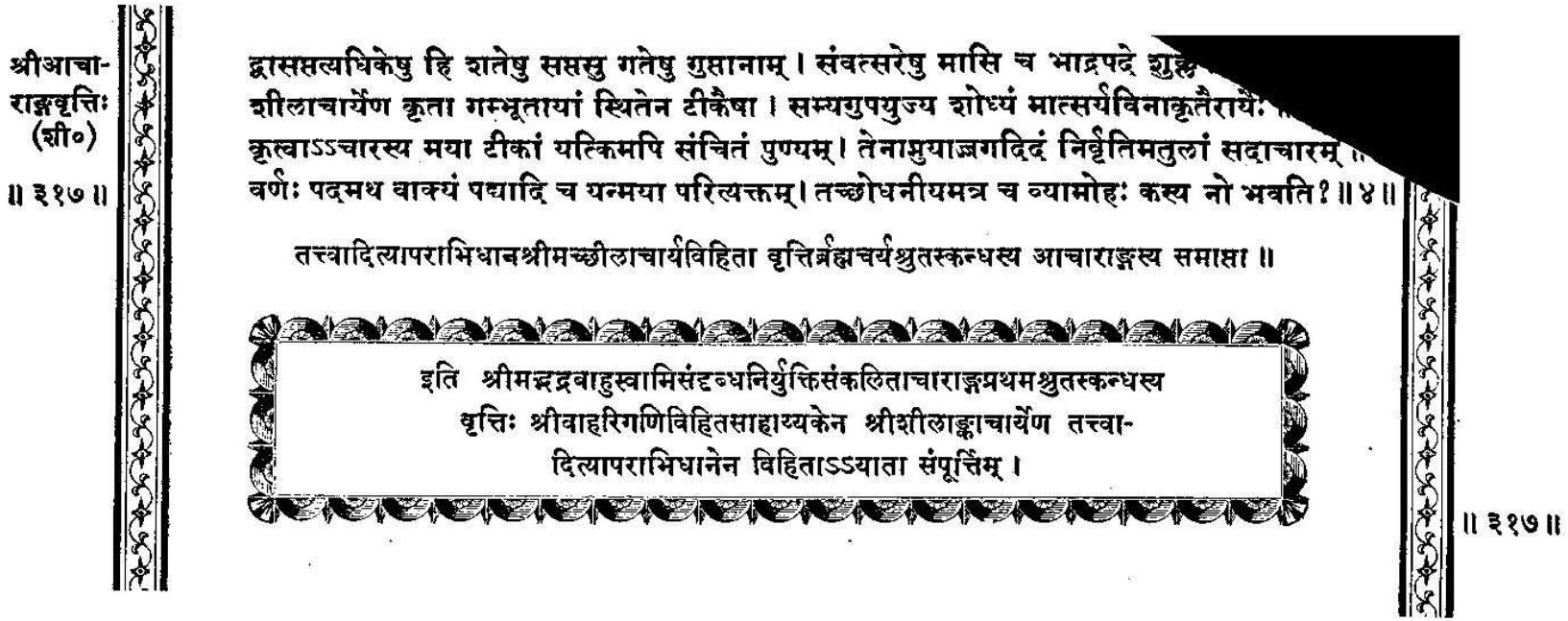
१ चैत्यकुलगणसङ्घे आचार्ये च प्रवचने श्रुते च । सर्वेष्वपि तेन कृतं तपःसंयमयोरुच्छता ॥ १ ॥ २ सुबह्वपि श्रुतमधीतं किं करिष्यति विप्रहीणचरणस्य ? । अन्धस्य यथा प्रदीप्ता दीपशतसहस्रकोट्यपि ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शिष्यः पृच्छति–किमिदानीं तत्त्वमस्तु?, आचार्य आह–नन्वभिहितमेव विस्मरणशीलो देवानांप्रियो यथा ज्ञानक्रिया-नयौ परस्परसव्यपेक्षौ सकलकर्म्मकन्दोच्छेदात्मकस्य मोक्षस्य कारणभूताविति, प्रदीप्तसमस्तनगरान्तर्वर्त्तिपरस्परोपकार्यो-पकारकभावावाप्तानाबाधस्थानौ पङ्गवन्धाविवेति, तथा चोक्तम्—"संजोयसिद्धीए फलं वदन्ती'त्यादि, स्वतन्त्रप्रवृत्तौ तु न विवक्षितकार्यं साधयत इत्येतच्च प्रसिद्धमेव, यथा 'हयं णाण'मित्यादि, आगमेऽपि सर्वनयोपसंहारद्वारेणायमेवार्थोऽ-भिहितो, यथा—'सव्वेसिंपि णयाणं बहुविहवत्तवयं णिसामेत्ता। तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १ ॥ त्ति', तदेतदाचाराङ्गं ज्ञानक्रियात्मकं अधिगतसम्यक्पथानां कुश्रुतसरित्कषायझषकुलाकुलं प्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयो-गाद्यनेकव्यसनोपनिपातमहावर्त्तं मिथ्यात्वपवनेरणोपस्थापितभयशोकहास्यरत्यरत्यादितरङ्गं विश्रसावेलाचितं व्याधि-शतनक्रचक्रालयं महागम्भीरं भयजननं पश्यतां त्रासोत्पादकं महासंसारार्णवं साधूनामुत्तितीर्षतां तदुत्तरणसमर्थ-मव्याहतं यानपात्रमिति, अतो मुमुक्षुणाऽऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधं शाश्वतमनन्तमजरममरमक्षयमव्याबाधमुपरतसम-स्तद्वन्द्वं सम्यग्दर्शनज्ञानव्रतचरणक्रियाकलापोपेतेन परमार्थपरमकार्यमनुत्तमं मोक्षस्थानं लिप्सुना समालम्बनीयमिति तदात्मकस्य ब्रह्मचर्याख्यश्रुतस्कन्धस्य निर्वृतिकुलीनश्रीशीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति ॥ श्लोकतो ग्रन्थमानम् ॥ ९७६ ॥

१ संयोगसिद्धेः फलं वदन्ति (नैवैकचक्रेण रथः प्रयाति। अन्धश्च पङ्गश्च वने समेत्य तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥ १ ॥) २ हतं ज्ञानं [illegible]
षामपि नयानां बहुविधवक्तव्यतां निशम्य। तत्सर्वनयविशुद्धं यच्चरणगुणस्थितः साधुः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचा-राङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ ३१७ ॥

द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम् । संवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्ल
शीलाचार्येण कृता गम्भूतायां स्थितेन टीकैषा । सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः
कृत्वाऽऽचारस्य मया टीकां यत्किमपि संचितं पुण्यम् । तेनाभुयाज्जगदिदं निर्वृतिमतुलां सदाचारम्
वर्णः पदमथ वाक्यं पद्यादि च यन्मया परित्यक्तम् । तच्छोधनीयमत्र च व्यामोहः कस्य नो भवति? ॥ ४ ॥

तत्त्वादित्यापराभिधानश्रीमच्छीलाचार्यविहिता वृत्तिर्ब्रह्मचर्यश्रुतस्कन्धस्य आचाराङ्गस्य समाप्ता ॥

इति श्रीमद्भद्रबाहुस्वामिसंदृब्धनिर्युक्तिसंकलिताचाराङ्गप्रथमश्रुतस्कन्धस्य
वृत्तिः श्रीवाहरिगणिविहितसाहाय्यकेन श्रीशीलाङ्काचार्येण तत्त्वा-
दित्यापराभिधानेन विहिताऽऽयाता संपूर्त्तिम् ।

॥ ३१७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम श्रुतस्कंध: परिसमाप्त:

॥ अर्हम् ॥

जयत्यनादिपर्यन्तमनेकगुणरत्नभृत् । न्यत्कृताशेषतीर्थेशं तीर्थं तीर्थाधिपैर्नुतम् ॥ १ ॥
नमः श्रीवर्द्धमानाय, सदाचारविधायिने । प्रणताशेषगीर्वाणचूडारत्नार्चितांह्रये ॥ २ ॥
आचारमेरोर्गदितस्य लेशतः, प्रवक्ष्मि तच्छेषिकचूलिकागतम् ।
आरिप्सितेऽर्थे गुणवान् कृती सदा, जायेत निःशेषमशेषितक्रियः ॥ ३ ॥

उक्तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचारश्रुतस्कन्धः, साम्प्रतं द्वितीयोऽग्रश्रुतस्कन्धः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–उक्तं प्रागाचारपरिमाणं प्रतिपादयता, तद्यथा—"नवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ । हवइ य सपंचचूलो बहुबहुअयरो पयग्गेणं ॥ १ ॥" तत्राद्ये श्रुतस्कन्धे नवब्रह्मचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि, तेषु च न समस्तोऽपि विवक्षितोऽर्थोऽभिहितः अभिहितोऽपि सङ्क्षेपतोऽतोऽनभिहितार्थाभिधानाय सङ्क्षेपोक्तस्य च प्रपञ्चाय तदग्रभूताश्चतस्रश्चूडा उक्तानुक्तार्थसङ्ग्राहिकाः प्रतिपाद्यन्ते, तदात्मकश्च द्वितीयोऽग्रश्रुतस्कन्धः, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या प्रतन्यते, तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्याग्रनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

१ °तविशेष. २ °र्नतम् ३ वीरनाथाय ४ °ङ्घ्रये ५ नवब्रह्मचर्यमयोऽष्टादशपदसहस्रको वेदः । भवति च सपञ्चचूलो बहुबहुतरः पदाग्रेण ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

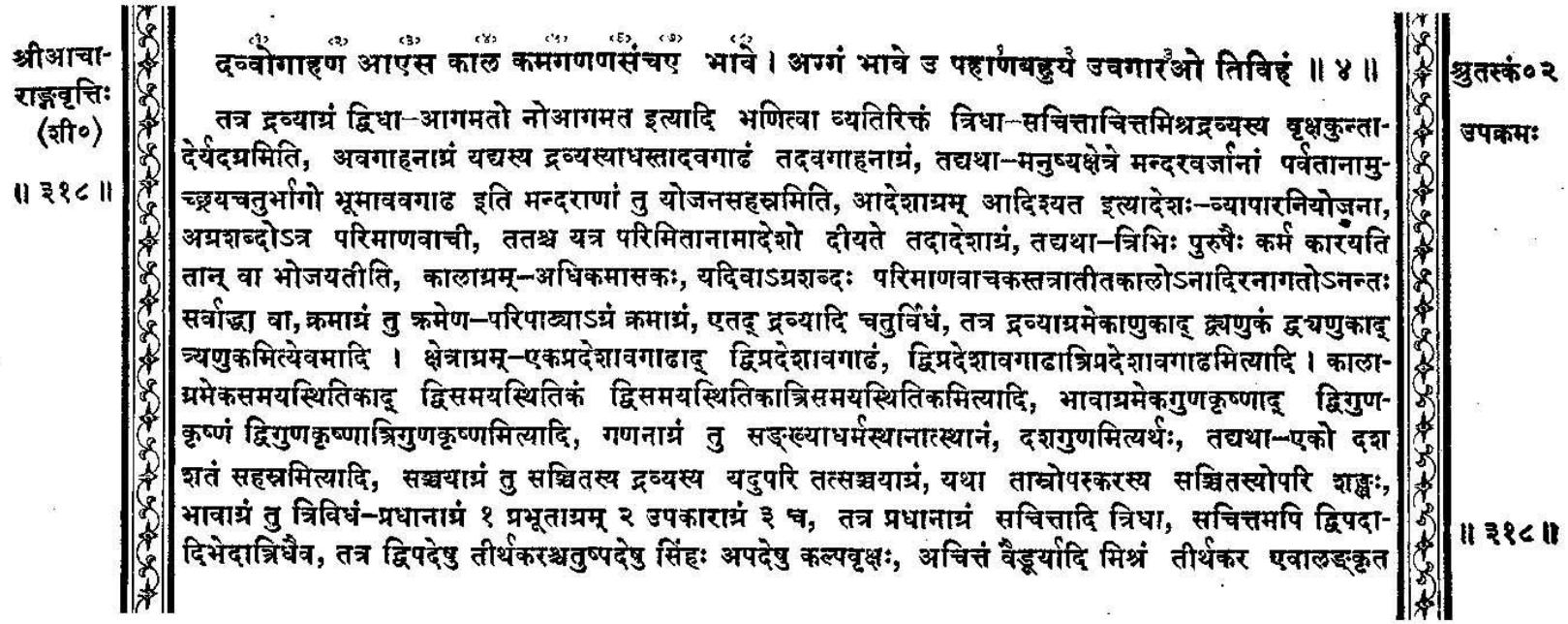
अत्र द्वितीय श्रुतस्कंध आरभ्यते, ...[उपोद्घात गाथाएँ], प्रथम श्रुतस्कंधेन सह सम्बन्धस्य निरूपणं

♣ **प्रथम चूलिका आरब्धा,**

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [२२६/ गाथा-१७]

दीप अनुक्रम [३३४]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ ३१८ ॥

(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८)
द्रव्वोगाहण आएस काल कमगणणसंचए भावे। अग्गं भावे उ पहाणंबहुयं उवगारओ तिविहं ॥ ४ ॥

तत्र द्रव्याग्रं द्विधा–आगमतो नोआगमत इत्यादि भणित्वा व्यतिरिक्तं त्रिधा–सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्यस्य वृक्षकुन्तादेर्यदग्रमिति, अवगाहनाग्रं यद्यस्य द्रव्यस्याधस्तादवगाढं तदवगाहनाग्रं, तद्यथा–मनुष्यक्षेत्रे मन्दरवर्जानां पर्वतानामुच्छ्रयचतुर्भागो भूमावबगाढ इति मन्दराणां तु योजनसहस्रमिति, आदेशाग्रम् आदिश्यत इत्यादेशः–व्यापारनियोजना, अग्रशब्दोऽत्र परिमाणवाची, ततश्च यत्र परिमितानामादेशो दीयते तदादेशाग्रं, तद्यथा–त्रिभिः पुरुषैः कर्म कारयति तान् वा भोजयतीति, कालाग्रम्–अधिकमासकः, यदिवाऽग्रशब्दः परिमाणवाचकस्तत्रातीतकालोऽनादिरनागतोऽनन्तः सर्वाद्धा वा, क्रमाग्रं तु क्रमेण–परिपाट्याऽग्रं क्रमाग्रं, एतद् द्रव्यादि चतुर्विधं, तत्र द्रव्याग्रमेकाणुकाद् द्व्यणुकं द्व्यणुकाद् त्र्यणुकमित्येवमादि । क्षेत्राग्रम्–एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढं, द्विप्रदेशावगाढात्रिप्रदेशावगाढमित्यादि । कालाग्रमेकसमयस्थितिकाद् द्विसमयस्थितिकं द्विसमयस्थितिकात्रिसमयस्थितिकमित्यादि, भावाग्रमेकगुणकृष्णाद् द्विगुणकृष्णं द्विगुणकृष्णात्रिगुणकृष्णमित्यादि, गणनाग्रं तु सङ्ख्याधर्मस्थानात्स्थानं, दशगुणमित्यर्थः, तद्यथा–एको दश शतं सहस्रमित्यादि, सञ्चयाग्रं तु सञ्चितस्य द्रव्यस्य यदुपरि तत्सञ्चयाग्रं, यथा ताम्रोपकरस्य सञ्चितस्योपरि शङ्खः, भावाग्रं तु त्रिविधं–प्रधानाग्रं १ प्रभूताग्रम् २ उपकाराग्रं ३ च, तत्र प्रधानाग्रं सचित्तादि त्रिधा, सचित्तमपि द्विपदादिभेदात्त्रिधैव, तत्र द्विपदेषु तीर्थकरश्चतुष्पदेषु सिंहः अपदेषु कल्पवृक्षः, अचित्तं वैडूर्यादि मिश्रं तीर्थकर एवालङ्कृत

श्रुतस्कं०२ उपक्रमः

॥ ३१८ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

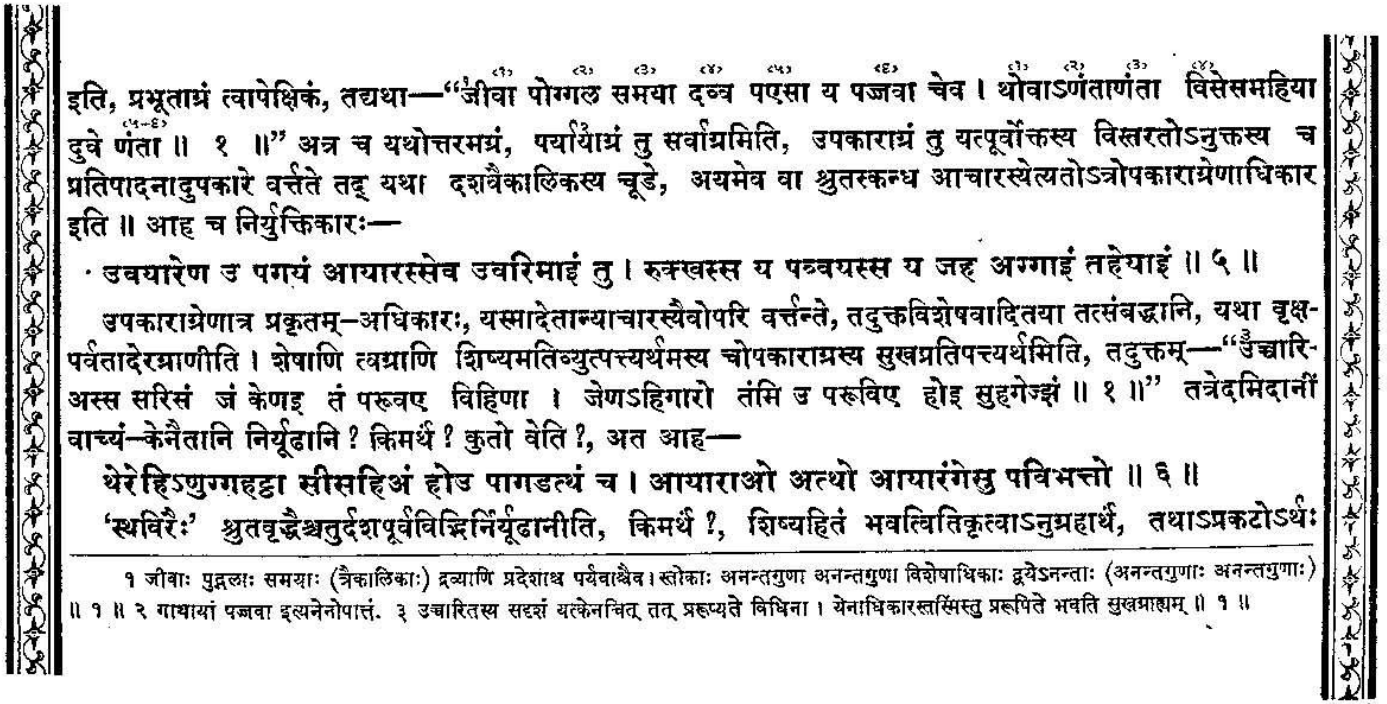
अत्र निर्युक्ते: क्रमस्य मुद्रण-शुद्धि: न दृश्यते.....

[यहाँ निर्युक्ति के क्रममें ४,...५,...६,... इत्यादि लिखा है, ये गलती है, ये क्रमांक- २८५,...२८६,...२८७,.. इत्यादि होना चाहिए क्योंकि पिछला निर्युक्ति क्रम २८४ था, और आगे जाकर इसी सम्पादनमें द्वितीय अध्ययन से निर्युक्ति गाथा क्रम २९८ से आरम्भ होता है |

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [२२६/ गाथा-१७]

दीप अनुक्रम [३३४]



इति, प्रभूताग्रं त्वापेक्षिकं, तद्यथा—"जीवा[१] पोग्गल[२] समया[३] दव्व[४] पएसा[५] य पज्जवा[६] चेव। थोवाऽणंताणंता[१] विसेसमहिया[२] दुवे[३] णंता[४]॥ १ ॥" अत्र च यथोत्तरमग्रं, पर्यायाग्रं तु सर्वाग्रमिति, उपकाराग्रं तु यत्पूर्वोक्तस्य विस्तरतोऽनुक्तस्य च प्रतिपादनादुपकारे वर्त्तते तद् यथा दशवैकालिकस्य चूडे, अयमेव वा श्रुतस्कन्ध आचारस्येत्यतोऽत्रोपकाराग्रेणाधिकार इति॥ आह च निर्युक्तिकारः—

· उवयारेण उ पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु। रुक्खस्स य पव्वयस्स य जह अग्गाइं तहेयाइं॥ ५॥

उपकाराग्रेणात्र प्रकृतम्–अधिकारः, यस्मादेतान्याचारस्यैवोपरि वर्त्तन्ते, तदुक्तविशेषवादितया तत्संबद्धानि, यथा वृक्ष-पर्वतादेरग्राणीति। शेषाणि त्वग्राणि शिष्यमतिव्युत्पत्त्यर्थमस्य चोपकाराग्रस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थमिति, तदुक्तम्—"उच्चारि[३]-अस्स सरिसं जं केणइ तं परूवए विहिणा। जेणऽहिगारो तंमि उ परूविए होइ सुहगेज्झं॥ १॥" तत्रेदमिदानीं वाच्यं–केनैतानि निर्यूढानि? किमर्थं? कुतो वेति?, अत आह—

थेरेहिऽणुग्गहट्ठा सीसहिअं होउ पागडत्थं च। आयाराओ अत्थो आयारंगेसु पविभत्तो॥ ६॥

'स्थविरैः' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्यूढानीति, किमर्थं?, शिष्यहितं भवत्विति कृत्वाऽनुग्रहार्थं, तथाऽप्रकटोऽर्थः

१ जीवाः पुद्गलाः समयाः (त्रैकालिकाः) द्रव्याणि प्रदेशाश्च पर्यवाश्चैव। स्तोकाः अनन्तगुणा अनन्तगुणा विशेषाधिकाः द्वयेऽनन्ताः (अनन्तगुणाः अनन्तगुणाः) ॥ १ ॥ २ गाथायां पज्जवा इत्यनेनोपात्तं. ३ उच्चारितस्य सदृशं यत्केनचित् तत् प्ररूप्यते विधिना। येनाधिकारस्तस्मिंस्तु प्ररूपिते भवति सुखग्राह्यम्॥ १॥

आ. सू. ५४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

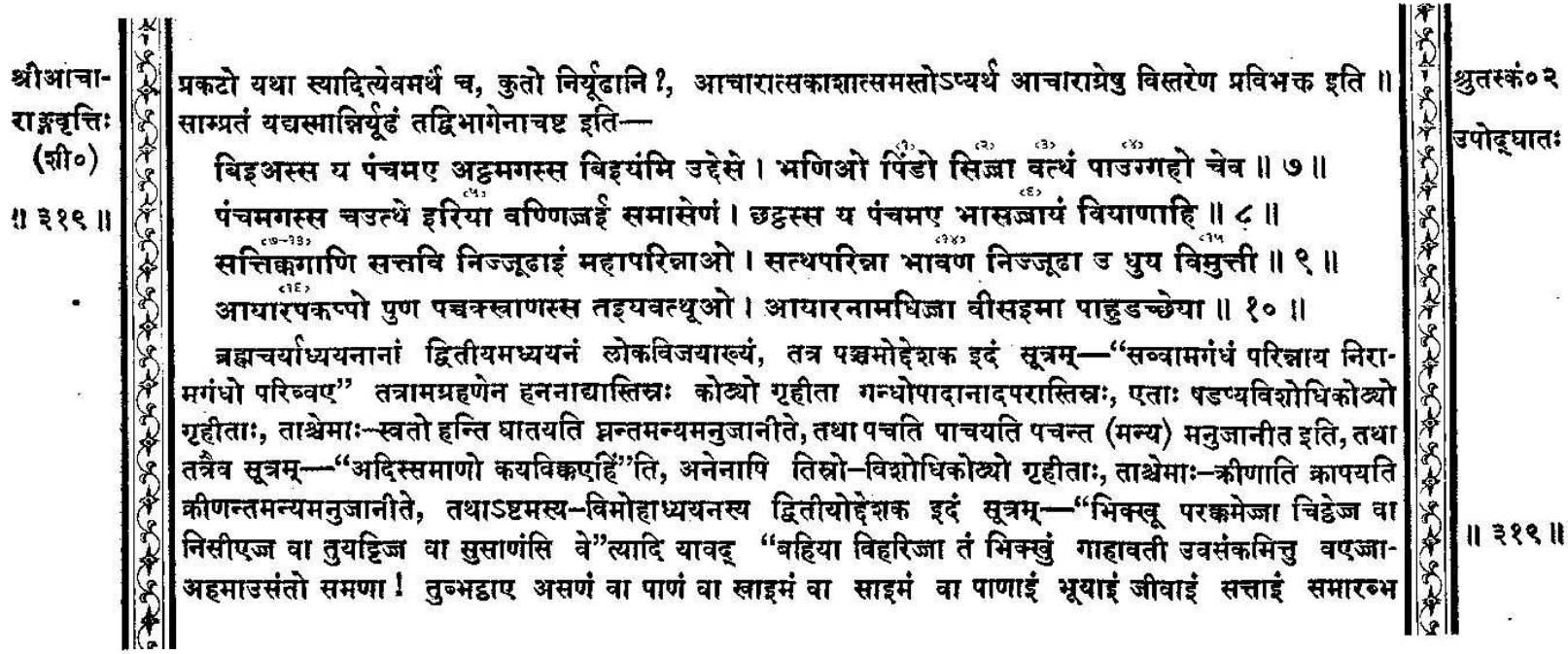
अत्र निर्युक्ते: क्रमस्य मुद्रण-शुद्धि: न दृश्यते.....

[यहाँ निर्युक्ति के क्रममें ४,...५,...६,... इत्यादि लिखा है, ये गलती है, ये क्रमांक- २८५,...२८६,...२८७,.. इत्यादि होना चाहिए क्योंकि पिछला निर्युक्ति क्रम २८४ था, और आगे जाकर इसी सम्पादनमें द्वितीय अध्ययन से निर्युक्ति गाथा क्रम २९८ से आरम्भ होता है |

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [२२६/ गाथा-१७]

दीप अनुक्रम [३३४]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ ३१९ ॥

प्रकटो यथा स्यादित्येवमर्थं च, कुतो निर्यूढानि ?, आचारात्सकाशात्समस्तोऽप्यर्थ आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविभक्त इति ॥ साम्प्रतं यद्यस्मान्निर्यूढं तद्विभागेनाचष्ट इति—

बिइअस्स य पंचमए अट्ठमगस्स बिइयंमि उद्देसे । भणिओ पिंडो सिज्जा वत्थं पाउग्गहो चेव ॥ ७ ॥
पंचमगस्स चउत्थे इरिया वण्णिज्जई समासेणं । छट्ठस्स य पंचमए भासज्जायं वियाणाहि ॥ ८ ॥
सत्तिक्कगाणि सत्तवि निज्जूढाइं महापरिन्नाओ । सत्थपरिन्ना भावण निज्जूढा उ धुय विमुत्ती ॥ ९ ॥
आयारपकप्पो पुण पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ । आयारनामधिज्जा वीसइमा पाहुडच्छेया ॥ १० ॥

ब्रह्मचर्याध्ययनानां द्वितीयमध्ययनं लोकविजयाख्यं, तत्र पञ्चमोद्देशक इदं सूत्रम्—"सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए" तत्रामग्रहणेन हननाद्यास्तिस्रः कोट्यो गृहीता गन्धोपादानादपरास्तिस्रः, एताः षडप्यविशोधिकोट्यो गृहीताः, ताश्चेमाः—स्वतो हन्ति घातयति घ्नन्तमन्यमनुजानीते, तथा पचति पाचयति पचन्त (मन्य) मनुजानीत इति, तथा तत्रैव सूत्रम्—"अदिस्समाणो कयविक्कएहिं"ति, अनेनापि तिस्रो—विशोधिकोट्यो गृहीताः, ताश्चेमाः—क्रीणाति क्रापयति क्रीणन्तमन्यमनुजानीते, तथाऽष्टमस्य—विमोहाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशक इदं सूत्रम्—"भिक्खू परक्कमेज्जा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टिज्ज वा सुसाणंसि वे"त्यादि यावद् "बहिया विहरिज्जा तं भिक्खुं गाहावती उवसंकमित्तु वएज्जा-अहमाउसंतो समणा ! तुब्भट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ

श्रुतस्कं०२ उपोद्घातः

॥ ३१९ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र निर्युक्ते: क्रमस्य मुद्रण-शुद्धि: न दृश्यते.....
[यहाँ निर्युक्ति के क्रममें ४,...५,...६,... इत्यादि लिखा है, ये गलती है, ये क्रमांक- २८५,...२८६,...२८७,.. इत्यादि होना चाहिए क्योंकि पिछला निर्युक्ति क्रम २८४ था, और आगे जाकर इसी सम्पादनमें द्वितीय अध्ययन से निर्युक्ति गाथा क्रम २९८ से आरम्भ होता है |

समुद्दिस्स कीयं पामिच्च"मित्यादि, एतानि सर्वाण्यपि सूत्राण्याश्रित्यैकादश पिण्डैषणा निर्यूढाः, तथा तस्मिन्नेव द्वितीयाध्ययने पञ्चमोद्देशके सूत्रम्—"से वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासणं"मिति, तत्र वस्त्रकम्बलपादपुञ्छनग्रहणाद् वस्त्रैषणा निर्यूढा, पतद्ग्रहपदात् पात्रैषणा निर्यूढा, अवग्रह इत्येतस्मादवग्रहप्रतिमा निर्यूढा, कटासनमित्येतस्माच्छय्येति, तथा पञ्चमाध्ययनावन्त्याख्यस्य चतुर्थोद्देशके सूत्रम्—"गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परिक्कंतं" इत्यादिनेर्या सङ्क्षेपेण व्यावर्णितेत्यत एव ईर्याध्ययनं निर्यूढम्, तथा षष्ठाध्ययनस्य धूताख्यस्य पञ्चमोद्देशके सूत्रम्—"आइक्खइ विहयइ किट्टइ धम्मकामी"त्येतस्माद्भाषाजाताध्ययनमाकृष्टमित्येवं विजानीयास्त्वमिति । तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोद्देशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निर्यूढाः, तथा शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाद्भावना निर्यूढा, तथा धूताध्ययनस्य द्वितीयचतुर्थोद्देशकाभ्यां विमुक्त्यध्ययनं निर्यूढमिति, तथा 'आचारप्रकल्पः'निशीथः, स च प्रत्याख्यानपूर्वस्य यत्तृतीयं वस्तु तस्यापि यदाचाराख्यं विंशतितमं प्राभृतं ततो निर्यूढ इति ॥ ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्य आचाराग्राणि निर्यूढान्यतो निर्यूहनाधिकारादेव तान्यपि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनान्निर्यूढानीति दर्शयति—

अव्वोगडो उ भणिओ सत्थपरिन्नाय दंडनिक्खेवो । सो पुण विभज्जमाणो तहा तहा होइ नायव्वो॥ ११॥

'अव्याकृतः' अव्यक्तोऽपरिस्फुट इतियावत् 'भणितः' प्रतिपादितः, कोऽसौ?—'दण्डनिक्षेपः' दण्डः–प्राणिपीडालक्षणस्तस्य निक्षेपः–परित्यागः संयम इत्यर्थः, स च शस्त्रपरिज्ञायामव्यक्तोऽभिहितो यतस्तेन पुनः विभज्यमानः अष्टस्वप्यध्ययनेष्वसावेव तथा तथा–अनेकप्रकारो ज्ञातव्यो भवतीति ॥ कथं पुनरयं संयमः सङ्क्षेपाभिहितो विस्तार्यते ? इत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र निर्युक्ते: क्रमस्य मुद्रण-शुद्धि: न दृश्यते.....

[यहाँ निर्युक्ति के क्रममें ४,...५,...६,... इत्यादि लिखा है, ये गलती है, ये क्रमांक- २८५,...२८६,...२८७,.. इत्यादि होना चाहिए क्योंकि पिछला निर्युक्ति क्रम २८४ था, और आगे जाकर इसी सम्पादनमें द्वितीय अध्ययन से निर्युक्ति गाथा क्रम २९८ से आरम्भ होता है |

एगविहो पुण सो संजमुत्ति अज्झत्थ बाहिरो य दुहा। मणवयणकाय तिविहो चउव्विहो चाउजामो उ॥१२॥
पंच य महव्वयाइं तु पंचहा राइभोअणे छट्ठा। सीलंगसहस्साणि य आयारस्सप्पवीभागा ॥ १३ ॥

अविरतिनिवृत्तिलक्षण एकविधः संयमः, स एवाध्यात्मिकबाह्यभेदाद् द्विधा भवति, पुनर्मनोवाक्काययोगभेदात्त्रिविधः, स एव चतुर्यामभेदाच्चतुर्धा, पुनः पञ्चमहाव्रतभेदात्पञ्चधा, रात्रीभोजनविरतिपरिग्रहाच्च षोढा, इत्यादिकया प्रक्रियया भिद्यमानो यावदष्टादशशीलाङ्गसहस्रपरिमाणो भवतीति ॥ किं पुनरसौ संयमस्तत्र तत्र प्रवचने पञ्चमहाव्रतरूपतया भिद्यते ? इत्याह—

आइक्खिउं विभइउं विन्नाउं चेव सुहतरं होइ। एएण कारणेणं महव्वया पंच पन्नत्ता ॥ १४ ॥

संयमः पञ्चमहाव्रतरूपतया व्यवस्थापितः सन्नाख्यातुं विभक्तुं विज्ञातुं च सुखेनैव भवतीत्यतः कारणात्पञ्चमहाव्रतानि प्रज्ञाप्यन्ते ॥ एतानि च पञ्च महाव्रतानि अस्खलितानि फलवन्ति भवन्त्यतो रक्षायत्नो विधेयस्तदर्थमाह—

तेसिं च रक्खणट्ठा य भावणा पंच पंच इक्किक्के। ता सत्थपरिन्नाए एसो अब्भिंतरो होई ॥ १५ ॥

'तेषां च' महाव्रतानामेकैकस्य तद्रक्षणिकल्पाः पञ्च पञ्च भावना भवन्ति, ताश्च द्वितीयाग्रश्रुतस्कन्धे प्रतिपाद्यन्तेऽतोऽयं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाभ्यन्तरो भवतीति ॥ साम्प्रतं चूडानां यथास्वं परिमाणमाह—

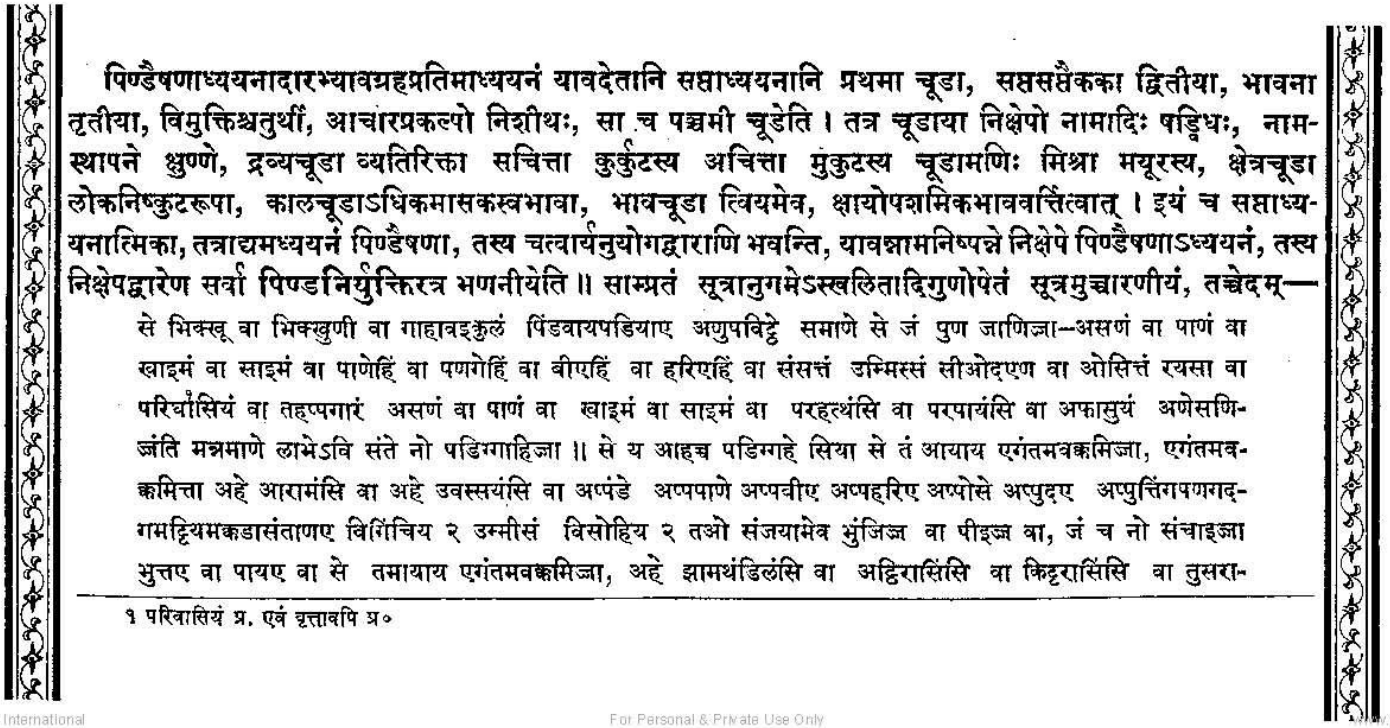
जावोग्गहपडिमाओ पढमा सत्तिक्कगा बिइअचूला। भावण विमुत्ति आयारपकप्पा तिन्नि इअ पंच ॥ १६ ॥

१ अट्ठारसगस्स निप्फत्ती प्र. एसो उ अब्भन्तरो होइ प्र.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र निर्युक्ते: क्रमस्य मुद्रण-शुद्धि: न दृश्यते.....

[यहाँ निर्युक्ति के क्रममें ४,...५,...६,... इत्यादि लिखा है, ये गलती है, ये क्रमांक- २८५,...२८६,...२८७,.. इत्यादि होना चाहिए क्योंकि पिछला निर्युक्ति क्रम २८४ था, और आगे जाकर इसी सम्पादनमें द्वितीय अध्ययन से निर्युक्ति गाथा क्रम २९८ से आरम्भ होता है |



पिण्डैषणाध्ययनादारभ्यावग्रहप्रतिमाध्ययनं यावदेतानि सप्ताध्ययनानि प्रथमा चूडा, सप्तसप्तैककका द्वितीया, भावना तृतीया, विमुक्तिश्चतुर्थी, आचारप्रकल्पो निशीथः, सा च पञ्चमी चूडेति । तत्र चूडाया निक्षेपो नामादिः षड्विधः, नाम-स्थापने क्षुण्णे, द्रव्यचूडा व्यतिरिक्ता सचित्ता कुर्कुटस्य अचित्ता मुकुटस्य चूडामणिः मिश्रा मयूरस्य, क्षेत्रचूडा लोकनिष्कुटरूपा, कालचूडाऽधिकमासकस्वभावा, भावचूडा त्वियमेव, क्षायोपशमिकभाववर्त्तित्वात् । इयं च सप्ताध्य-यनात्मिका, तत्राद्यमध्ययनं पिण्डैषणा, तस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे पिण्डैषणाऽध्ययनं, तस्य निक्षेपद्वारेण सर्वा पिण्डनिर्युक्तिरत्र भणनीयेति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा–असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणगेहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्मिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं[1] वा तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणि-ज्जंति मन्नमाणे लाभेऽवि संते नो पडिग्गाहिज्जा ॥ से य आहच्च पडिग्गहे सिया से तं आयाय एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमव-क्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पुदए अप्पुत्तिंगपणगद-गमट्टियमक्कडासंताणए विगिंचिय २ उम्मीसं विसोहिय २ तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाइज्जा भुत्तए वा पायए वा से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा, अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरा-

१ परिवासियं प्र. एवं वृत्तावपि प्र०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र निर्युक्ति-क्रम १६/२९७ दृश्यते,.....[यहाँ हमने १६/२९७ ऐसा इसीलिए लिखा है कि--- इस प्रतके सम्पादनमे भूलसे १६ लिखा है, मगर आगे पीछे के क्रम को जोडकर देखा तो यहाँ आखरी निर्युक्ति का क्रम २९७ ही होता है, (हमारे अपने सम्पादन "आगम सुत्ताणि सटिकं "में हमने निर्युक्ति का क्रम सुधार कर नया क्रम दे दिया

♣ प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा" आरब्धं

सिंसि वा गोमयरासिंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव परिट्ठविज्जा ॥ (सू० १)

'से' इति मागधदेशीवचनतः प्रथमान्तो निर्देशे वर्त्तते, यः कश्चिद्भिक्षणशीलो भावभिक्षुर्मूलोत्तरगुणधारी विविधाभिग्रहरतः 'भिक्षुणी वा' साध्वी, स भावभिक्षुर्वेदनादिभिः कारणैराहारग्रहणं करोति, तानि चामूनि—"वेअण १ वेआवच्चे २ इरियट्ठाए य ३ संजमट्ठाए ४। तह पाणवत्तियाए ५ छट्ठं पुण धम्मचिंताए ६ ॥ १ ॥" इत्यादि, अमीषां मध्येऽन्यतमेनापि कारणेनाहारार्थी सन् गृहपतिः–गृहस्थस्तस्य कुलं–गृहं तदनुप्रविष्टः, किमर्थं?—'पिंडवायपडियाए'त्ति पिण्डपातो–भिक्षालाभस्तत्प्रतिज्ञया–अहमत्र भिक्षां लप्स्य इति, स प्रविष्टः सन् यत्पुनरशनादि जानीयात्, कथमिति दर्शयति—'प्राणिभिः' रसजादिभिः 'पनकैः' उल्लीजीवैः संसक्तं 'बीजैः' गोधूमादिभिः 'हरितैः' दूर्वाऽङ्कुरादिभिः 'उन्मिश्रं' शबलीभूतं, तथा शीतोदकेन वा 'अवसिक्तम्' आर्द्रीकृतं 'रजसा वा' सचित्तेन 'परिघासियं'ति परिगुण्डितं, कियद्वा वक्ष्यति? 'तथाप्रकारम्' एवंजातीयमशुद्धमशनादि चतुर्विधमप्याहारं 'परहस्ते' दातृहस्ते परपात्रे वा स्थितम् 'अप्रासुकं' सचित्तम् 'अनेषणीयम्' आधाकर्मादिदोषदुष्टम् 'इति' एवं मन्यमानः 'स' भावभिक्षुः सत्यपि लाभे न प्रतिगृह्णीयादित्युत्सर्गतः, अपवादतस्तु द्रव्यादि ज्ञात्वा प्रतिगृह्णीयादपि, तत्र द्रव्यं दुर्लभद्रव्यं क्षेत्रं साधारणद्रव्यलाभरहितं सरजस्कादिभावितं वा कालो दुर्भिक्षादिः भावो ग्लानतादिः, इत्यादिभिः कारणैरुपस्थितैरल्पबहुत्वं

१ वेदना वैयावृत्त्यं ईर्यार्थं च संयमार्थं च। तथा प्राणप्रत्ययाय षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तायै ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", प्रथम-उद्देशक: आरब्ध:

पर्यालोच्य गीतार्थो गृह्णीयादिति ॥ अथ कथञ्चिदनाभोगात्संसक्तमागामिसत्त्वोन्मिश्रं वा गृहीतं तत्र विधिमाह—'से आहच्चे'त्यादि स च भावभिक्षुः 'आहच्चे'ति सहसा संसक्तादिकमाहारजातं कदाचिदनाभोगाज्जातिगृह्णीयात्, स चानाभोगो दातृप्रतिगृहीतृपदद्वयाच्चतुर्धा योजनीय इति, 'तम्' एवंभूतमशुद्धमाहारमादायैकान्तम् 'अपक्रामेत्' गच्छेत्, तं 'अपक्रम्य, गत्वेति । यत्र सागारिकाणामनालोकमसम्पातं च भवति तदेकान्तमनेकधेति दर्शयति—अथारामे वा अथोपाश्रये वा अथशब्दोऽनापातविशिष्टप्रदेशोपसङ्ग्रहार्थः, वाशब्दो विकल्पार्थः शून्यगृहाद्युपसङ्ग्रहार्थो वा, तद्विशिनष्टि—'अल्पाण्डे' अल्पशब्दोऽभाववचनः, अपगताण्ड इत्यर्थः, एवमल्पबीजेऽल्पहरिते 'अल्पावश्याये' अवश्याय उदकसूक्ष्मतुषारः, अल्पोदके, तथा 'अल्पोत्तिङ्गपनकदगमृत्तिकामर्कटसन्तानके' तत्रोत्तिङ्गस्तृणाग्रउदकबिन्दुः, [भुञ्जीतेत्युत्तरक्रियया सम्बन्धः] पनकः—उल्लीविशेषः, उदकप्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति, मर्कटः—सूक्ष्मजीवविशेषस्तेषां सन्तानः, यदिवा मर्कटकसन्तानः—कोलियकः, तदेवमण्डादिदोषरहिते आरामादिके स्थण्डिले गत्वा प्राग्गृहीताहारस्य यत्संसक्तं तद् 'विविच्य विविच्य' त्यक्त्वा त्यक्त्वा, क्रियाऽभ्यावृत्त्याऽशुद्धस्य परित्यागनिःशेषतामाह, 'उन्मिश्रं वा' आगामुकसत्त्वसंवलितं सक्तुकादि ततः प्राणिनः 'विशोध्य विशोध्य' अपनीयापनीय 'ततः' तदनन्तरं शेषं शुद्धं परिज्ञाय सम्यग्यत एव भुञ्जीत पिबेद्वा रागद्वेषविप्रमुक्तः सन्निति, उक्तञ्च—"बायालीसेसणसंकडंमि

१ द्वाचत्वारिंशदेषणासंकटे गहने जीव ! नैव छलितः । इदानीं यथा न छल्यसे भुञ्जन् रागद्वेषाभ्यां (तथा प्रवर्तस्व) ॥ १ ॥ रागेण साङ्गारं द्वेषेण सधूमकं विजानीहि । रागद्वेषविमुक्तो भुञ्जीत वा निर्जराप्रेक्षी ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गहणंमि जीव! ण हु छलिओ । इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥ १ ॥ रागेण सइंगालं दोसेण सधूमगं वियाणाहि । रागद्दोसविमुक्को भुंजेज्जा निज्जरापेही ॥ २ ॥" यच्चाहारादिकं पातुं भोक्तुं वा न शक्नुयात्माचुर्यादशुद्ध-पृथक्करणासम्भवाद्वा स भिक्षुः 'तद्' आहारजातमादायैकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य च तदाहारजातं 'परिष्ठापयेत्' त्यजे-दिति सम्बन्धः, यत्र च परिष्ठापयेत्तद्दर्शयति—'अथ' आनन्तर्यार्थे वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः 'झामे'ति दग्धं तस्मिन् वा स्थण्डिलेऽस्थिराशौ वा किट्टो–लोहादिमलस्तद्राशौ वा तुषराशौ वा गोमयराशौ वा, कियद्वा वक्ष्यते इत्यु-पसंहरति–अन्यतरराशौ वा 'तथाप्रकारे' पूर्वसदृशे प्रासुके स्थण्डिले गत्वा तत् प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य अक्ष्णा प्रमृज्य २ रजोहरणादिना, अत्रापि द्विर्वचनमादरख्यापनार्थमिति, प्रत्युपेक्षणप्रमार्जनपदाभ्यां सप्त भङ्गका भवन्ति, तद्यथा–अ-प्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितम् १, अप्रत्युपेक्षितं प्रमार्जितं २, प्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितं ३, तत्राप्यप्रत्युपेक्ष्य प्रमृजन् स्थानात्स्था-नसङ्क्रमणेन त्रसान् विराधयति, प्रत्युपेक्ष्याप्यप्रमृजन्नागन्तुकपृथ्वीकायादीन् विराधयतीति, चतुर्थभङ्गके तु चत्वारोऽमी, तद्यथा–दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं ४, दुष्प्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं ५, सुप्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं ६, सुप्रत्युपेक्षितं सुप्र-मार्जितमिति ७, स्थापना । तत्रैवंभूते सप्तमभङ्गायाते स्थण्डिले 'संयत एव' सम्यगुपयुक्त एव शुद्धाशुद्धपुञ्जभागपरिक-ल्पनया 'परिष्ठापयेत्' त्यजेदिति ॥ साम्प्रतमौषधिविषयं विधिमाह—

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइ० जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्जा–कसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छच्छिन्नाओ अवुच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कंतभज्जियं पेहाए अफासुयं अणेसणि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्जंति मन्नमाणे लाभे संते नो पडिग्गाहिज्जा ॥ से भिक्खू वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्जा–अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिन्नाओ वुच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिक्कंतं भज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जंति मन्नमाणे लाभे संते पडिग्गाहिज्जा ॥ (सू० २)

स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् याः पुनः "औषधीः" शालिबीजादिकाः एवंभूता जानीयात्, तद्यथा—'कसिणाओ'त्ति 'कृत्स्नाः' सम्पूर्णा अनुपहताः, अत्र च द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गिका, तत्र द्रव्यकृत्स्ना अशस्त्रोपहताः, भावकृत्स्नाः सचित्ताः, तत्र कृत्स्ना इत्यनेन चतुर्भङ्गकेष्वाद्यं भङ्गत्रयमुपात्तं, 'सासियाओ'त्ति, जीवस्य स्वाम्–आत्मीयामुत्पत्तिं प्रत्याश्रयो यासु ताः स्वाश्रयाः, अविनष्टयोनय इत्यर्थः, आगमे च कासाञ्चिदौषधीनामविनष्टो योनिकालः पठ्यते, तदुक्तम्—"एतेसि णं भंते ! सालीणं केवइअं कालं जोणी संचिट्ठइ ?" इत्याद्यालापकाः, 'अविदलकडाओ'त्ति न द्विदलकृताः अद्विदलकृताः, अनूर्ध्वपाटिता इत्यर्थः, 'अतिरिच्छच्छिन्नाओ'त्ति तिरश्चीनं छिन्नाः–कन्दलीकृतास्तत्प्रतिषेधादतिरश्चीनच्छिन्नाः, एताश्च द्रव्यतः कृत्स्ना भावतो भाज्याः, 'अव्वोच्छिन्नाओ'त्ति व्यवच्छिन्ना–जीवरहिता न व्यवच्छिन्नाः अव्यवच्छिन्नाः, भावतः कृत्स्ना इत्यर्थः, तथा 'तरुणियं वा छिवाडिं'ति, *तरुणीम्' अपरिपक्वां 'छिवाडि'न्ति मुद्गादेः फलिं, तामेव विशिनष्टि—'अणभिक्कंतभज्जिय'न्ति, नाभिक्रान्ता जीविताद् अनभिक्रान्ता, सचेतनेत्यर्थः, 'अभज्जियं' अभग्नाम्–अमर्दितामविराधितामित्यर्थः, इति 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वा तदेवंभूतमाहारजातमप्रासुकमनेषणीयं वा मन्यमानो लाभे

१ एतेषां भदन्त ! शालीनां कियन्तं कालं योनिः संतिष्ठति.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सति न प्रतिगृह्णीयात् । साम्प्रतमेतदेव सूत्रं विपर्ययेणाह–स एव भावभिक्षुर्यावत् पुनरौषधीरेवं जानीयात्, तद्यथा—'अकृत्स्नाः' असम्पूर्णा द्रव्यतो भावतश्च पूर्ववच्चर्चः, 'अस्वाश्रयाः' विनष्टयोनयः, 'द्विदलकृताः' ऊर्ध्वपाटिताः 'तिरश्चीनच्छिन्नाः' कन्दलीकृताः तथा तरुणिकां वा फलीं जीवितादपक्रान्तां भग्नां चेति, तदेवंभूतमाहारजातं प्रासुकमेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति कारणे गृह्णीयादिति ॥ ग्राह्याग्राह्याधिकार एवाहारविशेषमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा–पिहुयं वा बहुरयं वा भुंजियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं संभज्जियं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा–पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ३)

स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् इत्यादि पूर्ववद्यावत् 'पिहुयं व'त्ति पृथुकं जातावेकवचनं नवस्य शालिव्रीह्यादेरग्निना ये लाजाः क्रियन्ते त इति, बहु रजः–तुषादिकं यस्मिंस्तद्बहुरजः, 'भुज्जिय'न्ति अग्यर्द्धपक्वं गोधूमादेः शीर्षकमन्यद्वा तिलगोधूमादि, तथा गोधूमादेः 'मन्थुं' चूर्णं तथा 'चाउलाः' तन्दुलाः शालिव्रीह्यादेः त एव चूर्णीकृतास्तत्कणिका वा चाउलपलंबंति, तदेवंभूतं पृथुकाद्याहारजातं सकृद् एकवारं 'संभज्जियं'ति आमर्दितं किञ्चिदग्निना किञ्चिदपरशस्त्रेणाप्रासुकमनेषणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् ॥ एतद्विपरीतं ग्राह्यमित्याह–पूर्ववत्, नवरं यदसकृद्–अनेकशोऽग्यादिना पक्वमामर्दितं वा दुष्पक्वादिदोषरहितं प्रासुकं मन्यमानो लाभे सति गृह्णीयादिति ॥

साम्प्रतं गृहपतिकुलप्रवेशविधिमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४]

दीप अनुक्रम [३३८]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं जाव पविसिउकामे नो अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अप्परिहारिएणं सद्धिं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा ॥ से भिक्खू वा० बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा नो अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा ॥ से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो अन्नउत्थिएण वा जाव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ (सू० ४)

स भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकाम एभिर्वक्ष्यमाणैः सार्द्धं न प्रविशेत् प्राक् प्रविष्टो वा न निष्क्रामेदिति सम्बन्धः । यैः सह न प्रवेष्टव्यं तान् स्वनामग्राहमाह–तत्रान्यतीर्थिकाः–सरजस्कादयः 'गृहस्थाः' पिण्डोपजीविनो धिग्जातिप्रभृतयः, तैः सह प्रविशताममी दोषाः, तद्यथा–ते पृष्ठतो वा गच्छेयुरग्रतो वा, तत्राग्रतो गच्छन्तो यदि साध्वनुवृत्त्या गच्छेयुस्ततस्तत्कृत ईर्याप्रत्ययः कर्मबन्धः प्रवचनलाघवं च, तेषां वा स्वजात्याद्युत्कर्ष इति, अथ पृष्ठतस्ततस्तद्वेषो दातुर्वाऽभद्रकस्य, लाभं च दाता संविभज्य दद्यात्तेनावमौदर्यादौ दुर्भिक्षादौ प्राणवृत्तिर्न स्यादित्येवमादयो दोषाः, तथा परिहरणं–परिहारस्तेन चरति पारिहारिकः–पिण्डदोषपरिहरणादुद्युक्तविहारी साधुरित्यर्थः, स एवंगुणकलितः साधुः 'अपरिहारिकेण' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपेण न प्रविशेत्, तेन सह प्रविष्टानामनेषणीयभिक्षाग्रहणाग्रहणकृता दोषाः, तथाहि–अनेषणीयग्रहणे तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता भवति, अग्रहणे तैः सहासङ्खडादयो दोषाः, तत एतान् दोषान् ज्ञात्वा साधुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया तैः सह न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेदिति ॥ तैः सह प्रसङ्गतोऽन्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रापि गमन प्रतिषेधमाह–स भिक्षुर्बहिः 'विचारभूमिं' सञ्ज्ञाव्युत्सर्गभूमिं तथा 'विहारभूमिं' स्वाध्यायभूमिं तैरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषसम्भवान्न प्रविशेदिति सम्बन्धः, तथाहि–विचारभूमौ प्रासुकोदकस्वच्छास्वच्छबहुल्पनिर्लेपनकृतोपघातसद्भावाद्, विहारभूमौ वा सिद्धान्तालापकविकत्थनभयात्सेहाद्यसहिष्णुकलहसद्भावाच्च साधुस्तां तैः सह न प्रविशेन्नापि ततो निष्क्रामेदिति ॥ तथा–स भिक्षुर्ग्रामाद्ग्रामो ग्रामान्तरमुपलक्षणार्थत्वान्नगरादिकमपि 'दूइज्जमाणो'त्ति गच्छन्नेभिरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषसम्भवान्न गच्छेत्, तथाहि–कायिक्यादिनिरोधे सत्यात्मविराधना, व्युत्सर्गे च प्रासुकाप्रासुकग्रहणादावुपघातसंयमविराधने भवतः, एवं भोजनेऽपि दोषसम्भवो भावनीयः सेहादिविप्रतारणादिदोषश्चेति ॥ साम्प्रतं तद्दानप्रतिषेधार्थमाह—

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा० जाव पविट्ठे समाणे नो अन्नउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहारियस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दिज्जा वा अणुपइज्जा वा ॥ (सू० ५)

स भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नुपलक्षणत्वादुपाश्रयस्थो वा तेभ्योऽन्यतीर्थिकादिभ्यो दोषसम्भवादशनादिकं ४ न दद्यात् स्वतो नाप्यनुप्रदापयेदपरेण गृहस्थादिनेति, तथाहि–तेभ्यो दीयमानं दृष्ट्वा लोकोऽभिमन्यते–एते ह्येवंविधानामपि दक्षिणार्हाः, अपि च–तदुपष्टम्भादसंयमप्रवर्त्तनादयो दोषा जायन्त इति ॥ पिण्डाधिकार एवानेषणीयविशेषप्रतिषेधमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० जाव समाणे असणं वा ४ अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, तं तहप्पगारं असणं वा ४ पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया नीहडं वा अनीहडं वा अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा, एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ॥ (सू० ६)

स–भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नेवंभूतमाहारजातं नो प्रतिगृह्णीयादिति सम्बन्धः, 'अस्संपडियाए'त्ति, न विद्यते स्वं–द्रव्यमस्य सोऽयमस्वो–निर्ग्रन्थ इत्यर्थः, तत्प्रतिज्ञया कश्चिद्गृहस्थः प्रकृतिभद्रक एकं 'साधर्मिकं' साधुं 'समुद्दिश्य' अस्वोऽयमित्यभिसन्धाय 'प्राणिनो भूतानि जीवाः सत्त्वाश्च' एतेषां किञ्चिद्भेदाद्भेदः, तान् समारभ्येत्यनेन मध्यग्रहणात्संरम्भसमारम्भारम्भा गृहीताः, एतेषां च स्वरूपमिदम्—"संकप्पो संरंभो परियावकरो भवे समारंभो। आरंभो उद्दवओ सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं ॥ १ ॥" इत्येवं समारम्भादि 'समुद्दिश्य' अधिकृत्याधाकर्म कुर्यादिति, अनेन सर्वाऽविशुद्धिकोटिर्गृहीता, तथा 'क्रीतं' मूल्यगृहीतं 'पामिच्चं' उच्छिन्नकम् 'आच्छेद्यं' परस्माद्बलादाच्छिन्नम् 'अणिसिट्ठं'ति 'अनिसृष्टं' तत्स्वामिनाऽनुत्सङ्कलितं चोल्लकादि 'अभ्याहृतं' गृहस्थेनानीतं, तदेवंभूतं क्रीताद्याहृत्य 'चेएइ'त्ति ददाति, अनेनापि समस्ता विशुद्धिकोटिर्गृहीता, 'तद्' आहारजातं चतुर्विधमपि 'तथाप्रकारम्' आधाकर्मादिदोषदुष्टं यो ददाति तस्मात्पुरुषादपरः पुरुषः पुरुषान्तरं तत्कृतं वा अपुरुषान्तरकृतं वा–तथा तेनैव दात्रा कृतं, तथा गृहान्नि-

१ संकल्पः संरम्भः परितापकरो भवेत् समारम्भः। आरम्भ उपद्रवतः शुद्धनयानां च सर्वेषाम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गतमनिर्गतं वा, तथा तेनैव दात्रा स्वीकृतमस्वीकृतं वा, तथा तेनैव दात्रा तस्माद्बहुपरिभुक्तमपरिभुक्तं वा, तथा स्तोकमास्वादितमनास्वादितं वा, तदेवमप्रासुकमनेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति । एतच्च प्रथमचरमतीर्थकृतोरकल्पनीयं, मध्यमतीर्थकराणां चान्यस्य कृतमन्यस्य कल्पत इति । एवं बहून् साधर्मिकान् समुद्दिश्य प्राग्वच्चर्चः । तथा साध्वीसूत्रमप्येकत्वबहुत्वाभ्यां योजनीयमिति ॥ पुनरपि प्रकारान्तरेणाविशुद्धिकोटिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ बहवे समणा माहणा अतिहि किवणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स पाणाइं वा ४ समारब्भ जाव नो पडिग्गाहिज्जा ॥ (सू० ७)

स भावभिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रविष्टस्तद्यत्पुनरेवंभूतमशनादि जानीयात्, तद्यथा—बहून् श्रमणानुद्दिश्य, ते च पञ्चविधाः—निर्ग्रन्थशाक्यतापसगैरिकाजीविका इति, ब्राह्मणान् भोजनकालोपस्थाय्यपूर्वो वाऽतिथिस्तानिति कृपणा—दरिद्रास्तान् वणीमका—वन्दिप्रायास्तानपि श्रमणादीन् बहून् 'उद्दिश्य' प्रगणय्य प्रगणय्योद्दिशति, तद्यथा—द्विजाः श्रमणाः पञ्चषाः ब्राह्मणा इत्यादिना प्रकारेण श्रमणादीन् परिसङ्ख्यातानुद्दिश्य, तथा प्राण्यादीन् समारभ्य यदशनादि संस्कृतं तदासेवितमनासेवितं वाऽप्रासुकमनेषणीयमाधाकर्म, एवं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ विशोधिकोटिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा—असणं वा ४ बहवे समणा माहणा अतिहिं किवणवणीमए समुद्दिस्स जाव चेएइ तं तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं वा अबहियानीहडं अणत्तट्ठियं अपरिभुत्तं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणासेवियं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव नो पडिग्गाहिज्जा। अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडं बहियानीहडं अत्तट्ठियं परिभुत्तं आसेवियं फासुयं एसणिज्जं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥ (सू० ८)

स भिक्षुर्यत्पुनरशनादि जानीयात्, किंभूतमिति दर्शयति–बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमकान् समुद्दिश्य श्रमणाद्यर्थमिति यावत्, प्राणादींश्च समारभ्य यावदाहृत्य कश्चिद् गृहस्थो ददाति, तत्तथाप्रकारमशनाद्यपुरुषान्तरकृतमबहिर्निर्गतमनात्मीकृतमपरिभुक्तमनासेवितमप्रासुकमनेषणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् ॥ इयं च "जावंतिया भिक्ख"त्ति, एतद्व्यत्ययेन ग्राह्यमाह–अथशब्दः पूर्वापेक्षी पुनःशब्दो विशेषणार्थः, अथ स भिक्षुः पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा—'पुरुषान्तरकृतम्' अन्यार्थं कृतं बहिर्निर्गतमात्मीकृतं परिभुक्तमासेवितं प्रासुकमेषणीयं च ज्ञात्वा लाभे सति प्रतिगृह्णीयात्, इदमुक्तं भवति–अविशोधिकोटिर्यथा तथा न कल्पते, विशोधिकोटिस्तु पुरुषान्तरकृतात्मीयकृतादिविशिष्टा कल्पत इति ॥ विशुद्धिकोटिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिउकामे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा—इमेसु खलु कुलेसु निइए पिंडे दिज्जइ अग्गपिंडे दिज्जइ नियए भाए दिज्जइ नियए अवड्ढभाए दिज्जइ, तहप्पगाराइं कुलाइं निइयाइं निइउमाणाइं नो भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज वा निक्खमिज वा ॥ एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सहिए सया जए (सू० ९) त्तिबेमि ॥ पिण्डैषणाध्ययन आद्योद्देशकः ॥ १–१–१ ॥

१ यावत्यो भिक्षाः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः से–तच्छब्दार्थे स च वाक्योपन्यासार्थः, यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात्, तद्यथा–इमेषु कुलेषु 'खलु' वाक्यालङ्कारे 'नित्यं' प्रतिदिनं 'पिण्डः' पोषो दीयते, तथा अग्रपिण्डः–शाल्योदनादेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यते सोऽग्रपिण्डो नित्यं भागः–अर्धपोषो दीयते, तथा नित्यमुपार्द्धभागः–पोषचतुर्थभागः, तथाप्रकाराणि कुलानि 'नित्यानि' नित्यदानयुक्तानि नित्यदानादेव 'निइउमाणाइ'न्ति नित्यम् 'उमाणं'ति प्रवेशः स्वपक्षपरपक्षयोर्येषु तानि तथा, इदमुक्तं भवति–नित्यलाभात्तेषु स्वपक्षः–संयतवर्गः परपक्षः–अपरभिक्षाचरवर्गः सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत्, तानि च बहुभ्यो दातव्यमिति तथाभूतमेव पाकं कुर्युः, तत्र च षट्कायवधः, अल्पे च पाके तदन्तरायः कृतः स्यादित्यतस्तानि नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेन्निष्क्रामेद्वेति ॥ सर्वोपसंहारार्थमाह—

'एतदि'ति यदादेरारभ्योक्तं खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः, एतत्तस्य भिक्षोः 'सामग्र्यं' समग्रता यदुद्गमोत्पादनग्रहणैषणासंयोजनाप्रमाणेङ्गालधूमकारणैः सुपरिशुद्धस्य पिण्डस्योपादानं क्रियते तज्ज्ञानाचारसामग्र्यं दर्शनचारित्रतपोवीर्याचारसंपन्नता चेति, अथवैतत्सामग्र्यं सूत्रेणैव दर्शयति–यत् 'सर्वार्थैः' सरसविरसादिभिराहारगतैः यदिवा रूपरसगन्धस्पर्शगतैः सम्यगितः समितः, संयत इत्यर्थः, पञ्चभिर्वा समितिभिः समितः शुभेतरेषु रागद्वेषविरहित इतियावत्, एवंभूतश्च सह हितेन वर्त्तत इति सहितः, सहितो वा ज्ञानदर्शनचारित्रैः, एवंभूतश्च सदा 'यतेत' संयमयुक्तो भवेदित्युपदेशः, ब्रवीमीति जम्बूनामानं सुधर्मस्वामीदमाह–भगवतः सकाशाच्छ्रुत्वाऽहं ब्रवीमि, न तु स्वेच्छयेति। शेषं पूर्ववदिति ॥ पिण्डैषणाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके पिण्डः प्रतिपादितस्तदिहापि तद्गतामेव विशुद्धकोटिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा–असणं वा ४ अट्ठमिपोसहिएसु वा अद्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उउसंधीसु वा उउपरियट्टेसु वा बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए कुंभीमुहाओ वा कलोवाइओ वा संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवियं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडं जाव आसेवियं फासुयं पडिगाहिज्जा ॥ (सू० १०)

स भावभिक्षुर्यत्पुनरशनादिकमाहारमेवंभूतं जानीयात्, तद्यथा–अष्टम्यां पौषधः–उपवासादिकोऽष्टमीपौषधः स विद्यते येषां तेऽष्टमीपौषधिका–उत्सवाः तथाऽर्द्धमासिकादयश्च ऋतुसन्धिः–ऋतोः पर्यवसानम् ऋतुपरिवर्त्तः–ऋत्वन्तरम्, इत्यादिषु प्रकरणेषु बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमगामेकस्मात्पिठरकाद् गृहीत्वा कूरादिकं 'परिएसिज्जमाणे'त्ति तदीयमानाहारेण भोज्यमानान् 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वा, एवं द्विकादिकादपि पिठरकाद् गृहीत्वेत्यायोजनीयमिति, पिठरक एव सङ्कटमुखः कुम्भी, 'कलोवाइओ व'त्ति पिच्छी पिटकं वा तस्माद्वैकस्मादिति, सन्निधेः–गोरसादेः संनिचयस्तस्माद्वेति, ['तओ एवंविहं जावंतियं पिंडं समणादीणं परिएसिज्जमाणं पेहाए'त्ति,] एवंभूतं पिण्डं दीयमानं दृष्ट्वा अपुरुषा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", द्वितीय-उद्देशक: आरब्ध:

न्तरकृतादिविशेषणमप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह– अथ पुनः स भिक्षुरेवंभूतं जानीयात्ततो गृह्णीयादिति सम्बन्धः, तद्यथा–पुरुषान्तरकृतमित्यादि ॥ साम्प्रतं येषु कुलेषु भिक्षार्थं प्रवेष्टव्यं तान्यधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, तंजहा—उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइन्नकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा बुक्कासकुलाणि वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु अगरहिएसु असणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ११)

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रवेष्टुकामो यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात्तेषु प्रविशेदिति सम्बन्धः, तद्यथा–उग्रा–आरक्षिकाः, भोगा–राज्ञः पूज्यस्थानीयाः, राजन्याः–सखिस्थानीयाः, क्षत्रिया–राष्ट्रकूटादयः, इक्ष्वाकवः–ऋषभस्वामिवंशिकाः, हरिवंशाः–हरिवंशजाः अरिष्टनेमिवंशस्थानीयाः, 'एसिअ'त्ति गोष्ठाः, वैश्या–वणिजः, गण्डको–नापितः, यो हि ग्राम उद्घोषयति, कोट्टागाः–काष्ठतक्षका वर्द्धकिन इत्यर्थः, बोक्कशालियाः–तन्तुवायाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्ते इत्युपसंहरति–अन्यतरेषु वा तथाप्रकारेष्वजुगुप्सितेषु कुलेषु, नानादेशविनेयसुखप्रतिपत्त्यर्थं पर्यायान्तरेण दर्शयति–अगर्ह्येषु, यदिवा जुगुप्सितानि चर्मकारकुलादीनि गर्ह्याणि–दास्यादिकुलानि तद्विपर्ययभूतेषु कुलेषु लभ्यमानमाहारादिकं प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति ॥ तथा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा–असणं वा ४ समवाएसु वा पिंडनियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा एवं रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूयमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा नइमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं जाव संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव नो पडिग्गाहिज्जा ॥ अह पुण एवं जाणिज्जा दिन्नं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणे पेहाए गाहावइभारियं वा गाहावइभगिणिं वा गाहावइपुत्तं वा धूयं वा सुण्हं वा धाइं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा–आउसित्ति वा भगिणित्ति वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा ४ सयं वा पुण जाइज्जा परो वा से दिज्जा फासुयं जाव पडिग्गाहिज्जा ॥ (सू० १२)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात्तदपुरुषान्तरकृतादिविशेषणमप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो नो गृह्णीयादिति सम्बन्धः, तत्र समवायो–मेलकः शङ्खच्छेदश्रेण्यादेः पिण्डनिकरः–पितृपिण्डो मृतकभक्तमित्यर्थः, इन्द्रोत्सवः–प्रतीतः स्कन्दः–स्वामिकार्त्तिकेयस्तस्य महिमा–पूजा विशिष्टे काले क्रियते, रुद्रादयः–प्रतीताः नवरं मुकुन्दो–बलदेवः, तदेवंभूतेषु नानाप्रकारेषु प्रकरणेषु सत्सु तेषु च यदि यः कश्चिच्छ्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमगादिरापतति तस्मै स-

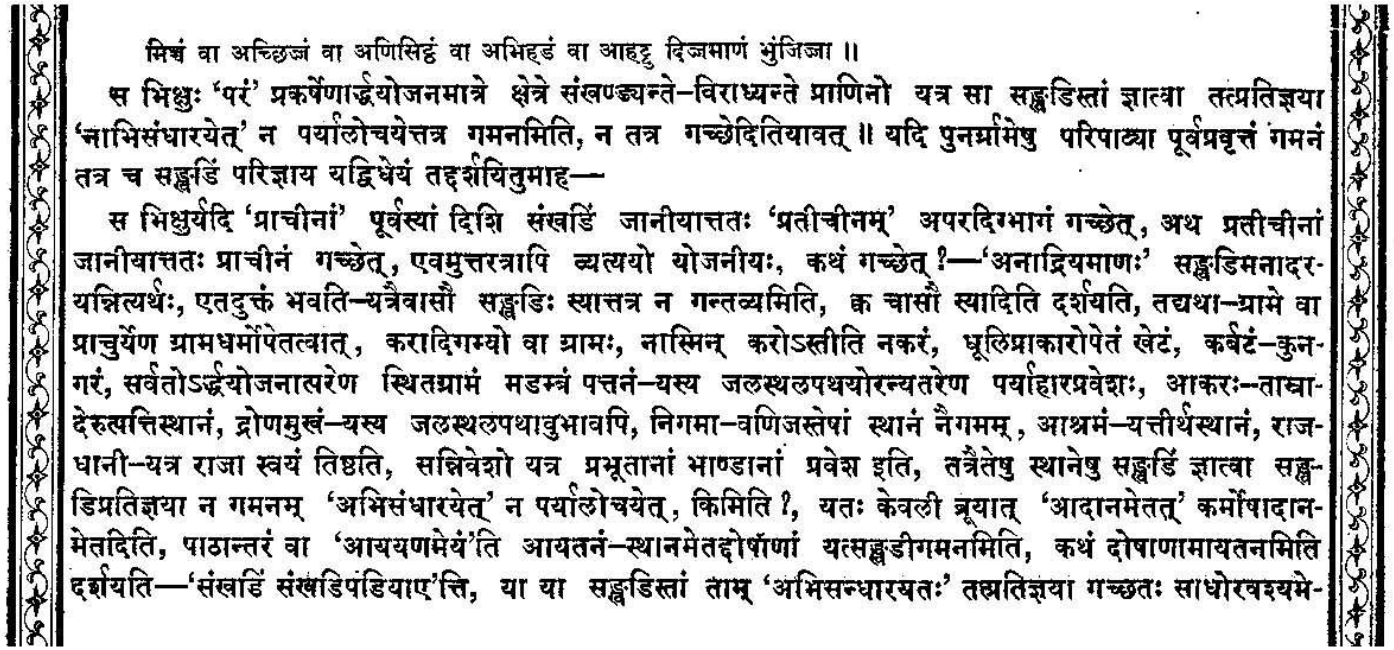
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्स्मै दीयत इति मन्यमानोऽपुरुषान्तरकृतादिविशेषणविशिष्टमाहारादिकं न गृह्णीयात्, अथापि सर्वस्मै न दीयते तथाऽपि जनाकीर्णमिति मन्यमान एवंभूते सङ्कडिविशेषे न प्रविशेदिति ॥ एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह—

अथ पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात्, तद्यथा–दत्तं यत्तेभ्यः श्रमणादिभ्यो दातव्यम्, 'अथ' अनन्तरं तत्र स्वत एव तान् गृहस्थान् भुञ्जानान् 'प्रेक्ष्य' दृष्ट्वाऽऽहारार्थी तत्र यायात्, तान् गृहस्थान् स्वनामग्राहमाह, तद्यथा–गृहपतिभार्यादिकं भुञ्जानं पूर्वमेव 'आलोकयेत्' पश्येत् प्रभुं प्रभुसंदिष्टं वा ब्रूयात्, तद्यथा–आयुष्मति! भगिनि! इत्यादि, दास्यसि मह्यमन्यतरद्भोजनजातमिति, एवं वदते साधवे परो–गृहस्थ आहृत्याशनादिकं दद्यात्, तत्र च जनसङ्कुलत्वात्सति वाऽन्यस्मिन् कारणे स्वत एव साधुर्याचेत्, अयाचितो वा गृहस्थो दद्यात्, तत्प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृहीयादिति ॥ अन्यग्रामचिन्तामधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ परं अद्धजोयणमेराए संखडिं नच्चा संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भिक्खू वा २ पाईणं संखडिं नच्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे, पडीणं संखडिं नच्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे, दाहिणं संखडिं नच्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे, उईणं संखडिं नच्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे, जत्थेव सा संखडि सिया, तंजहा—गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा नेगमंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा जाव रायहाणिंसि वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, केवली बूया—आयाणमेयं संखडिं संखडिपडियाए अभिधारेमाणे आहाकम्मियं वा उद्देसियं वा मीसजायं वा कीयगडं वा पा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



मिश्रं वा अच्छिज्जं वा अणिसिट्ठं वा अभिहडं वा आहट्टु दिज्जमाणं भुंजिज्जा ॥

स भिक्षुः 'परं' प्रकर्षेणार्द्धयोजनमात्रे क्षेत्रे संखण्ड्यन्ते–विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा सङ्खडिस्तां ज्ञात्वा तत्प्रतिज्ञया 'नाभिसंधारयेत्' न पर्यालोचयेत्तत्र गमनमिति, न तत्र गच्छेदितियावत् ॥ यदि पुनर्ग्रामेषु परिपाट्या पूर्वप्रवृत्तं गमनं तत्र च सङ्खडिं परिज्ञाय यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

स भिक्षुर्यदि 'प्राचीनां' पूर्वस्यां दिशि संखडिं जानीयात्ततः 'प्रतीचीनम्' अपरदिग्भागं गच्छेत्, अथ प्रतीचीनां जानीयात्ततः प्राचीनं गच्छेत्, एवमुत्तरत्रापि व्यत्ययो योजनीयः, कथं गच्छेत् ?—'अनाद्रियमाणः' सङ्खडिमनादरयन्नित्यर्थः, एतदुक्तं भवति–यत्रैवासौ सङ्खडिः स्यात्तत्र न गन्तव्यमिति, क्व चासौ स्यादिति दर्शयति, तद्यथा–ग्रामे वा प्रायुर्येण ग्रामधर्मोपेतत्वात्, करादिगम्यो वा ग्रामः, नास्मिन् करोऽस्तीति नकरं, धूलिप्राकारोपेतं खेटं, कर्वटं–कुनगरं, सर्वतोऽर्द्धयोजनात्परेण स्थितग्रामं मडम्बं पत्तनं–यस्य जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशः, आकरः–ताम्रादेरुत्पत्तिस्थानं, द्रोणमुखं–यस्य जलस्थलपथावुभावपि, निगमा–वणिजस्तेषां स्थानं नैगमम्, आश्रमं–यत्तीर्थस्थानं, राजधानी–यत्र राजा स्वयं तिष्ठति, सन्निवेशो यत्र प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेश इति, तत्रैतेषु स्थानेषु सङ्खडिं ज्ञात्वा सङ्खडिप्रतिज्ञया न गमनम् 'अभिसंधारयेत्' न पर्यालोचयेत्, किमिति ?, यतः केवली ब्रूयात् 'आदानमेतत्' कर्मोपादानमेतदिति, पाठान्तरं वा 'आययणमेयं'ति आयतनं–स्थानमेतद्दोषाणां यत्सङ्खडीगमनमिति, कथं दोषाणामायतनमिति दर्शयति—'संखडिं संखडिपडियाए'त्ति, या या सङ्खडिस्तां ताम् 'अभिसन्धारयतः' तत्प्रतिज्ञया गच्छतः साधोरवश्यमे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेषां मध्येऽन्यतमो दोषः स्यात्, तद्यथा–आधाकर्म वा औद्देशिकं वा मिश्रजातं वा क्रीतकृतं वा उद्यतकं वा आच्छेद्यं वा अनिसृष्टम (ष्टं वाऽ)भ्याहृतमि(तं वेति,) एतेषां दोषाणामन्यतमदोषदुष्टं भुञ्जीत, स हि प्रकरणकर्त्तैवमभिसंधारयेत्–यथाऽयं यतिर्मत्प्रकरणमुद्दिश्येहायातः, तदस्य मया येन केनचित्प्रकारेण देयमित्यभिसन्धायाधाकर्मादि विदध्यादिति, यदिवा यो हि लोलुपतया सङ्खडिप्रतिज्ञया गच्छेत् स तत एवाधाकर्माद्यपि भुञ्जीतेति ॥ किञ्च–सङ्खडिनिमित्तमागच्छतः साधूनुद्दिश्य गृहस्थ एवंभूता वसतीः कुर्यादित्याह—

अस्संजए भिक्खुपडियाए खुड्डियदुवारियाओ महल्लियदुवारियाओ कुज्जा, महल्लियदुवारियाओ खुड्डियदुवारियाओ कुज्जा, समाओ सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा, पवायाओ सिज्जाओ निवायाओ कुज्जा, निवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा बहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय छिंदिय दालिय दालिय संथारगं संथारिज्जा, एस विलुंगयामो सिज्जाए, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स जाव सया जए (सू० १३) त्तिबेमि ॥ पिण्डैषणाध्ययने द्वितीयः १–१–२

'असंयतः' गृहस्थः स च श्रावकः प्रकृतिभद्रको वा स्यात्, तत्रासौ साधुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वाराः–सङ्कटद्वाराः सत्यस्ता महाद्वाराः कुर्यात्, व्यत्ययं वा कार्यापेक्षया कुर्यात्, तथा समाः शय्या–वसतयो विषमाः सागारिकापातभयात् कुर्यात्, साधुसमाधानार्थं वा व्यत्ययं कुर्यात्, तथा प्रवाताः शय्याः शीतभयान्निवाताः कुर्यात्, ग्रीष्मकालापेक्षया वा व्यत्ययं विदध्यादिति, तथाऽन्तः–मध्ये उपाश्रयस्य बहिर्वा हरितानि छित्त्वा छित्त्वा विदार्य विदार्य उपाश्रयं संस्कुर्यात्, संस्ता-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रकं वा संस्तारयेत्, गृहस्थश्चानेनाभिसन्धानेन संस्कुर्याद्–यथैषः–साधुः शय्यायाः संस्कारे विधातव्ये 'विलुंगयामो'त्ति निर्ग्रन्थः अकिञ्चन इत्यतः स गृहस्थः कारणे संयतो वा स्वयमेव संस्कारयेदित्युपसंहरति–तस्मात् 'तथाप्रकाराम्' अनेकदोषदुष्टां सङ्खडिं विज्ञाय सा पुरःसङ्खडिः पश्चात्सङ्खडिर्वा भवेत्, जातनामकरणविवाहादिका पुरःसङ्खडिः तथा मृतकसङ्खडिः पश्चात्सङ्खडिरिति, यदिवा पुरः–अग्रतः सङ्खडिर्भविष्यति अतोऽनागतमेव यायात्, वसतिं वा गृहस्थः संस्कुर्यात्, वृत्ता वा सङ्खडिरतोऽत्र तच्छेषोपभोगाय साधवः समागच्छेयुरिति, सर्वथा सर्वां सङ्खडिं सङ्खडिप्रतिज्ञया 'नोऽभिसंधारयेत्' न पर्यालोचयेद्गमनक्रियामिति, एवं तस्य भिक्षोः सामग्र्यं–सम्पूर्णता भिक्षुभावस्य यत्सर्वथा सङ्खडिवर्जनमिति ॥ प्रथमस्य द्वितीयः समाप्तः ॥

उक्तो द्वितीयः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके दोषसंभवात्सङ्खडिगमनं निषिद्धं, प्रकारान्तरेणापि तद्गतानेव दोषानाह—

से एगइओ अन्नयरं संखडिं आसित्ता पिबित्ता छड्डिज्ज वा वमिज्ज वा भुत्ते वा से नो सम्मं परिणमिज्जा अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जिज्जा केवली बूया आयाणमेयं ॥ (सू० १४) इह खलु भिक्खू गाहावईहिं वा गाहावईणीहिं वा परिवायएहिं वा परिवाईयाहिं वा एगज्जं सद्धिं सुंडं पाउं भो वइमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहेमाणो नो लभिज्जा तमेव उवस्सयं संमिस्सीभावमावज्जिज्जा, अन्नमणे वा से मत्ते विप्परियासियभूए इत्थिविग्गहे वा किलीबे वा तं भिक्खुं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकायाः प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", तृतीय-उद्देशकः आरब्धः

उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो समणा! अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा राओ वा वियाले वा गामधम्मनियंतियं कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपरियारणाए आउट्टामो, तं चेवेगईओ सातिजिज्जा—अकरणिज्जं चेयं संखाए एए आयाणा (आयतणाणि) संति संविज्जमाणा पच्चवाया भवंति, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ (सू० १५)

स भिक्षुः 'एकदा' कदाचिद् एकचरो वा 'अन्यतरां' काञ्चित्पुरःसङ्खडिं पश्चात्सङ्खडिं वा 'सङ्खडि'मिति सङ्खडिभक्तम् 'आस्वाद्य' भुक्त्वा तथा पीत्वा शिखरिणीदुग्धादि, तच्चातिलोलुपतया रसगृद्ध्याऽऽहारितं सत् 'छड्डेज्ज वा' छर्दिं विदध्यात्, कदाचिच्चापरिणतं सद्विशूचिकां कुर्यात्, अन्यतरो वा रोगः–कुष्ठादिकः आतङ्कस्त्वाशुजीवितापहारी शूलादिकः समुत्पद्येत, केवली–सर्वज्ञो ब्रूयात्, यथा 'एतत्' सङ्खडीभक्तम् 'आदानं' कर्मोपादानं वर्त्तत इति । यथैतदादानं भवति तथा दर्शयति—'इहे'ति सङ्खडिस्थानेऽस्मिन् वा भवेऽमी अपायाः आमुष्मिकास्तु दुर्गतिगमनादयः, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, भिक्षणशीलो भिक्षुः स गृहपतिभिस्तद्भार्याभिर्वा परिव्राजकैः परिव्राजिकाभिर्वा सार्द्धमेकद्यम्–एकवाक्यतया संप्रधार्य 'भो' इत्यामन्त्रणे एतानामन्य चैतदर्शयति–सङ्खडिगतस्य लोलुपतया सर्वं संभाव्यत इत्यतस्तैर्व्यतिमिश्रं 'सोंडं'ति सीधुमन्यद्वा प्रसन्नादिकं 'पातुं' पीत्वा ततः 'हुरत्था वा' बहिर्वा निर्गत्योपाश्रयं याचेत, यदा च प्रत्युपेक्षमाणो विवक्षितमुपाश्रयं न लभेत ततस्तमेवोपाश्रयं यत्रासौ सङ्खडिस्तत्रान्यत्र वा गृहस्थपरिव्राजिकादिभिर्मिश्रीभावमापद्येत, तत्र चासावन्यमना मत्तो गृहस्थादिको विपर्यासीभूत आत्मानं न स्मरति, स वा भिक्षुरात्मानं न स्मरेत्,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अस्मरणाच्चैवं चिन्तयेद्–यथाऽहं गृहस्थ एव, यदिवा–स्त्रीविग्रहे शरीरे 'विपर्यासीभूतः' अध्युपपन्नः 'क्लीबे वा' नपुंसके वा, सा च स्त्री नपुंसको वा, तं भिक्षुम् 'उपसङ्क्रम्य' आसन्नीभूय ब्रूयात्, तद्यथा–आयुष्मन्! श्रमण! त्वया सहैकान्तमहं प्रार्थयामि, तद्यथा–आरामे वोपाश्रये वा कालतश्च रात्रौ वा विकाले वा, तं भिक्षुं ग्रामधर्मैः–विषयोपभोगगतैर्व्यापारैर्नियन्त्रितं कृत्वा, तद्यथा–मम त्वया विप्रियं न विधेयं, प्रत्यहमहमनुसर्पणीयेति, एवमादिभिर्नियम्य ग्रामासन्ने वा कुत्रचिद्रहसि मिथुनं–दाम्पत्यं तत्र भवं मैथुनम्–अब्रह्मेति तस्य धर्माः–तद्गता व्यापारास्तेषां परियारणा–आसेवना तया 'आउट्टामो'त्ति प्रवर्त्तामहे, इदमुक्तं भवति–साधुमुद्दिश्य रहसि मैथुनप्रार्थनां काचित्कुर्यात्, तां चैकः कश्चिदेकाकी वा 'साइज्जेज्ज'त्ति अभ्युपगच्छेत्, अकरणीयमेतद् एवं 'सङ्गाय' ज्ञात्वा सङ्गडिगमनं न कुर्याद्, यस्मादेतानि 'आयतनानि' कर्मोपादानकारणानि 'सन्ति' भवन्ति 'संचीयमानानि' प्रतिक्षणमुपचीयमानानि, इदमुक्तं भवति–अन्यान्यपि कर्मोपादानकारणानि भवेयुः, यत एवमादिकाः प्रत्यपाया भवन्ति तस्मादसौ संयतो निर्ग्रन्थस्तथाप्रकारां सङ्गडिं पुरःसङ्गडिं पश्चात्सङ्गडिं वा सङ्गडिं ज्ञात्वा सङ्गडिप्रतिज्ञया 'नाभिसंधारयेद् गमनाय' गन्तुं न पर्यालोचयेदित्यर्थः ॥ तथा—

से भिक्खू वा २ अन्नयरिं संखडिं सुच्चा निसम्म संपहावइ उस्सुयभूएण अप्पाणेणं, धुवा संखडी, नो संचाएइ तत्थ इयरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गाहित्ता आहारं आहारित्तए, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा ॥ से तत्थ कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारिज्जा ॥ (सू. १६)

आ. सू. ५६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भिक्षुरन्यतरां पुरःसङ्खडिं पश्चात्सङ्खडिं वा श्रुत्वाऽन्यतः स्वतो वा 'निशम्य' निश्चित्य कुतश्चिद्धेतोस्ततस्तदभिमुखं संप्रधावत्युत्सुकभूतेनात्मना–यथा ममात्र भविष्यत्यद्भुतभूतं भोज्यं, यतस्तत्र 'ध्रुवा' निश्चिता सङ्खडिरस्ति, 'नो संचाए-इ'त्ति न शक्नोति 'तत्र' सङ्खडिग्रामे इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सङ्खडिरहितेभ्यः 'सामुयाणियं'ति भैक्षं, किम्भूतम् ?—'एषणी-यम्' आधाकर्मादिदोषरहितं 'वेसियं'ति केवलरजोहरणादिवेषालब्धमुत्पादनादिदोषरहितम्, एवंभूतं पिण्डपातम्–आहारं परिगृह्याभ्यवहर्त्तुं न शक्नोतीति सम्बन्धः, तत्र चासौ मातृस्थानं संस्पृशेत्, तस्य मातृस्थानं संभाव्येत, कथं ?–यद्यपी-तरकुलाहारप्रतिज्ञया गतो, न चासौ तमभ्यवहर्तुमलं पूर्वोक्तया नीत्या, ततोऽसौ सङ्खडिमेव गच्छेत्, एवं च मातृस्थानं तस्य संभाव्येत, तस्मान्नैवं कुर्याद्–ऐहिकामुष्मिकापायभयात् सङ्खडिग्रामगमनं न विदध्यादिति ॥ यथा च कुर्यात्तथाऽऽह—'सः' भिक्षुः 'तत्र' सङ्खडिनिवेशे कालेनानुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यो गृहेभ्यः उग्रकुलादिभ्यः 'सामुदानिकं' समुदानं–भिक्षा तत्र भवं सामुदानिकम् 'एषणीयं' प्रासुकं 'वैषिकं' केवलवेषावाप्तं धात्रीपिण्डादिरहितं पिण्डपातं प्रतिगृह्याहारमाहारये-दिति ॥ पुनरपि सङ्खडिविशेषमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा संख-डी सिया तंपि य गामं वा जाव रायहाणिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ केवली बूया आयाणमेयं आइन्नाऽवमा णं संखडिं अणुपविस्समाणस्स—पाएण वा पाए अक्कंतपुव्वे भवइ, हत्थेण वा हत्थे संचालि-यपुव्वे भवेइ, पाएण वा पाए आवडियपुव्वे भवइ, सीसेण वा सीसे संघट्टियपुव्वे भवइ, काएण वा काए संखोभियपुव्वे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवइ, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा अभिहयपुव्वेण वा भवइ, सीओदएण वा उस्सित्तपुव्वे भवइ, रयसा वा परिघासियपुव्वे भवइ, अणेसणिज्जे वा परिभुत्तपुव्वे भवइ, अन्नेसिं वा दिज्जमाणे पडिग्गाहियपुव्वे भवइ, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं आइन्नावमा णं संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ (सू. १७)

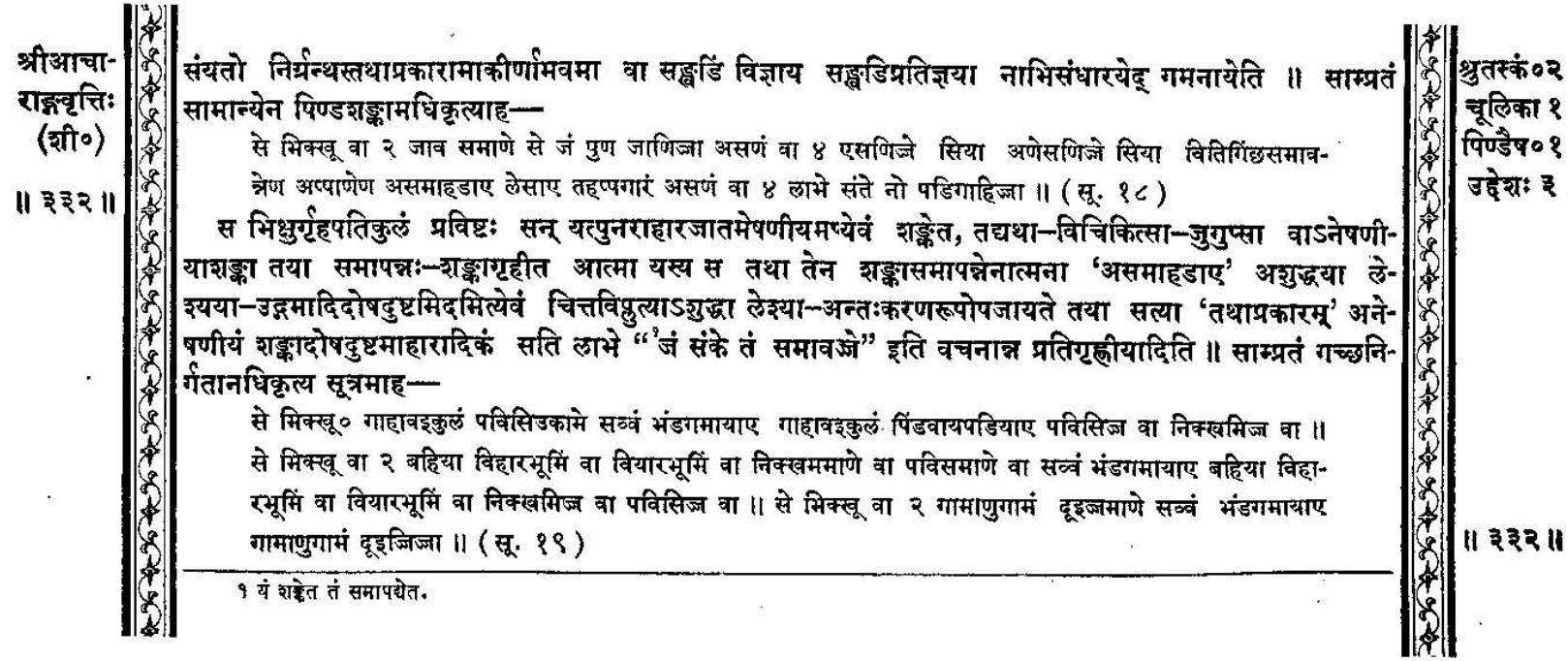
स भिक्षुर्यदि पुनरेवंभूतं ग्रामादिकं जानीयात्, तद्यथा–ग्रामे वा नगरे वा यावद्राजधान्यां वा सङ्कडिर्भविष्यति, तत्र च चरकादयोऽपरे वा भिक्षाचराः स्युरतस्तदपि ग्रामादिकं सङ्कडिप्रतिज्ञया 'नाभिसन्धारयेद्गमनाय' न तत्र गमनं कुर्यादित्यर्थः॥ तद्गतांश्च दोषान् सूत्रेणैवाह—केवली ब्रूयाद् यथैतदादानं–कर्मोपादानं वर्त्तत इति दर्शयति–सा च सङ्कडिः आकीर्णा वा भवेत्–चरकादिभिः सङ्कुला 'अवमा'हीना शतस्योपस्कृते पञ्चशतोपस्थानादिति, तां चाकीर्णामवमां चानुप्रविशतोऽमी दोषाः, तद्यथा–पादेनापरस्य पाद आक्रान्तो भवेत्, हस्तेन वा हस्तः संचालितो भवेत्, 'पात्रेण वा' भाजनेन वा 'पात्रं' भाजनमापतितपूर्वं भवेत्, शिरसा वा शिरः सङ्घट्टितं भवेत्, कायेनापरस्य–चरकादेः कायः सङ्क्षोभितपूर्वो भवेदिति, स च चरकादिरारुषितः कलहं कुर्यात्, कुपितेन च तेन दण्डेनास्था वा मुष्टिना वा लोष्टेन वा कपालेन वा साधुरभिहतपूर्वो भवेत्, तथा शीतोदकेन वा कश्चित्सिञ्चेत्, रजसा वा परिधर्षितो भवेत्। एते तावत्सङ्कीर्णदोषाः, अवमदोषाश्चामी–अनेषणीयपरिभोगो भवेत्, स्तोकस्य संस्कृतत्वात्प्रभूतत्वाच्चार्थिनां, प्रकरणकारस्यायमाशयः स्याद्–यथा मत्प्रकरणमुद्दिश्यैते समायातास्तत एतेभ्यो मया यथाकथञ्चिद्देयमित्यभिसन्धिनाऽऽधाकर्माद्यपि कुर्याद्, अतोऽनेषणीयपरिभोगः स्यादिति, कदाचिद्वा दात्राऽन्यस्मै दातुमभिवाञ्छितं, तच्चान्यस्मै दीयमानमन्तराले साधुर्गृह्णीयात्, तस्मादेतान् दोषानभिसंप्रधार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१७]

दीप अनुक्रम [३५१]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ ३३२ ॥

संयतो निर्ग्रन्थस्तथाप्रकारामाकीर्णामवमा वा सङ्खडिं विज्ञाय सङ्खडिप्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् गमनायेति ॥ साम्प्रतं सामान्येन पिण्डशङ्कामधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्जा असणं वा ४ एसणिज्जे सिया अणेसणिज्जे सिया वितिगिंछसमावन्नेण अप्पाणेण असमाहडाए लेसाए तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥ (सू. १८)

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनराहारजातमेषणीयमप्येवं शङ्केत, तद्यथा—विचिकित्सा—जुगुप्सा वाऽनेषणीयाशङ्का तया समापन्नः—शङ्कागृहीत आत्मा यस्य स तथा तेन शङ्कासमापन्नेनात्मना 'असमाहडाए' अशुद्धया लेश्यया—उद्गमादिदोषदुष्टमिदमित्येवं चित्तविप्लुत्याऽशुद्धा लेश्या—अन्तःकरणरूपोपजायते तया सत्या 'तथाप्रकारम्' अनेषणीयं शङ्कादोषदुष्टमाहारादिकं सति लाभे "'जं संके तं समावज्जे" इति वचनान्न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ साम्प्रतं गच्छनिर्गतानधिकृत्य सूत्रमाह—

से भिक्खू० गाहावइकुलं पविसिउकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा ॥ से भिक्खू वा २ बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा ॥ से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ (सू. १९)

१ यं शङ्केत तं समापद्येत.

श्रुतस्कं०२ चूलिका १ पिण्डैष०१ उद्देशः ३

॥ ३३२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भिक्षुर्गच्छनिर्गतो जिनकल्पिकादिर्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः 'सर्वं' निरवशेषं 'भण्डकं' धर्मोपकरणम् 'आदाय' गृहीत्वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेद्वा ततो निष्कामेद्वा । तस्य चोपकरणमनेकधेति, तद्यथा—"दुग तिग चउक्क पंचग नव दस एक्कारसेव बारसहे"त्यादि । तत्र जिनकल्पिको द्विविधः–छिद्रपाणिरच्छिद्रपाणिश्च, तत्राच्छिद्रपाणेः शक्त्यनुरूपाभिग्रहविशेषाद् द्विविधमुपकरणं, तद्यथा–रजोहरणं मुखवस्त्रिका च, कस्यचित्त्वक्त्राणार्थं क्षौमपटपरिग्रहात्त्रिविधम्, अपरस्योदकबिन्दुपरितापादिरक्षणार्थमौर्णिकपटपरिग्रहाच्चतुर्द्धा, तथाऽसहिष्णुतरस्य द्वितीयक्षौमपटपरिग्रहात्पञ्चधेति । छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकादिग्रहणक्रमेण यथायोगं नवविधो दशविध एकादशविधो द्वादशविधश्चोपधिर्भवति, पात्रनिर्योगश्च—"पत्तं १ पत्ताबंधो २ पायट्ठवणं ३ च पायकेसरिया ४ । पडलाइ ५ रयत्ताणं ६ च गोच्छओ ७ पायनिज्जोगो ॥ १ ॥" अन्यत्रापि गच्छता सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गन्तव्यमित्याह–स भिक्षुर्ग्रामादेर्बहिर्विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं वा तथा 'विचारभूमिं' विष्ठोत्सर्गभूमिं सर्वमुपकरणमादाय प्रविशेन्निष्क्रामेद्वा, एतद्वितीयं, एवं ग्रामान्तरेऽपि तृतीयं सूत्रम् ॥ साम्प्रतं गमनाभावे निमित्तमाह—

से भिक्खू० अह पुण एवं जाणिज्जा—तिव्वदेसियं वासं वासेमाणं पेहाए तिव्वदेसियं महियं संनिचयमाणं पेहाए महावाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए तिरिच्छसंपाइमा वा तसा पाणा संथडा संनिचयमाणा पेहाए से एवं नच्चा नो सव्वं भंडग-

१ पात्रं पात्रबन्धः पात्रस्थापनं च पात्रकेशरिका । पटलानि रजस्त्राणं च गोच्छकः पात्रनिर्योगः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२०]

दीप अनुक्रम [३५४]

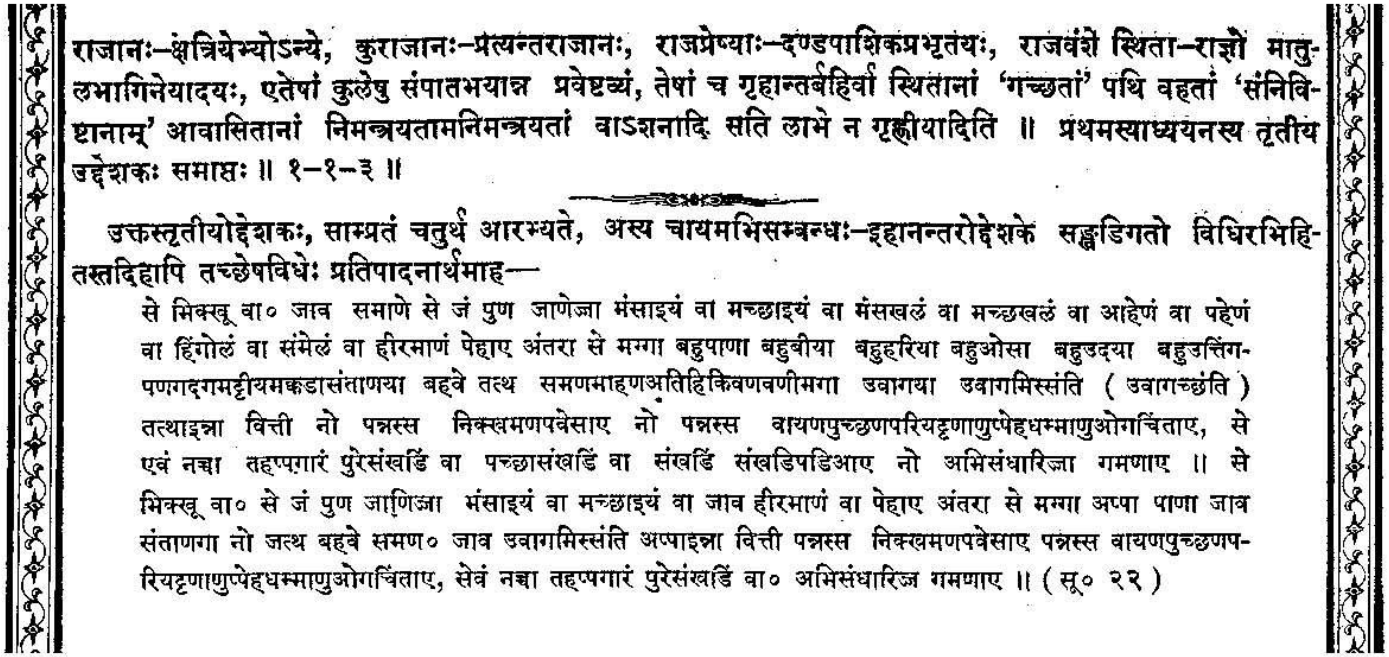
मायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ (सू० २०)

स भिक्षुरथ पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा–तीव्रं–बृहद्द्वारोपेतं देशिकं–बृहत्क्षेत्रव्यापि तीव्रं च तद्देशिकं चेति समासः, बृहद्द्वारं महति क्षेत्रे वर्षन्तं प्रेक्ष्य, तथा तीव्रदेशिकां–महति देशेऽन्धकारोपेतां 'महिकां वा' धूमिकां संनिपतन्तीं 'प्रेक्ष्य' उपलभ्य, तथा महावातेन वा समुद्भूतं रजः प्रेक्ष्य तिरश्चीनं वा संनिपततो–गच्छतः 'प्राणिनः' पतङ्गादीन् 'संस्कृ(स्तृ)तान्' घनान् प्रेक्ष्य स भिक्षुरेवं ज्ञात्वा गृहपतिकुलादौ सूत्रत्रयोद्दिष्टं सर्वमादाय न गच्छेन्नापि निष्क्रामेद्वेति, इदमुक्तं भवति–सामाचार्येवैषा यथा गच्छता साधुना गच्छनिर्गतेन तदन्तर्गतेन वा उपयोगो दातव्यः, तत्र यदि वर्षमहिकादिकं जानीयात्ततो जिनकल्पिको न गच्छत्येव, यतस्तस्य शक्तिरेषा यया षण्मासं यावत्पुरीषोत्सर्गनिषे(रो)धं विदध्यात्, इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत् न सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गच्छेदिति तात्पर्यार्थः ॥ अधस्ताज्जुगुप्सितेषु दोषदर्शनात्प्रवेशप्रतिषेध उक्तः, साम्प्रतमजुगुप्सितेष्वपि केषुचिद्दोषदर्शनात्प्रवेशप्रतिषेधं दर्शयितुमाह—

से भिक्खू वा २ से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा तंजहा—खत्तियाण वा राईण वा कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसट्ठियाण वा अंतो वा बाहिं वा गच्छंताण वा संनिविट्ठाण वा निमंतेमाणाण वा अनिमंतेमाणाण वा असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिज्जा (सू० २१)॥ १–१–३ ॥ पिण्डैषणायां तृतीय उद्देशकः ॥

स भिक्षुर्यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात्, तद्यथा–क्षत्रियाः–चक्रवर्त्तिवासुदेवबलदेवप्रभृतयस्तेषां कुलानि,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



राजानः–क्षत्रियेभ्योऽन्ये, कुराजानः–प्रत्यन्तराजानः, राजप्रेष्याः–दण्डपाशिकप्रभृतयः, राजवंशे स्थिता–राज्ञो मातुलभागिनेयादयः, एतेषां कुलेषु संपातभयान्न प्रवेष्टव्यं, तेषां च गृहान्तर्बहिर्वा स्थितानां 'गच्छतां' पथि वहतां 'संनिविष्टानाम्' आवासितानां निमन्त्रयतामनिमन्त्रयतां वाऽशनादि सति लाभे न गृह्णीयादिति ॥ प्रथमस्याध्ययनस्य तृतीय उद्देशकः समाप्तः ॥ १–१–३ ॥

उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके सङ्कडिगतो विधिरभिहितस्तदिहापि तच्छेषविधेः प्रतिपादनार्थमाह—

से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिंगपणगदगमट्टीयमक्कडासंताणया बहवे तत्थ समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा उवागया उवागमिस्संति (उवागच्छंति) तत्थाइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए नो पन्नस्स वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, से एवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडिआए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा जाव हीरमाणं वा पेहाए अंतरा से मग्गा अप्पा पाणा जाव संताणगा नो जत्थ बहवे समण० जाव उवागमिस्संति अप्पाइन्ना वित्ती पन्नस्स निक्खमणपवेसाए पन्नस्स वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्पेहधम्माणुओगचिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा० अभिसंधारिज्ज गमणाए ॥ (सू० २२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकायाः प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", चतुर्थ-उद्देशकः आरब्धः

स भिक्षुः क्वचिद्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यद्येवंभूता सङ्खडिं जानीयात् तत्प्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् गमनायेत्यन्ते क्रिया, यादृग्भूतां च सङ्खडिं न गन्तव्यं तां दर्शयति–मांसमादौ प्रधानं यस्यां सा मांसादिका तामिति, इदमुक्तं भवति–मांसनिवृत्तिं कर्तुकामाः पूर्णायां वा निवृत्तौ मांसप्रचुरां सङ्खडिं कुर्युः, तत्र कश्चित्स्वजनादिस्तदनुरूपमेव किञ्चिन्नयेत्, तच्च नीयमानं दृष्ट्वा न तत्र गन्तव्यं, तत्र दोषान् वक्ष्यतीति, तथा मत्स्या आदौ प्रधानं यस्यां सा तथा, एवं मांसखलमिति, यत्र सङ्खडिनिमित्तं मांसं छित्त्वा छित्त्वा शोष्यते शुष्कं वा पुञ्जीकृतमास्ते तत्तथा, क्रिया पूर्ववत्, एवं मत्स्यखलमपीति, तथा 'आहेणं'ति यद्विवाहोत्तरकालं वधूप्रवेशे वरगृहे भोजनं क्रियते, 'पहेणं'ति वध्वा नीयमानाया यत्पितृगृहभोजनमिति, 'हिंगोलं'ति मृतकभक्तं यक्षादियात्राभोजनं वा, 'संमेलं'ति परिजनसन्मानभक्तं गोष्ठीभक्तं वा, तदेवंभूतां सङ्खडिं ज्ञात्वा तत्र च केनचित्स्वजनादिना तन्निमित्तमेव किञ्चिद् 'ह्रियमाणं' नीयमानं प्रेक्ष्य तत्र भिक्षार्थं न गच्छेद्, यतस्तत्र गच्छतो गतस्य च दोषाः संभवन्ति, तांश्च दर्शयति–गच्छतस्तावदन्तरा–अन्तराले 'तस्य' भिक्षोः 'मार्गाः' पन्थानो बहवः प्राणाः–प्राणिनः–पतङ्गादयो येषु ते तथा, तथा बहुबीजा बहुहरिता बह्ववश्याया बहूदका बहूत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानकाः, प्राज्ञस्य च तत्र सङ्खडिस्थाने बहवः श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमगा उपागता उपागमिष्यन्ति तथोपागच्छन्ति च, तत्राकीर्णा चरकादिभिः 'वृत्तिः' वर्त्तनम् अतो न तत्र प्राज्ञस्य निष्क्रमणप्रवेशाय वृत्तिः कल्पते, नापि प्राज्ञस्य वाचनाप्रच्छनापरिवर्त्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मानुयोगचिन्तायै वृत्तिः कल्पते, न तत्र जनाकीर्णे गीतवादित्रसम्भवात् स्वाध्यायादिक्रियाः प्रवर्त्तन्त इति भावः, स भिक्षुरेवं गच्छगतापेक्षया बहुदोषां तथाप्रकारां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मांसप्रधानादिकां पुरःसङ्कडिं पश्चात्सङ्कडिं वा ज्ञात्वा तत्प्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनायेति ॥ साम्प्रतमपवादमाह —स भिक्षुरध्वानक्षीणो ग्लानोत्थितस्तपश्चरणकर्षितो वाऽवमौदर्यं वा प्रेक्ष्य दुर्लभद्रव्यार्थी वा स यदि पुनरेवं जानीयात्–मांसादिकमित्यादि पूर्ववदालापका यावदन्तरा–अन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छतो मार्गा अल्पप्राणा अल्पबीजा अल्पहरिता इत्यादि व्यत्ययेन पूर्ववदालापकः, तदेवमल्पदोषां सङ्कडिं ज्ञात्वा मांसादिदोषपरिहरणसमर्थः सति कारणे तत्प्रतिज्ञयाऽभिसंधारयेद्गमनायेति ॥ पिण्डाधिकारेऽनुवर्त्तमाने भिक्षागोचरविशेषमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ जाव पविसिउकामे से जं पुण जाणिज्जा खीरिणियाओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा ४ उवसंखडिज्जमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं नच्चा नो गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा ॥ से तमादाय एगंतमवक्कमिज्जा अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा–खीरिणियाओ गावीओ खीरियाओ पेहाए असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाए पुराए जूहिए सेवं नच्चा तओ संजयामेव गाहा० निक्खमिज्ज वा ॥ (सू० २३)

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सन्नथ पुनरेवं विजानीयाद्, यथा क्षीरिण्यो गावोऽत्र दुह्यन्ते, ताश्च दुह्यमानाः प्रेक्ष्य तथाऽशनादिकं चतुर्विधमप्याहारमुपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य तथा 'अप्पजूहिए'त्ति सिद्धेऽप्योदनादिके 'पुरा' पूर्वमन्येषामदत्ते सति प्रवर्त्तमानाधिकरणापेक्षी पूर्वत्र च प्रकृतिभद्रकादिः कश्चिद्यतिं दृष्ट्वा श्रद्धावान् बहुतरं दुग्धं ददामीति वत्सकपीडां कुर्यात् त्रसेयुर्वा दुह्यमाना गावस्तत्र संयमात्मविराधना, अर्द्धपक्वौदने च पाकार्थं त्वरयाऽधिकं यत्नं कुर्यात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ततः संयमविराधनेति, तदेवं ज्ञात्वा स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेदिति ॥ यच्च कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह—

'सः' भिक्षुः 'तम्' अर्थं गोदोहनादिकम् 'आदाय' गृहीत्वाऽवगम्येत्यर्थः, तत एकान्तमपक्रामेद्, अपक्रम्य च गृहस्थानामनापातेऽसंलोके च तिष्ठेत्, तत्र तिष्ठन्नथ पुनरेवं जानीयाद् यथा क्षीरिण्यो गावो दुग्धा इत्यादि पूर्वव्यत्ययेनालापका नेया यावन्निष्क्रामेत्प्रविशेद्वेति ॥ पिण्डाधिकार एवेदमाह—

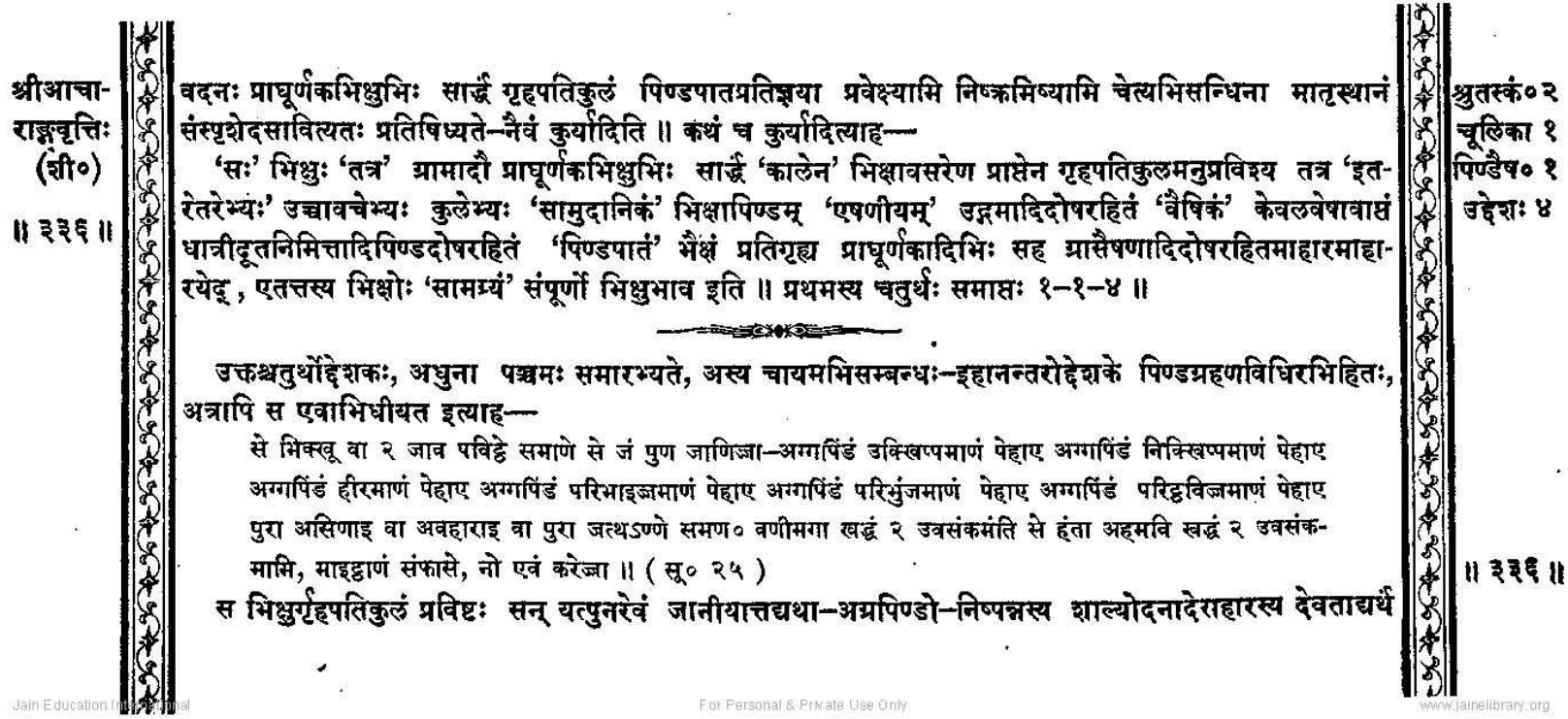
भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु—समाणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे खुड्डाए खलु अयं गामे संनिरुद्धाए नो महालए से हंता भयंतारो बाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह, संति तत्थेगइयस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा—गाहावई वा गाहावइणीओ वा गाहावइपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुण्हाओ वा धाइओ वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा, तहप्पगाराइं कुलाइं पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसिस्सामि, अविय इत्थ लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दहिं वा नवणीयं वा घयं वा गुलं वा तिलं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा सक्कुलिं वा फाणियं वा पूयं वा सिहिरिणिं वा, तं पुव्वामेव भुच्चा पिच्चा पडिग्गहं च संलिहिय संमज्जिय तओ पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहा० पविसिस्सामि वा निक्खमिस्सामि वा, माइट्ठाणं संफासे, तं नो एवं करिज्जा ॥ से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारिजा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं० (सू० २४) ॥
१–१–४ ॥ पिण्डैषणायां चतुर्थ उद्देशकः ॥

भिक्षणशीला भिक्षुका नामैके साधवः केचनैवमुक्तवन्तः, किम्भूतास्ते इत्याह—'समानाः' इति जङ्घाबलपरिक्षीणतयैकस्मिन्नेव क्षेत्रे तिष्ठन्तः, तथा 'वसमानाः' मासकल्पविहारिणः, त एवंभूताः प्राघूर्णकान् समायातान् ग्रामानुग्रामं दूयमानान्–गच्छत एवमूचुः–यथा क्षुल्लकोऽयं ग्रामोऽल्पगृहभिक्षादो वा, तथा संनिरुद्धः–सूतकादिना, नो महानिति पुनर्वचनमादरख्यापनार्थम्, अतिशयेन क्षुल्लक इत्यर्थः, ततो हन्त! इत्यामन्त्रणं, यूयं भवन्तः–पूज्या बहिर्ग्रामेषु भिक्षाचर्यार्थं व्रजतेत्येवं कुर्यात्, यदिवा तत्रैकस्य वास्तव्यस्य भिक्षोः 'पुरःसंस्तुताः' भ्रातृव्यादयः 'पश्चात्संस्तुताः' श्वशुरकुलसंबद्धाः परिवसन्ति, तान् स्वनामग्राहमाह, तद्यथा–गृहपतिर्वेत्यादि सुगमं यावत्तथाप्रकाराणि कुलानि पुरःपश्चात्संस्तुतानि पूर्वमेव भिक्षाकालादहमेतेषु भिक्षार्थं प्रवेक्ष्यामि, अपि चैतेषु स्वजनादिकुलेष्वभिप्रेतं लाभं लप्स्ये, तदेव दर्शयति—'पिण्डं' शाल्योदनादिकं 'लोयम्' इतीन्द्रियानुकूलं रसाद्युपेतमुच्यते, तथा क्षीरं वेत्यादि सुगमं यावत्सिहरिणीं वेति, नवरं मद्यमांसे छेदसूत्राभिप्रायेण व्याख्येये, अथवा कश्चिदतिप्रमादावष्टब्धोऽत्यन्तगृध्नुतया मधुमद्यमांसान्यप्याश्रयेदतस्तदुपादानं, 'फाणियं'ति उदकेन द्रवीकृतो गुडः क्वथितोऽक्वथितो वा शिखरिणी मार्जिता, तल्लब्धं पूर्वमेव भुक्त्वा पेयं च पीत्वा पतद्ग्रहं संलिह्य निरवयवं कृत्वा संमृज्य च वस्त्रादिनाऽऽर्द्रतामपनीय ततः पश्चादुपागते भिक्षाकालेऽविकृत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ ३३६ ॥

वदनः प्राघूर्णकभिक्षुभिः सार्द्धं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेक्ष्यामि निष्क्रमिष्यामि चेत्यभिसन्धिना मातृस्थानं संस्पृशेदसावित्यतः प्रतिषिध्यते–नैवं कुर्यादिति ॥ कथं च कुर्यादित्याह—

'सः' भिक्षुः 'तत्र' ग्रामादौ प्राघूर्णकभिक्षुभिः सार्द्धं 'कालेन' भिक्षावसरेण प्राप्तेन गृहपतिकुलमनुप्रविश्य तत्र 'इतरेतरेभ्यः' उच्चावचेभ्यः कुलेभ्यः 'सामुदानिकं' भिक्षापिण्डम् 'एषणीयम्' उद्गमादिदोषरहितं 'वैषिकं' केवलवेषावाप्तं धात्रीदूतनिमित्तादिपिण्डदोषरहितं 'पिण्डपातं' भैक्षं प्रतिगृह्य प्राघूर्णकादिभिः सह ग्रासैषणादिदोषरहितमाहारमाहारयेद् , एतत्तस्य भिक्षोः 'सामग्र्यं' संपूर्णो भिक्षुभाव इति ॥ प्रथमस्य चतुर्थः समाप्तः १–१–४ ॥

उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, अधुना पञ्चमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके पिण्डग्रहणविधिरभिहितः, अत्रापि स एवाभिधीयत इत्याह—

से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्जा–अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं निक्खिप्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं हीरमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभाइज्जमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभुंजमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिट्ठविज्जमाणं पेहाए पुरा असिणाइ वा अवहाराइ वा पुरा जत्थऽण्णे समण० वणीमगा खद्धं २ उवसंकमंति से हंता अहमवि खद्धं २ उवसंकमामि, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करेज्जा ॥ (सू० २५)

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयात्तद्यथा–अग्रपिण्डो–निष्पन्नस्य शाल्योदनादेराहारस्य देवतार्थं

श्रुतस्कं० २ चूलिका १ पिण्डैष० १ उद्देशः ४

॥ ३३६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", पंचम-उद्देशक: आरब्ध:

स्तोकस्तोकोद्धारस्तमुत्क्षिप्यमाणं दृष्ट्वा, तथाऽन्यत्र निक्षिप्यमाणं, तथा 'ह्रियमाणं' नीयमानं देवतायतनादौ, तथा 'परिभज्यमानं' विभज्यमानं स्तोकं स्तोकमन्येभ्यो दीयमानं, तथा परिभुज्यमानं, तथा परित्यज्यमानं–देवायतनाच्चतुर्दिक्षु क्षिप्यमाणं, तथा 'पुरा असिणाइ व'त्ति–'पुरा'पूर्वमन्ये श्रमणादयो येऽमुमग्रपिण्डमशितवन्तः, तथा पूर्वमपहृतवन्तो–व्यवस्थयाऽव्यवस्थया वा गृहीतवन्तः, तदभिप्रायेण पुनरपि पूर्वमिव वयमत्र लप्स्यामह इति यत्राग्रपिण्डादौ श्रमणादयः 'खद्धं खद्धं'ति त्वरितं त्वरितमुपसंक्रामन्ति, स भिक्षुरेतदपेक्ष्य कश्चिदेवं 'कुर्याद्' आलोचयेद्, यथा 'हन्त' इति वाक्योपन्यासार्थः अहमपि त्वरितमुपसंक्रमामि, एवं च कुर्वन् भिक्षुर्मातृस्थानं संस्पृशेदित्यतो नैवं कुर्यादिति ॥ साम्प्रतं भिक्षाटनविधिप्रदर्शनार्थमाह—

से भिक्खू वा० जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा सति परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा, नो उज्जुयं गच्छिज्जा, केवली बूया आयाणमेयं, से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा पक्खलेज्ज वा पवडिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पक्खलेज्जमाणे वा पवडमाणे वा, तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया, तहप्पगारं कायं नो अणंतरहियाए पुढवीए नो ससिणिद्धाए पुढवीए नो ससरक्खाए पुढवीए नो चित्तमंताए सिलाए नो चित्तमंताए लेलुए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए सअंडे सपाणे जाव ससंताणए नो आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा संलिहिज्ज वा निलिहिज्ज वा उव्वलेज्ज वा उव्वट्टिज्ज वा आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा, से पुव्वामेव अप्पससरक्खं तणं वा

आ. सू. ५७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाइज्जा, जाइत्ता से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे झामथंडिलंसि वा जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा ॥ (सू० २६)

स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं–पाटकं रथ्यां ग्रामादिकं वा प्रविष्टः सन् मार्गं प्रत्युपेक्षेत, तत्र यदि 'अन्तरा' अन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छत एतानि स्युः, तद्यथा—'वप्राः' समुन्नता भूभागा ग्रामान्तरे वा केदाराः, तथा परिखा वा प्राकारा वा गृहस्य पत्तनस्य वा, तथा तोरणानि वा, तथाऽर्गला वाऽर्गलपाशका वा–यत्रार्गलाऽग्राणि निक्षिप्यन्ते, एतानि चान्तराले ज्ञात्वा प्रक्रम्यतेऽनेनेति प्रक्रमो–मार्गस्तस्मिन्नन्यस्मिन् सति संयत एव तेन 'पराक्रमेत' गच्छेत्, नैवर्जुना गच्छेत्, किमिति?, यतः 'केवली' सर्वज्ञो ब्रूयाद् 'आदानं' कर्मादानमेतत्, संयमात्मविराधनातः, तामेव दर्शयति—'स' भिक्षुः 'तत्र' तस्मिन् वप्रादियुक्ते मार्गे 'पराक्रममाणः' गच्छन् विषमत्वान्मार्गस्य कदाचित् 'प्रचलेत्' कम्पेत् प्रस्खलेद्वा तथा प्रपतेद्वा, स तत्र प्रस्खलन् प्रपतन् वा षण्णां कायानामन्यतमं विराधयेत्, तथा तत्र 'से' तस्य काय उच्चारेण वा प्रस्रवणेन वा श्लेष्मणा वा सिङ्घानकेन वा वान्तेन वा पित्तेन वा पूतेन वा शुक्रेण वा शोणितेन वा उपलिप्तः स्यादित्यत एवंभूतेन पथा न गन्तव्यम्, अथ मार्गान्तराभावात्तेनैव गतः प्रस्खलितः सन् कर्दमाद्युपलिप्तकायो नैवं कुर्यादिति दर्शयति–स यतिस्तथाप्रकारम्–अशुचिकर्दमाद्युपलिप्तं कायमनन्तर्हितया–अव्यवहितया पृथिव्या तथा 'सस्निग्धया' आर्द्रया एवं सरजस्कया वा, तथा 'चित्तवत्या' सचित्तया शिलया, तथा चित्तवता 'लेलुना' पृथिवीशकलेन वा, एवं कोलाघुणास्तदावासभूते दारुणि जीवप्रतिष्ठिते साण्डे सप्राणिनि यावत्ससन्तानके 'नो' नैव सकृदामृज्यान्नापि पुनः पुनः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमृज्यात्, कर्दमादि शोधयेदित्यर्थः, तथा तत्रस्थ एव 'न संलिहेज्जा' न संलिखेत्, नोद्वर्त्तनादिनोद्वलेत्, नापि तदेवेषच्छुष्कमुद्वर्त्तयेत्, नापि तत्रस्थ एव सकृदातापयेत्, पुनः पुनर्वा प्रतापयेत्, यत्कुर्यात्तदाह–स भिक्षुः 'पूर्वमेव' तदनन्तरमेवाल्परजस्कं तृणादि याचेत, तेन चैकान्तस्थण्डिले स्थितः सन् गात्रं 'प्रमृज्यात्' शोधयेत्, शेषं सुगममिति॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा गोणं वियालं पडिपहे पेहाए महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थिं सीहं वग्घं विगं दीवियं अच्छं तरच्छं परिसरं सियालं विरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चित्ताचिल्लडयं वियालं पडिपहे पेहाए सइ परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छिज्जा । से भिक्खू वा० समाणे अंतरा से उवाओ वा खाणुए वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जिज्जा, सइ परक्कमे संजयामेव, नो उज्जुयं गच्छिज्जा ॥ (सू० २७)

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् पथ्युपयोगं कुर्यात्, तत्र च यदि पुनरेवं जानीयाद् यथाऽत्र किञ्चिद्गवादिकमास्त इति तन्मार्गं रुन्धानं 'गां' बलीवर्दं 'व्यालं' दृप्तं दुष्टमित्यर्थः, पन्थानं प्रति प्रतिपथस्तस्मिन् स्थितं प्रत्युपेक्ष्य, शेषं सुगमं, यावत्सति पराक्रमे–मार्गान्तरे ऋजुना पथाऽऽत्मविराधनासम्भवान्न गच्छेत्, नवरं 'विगं'ति वृकं 'द्वीपिनं' चित्रकम् 'अच्छं'ति ऋक्षं 'परिसर'न्ति सरभं 'कोलसुणयं' महासूकरं 'कोकंतिय'न्ति शृगालाकृतिर्लोमटको रात्रौ को को इत्येवं रारटीति, 'चित्ताचिल्लडयं'ति आरण्यो जीवविशेषस्तमिति॥ तथा—स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् मार्गोपयोगं दद्यात्, तत्रान्तराले यद्येतत्पर्यापद्येत–स्यात्, तद्यथा—'अवपातः' गर्त्तः स्थाणुर्वा कण्टको वा घसी नाम–स्थलादधस्तादवतरणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'भिलुग'त्ति स्फुटितकृष्णभूराजिः विषमं–निम्नोन्नतं विज्जलं–कर्दमः तत्रात्मसंयमविराधनासम्भवात् 'पराक्रमे' मार्गान्तरे सति ऋजुना पथा न गच्छेदिति ॥ तथा—

से भिक्खू वा० गाहावइकुलस्स दुवारबाहं कंटगबुंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय नो अवंगुणिज्ज वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तओ संजयामेव अवंगुणिज्ज वा पविसेज्ज वा निक्खमेज्ज वा ॥ (सू० २८)

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् गृहपतिकुलस्य 'दुवारबाहं'ति द्वारभागस्तं कण्टकशाखया 'पिहितं' स्थगितं प्रेक्ष्य येषां तद्गृहं तेषामवग्रहं पूर्वमेव 'अननुज्ञाप्य' अयाचित्वा, तथा अप्रत्युपेक्ष्य चक्षुषाऽप्रमृज्य च रजोहरणादिना 'नोऽवंगुणेज्ज'त्ति नैवोद्घाटयेद्, उद्घाट्य च न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेत्, दोषदर्शनात्, तथाहि–गृहपतिः प्रद्वेषं गच्छेत्, नष्टे च वस्तुनि साधुविषया शङ्कोत्पद्येत, उद्घाटद्वारे चान्यत् पश्वादि प्रविशेदित्येवं च संयमात्मविराधनेति । सति कारणेऽपवादमाह–स भिक्षुर्येषां तद्गृहं तेषां सम्बन्धिनमवग्रहम् 'अनुज्ञाप्य' याचित्वा प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृहोद्घाटनादि कुर्यादिति, एतदुक्तं भवति–स्वतो द्वारमुद्घाट्य न प्रवेष्टव्यमेव, यदि पुनर्ग्लानाचार्यादिप्रायोग्यं तत्र लभ्यते वैद्यो वा तत्रास्ते दुर्लभं वा द्रव्यं तत्र भविष्यति अवमौदर्ये वा सत्येभिः कारणैरुपस्थितैः स्थगितद्वारि व्यवस्थितः सन् शब्दं कुर्यात्, स्वयं वा यथाविध्युद्घाट्य प्रवेष्टव्यमिति ॥ तत्र प्रविष्टस्य विधिं दर्शयितुमाह—

से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसिं सं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [२९]

दीप अनुक्रम [३६३]

लोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, से से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा, से य एवं वइज्जा—आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए निसट्ठे तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं, तं चेगइओ पडिगाहित्ता तुसिणीओ उवेहिज्जा, अवियाइं एयं ममेव सिया, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्वजणाए निसिट्ठे तं भुंजह वा णं जाव परिभाएह वा णं, सेणमेवं वयंतं परो वइज्जा—आउसंतो समणा! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं २ डायं २ ऊसढं २ रसियं २ मणुन्नं २ निद्धं २ लुक्खं २, से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अग(ना)ढिए अणज्झोववन्ने बहुसममेव परिभाइज्जा, से णं परिभाएमाणं परो वइज्जा—आउसंतो समणा! मा णं तुमं परिभाएहि सव्वे वेगइआ ठिया उ भुक्खामो वा पाहामो वा, से तत्थ भुंजमाणे नो अप्पणा खद्धं खद्धं जाव लुक्खं, से तत्थ अमुच्छि ए ४ बहुसममेव भुंजिज्जा वा पाइज्जा वा ॥ (सू० २९)

स भिक्षुर्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टो यदि पुनरेवं विजानीयाद् यथाऽत्र गृहे श्रमणादिः कश्चित्प्रविष्टः, तं च पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य दातृप्रतिग्राहकासमाधानान्तरायभयान्न तदालोके तिष्ठेत्, नापि तन्निर्गमद्वारं प्रति दातृप्रतिग्राहकासमाधानान्तरायभयात्, किन्तु स भिक्षुस्तं श्रमणादिकं भिक्षार्थमुपस्थितम् 'आदाय' अवगम्यैकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य चान्येषां चानापाते–विजनेऽसंलोके च संतिष्ठेत्, तत्र च तिष्ठतः स गृहस्थः 'से' तस्य भिक्षोश्चतुर्विधमप्याहारमाहृत्य दद्यात्, प्रयच्छंश्चैतद्ब्रूयाद्–यथा यूयं बहवो भिक्षार्थमुपस्थिता अहं च व्याकुलत्वान्नाहारं विभाजयितुमलमतो हे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आयुष्मन्तः ! श्रमणाः ! अयमाहारश्चतुर्विधोऽपि 'भे' युष्मभ्यं सर्वजनार्थं मया निसृष्टो–दत्तस्तत्साम्प्रतं स्वरुच्या तमाहारमेकत्र वा भुङ्ग्ध्वं परिभजध्वं वा–विभज्य वा गृह्णीतेत्यर्थः, तदेवंविध आहार उत्सर्गतो न ग्राह्यः, दुर्भिक्षे वाऽध्वाननिर्गतादौ वा द्वितीयपदे कारणे सति गृह्णीयाद्, गृहीत्वा च नैवं कुर्याद् यथा तमाहारं गृहीत्वा तूष्णीको गच्छन्नेवमुल्लेखेत–यथा ममैवायमेकस्य दत्तोऽपि चायमल्पत्वान्ममैवैकस्य स्याद्, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेद्, अतो नैवं कुर्यादिति, यथा च कुर्यात्तथा च दर्शयति–स भिक्षुस्तमाहारं गृहीत्वा तत्र श्रमणाद्यन्तिके गच्छेद्, गत्वा च सः 'पूर्वमेव' आदावेव तेषामाहारम् 'आलोकयेत्' दर्शयेत्, इदं च ब्रूयाद्–यथा भो आयुष्मन्तः ! श्रमणादयः ! अयमशनादिक आहारो युष्माकं सर्वजनार्थमविभक्त एव गृहस्थेन निसृष्टो–दत्तस्तद्यूयमेकत्र भुङ्ग्ध्वं विभजध्वं वा, 'से' अथैनं साधुमेवं ब्रुवाणं कश्चिच्छ्रमणादिरेवं ब्रूयाद्–यथा भो आयुष्मन् ! श्रमण ! त्वमेवास्माकं परिभाजय, नैवं तावत्कुर्यात्, अथ सति कारणे कुर्यात् तदाऽनेन विधिनेति दर्शयति–स भिक्षुर्विभाजयन्नात्मनः 'खद्धं २' प्रचुरं २ 'डागं'ति शाकम् 'ऊसढं'ति उच्छ्रितं वर्णादिगुणोपेतं, शेषं सुगमं यावद्रूक्षमिति न गृह्णीयादिति । अपि च—'सः' भिक्षुः 'तत्र' आहारेऽमूर्छितोऽगृद्धोऽनाद्दतोऽनध्युपपन्न इति, एतान्यादरख्यापनार्थमेकार्थिकान्युपात्तानि कथञ्चिद्भेदाद्वा व्याख्यातव्यानीति, 'बहुसम'मिति सर्वमत्र समं किञ्चित्सिक्थादिना यद्यधिकं भवेदिति, तदेवं प्रभूतसमं परिभाजयेत्, तं च साधुं परिभाजयन्तं कश्चिदेवं ब्रूयाद्, यथा–आयुष्मन् ! श्रमण ! मा त्वं परिभाजय, किन्तु सर्व एव चैकत्र व्यवस्थिता वयं भोक्ष्यामहे पास्यामो वा, तत्र परतीर्थिकैः सार्द्धं न भोक्तव्यं, स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह सम्भोगिकैः सहौघा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लोचनां दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधिः, तद्यथा–नो आत्मन इत्यादि, सुगममिति ॥ इहानन्तरसूत्रे बहिरालोकस्थानं निषिद्धं, साम्प्रतं तत्प्रवेशप्रतिषेधार्थमाह—

से भिक्खू वा से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो ते उवाइक्कम्म पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, अह पुणेवं जाणिज्जा–पडिसेहिए वा दिन्ने वा, तओ तंमि नियत्तिए संजयामेव पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा एयं० सामग्गियं० (सू० ३०) ॥ २–१–१–५ ॥ पिण्डैषणायां पञ्चम उद्देशकः ॥

स भिक्षुर्भिक्षार्थं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् यदा पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा–अत्र गृहपतिकुले श्रमणादिकः प्रविष्टः, तं च पूर्वप्रविष्टं श्रमणादिकं प्रेक्ष्य ततो न तान् श्रमणादीन् पूर्वप्रविष्टानतिक्रम्य प्रविशेत्, नापि तत्स्थ एव 'अवभाषेत' दातारं याचेत्, अपि च–स तम् 'आदाय' अवगम्यैकान्तमपक्रामेद् अनापातासंलोके च तिष्ठेत् तावद्यावच्छ्रमणादिके प्रतिषिद्धे पिण्डे वा तस्मै दत्ते, ततस्तस्मिन् 'निवृत्ते' गृहान्निर्गते सति ततः संयत एव प्रविशेदवभाषेत वेति, एवं च तस्य भिक्षोः 'सामग्र्यं' सम्पूर्णो भिक्षुभाव इति ॥ प्रथमस्य पञ्चमोद्देशकः समाप्तः ॥

पञ्चमोद्देशकानन्तरं षष्ठः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके श्रमणाद्यन्तरायभयाद्गृहप्रवेशो निषिद्धः, तदिहाप्यपरप्राण्यन्तरायप्रतिषेधार्थमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", षष्ठ:-उद्देशक: आरब्ध:

से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा–रसेसिणो बहवे पाणा घासेसणाए संथडे संनिवइए पेहाए, तंजहा–कुक्कुडजाइयं वा सूयरजाइयं वा अग्गपिंडंसि वा वायसा संथडा संनिवइया पेहाए सइ परक्कमे संजया नो उज्जुयं गच्छिज्जा ॥ (सू० ३१)

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा–बहवः 'प्राणाः' प्राणिनः रस्यते–आस्वाद्यत इति रसस्तमेष्टुं शीलमेषां ते रसैषिणः, रसान्वेषिण इत्यर्थः, ते तदर्थिनः सन्तः पश्चाद् ग्रासार्थं क्वचिद्रथ्यादौ संनिपतितास्तांश्चाहारार्थं संस्कृ(स्तृ)तान्–घनान् संनिपतितान् प्रेक्ष्य ततस्तदभिमुखं न गच्छेदिति सम्बन्धः, तांश्च प्राणिनः स्वनामग्राहमाह–कुक्कुटजातिकं वेत्यनेन च पक्षिजातिरुद्दिष्टा, सूकरजातिकमित्यनेन च चतुष्पदजातिरिति, 'अग्रपिण्डे वा' काकपिण्ड्यां वा बहिः क्षिप्तायां वायसाः संनिपतिता भवेयुः, तांश्च दृष्ट्वाऽग्रतः, ततः सति पराक्रमे–अन्यस्मिन् मार्गान्तरे 'संयतः' सम्यगुपयुक्तः संयतामन्त्रणं वा ऋजुस्तदभिमुखं न गच्छेद्, यतस्तत्र गच्छतोऽन्तरायं भवति, तेषां चान्यत्र संनिपतितानां वधोऽपि स्यादिति ॥ साम्प्रतं गृहपतिकुलं प्रविष्टस्य साधोर्विधिमाह—

से भिक्खू वा २ जाव नो गाहावइकुलस्स वा दुवारसाहं अवलंबिय २ चिट्ठिज्जा, नो गा० दगच्छड्डणमत्तए चिट्ठिज्जा, नो गा० चंदणिउयए चिट्ठिज्जा, नो गा० सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा, नो० आलोयं वा थिग्गलं वा संधिं वा दगभवणं वा बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय २ उण्णमिय २ अवनमिय २ निज्झाइज्जा, नो गाहावइअंगुलियाए उद्दिसिय २ जाइज्जा, नो गा० अंगुलिए चालिय २ जाइज्जा, नो गा० अं० तज्जिय २

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाइज्जा, नो गा० अं० उक्खुलंपिय [उक्खलुंदिय] २ जाइज्जा, नो गाहावइं वंदिय २ जाइज्जा नो वयणं फरुसं वइज्जा ॥ (सू० ३२)

स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैतत्कुर्यात्, तद्यथा–नो गृहपतिकुलस्य द्वारशाखाम् 'अवलम्ब्यावलम्ब्य' पौनःपुन्येन भृशं वाऽवलम्ब्य तिष्ठेद्, यतः सा जीर्णत्वात्पतेद् दुष्प्रतिष्ठितत्वाद्वा चलेत् ततश्च संयमात्मविराधनेति, तथा 'उदकप्रतिष्ठापनमात्रके' उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्थाने प्रवचनजुगुप्साभयान्न तिष्ठेत्, तथा 'चंदणिउदय'त्ति आचमनोदकप्रवाहभूमौ न तिष्ठेद्, दोषः पूर्वोक्त एव, तथा स्नानवर्चःसंलोके तत्प्रतिद्वारं वा न तिष्ठेत्, एतदुक्तं भवति–यत्र स्थितैः स्नानवर्चःक्रिये कुर्वन् गृहस्थः समवलोक्यते तत्र न तिष्ठेदिति, दोषश्चात्र दर्शनाशङ्कया निःशङ्कतत्क्रियाया अभावेन निरोधप्रद्वेषसम्भव इति, तथा नैव गृहपतिकुलस्य 'आलोकम्' आलोकस्थानं–गवाक्षादिकं, 'थिग्गलं'ति प्रदेशपतितसंस्कृतं, तथा 'संधि'त्ति चौरखातं भित्तिसन्धिं वा, तथा 'उदकभवनम्' उदकगृहं, सर्वाण्यप्येतानि भुजां 'प्रगृह्य प्रगह्य' पौनःपुन्येन प्रसार्य तथाऽङ्गुल्योद्दिश्य तथा कायमवनम्योन्नम्य च न निध्यापयेत्–न प्रलोकयेन्नाप्यन्यस्मै प्रदर्शयेत्, सर्वत्र द्विर्वचनमादरख्यापनार्थं, तत्र हि हृतनष्टादौ शङ्कोत्पद्यत इति ॥ अपि च—स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैव गृहपतिमङ्गुल्याऽत्यर्थमुद्दिश्य तथा चालयित्वा तथा 'तर्जयित्वा' भयमुपदर्श्य तथा कण्डूयनं कृत्वा तथा गृहपतिं 'वन्दित्वा' वाग्भिः स्तुत्वा प्रशस्य नो याचेत, अदत्ते च नैव तद्गृहपतिं परुषं वदेत्, तद्यथा–यक्षस्त्वं परगृहं रक्षसि, कुतस्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दानं ?, वार्त्तैव भद्रिका भवतो न पुनरनुष्ठानम्, अपि च—"अक्षरद्वयमेतद्धि, नास्ति नास्ति यदुच्यते । तदिदं देहि देहीति, विपरीतं भविष्यति ॥ १ ॥" अन्यच्च—

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए गाहावइं वा० जाव कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं ?, से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पहोइज्ज वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा! मा एयं तुमं हत्थं वा० ४ सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेहि वा २, अभिकंखसि मे दाउं एवमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो हत्थं वा ४ सीओ० उसि० उच्छोलित्ता पहोइत्ता आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारेणं पुरेकम्मकएणं हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा । अह पुण एवं जाणिज्जा नो पुरेकम्मकएणं उदउल्लेणं तहप्पगारेणं वा उदउल्लेण वा हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा । अह पुणेवं जाणिज्जा—नो उदउल्लेण ससिणिद्धेण सेसं तं चेव एवं—ससरक्खे उदउल्ले, ससिणिद्धे मट्टिया ऊसे । हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला अंजणे लोणे ॥ १ ॥ गेरुय वन्निय सेडिय सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस उक्कुट्ठसंसट्ठेण । अह पुणेवं जाणिज्जा नो असंसट्ठे संसट्ठे तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ३३)

अथ भिक्षुस्तत्र गृहपतिकुले प्रविष्टः सन् कञ्चन गृहपत्यादिकं भुञ्जानं प्रेक्ष्य स भिक्षुः पूर्वमेवालोचयेद्–यथाऽयं गृहपतिस्तद्भार्या वा यावत्कर्मकरी वा भुङ्क्ते, पर्यालोच्य च सनामग्राहं याचेत, तद्यथा—'आउसेत्ति वे'त्ति, अमुक इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [३३]

दीप अनुक्रम [३६७]

गृहपते ! भगिनि ! इति वा इत्याद्यामन्त्र्य दास्यसि मेऽस्मादाहारजातादन्यतरद्भोजनजातमित्येवं याचेत, तच्च न वर्त्तते कर्त्तुं, कारणे वा सत्येवं वदेत्–अथ 'से' तस्य भिक्षोरेवं वदतो याचमानस्य परो गृहस्थः कदाचिद्भसं मात्रं दर्वीं भाजनं वा 'शीतोदकविकटेन' अप्कायेन 'उष्णोदकविकटेन' उष्णोदकेनाप्रासुकेनात्रिदण्डोद्वृत्तेन पश्चाद्वा सचित्तीभूतेन 'उच्छोलेज्ज'त्ति सकृदुदकेन प्रक्षालनं कुर्यात्, 'पहोएज्ज'त्ति प्रकर्षेण वा हस्तादेर्द्धावनं कुर्यात्, स भिक्षुर्हस्तादिकं पूर्वमेव प्रक्षाल्यमानमालोचयेद्, दत्तावधानो भवेदित्यर्थः, तच्च प्रक्षाल्यमानमालोच्यामुक इत्येवं स्वनामग्राहं निवारयेद्, यथा–मैवं कृथास्त्वमिति, यदि पुनरसौ गृहस्थो हस्तादिकं सचित्तोदकेन प्रक्षाल्य दद्यात्तदप्रासुकमिति ज्ञात्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च—अथासौ भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा—'नो' नैव साधुभिक्षादानार्थं पुरः–अग्रतः कृतं प्रक्षालनादिकं कर्म–क्रिया यस्य हस्तादेः स तथा तेनोदकेनार्द्रेणेति–गलद्बिन्दुनेति, एतदुक्तं भवति–साधुभिक्षादानार्थं नैव हस्तादिकं प्रक्षालितं किन्तु तथाप्रकार एव स्वतः कुतोऽप्यनुष्ठानादुदकार्द्रो हस्तस्तेन, एवं मात्रादिना ऽपि गलद्बिन्दुना दीयमानं चतुर्विधमप्याहारमप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा नो गृह्णीयादिति ॥ अथ पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा–नैव 'उदकार्द्रेण' गलद्बिन्दुना हस्तादिना दद्यात्, किन्तु 'सस्निग्धेन' शीतोदकस्तिमितेनापि हस्तादिना दीयमानं न प्रतिगृह्णीयात्, 'एव'मिति प्राक्तनं न्यायमतिदिशति, यथोदकस्निग्धेन हस्तेन न ग्राह्यं तथाऽन्येन रजसाऽपि, एवं मृत्तिकाद्यप्यायोज्यमिति, तत्रोषः–क्षारमृत्तिका हरितालहिङ्गुलकमनःशिलाऽञ्जनलवणगेरुकाः प्रतीताः, सचित्ताश्च खनिविशेषोत्पत्तेः, वर्णिका–पीतमृत्तिका, सेटिका–खटिका, सौराष्ट्रिका–तुवरिका, पि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ष्टम्–अच्छटिततन्दुलचूर्णः, कुक्कुसाः–प्रतीताः, 'उक्कुट्ठं'ति पीलुपर्णिकादेरुदूखलचूर्णितमार्द्रपर्णचूर्णमित्येवमादिना सस्निग्धेन हस्तादिना दीयमानं न गृह्णीयात्, इत्येवमादिना तु असंसृष्टेन तु गृह्णीयादिति । अथ पुनरेवं जानीयान्नोऽसंसृष्टः किं तर्हि?–संसृष्टस्तज्जातीयेनाहारादिना तेन संसृष्टेन हस्तादिना प्रासुकमेषणीयमिति गृह्णीयात्, अत्र चाष्टौ भङ्गाः, तद्यथा—"असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते निरवसेसे दव्वे" इत्येकैकपदव्यभिचारान्नेयाः, स्थापना चेयम्—अथ पुनरसौ भिक्षुरेवं जानीयात्, तद्यथा–उदकादिनाऽसंसृष्टो हस्तादिस्ततो गृह्णीयात्, यदिवा तथाप्रकारेण दातव्यद्रव्यजातीयेन संसृष्टो हस्तादिस्तेन तथा प्रकारेण हस्तादिना दीयमानमाहारादिकं प्रासुकमेषणीयमितिकृत्वा प्रतिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा पिहुयं वा बहुरयं वा जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव संताणाए कुट्टिंसु वा कुट्टिंति वा कुट्टिस्संति वा उप्फणिंसु वा ३ तहप्पगारं पिहुयं वा० अप्फासुयं नो पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ३४)

स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा—'पृथुकं' शाल्यादिलाजान् 'बहुरयं'ति पहुंकं 'चाउलपलंबं'ति अर्द्धपक्वशाल्यादिकणादिकमित्येवमादिकम् 'असंयतः' गृहस्थः 'भिक्षुप्रतिज्ञया' भिक्षुमुद्दिश्य चित्तमत्यां शिलायां तथा सबीजायां सहरितायां साण्डायां यावन्मर्कटसन्तानोपेतायाम् 'अकुट्टिषुः' कुट्टितवन्तः तथा कुट्टन्ति कुटिष्यन्ति वा, एकवचनाधिकारेऽपि छान्दसत्वात्तिङ्व्यत्ययेन बहुवचनं द्रष्टव्यं, पूर्वत्र वा जातावेकवचनं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तच्च पृथुकादिकं सचित्तमचित्तं वा चित्तमत्यां शिलायां कुट्टयित्वा 'उप्फणिंसु'त्ति साध्वर्थं वाताय दत्तवन्तो ददति दास्यन्ति वा, तदेवं तथाप्रकारं पृथुकादि ज्ञात्वा लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं० बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अस्संजए जाव संताणाए भिंदिसु ३ रुचिंसु वा ३ बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं० नो पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ३५)

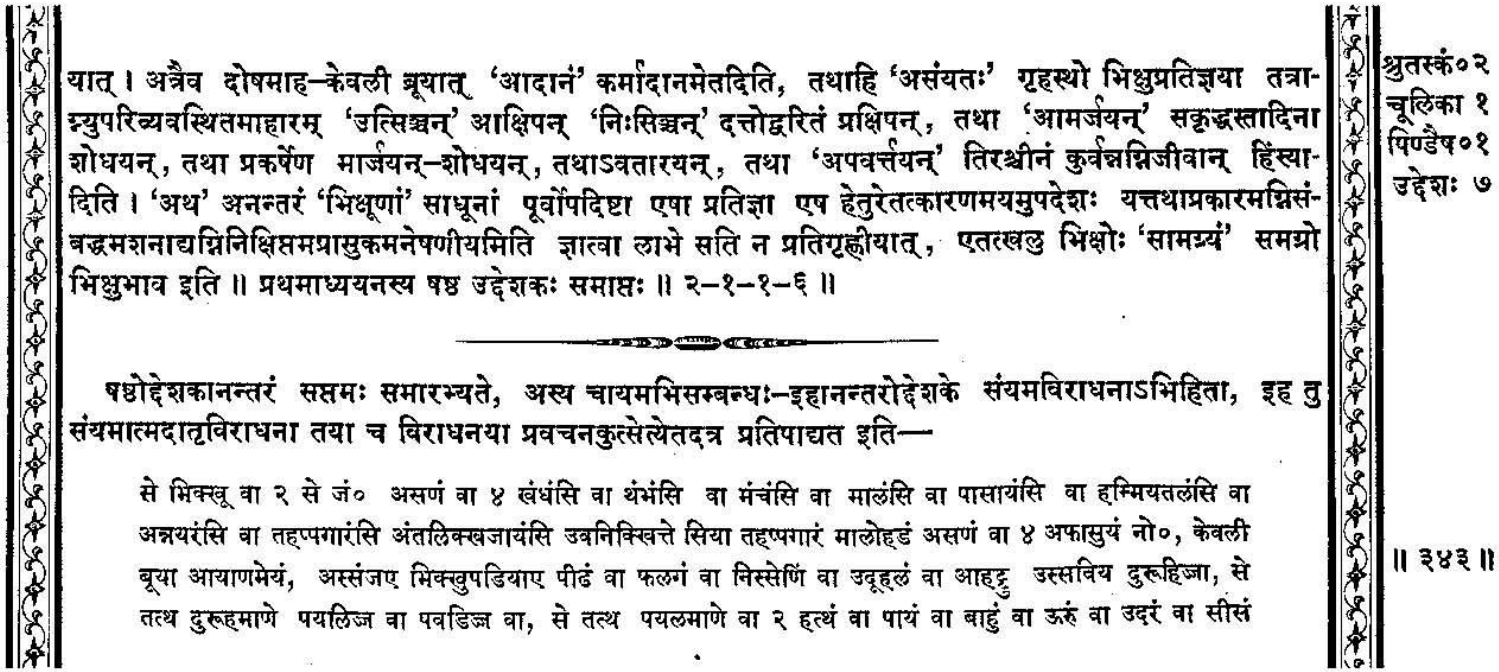
स भिक्षुर्यदि पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा–बिलमिति खनिविशेषोत्पन्नं लवणम्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सैन्धवसौवर्चलादिकमपि द्रष्टव्यं, तथोद्भिज्जमिति समुद्रोपकण्ठे क्षारोदकसम्पर्कादु यदुद्भिद्यते लवणम्, अस्याप्युपलक्षणार्थत्वात्क्षारोदकसेकाद्यद्भवति रुमकादिकं तदपि ग्राह्यं, तदेवंभूतं लवणं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टायां शिलायामश्मभ्रुः–कणिकाकारं कुर्युः, तथा साध्वर्थमेव भिन्दन्ति भेत्स्यन्ति वा तथा श्लक्ष्णतरार्थं 'रुचिंसुव'त्ति पिष्टवन्तः पिंषन्ति पेक्ष्यन्ति वा, तदपि लवणमेवंप्रकारं ज्ञात्वा नो (प्रति) गृह्णीयात् ॥ अपि च—

से भिक्खू वा० से जं० असणं वा ४ अगणिनिक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं नो०, केवली बूया आयाणमेयं, अस्संजए भिक्खुपडियाए उस्सिंचमाणे वा निस्सिंचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा ओयारेमाणे वा उव्वत्तमाणे वा अगणिजीवे हिंसिज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा एस पइन्ना एस हेऊ एस कारणे एसुवएसे जं तहप्पगारं असणं वा ४ अगणिनिक्खित्तं अफासुयं नो० पडि० एयं० सामग्गियं ॥ (सू० ३६) ॥ पिण्डैषणायां षष्ठ उद्देशकः २–१–१–६ ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टश्चतुर्विधमप्याहारमन्नावुपरि निक्षिप्तं तथाप्रकारं ज्वालासंबद्धं लाभे सति न प्रतिगृह्णी-

आ सू. ५८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ ३४३ ॥

यात् । अत्रैव दोषमाह–केवली ब्रूयात् 'आदानं' कर्मादानमेतदिति, तथाहि 'असंयतः' गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया तत्रास्युपरिव्यवस्थितमाहारम् 'उत्सिञ्चन्' आक्षिपन् 'निःसिञ्चन्' दत्तोद्धरितं प्रक्षिपन्, तथा 'आमर्जयन्' सकृद्धस्तादिना शोधयन्, तथा प्रकर्षेण मार्जयन्–शोधयन्, तथाऽवतारयन्, तथा 'अपवर्त्तयन्' तिरश्चीनं कुर्वन्नग्निजीवान् हिंस्यादिति । 'अथ' अनन्तरं 'भिक्षूणां' साधूनां पूर्वोपदिष्टा एषा प्रतिज्ञा एष हेतुरेतत्कारणमयमुपदेशः यत्तथाप्रकारमग्निसंबद्धमशनाद्यग्निनिक्षिप्तमप्रासुकमनेषणीयमिति ज्ञात्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्, एतत्खलु भिक्षोः 'सामग्र्यं' समग्रो भिक्षुभाव इति ॥ प्रथमाध्ययनस्य षष्ठ उद्देशकः समाप्तः ॥ २–१–१–६ ॥

श्रुतस्कं०२ चूलिका १ पिण्डैष०१ उद्देशः ७

षष्ठोद्देशकानन्तरं सप्तमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके संयमविराधनाऽभिहिता, इह तु संयमात्मदातृविराधना तया च विराधनया प्रवचनकुत्सेत्येतदत्र प्रतिपाद्यत इति—

से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ खंधंसि वा थंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि उवनिक्खित्ते सिया तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ अफासुयं नो०, केवली बूया आयाणमेयं, अस्संजए भिक्खुपडियाए पीढं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूहलं वा आहट्टु उस्सविय दुरूहिज्जा, से तत्थ दुरूहमाणे पयलिज्ज वा पवडिज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा २ हत्थं वा पायं वा बाहुं वा ऊरुं वा उदरं वा सीसं

॥ ३४३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", सप्तम-उद्देशक: आरब्ध:

प्रत सूत्रांक [३७]

दीप अनुक्रम [३७१]

वा अन्नयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ अभिहणिज्ज वा वित्तासिज्ज वा लेसिज्ज वा संघसिज्ज वा संघट्टिज्ज वा परियाविज्ज वा किलामिज्ज वा ठाणाओ ठाणं संकामिज्ज वा, तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिज्जा, से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं० असणं वा ४ कुट्टियाओ वा कोलेज्जाउ वा अस्संजए भिक्खुपडियाए उक्कुज्जिय अवउज्जिय ओहरिय आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ३७) ॥

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं चतुर्विधमप्याहारं जानीयात्, तद्यथा—'स्कन्धे' अर्द्धप्राकारे 'स्तम्भे वा' शैलदारुमयादौ, तथा मञ्चके वा माले वा प्रासादे वा हर्म्यतले वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारेऽन्तरिक्षजाते स आहारः 'उपनिक्षिप्तः' व्यवस्थापितो भवेत्, तं च तथाप्रकारमाहारं मालाहृतमिति मत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्, केवली ब्रूयाद्यत आदानमेतदिति, तथाहि–असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया साधुदानार्थं पीठकं वा फलकं वा निश्रेणिं वा उदूखलं वाऽऽहृत्य–ऊर्ध्वं व्यवस्थाप्यारोहेत्, स तत्रारोहन् प्रचलेद्वा प्रपतेद्वा, स तत्र प्रचलन् प्रपतन् वा हस्तादिकमन्यतरद्वा काये इन्द्रियजातं 'लूसेज्ज'त्ति विराधयेत्, तथा प्राणिनो भूतानि जीवान् सत्त्वानभिहन्याद्वित्रासयेद्वा लेषयेद्वा–संश्लेषं वा कुर्यात् तथा संघर्षं वा कुर्यात् तथा सङ्घट्टं वा कुर्यात्, एतच्च कुर्वंस्तान् परितापयेद्वा क्लामयेद्वा स्थानात्स्थानं सङ्क्रामयेद्वा, तदेतज्ज्ञात्वा यदाहारजातं तथाप्रकारं मालाहृतं तल्लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥ स भिक्षुर्यदि पुनरेवंभूतमाहारं जानीयात्, तद्यथा—'कोष्ठिकातः' मृन्मयकुशूलसंस्थानायाः तथा 'कोलेज्जाओ'त्ति अधोवृत्तखाताकाराद् असंयतः 'भिक्षुप्रतिज्ञया' साधुमुद्दिश्य कोष्ठिकातः 'उक्कुज्जिय'त्ति ऊर्द्धकायमुन्नम्य ततः कुब्जीभूय, तथा कोलेज्जाओ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'अवउज्जिअ'त्ति अधोऽवनम्य, तथा 'ओहरिय'त्ति तिरश्चीनो भूत्वाऽऽहारमाहृत्य दद्यात्, तच्च भिक्षुस्तथाप्रकारमधोमालाहृतमितिकृत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ अधुना पृथिवीकायमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० से जं० असणं वा ४ मट्टियाउलित्तं तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे सं०, केवली०, अस्संजए भि० मट्टिओलित्तं असणं वा० उब्भिदमाणं पुढविकायं समारंभिज्जा तह तेउवाउवणस्सइतसकायं समारंभिज्जा, पुणरवि उल्लिंपमाणे पच्छाकम्मं करिज्जा, अह भिक्खूणं पुव्वो० जं तहप्पगारं मट्टिओलित्तं असणं वा लाभे० । से भिक्खू० से जं० असणं वा ४ पुढविकायपइट्ठियं तहप्पगारं असणं वा० अफासुयं० । से भिक्खू० जं० असणं वा ४ आउकायपइट्ठियं चेव, एवं अगणिकायपइट्ठियं लाभे० केवली०, अस्संज० भि० अगणिं उस्सक्किय निस्सक्किय ओहरिय आहट्टु दलइज्जा अह भिक्खूणं० जाव नो पडि० ॥ (सू० ३८) ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा–पिठरकादौ मृत्तिकयाऽवलिप्तमाहारं 'तथाप्रकार'मित्यवलिप्तं केनचित्परिज्ञाय पश्चात्कर्मभयाच्चतुर्विधमप्याहारं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्, किमिति?, यतः केवली ब्रूयात्कर्मादानमेतदिति, तदेव दर्शयति—'असंयतः' गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया मृत्तिकोपलिप्तमशनादिकम्–अशनादिभाजनं तच्चोद्भिन्दन् पृथिवीकायं समारभेत, स एव केवल्याह, तथा तेजोवायुवनस्पतित्रसकायं समारभेत, दत्ते सत्युत्तरकालं पुनरपि शेषरक्षार्थं तद्भाजनमवलिम्पन् पश्चात्कर्म कुर्यात्, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टा एषा प्रतिज्ञा एष हेतुरेतत्कारणमयमुपदेशः यत्तथाप्रकारं मृत्तिकोपलिप्तमशनादिजातं लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥ स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यदि पुनरेवंभूतमशनादि जानीयात्, तद्यथा—'सचित्तपृथिवीकायप्रतिष्ठितं' पृथ्वीकायोपरिव्यवस्थितमाहारं विज्ञाय पृथिवीकायसङ्घट्टनादिभयाल्लाभे सत्यप्रासुकमनेषणीयं च ज्ञात्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ एवमप्कायप्रतिष्ठितमग्निकायप्रतिष्ठितं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयाद्, यतः केवली ब्रूयादादानमेतदिति । तदेव दर्शयति–असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञयाऽग्निकायमुल्मुकादिना 'ओसक्किय'त्ति प्रज्वाल्य (निषिच्य), तथा 'ओहरिय'त्ति अग्निकायोपरि व्यवस्थितं पिठरकादिकमाहारभाजनमपवृत्त्य तत आहृत्य–गृहीत्वाऽऽहारं दद्यात्, तत्र भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टा एषा प्रतिज्ञा यदेतत्तथाभूतमाहारं नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥

से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ अचुसिणं अस्संजए भि० सुप्पेण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फुमिज्ज वा वीइज्ज वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा–आउसोत्ति वा भइणित्ति वा! मा एतं तुमं असणं वा अचुसिणं सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा वीयाहि वा अभिकंखसि मे दाउं, एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सुप्पेण वा जाव वीइत्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं वा नो पडि० ॥ (सू० ३९) ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदिपुनरेवं जानीयाद् यथाऽत्युष्णमोदनादिकमसंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया शीतीकरणार्थं सूर्पेण वा वीजनेन वा तालवृन्तेन वा मयूरपिच्छकृतव्यजनेनेत्यर्थः, तथा शाखया शाखाभङ्गेन पल्लवेनेत्यर्थः, तथा बर्हेण वा बर्हकलापेन वा, तथा वस्त्रेण वस्त्रकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा तथाप्रकारेणान्येन वा केनचित् 'फुमेज्जा वे'ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुखवायुना शीतीकुर्याद् वस्त्रादिभिर्वा वीजयेत्, स भिक्षुः पूर्वमेव 'आलोकयेद्' दत्तोपयोगो भवेत्, तथाकुर्वाणं च दृष्ट्वैतद्ब्रूयात्, तद्यथा–अमुक! इति वा भगिनि! इति वा इत्यामन्त्र्य मैवं कृथा यद्यभिकाङ्क्षसि मे दातुं तत एवंस्थितमेव ददस्व, अथ पुनः स परो–गृहस्थः 'से' तस्य भिक्षोरेवं वदतोऽपि सूर्पेण वा यावन्मुखेन वा वीजयित्वाऽऽहृत्य तथाप्रकारमशनादिकं दद्यात्, स च साधुरनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयादिति ॥ पिण्डाधिकार एवैषणादोषमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ वणस्सइकायपइट्ठियं तहप्पगारं असणं वा ४ वण० लाभे संते नो पडि० । एवं तसकाएवि ॥ (सू० ४०) ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयाद्–वनस्पतिकायप्रतिष्ठितं, तं चतुर्विधमप्याहारं न गृह्णीयादिति ॥ एवं त्रसकायसूत्रमपि नेयमिति । अत्र च वनस्पतिकायप्रतिष्ठितमित्यादिना निक्षिप्ताख्य एषणादोषोऽभिहितः, एवमन्येऽप्येषणादोषा यथासम्भवं सूत्रेष्वेवायोज्याः । ते चामी—"संकिय १ मक्खिय २ निक्खित्त ३ पिहिय ४ साहरिय ५ दायगु ६ म्मीसे ७ । अपरिणय ८ लित्त ९ छड्डिय १० एसणदोसा दस हवंति ॥ १ ॥" तत्र शङ्कितमाधाकर्मादिना १, म्रक्षितमुदकादिना २, निक्षिप्तं पृथिवीकायादौ ३, पिहितं बीजपूरकादिना ४, 'साहरियं'ति मात्रकादेस्तुषाद्यदेयमन्यत्र सचित्तपृथिव्यादौ संहृत्य तेन मात्रकादिना यद्ददाति तत्संहृतमित्युच्यते ५, 'दायग'त्ति दाता बालवृद्धाद्ययोग्यः ६, उन्मिश्रं–सचित्तमिश्रम् ७, अपरिणतमिति यद्देयं न सम्यगचित्तीभूतं दातृग्राहकयोर्वा न सम्यग्भावोपेतं ८, लिप्तं वसादिना ९, 'छड्डिय'ंति परिशाटव १० दित्येषणादोषाः ॥ साम्प्रतं पानकाधिकारमुद्दिश्याह—

१ शङ्कितं म्रक्षितं निक्षिप्तं पिहितं संहृतं दायकदोषदुष्टं उन्मिश्रम् । अपरिणतं लिप्तं छर्दितं एषणादोषा दश भवन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४१]

दीप अनुक्रम [३७५]

से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा–उस्सेइमं वा १ संसेइमं वा २ चाउलोदगं वा ३ अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाधोयं अणंबिलं अव्वुक्कंतं अपरिणयं अविद्धत्थं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा । अह पुण एवं जाणिज्जा चिराधोयं अंबिलं वुक्कंतं परिणयं विद्धत्थं फासुयं पडिगाहिज्जा । से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा–तिलोदगं वा ४ तुसोदगं वा ५ जवोदगं वा ६ आयामं वा ७ सोवीरं वा ८ सुद्धवियडं वा ९ अन्नयरं वा तहप्पगारं वा पाणगजायं पुव्वामेव आलोइज्जा–आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पाणगजायं ?, से सेवं वयंतस्स परो वइज्जा–आउसंतो समणा ! तुमं चेवेयं पाणगजायं पडिग्गहेण वा उस्सिंचिया णं उयत्तिया णं गिण्हाहि, तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा गिण्हिज्जा परो वा से दिज्जा, फासुयं लाभे संते पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ४१)

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पानकार्थं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयात् तद्यथा—'उस्सेइमं वे'ति पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकं १ 'संसेइमं वे'ति तिलधावनोदकं, यदिवाऽरणिकादिसंस्विन्नधावनोदकं २, तत्र प्रथमद्वितीयोदके प्रासुके एव, तृतीयचतुर्थे तु मिश्रे, कालान्तरेण परिणते भवतः, 'चाउलोदयं'ति तन्दुलधावनोदकम् ३, अत्र च त्रयोऽनादेशाः, तद्यथा–बुद्बुद-विगमो वा १ भाजनलग्नबिन्दुशोषो वा २ तन्दुलपाको वा ३, आदेशस्त्वयम्–उदकस्वच्छीभावः, तदेवमाद्युदकम् 'अ-नाम्लं' स्वस्वादादचलितम् अव्युत्क्रान्तमपरिणतमविध्वस्तमप्रासुकं यावन्न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ एतद्विपरीतं तु ग्राह्यमि-त्याह–अहेत्यादि सुगमम् । पुनः पानकाधिकार एव विशेषार्थमाह—स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टो यत्पुनः पानकजातमेवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जानीयात्, तद्यथा—'तिलोदकं' तिलैः केनचित्संस्कारेण प्रासुकीकृतमुदकम् ४, एवं तुषैर्यवैर्वा ५–६, तथा 'आचाम्लम्' अवश्यानं ७, 'सौवीरम्' आरनालं ८ 'शुद्धविकटं' प्रासुकमुदकम् ९, अन्यद्वा तथाप्रकारं द्राक्षापानकादि 'पानकजातं' पानीयसामान्यं पूर्वमेव 'अवलोकयेत्' पश्येत्, तच्च दृष्ट्वा तं गृहस्थम् अमुक! इति वा भगिनि! इति वेत्यामन्त्र्यैवं ब्रूयाद्–यथा दास्यसि मे किञ्चित्पानकजातं?, स परस्तं भिक्षुमेवं वदन्तमेवं ब्रूयाद्–यथा आयुष्मन्! श्रमण! त्वमेवेदं पानकजातं स्वकीयेन पतद्ग्रहेण टोप्परिकया कटाहकेन वोत्सिञ्चापवृत्त्य वा पानकभाण्डकं गृहाण, स एवमभ्यनुज्ञातः स्वयं गृह्णीयात् परो वा तस्मै दद्यात्, तदेवं लाभे सति प्रतिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगं जाणिज्जा–अणंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए उद्धट्टु २ निक्खित्ते सिया, असंजए भिक्खुपडियाए उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीओदगेण वा संभोइत्ता आहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पाणगजायं अफासुयं० एयं खलु सामग्गियं० ॥ (सू० ४२) ॥ पिण्डैषणायां सप्तमः २–१–१–७ ।

स भिक्षुर्यदि पुनरेवं जानीयात् तत्पानकं सचित्तेष्वव्यवहितेषु पृथिवीकायादिषु तथा मर्कटकादिसन्तानके वाऽन्यतो भाजनादुद्धृत्योद्धृत्य 'निक्षिप्तं' व्यवस्थापितं स्यात्, यदिवा स एव 'असंयतः' गृहस्थः 'भिक्षुप्रतिज्ञया' भिक्षुमुद्दिश्य 'उदकार्द्रेण' गलद्बिन्दुना 'सस्निग्धेन' गलदुदकबिन्दुना 'सकषायेण' सचित्तपृथिव्याद्यवयवगुण्ठितेन 'मात्रेण' भाजनेन शीतोदकेन वा 'संभोएत्ता' मिश्रयित्वाऽऽहृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं पानकजातमप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयात्, एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा 'सामग्र्यं' समग्रो भिक्षुभाव इति ॥ प्रथमस्य सप्तमः समाप्तः ॥ २–१–१–७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उक्तः सप्तमोद्देशकः, साम्प्रतमष्टमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके पानकविचारः कृतः, इहापि तद्गतमेव विशेषमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा–अंबपाणगं वा १० अंबाडगपाणगं वा ११ कविट्ठपाण० १२ माउलिंगपा० १३ मुद्दियापा० १४ दालिमपा० १५ खज्जूरपा० १६ नालियेरपा० १७ करीरपा० १८ कोलपा० १९ आमलपा० २० चिंचापा० २२ अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजातं सअट्ठियं सकणुयं सबीयगं अस्संजए भिक्खुपडियाए छब्बेण वा दूसेण वा वालगेण वा आविलियाण परिवीलियाण परिसावियाण आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं पाणगजायं अफा० लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ४३) ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवंभूतं पानकजातं जानीयात्, तद्यथा—'अंबगपाणगं वे'त्यादि सुगमं, नवरं 'मुद्दिया' द्राक्षा कोलानि–बदराणि, एतेषु च पानकेषु द्राक्षाबदराम्बिलिकादिकतिचित्पानकानि तत्क्षणमेव संमर्द्य क्रियन्ते अपराणि त्वाम्राम्बाडकादिपानकानि द्वित्रादिदिनसन्धानेन विधीयन्त इत्येवंभूतं पानकजातं तथाप्रकारमन्यदपि 'सास्थिकं' सहास्थिना कुलकेन यद्वर्त्तते, तथा सह कणुकेन–त्वगाद्यवयवेन यद्वर्त्तते, तथा बीजेन सह यद्वर्त्तते, अस्थिबीजयोश्चामलकादौ प्रतीतो विशेषः, तदेवंभूतं पानकजातम् 'असंयतः' गृहस्थो भिक्षुमुद्दिश्य–साध्वर्थं द्राक्षादिकमामर्द्य पुनर्वंशत्वग्निष्पादितच्छब्बकेन वा, तथा दूसं–वस्त्रं तेन वा, तथा 'वालगेणं'ति गवादिवालधिवालनिष्पन्नचालनकेन सुधरिकागृहकेन वा इत्यादिनोपकरणेनास्थ्याद्यपनयनार्थं सकृदापीड्य पुनः पुनः परिपीड्य, तथा परिस्राव्य निर्गाल्याहृत्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", अष्टम-उद्देशक: आरब्ध:

च साधुसमीपं दद्यादिति, एवंप्रकारं पानकजातमुद्गमदोषदुष्टं सत्यपि लाभे न प्रतिगृह्णीयात्, ते चामी उद्गमदोषाः— "आहाकम्मु १ देसिअ २ पूतीकम्मे ३ अ मीसजाए अ ४ । ठवणा ५ पाहुडियाए ६ पाओअर ७ कीय ८ पामिच्चे ९ ॥ १ ॥ परियट्टिए १० अभिहडे ११ उब्भिन्ने १२ मालोहडे १३ इअ । अच्छेज्जे १४ अणिसट्ठे १५ अज्झोअरए १६ अ सोलसमे ॥ २ ॥" साध्वर्थं यत्सचित्तमचित्तीक्रियते अचित्तं वा यत्पच्यते तदाधाकर्म १ । तथाऽऽत्मार्थं यत्पूर्वसिद्धमेव लड्डुकचूर्णकादि साधुमुद्दिश्य पुनरपि [संत] गुडादिना संस्क्रियते तदुद्देशिकं सामान्येन, विशेषतो विशेषसूत्रादवगन्तव्यमिति २ । यदाधाकर्माद्यवयवसम्मिश्रं तत्पूतीकर्म ३ । संयतासंयताद्यर्थमादेरारभ्याहारपरिपाको मिश्रम् ४ । साध्वर्थं क्षीरादिस्थापनं स्थापना भण्यते ५ । प्रकरणस्य साध्वर्थमुत्सर्पणमवसर्पणं वा प्राभृतिका ६ । साधूनुद्दिश्य गवाक्षादिप्रकाशकरणं बहिर्वा प्रकाशे आहारस्य व्यवस्थापनं प्रादुष्करणम् ७ । द्रव्यादिविनिमयेन स्वीकृतं क्रीतम् ८ । साध्वर्थं यदन्यस्मादुच्छिन्नकं गृह्यते तत्पामिच्चंति ९ । यच्छाल्योदनादि कोद्रवादिना प्रातिवेशिकगृहे परिवर्त्य ददाति तत्परिवर्त्तितम् १० । यद्गृहादेः साधुवसतिमानीय ददाति तदाहृतम् ११ । गोमयाद्युपलिप्तं भाजनमुद्भिद्य ददाति तदुद्भिन्नम् १२ । मालाद्यवस्थितं निश्रेण्यादिनाऽवतार्य ददाति तन्मालाहृतम् १३ । भृत्यादेराच्छिद्य यद्दीयते तदाच्छेद्यम् १४ । सामान्यं श्रेणीभक्तकाद्येकस्य ददतोऽनिसृष्टम् १५ । स्वार्थमधिश्रयणादौ कृते पश्चात्तन्दुलादिप्रसृत्यादिप्रक्षेपादध्यवपूरकः १६ । तदेवमन्यतमेनापि दोषेण दुष्टं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ पुनरपि भक्तपानविशेषमधिकृत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४४]

दीप अनुक्रम [३७८]

से भिक्खू वा० २ आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावईगिहेसु वा परियावसहेसु वा अन्नगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा आघाय २ से तत्थ आसायपडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने अहो गंधो २ नो गंधमाघाइज्जा (सू० ४४)

'आगंतारेसु व'त्ति पत्तनाद्बहिर्गृहेषु, तेषु ह्यागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्तीति, तथाऽऽरामगृहेषु वा गृहपतिगृहेषु वा 'पर्यावसथेषु' इति भिक्षुकादिमठेषु वा, इत्येवमादिष्वन्नपानगन्धान् सुरभीनाघ्रायाघ्राय स भिक्षुस्तेष्वास्वादनप्रतिज्ञया मूर्छितो गृद्धो ग्रथितोऽध्युपपन्नः सन्नहो! गन्धः अहो! गन्ध इत्येवमादरवान् न गन्धं जिघ्रेदिति ॥ पुनरप्याहारमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ से जं० सालुयं वा बिरालियं वा सासवनालियं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासु० । से भिक्खू वा० से जं पुण० पिप्पलिं वा पिप्पलचुण्णं वा मिरियं वा मिरियचुण्णं वा सिंगबेरं वा सिंगबेरचुण्णं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं वा आमगं वा असत्थ प० । से भिक्खू वा० से जं पुण पलंबजायं जाणिज्जा, तंजहा—अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालप० झिज्झिरिप० सुरहि० सल्लइप० अन्नयरं तहप्पगारं पलंबजायं आमगं असत्थप० । से भिक्खू ५ से जं पुण पवालजायं जाणिज्जा, तंजहा—आसोट्ठपवालं वा निग्गोहप० पिलुंखुप० निपूरप० सल्लइप० अन्नयरं वा तहप्पगारं पवालजायं आमगं असत्थपरिणयं० । से भि० से जं पुण० सरडुयजायं जाणिज्जा, तंजहा—सरडुयं वा कविट्ठसर० दाडिमसर० बिल्लस० अन्नयरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं आमं असत्थ परिणयं० । से भिक्खू वा० से जं पु० तंजहा—उंबरमंथुं वा नग्गोहमं० पिलुंखुमं० आसोत्थमं० अन्नयरं वा तहप्पगारं वा मंथुजायं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं० ॥ (सू० ४५) ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४५]

दीप अनुक्रम [३७९]

सुगमं, 'सालुकम्' इति कन्दको जलजः, 'बिरालियं' इति कन्द एव स्थलजः, 'सासवणालिअ'न्ति सर्षपकन्दल्य इति ॥ किञ्च–पिप्पलीमरिचे–प्रतीते 'शृङ्गबेरम्' आर्द्रकं तथाप्रकारमामलकादि आमम्–अशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ सुगमं, नवरं पलम्बजातमिति फलसामान्यं झिञ्झिरी–वल्ली पलाशः सुरभिः–शतमुरिति ॥ गतार्थं, नवरम् 'आसोट्ठे'त्ति अश्वत्थः 'पिलुंखु'त्ति पिप्परी णिपूरो–नन्दीवृक्षः ॥ पुनरपि फलविशेषमधिकृत्याह— सुगमं, नवरं 'सरडुअं वे'ति अबद्धास्थिफलं, तदेव विशिष्यते कपित्थादिभिरिति ॥ स्पष्टं, नवरं 'मंथु'न्ति चूर्णः 'दुरुक्कं'ति ईषत्पिष्टं 'साणुबीय'न्ति अविध्वस्तयोनिबीजमिति ॥

से भिक्खू वा० से जं पुण० आमडागं वा पूइपिन्नागं वा महुं वा मज्जं वा सप्पिं वा खोलं वा पुराणगं वा इत्थ पाणा अणुप्पसूयाइं जायाइं संवुड्ढाइं अव्वुक्कंताइं अपरिणया इत्थ पाणा अविद्धत्था नो पडिगाहिज्जा । (सू० ४६)॥

स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयत्, तद्यथा—'आमडागं वे'ति 'आमपत्रम्' अरणिकतन्दुलीयकादि तच्चार्द्धपक्वमपक्वं वा, 'पूतिपिन्नाग'न्ति कुथितखलं मधुमद्ये–प्रतीते 'सर्पिः' घृतं 'खोलं' मद्याधःकर्दमः, एतानि पुराणानि न ग्राह्याणि, यत एतेषु प्राणिनोऽनुप्रसूता जाताः संवृद्धा अव्युत्क्रान्ता अपरिणताः–अविध्वस्ताः, नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेकार्थिकान्येवैतानि किञ्चिद्भेदाद्वा भेदः ॥

से भिक्खू वा० से जं० उच्छुमेरगं वा अंककरेलुगं वा कसेरुगं वा सिंघाडगं वा पूइआलुगं वा अन्नयरं वा० । से भिक्खू वा० से जं० उप्पलं वा उप्पलनालं वा भिसं वा भिसमुणालं वा पुक्खलं वा पुक्खलविभंगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं० । (सू० ४७)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४७]

दीप अनुक्रम [३८१]

'उच्छुमेरगं'ति अपनीतत्वगिक्षुगण्डिका 'अंककरेलुअं वा' इत्येवमादीन् वनस्पतिविशेषान् जलजान् अन्यद्वा तथाप्रकारमामम्–अशस्त्रोपहतं नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥ स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा—'उत्पलं' नीलोत्पलादि नालं–तस्यैवाधारः, 'भिसं' पद्मकन्दमूलं 'भिसमुणालं' पद्मकन्दोपरिवर्त्तिनी लता 'पोक्खलं' पद्मकेसरं 'पोक्खलविभंगं' पद्मकन्दः अन्यद्वा तथाप्रकारमामम्–अशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥

से भिक्खू वा २ से जं पु० अग्गबीयाणि वा मूलबीयाणि वा खंधबीयाणि वा पोरबी० अग्गजायाणि वा मूलजा० खंधजा० पोरजा० नन्नत्थ तक्कलिमत्थए ण वा तक्कलिसीसे ण वा नालियेरमत्थएण वा खजूरिमत्थएण वा तालम० अन्नयरं वा तह०। से भिक्खू वा २ से जं० उच्छुं वा काणगं वा अंगारियं वा संमिस्सं विगदूमियं वित(त्त)ग्गगं वा कंदलीऊसुगं अन्नयरं वा तहप्पगा०। से भिक्खू वा० से जं० लसुणं वा लसुणपत्तं वा ल० नालं वा लसुणकंदं वा ल० चोयगं वा अन्नयरं वा०। से भिक्खू वा० से जं० अच्छियं वा कुंभिपक्कं तिंदुगं वा वेलुगं वा कासवनालियं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थ-प०। से भिक्खू वा० से जं० कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलियं वा चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्प-डगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० लाभे संते नो प०, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं ॥ (सू० ४८)

२–१–१–८ ॥ पिण्डैषणायामष्टम उद्देशकः ॥

स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा—'अग्रबीजानि' जपाकुसुमादीनि 'मूलबीजानि' जात्यादीनि 'स्कन्धबीजानि' सल्लक्यादीनि 'पर्वबीजानि' इक्ष्वादीनि, तथा अग्रजातानि मूलजातानि स्कन्धजातानि पर्वजातानीति, 'णन्नत्थ'त्ति नान्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तादग्रादेरानीयान्यत्र प्ररोहितानि किन्तु तत्रैवाग्रादौ जातानि, तथा 'तक्कलिमत्थए ण वा' तक्कली–कन्दली 'ण' इति वाक्यालङ्कारे तन्मस्तकं–तन्मध्यवर्त्ती गर्भः, तथा 'कन्दलीशीर्षं' कन्दलीस्तबकः, एवं नालिकेरादेरपि द्रष्टव्यमिति, अथवा कन्दल्यादिमस्तकेन सदृशमन्यद्यच्छिन्नानन्तरमेव ध्वंसमुपयाति तत्तथाप्रकारमन्यदामम्–अशस्त्रपरिणतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा–इक्षुं वा 'काणगं'ति व्याधिविशेषात्सच्छिद्रं, तथा 'अंगारकितं' विवर्णीभूतं, तथा 'सम्मिश्रं' स्फुटितत्वक् 'विगदूमियं'ति वृकैः शृगालैर्वा ईषद्भक्षितं, न ह्येतावता रन्धाद्युपद्रवेण तत्प्रासुकं भवतीति सूत्रोपन्यासः, तथा वेत्राग्रं 'कंदलीऊसुयं'ति कन्दलीमध्यं, तथाऽन्यदप्येवंप्रकारमामम्–अशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ एवं लशुनसूत्रमपि सुगमं, नवरं 'चोअगं'ति कोशिकाकारा लशुनस्य बाह्यत्वक्, सा च यावत्सार्द्रा तावत्सचित्तेति ॥ 'अच्छियं'ति वृक्षविशेषफलं 'तेंदुयं'ति टेम्बरूयं 'वेलुयं'ति बिल्वं 'कासवनालियं'ति श्रीपर्णीफलं, कुम्भीपक्कशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, एतदुक्तं भवति–यदच्छिकफलादिगर्त्तादावप्राप्तपाककालमेव बलात्पाकमानीयते तदाममू–अपरिणतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ 'कणम्' इति शाल्यादेः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः संभवेत् 'कणिककुण्डं' कणिकाभिर्मिश्राः कुक्कुसाः 'कणपूयलिअं'ति कणिकाभिर्मिश्राः पूपलिकाः कणपूपलिकाः, अत्रापि मन्दपक्वादौ नाभिः संभाव्यते, शेषं सुगमं यावत्तस्य भिक्षोः 'सामग्र्यं' सम्पूर्णो भिक्षुभाव इति ॥ प्रथमस्याष्टमोद्देशकः समाप्तः ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [४९]

दीप अनुक्रम [३८३]

उक्तोऽष्टमोद्देशकः, साम्प्रतं नवम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरमनेषणीयपिण्डपरिहार उक्तः, इहापि प्रकारान्तरेण स एवाभिधीयते—

इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, गाहावई वा जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ–जे इमे भवंति समणा भगवंता सीलवंतो वयवंतो गुणवंतो संजया संवुडा बंभयारी उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा पायए वा, से जं पुण इमं अम्हं अप्पणो अट्ठाए निट्ठियं तं असणं ४ संव्वमेयं समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो अट्ठाए असणं वा ४ चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं० ॥ (सू० ४९)

'इहे'ति वाक्योपन्यासे प्रज्ञापकक्षेत्रे वा, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादौ दिशि सन्ति–विद्यन्ते पुरुषाः तेषु च केचन श्रद्धालवो भवेयुः ते च श्रावकाः प्रकृतिभद्रका वा, ते चामी–गृहपतिर्यावत्कर्मकरी वेति, तेषां चेदमुक्तपूर्वं भवेत्—'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, ये इमे 'श्रमणाः' साधवो भगवन्तः 'शीलवन्तः' अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः 'व्रतवन्तः' रात्रिभोजनविरमणषष्ठपञ्चमहाव्रतधारिणः 'गुणवन्तः' पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणोपेताः 'संयताः' इन्द्रियनोइन्द्रियसंयमवन्तः 'संवृताः' पिहितास्रवद्वाराः 'ब्रह्मचारिणः' नवविधब्रह्मगुप्तिगुप्ताः 'उपरता मैथुनाद्धर्मात्' अष्टादशविकल्पब्रह्मोपेता(संयता)ः, एतेषां च न कल्पते आधाकर्मिकमशनादि भोक्तुं पातुं वा, अतो यदात्मार्थमस्माकं निष्ठितं-सिद्धमशनादि ४ तत्सर्वमेतेभ्यः श्रमणेभ्यः 'णिसिरामो'त्ति प्रयच्छामः, अपि च–वयं पश्चादात्मार्थमशनाद्यन्यत् 'चेत-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", नवम-उद्देशक: आरब्ध:

यिष्यामः' सङ्कल्पयिष्यामो निर्वर्त्तयिष्याम इतियावत्, तदेवं साधुरेवं 'निर्घोषं' ध्वनिं स्वत एव श्रुत्वाऽन्यतो वा कुतश्चित् 'निशम्य' ज्ञात्वा तथाप्रकारमशनादि पश्चात्कर्मभयादप्रासुकमित्यनेषणीयं मत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे से जं० गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा रायहाणिंसि वा संतेगइयस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा—गाहावई वा जाव कम्म० तहप्पगाराइं कुलाइं नो पुव्वामेव भत्ताए वा निक्खमिज्ज वा पविसेज्ज वा २, केवली बूया—आयाणमेयं, पुरा पेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं वा ४ उवकरिज्ज वा उवक्खडिज्ज वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा ४ जं नो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्वामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा २, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिट्ठिज्जा, से तत्थ कालेणं अणुपविसिज्जा २ तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारिज्जा, सिया से परो कालेण अणुपविट्ठस्स आहाकम्मियं असणं वा उवकरिज्ज वा उवक्खडिज्ज वा तं चेगइओ तुसिणीओ उवेहेज्जा, आहडमेव पच्चाइक्खिस्सामि, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मियं असणं वा ४ भुत्तए वा पायए वा, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, से सेवं वयंतस्स परो आहाकम्मियं असणं वा ४ उवक्खडावित्ता आहट्टु दलइज्जा तहप्पगारं असणं वा० अफासुयं० ॥ (सू० ५०)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा–ग्रामं वा यावद्राजधानीं वा, अस्मिंश्च ग्रामादौ 'सन्ति' विद्यन्ते कस्यचिद्गृहिणोः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५०]

दीप अनुक्रम [३८४]

'पूर्वसंस्तुताः' पितृव्यादयः 'पश्चात्संस्तुता वा' श्वशुरादयः, ते च तत्र बद्धगृहाः प्रबन्धेन प्रतिवसन्ति, ते चामी–गृहपतिर्वा यावत्कर्मकरी वा, तथाप्रकाराणि च कुलानि भक्तपानाद्यर्थं न प्रविशेत् नापि निष्क्रामेत्, स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह–केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, किमिति?, यतः पूर्वमेवैतत् 'प्रत्युपेक्षेत' पर्यालोचयेत्, तथा 'एतस्य' भिक्षोः कृते 'परः' गृहस्थोऽशनाद्यर्थम् 'उपकुर्यात्' ढौकयेदुपकरणजातम्, 'उवक्खडेज्ज'त्ति तदशनादि पचेद्वेति, 'अथ' अनन्तरं भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादि, यथा–नो तथाप्रकाराणि स्वजनसम्बन्धीनि कुलानि पूर्वमेव–भिक्षाकालादारत एव भक्ताद्यर्थं प्रविशेद्वा निष्क्रामेद्वेति । यद्विधेयं तद्दर्शयति—'से तमादाये'ति 'सः' साधुः 'एतत्' स्वजनकुलम् 'आदाय' ज्ञात्वा केनचित्स्वजनेनाज्ञात एवैकान्तमपक्रामेद्, अपक्रम्य च स्वजनाद्यनापातेऽनालोके च तिष्ठेत्, स च तत्र स्वजनसम्बद्धग्रामादौ 'कालेन' भिक्षाऽवसरेणानुप्रविशेत्, अनुप्रविश्य च 'इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः' स्वजनरहितेभ्यः 'एसियं'ति एषणीयम्–उद्गमादिदोषरहितं 'वेसियं'ति वेषमात्रादवाप्तमुत्पादनादिदोषरहितं 'पिण्डपातं' भिक्षाम् 'एषित्वा' अन्विष्य एवंभूतं ग्रासैषणादोषरहितमाहारमाहारयेदिति । ते चामी उत्पादनादोषाः, तद्यथा—"धाई १ दूइ २ निमित्ते ३ आजीव ४ वणीमगे ५ तिगिच्छा ६ य । कोहे ७ माणे ८ माया ९ लोभे १० य हवन्ति दस एए ॥ १ ॥ पुव्विंपच्छासंथव ११ विज्जा १२ मंते १३ अ चुण्ण १४ जोगे १५ य । उप्पायणाय दोसा सोलसमे मूलकम्मे य १६ ॥ २ ॥" तत्राशनाद्यर्थं दातुरपत्योपकारे वर्त्तत इति धात्रीपिण्डः १, तथा कार्यसङ्घट्टनाय दौत्यं विधत्ते इति दूतीपिण्डः २, निमित्तम्–अङ्गुष्टप्रश्नादि तदवाप्तो निमित्तपिण्डः ३, तथा जात्याद्याजीवनादवाप्त आजीविकापिण्डः ४, दातुर्यस्मिन् भक्तिस्तत्प्रशंसयाऽवाप्तो व-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णीमगपिण्डः ५, सूक्ष्मेतरचिकित्सयाऽऽवासश्चिकित्सापिण्डः ६, एवं क्रोधमानमायालोभैरवाप्तः क्रोधादिपिण्डः १०, भिक्षादानात्पूर्वं पश्चाद्वा दातुः 'कर्णायते भवानि'त्येवं संस्तवादवाप्तः पूर्वपश्चात्संस्तवपिण्डः ११, विद्ययाऽवाप्तो विद्यापिण्डः १२, तथैव मन्त्रजापावाप्तो मन्त्रपिण्डः १३, वशीकरणाद्यर्थं द्रव्यचूर्णादवाप्तश्चूर्णपिण्डः १४, योगाद्–अञ्जनादेरवाप्तो योगपिण्डः १५, यदनुष्ठानाद्गर्भशातनादेर्मूलमवाप्यते तद्विधानादवाप्तो मूलपिण्डः १६, तदेवमेते साधुसमुत्थाः षोडशोत्पादनादोषाः । ग्रासैषणादोषाश्चामी—"संजोअणा १ पमाणे २ इंगाले ३ धूम ४ कारणे ५ चेव ।" तत्राहारलोलुपतया दधिगुडादेः संयोजनां विदधतः संयोजनादोषः १, द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणातिरिक्तमाहारमाहारयतः प्रमाणदोषः २, तथाऽऽहारागाद्गार्द्ध्याद् भुञ्जानस्य चारित्राङ्गारत्वापादनादङ्गारदोषः ३, तथाऽन्तप्रान्तादावाहारद्वेषाच्चारित्रस्याभिधूमनाद्धूमदोषः ४, वेदनादिकारणमन्तरेण भुञ्जानस्य कारणदोषः ५, इत्येवं वेषमात्रावाप्तं ग्रासैषणादिदोषरहितः सन्नाहारमाहारयेदिति । अथ कदाचिदेवं स्यात्, सः 'परः' गृहस्थः कालेनानुप्रविष्टस्यापि भिक्षोराधाकर्मिकमशनादि विदध्यात्, तच्च कश्चित्साधुस्तूष्णीभावेनोल्लेक्षेत, किमर्थम्?, आहृतमेव प्रत्याख्यास्यामीति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैवं कुर्यात्, यथा च कुर्यात्तदर्शयति–स पूर्वमेव 'आलोकयेत्' दत्तोपयोगो भवेत्, दृष्ट्वा चाहारं संस्क्रियमाणमेवं वदेद्–यथा अमुक! इति वा भगिनि! इति वा न खलु मम कल्पत आधाकर्मिक आहारो भोक्तुं वा पातुं वाऽतस्तदर्थं यत्नो न विधेयः, अथैवं वदतोऽपि पर आधाकर्मादि कुर्यात्ततो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू वा से जं० मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए तिल्लपूयं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए नो खद्धं २ उवसंकमित्तु ओभासिज्जा, नन्नत्थ गिलाणणीसाए ॥ (सू० ५१)

स पुनः साधुर्यदि पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा–मांसं वा मत्स्यं वा 'भज्यमान'मिति पच्यमानं तैलप्रधानं वा पूपं, तच्च किमर्थं क्रियते इति दर्शयति–यस्मिन्नायाते कर्मण्यादिश्यते परिजनः स आदेशः–प्राघूर्णकस्तदर्थं संस्क्रियमाणमाहारं प्रेक्ष्य लोलुपतया 'नो' नैव 'खद्धं २'ति शीघ्रं २, द्विर्वचनमादरख्यापनार्थमुपसंक्रम्यावभाषेत–याचेत, अन्यत्र ग्लानादिकार्यादिति ॥

से भिक्खू वा० अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता सुब्भिं सुब्भिं भुच्चा दुब्भिं २ परिट्ठवेइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा । सुब्भिं वा दुब्भिं वा सव्वं भुंजिज्जा नो किंचिवि परिट्ठविज्जा ॥ (सू० ५२)

स भिक्षुरन्यतरद् भोजनजातं परिगृह्य सुरभि सुरभि भक्षयेत् दुर्गन्धं २ परित्यजेत्, वीप्सायां द्विर्वचनं, मातृस्थानं चैवं संस्पृशेत्, तच्च न कुर्यात्, यथा च कुर्यात् तद्दर्शयति–सुरभि वा दुर्गन्धं वा सर्वं भुञ्जीत न परित्यजेदिति ॥

से भिक्खू वा २ अन्नयरं पाणगजायं पडिगाहित्ता पुप्फं २ आविइत्ता कसायं २ परिट्ठवेइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा । पुप्फं पुप्फेइ वा कसायं कसाइ वा सव्वमेयं भुंजिज्जा, नो किंचिवि परि० ॥ (सू० ५३)

एवं पानकसूत्रमपि, नवरं वर्णगन्धोपेतं पुष्पं तद्विपरीतं कषायं, वीप्सायां द्विर्वचनं, दोषश्चानन्तरसूत्रयोराहारगार्ध्यात् सूत्रार्थहानिः कर्मबन्धश्चेति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू वा० बहुपरियावन्नं भोयणजायं पडिगाहित्ता बहवे साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुन्ना अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणालोइया अणामंते परिट्ठवेइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करेज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा पाणे वा ४ बहुपरियावन्ने तं भुंजह णं, से सेवं वयंतं परो वइज्जा—आउसंतो समणा ! आहारमेयं असणं वा ४ जावइयं २ सरइ तावइयं २ भुक्खामो वा पाहामो वा सव्वमेयं परिसडइ सव्वमेयं भुक्खामो वा पाहामो वा ॥ (सू० ५४)

स भिक्षुर्बह्वशनादि पर्यापन्नं–लब्धं परिगृह्य बहुभिर्वा प्रकारैराचार्यग्लानप्राघूर्णकाद्यर्थं दुर्लभद्रव्यादिभिः पर्यापन्नमाहारजातं परिगृह्य तद्बहुत्वाद्भोक्तुमसमर्थः, तत्र च साधर्मिकाः सम्भोगिकाः समनोज्ञा अपरिहारिका एकार्थाश्चालापकाः, इत्येतेषु सत्स्वदूरगतेषु वा ताननापृच्छ्य प्रमादितया 'परिष्ठापयेत्' परित्यजेत्, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, नैवं कुर्यात्, यच्च कुर्यात्तदर्शयति–स भिक्षुस्तदधिकमाहारजातं परिगृह्य तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव 'आलोकयेत्' दर्शयेत्, एवं च ब्रूयाद्–आयुष्मन्! श्रमण! ममैतदशनादि बहु पर्यापन्नं नाहं भोक्तुमलमतो यूयं किञ्चिद् भुङ्क्ष्वं, तस्य चैवं वदतः स परो ब्रूयाद्–यावन्मात्रं भोक्तुं शक्नुमस्तावन्मात्रं भोक्ष्यामहे पास्यामो वा, सर्वं वा 'परिशटति' उपयुज्यते तत्सर्वं भोक्ष्यामहे पास्याम इति ॥

से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ परं समुद्दिस्स बहिया नीहडं जं परेहिं असमणुन्नायं अणिसिट्ठं अफा० जाव नो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [५५]

दीप अनुक्रम [३८९]

पडिगाहिज्जा जं परेहिं समणुण्णायं सम्मं णिसिट्ठं फासुयं जाव पडिगाहिज्जा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं (सू० ५५) ॥ २–१–१–९ ॥ पिण्डैषणायां नवम उद्देशकः ।

स पुनर्यदेवंभूतमाहारजातं जानीयात्, तद्यथा—'परं' चारभटादिकमुद्दिश्य गृहान्निष्क्रान्तं यच्च परैर्यदि भवान् कस्मैचिद्दाति ददात्वित्येवं समनुज्ञातं नेतुर्दातुर्वा स्वामित्वेनानिसृष्टं वा तद् बहुदोषदुष्टत्वादप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयात्, तद्विपरीतं तु प्रतिगृह्णीयादिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ प्रथमाध्ययनस्य नवमोद्देशकः परिसमाप्तः ॥

उक्तो नवमोऽधुना दशम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तरं पिण्डग्रहणविधिः प्रतिपादितः, इह तु साधारणादिपिण्डावाप्तौ वसतौ गतेन साधुना यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

से एगइओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहित्ता ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलइ, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा । से तमायाय तत्थ गच्छिज्जा २ एवं वइज्जा—आउसंतो समणा ! संति मम पुरेसंथुया वा पच्छा० तंजहा—आयरिए वा १ उवज्झाए वा २ पवित्ती वा ३ थेरे वा ४ गणी वा ५ गणहरे वा ६ गणावच्छेइए वा ७ अवियाइं एएसिं खद्धं खद्धं दाहामि, सेणेवं वयंतं परो वइज्जा—कामं खलु आउसो ! अहापज्जत्तं निसिराहि, जावइयं २ परो वदइ तावइयं २ निसिरिज्जा, सव्वमेवं परो वयइ सव्वमेयं निसिरिज्जा ॥ (सू० ५६)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", दशम-उद्देशक: आरब्ध:

'सः भिक्षुः 'एकतरः' कश्चित् 'साधारणं' बहूनां सामान्येन दत्तं वाशब्दः पूर्वोत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः पिण्डपातं परिगृह्य तान् साधर्मिकाननापृच्छ्य यस्मै यस्मै रोचते तस्मै तस्मै स्वमनीषिकया 'खद्धं खद्धं'ति प्रभूतं प्रभूतं प्रयच्छति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत् तस्मान्नैवं कुर्यादिति ॥ असाधारणपिण्डावाप्तावपि यद्विधेयं तद्दर्शयति—

'सः' भिक्षुः 'तम्' एषणीयं केवलवेषावाप्तं पिण्डमादाय 'तत्र' आचार्याद्यन्तिके गच्छेत्, गत्वा चैवं वदेद्, यथा—आयुष्मन्! श्रमण! 'सन्ति' विद्यन्ते मम 'पुरःसंस्तुताः' यदन्तिके प्रव्रजितस्तत्सम्बन्धिनः 'पश्चात्संस्तुता वा' यदन्तिकेऽधीतं श्रुतं वा तत्सम्बन्धिनो वाऽन्यत्रावासिताः, तांश्च स्वनामग्राहमाह, तद्यथा—'आचार्यः' अनुयोगधरः १ 'उपाध्यायः' अध्यापकः २ प्रवृत्तिर्यथायोगं वैयावृत्त्यादौ साधूनां प्रवर्त्तकः ३, संयमादौ सीदतां साधूनां स्थिरीकरणात्स्थविरः ४, गच्छाधिपो गणी ५, यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग्विहरति स गणधरः ६, गणावच्छेदकस्तु गच्छकार्यचिन्तकः ७, 'अविघाइं'ति इत्येवमादीनुद्दिश्यैतद्ददेद्—यथाऽहमेतेभ्यो युष्मदनुज्ञया 'खद्धं खद्धं'ति प्रभूतं प्रभूतं दास्यामि, तदेवं विज्ञप्तः सन् 'परः' आचार्यादिर्यावन्मात्रमनुजानीते तावन्मात्रमेव 'निसृजेत्' दद्यात् सर्वानुज्ञया सर्वं वा दद्यादिति ॥ किञ्च—

से एगइओ मणुन्नं भोयणजायं पडिगाहित्ता पंतेण भोयणेण पलिच्छाएइ मा मेयं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमाइए आयरिए वा जाव गणावच्छेए वा, नो खलु मे कस्सइ किंचि दायव्वं सिया, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा। से तमायाए

॥ ३५३ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कट्टु इमं खलु इमं खलुत्ति आलोइज्जा, नो किंचिवि णिगूहिज्जा।
से एगइओ अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता भद्दयं २ भुच्चा विवन्नं विरसमाहरइ, माइ०, नो एवं० ॥ (सू० ५७)

सुगमं, यावन्नैवं कुर्यात्, यच्च कुर्यात्तदर्शयति—'सः' भिक्षुः 'तं' पिण्डमादाय 'तत्र' आचार्याद्यन्तिके गच्छेद्, गत्वा च सर्वं यथाऽवस्थितमेव दर्शयेत्, न किञ्चित् 'अवगूहयेत्' प्रच्छादयेदिति ॥ साम्प्रतमटतो मातृस्थानप्रतिषेधमाह—

'सः' भिक्षुः 'एकतरः' कश्चित् 'अन्यतरत्' वर्णाद्युपेतं भोजनजातं परिगृह्याटन्नेव रसगृद्धुतया भद्रकं २ भुक्त्वा यद् 'विवर्णम्' अन्तप्रान्तादिकं तत्प्रतिश्रये 'समाहरति' आनयति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैवं कुर्यादिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० से जं० अंतरुच्छियं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा सिंबलिं वा सिंबलथालगं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे भोयणजाए बहुउज्झियधम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा० अफा० ॥ से भिक्खू वा २ से जं० बहुअट्ठियं वा मंसं वा मच्छं वा बहुकंटयं अस्सिं खलु० तहप्पगारं बहुअट्ठियं वा मंसं० लाभे संतो० । से भिक्खू वा० सिया णं परो बहुअट्ठिएणं मंसेण वा मच्छेण वा उवनिमंतिज्जा—आउसंतो समणा! अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहित्तए? एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा २ नो खलु मे कप्पइ बहु० पडिगा०, अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पुग्गलं दलयाहि, मा य अट्ठियाइं, से सेवं वयंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि बहु० परिभाइत्ता निहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफा० नो० । से आहच्च पडिगाहिए सिया तं नोहित्ति वइज्जा नो अणिहित्ति वइज्जा, से तमायाय एगंतम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वक्कमिज्जा २ अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे जाव संताणए मंसगं मच्छगं भुच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे झामथंडिलंसि वा जाव पमज्जिय पमज्जिय परट्ठविज्जा ॥ (सू० ५८)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारजातं जानीयात्, तद्यथा—'अंतरुच्छुअं व'त्ति इक्षुपर्वमध्यम् 'इक्षुगंडियं'ति सपर्वेक्षुशकलं 'चोयगो' पीलितेक्षुच्छोदिका 'मेरुकं' त्यग्रं 'सालगं'ति दीर्घशाखा 'डालगं'ति शाखैकदेशः 'सिंबलि'न्ति मुद्गादीनां विध्वस्ता फलिः 'सिंबलिथालगं'ति वल्लयादिफलीनां स्थाली फलीनां वा पाकः, अत्र चैवंभूते परिगृहीतेऽप्यन्तरिक्षवादिकेऽल्पमशनीयं बहुपरित्यजनधर्मकमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ एवं मांससूत्रमपि नेयम्, अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्फलवद्दृष्टं, भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थे नाभ्यवहारार्थे पदातिभोगवदिति ॥ एवं गृहस्थामन्त्रणादिविधिपुद्गलसूत्रमपि सुगममिति, तदेवमादिना छेदसूत्राभिप्रायेण ग्रहणे सत्यपि कण्टकादिप्रतिष्ठापनविधिरपि सुगम इति ॥

से भिक्खू० सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहे बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं परिभाइत्ता नीहट्टु दलइज्जा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि वा २ अफासुयं नो पडि०, से आहच्च पडिगाहिए सिया तं च नाइदूरगए जाणिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा २ इमं किं ते जाणया दिन्नं उयाहु अजाणया ?, से य भणिज्जा—नो खलु मे जाणया दिन्नं, अजाणया दिन्नं, कामं खलु आउसो ! इयाणिं निसिरामि, तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं तं परेहिं समणुन्नायं समणुसट्ठं तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाएइ भोत्तए वा पायए वा साहम्मिया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्थ वसंति संभोइया समणुन्ना अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणुप्पयायव्वं सिया, नो जत्थ साहम्मिया जहेव बहुपरियावन्नं कीरइ तहेव कायव्वं सिया, एवं खलु० ॥ (सू० ५९) ॥ २–१–१–१० ॥ पिण्डैषणायां दशम उद्देशकः ॥

स भिक्षुर्गृहादौ प्रविष्टः, तस्य च स्यात्–कदाचित् 'परः' गृहस्थः 'अभिहट्टु अंतो' इति अन्तः प्रविश्य पतद्ग्रहे–काष्ठच्छब्बकादौ ग्लानाद्यर्थं खण्डादियाचने सति 'बिडं वा लवणं' खनिविशेषोत्पन्नम् 'उब्भिज्जं वा' लवणाकराद्युत्पन्नं 'परिभाएत्त'त्ति दातव्यं विभज्य दातव्यद्रव्यात्कञ्चिदंशं गृहीत्वेत्यर्थः, ततो निःसृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं परहस्तादिगतमेव प्रतिषेधयेत्, तच्च 'आहच्चे'ति सहसा प्रतिगृहीतं भवेत्, तं च दातारमदूरगतं ज्ञात्वा स भिक्षुस्तल्लवणादिकमादाय तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव तल्लवणादिकम् 'आलोकयेत्' दर्शयेद्, एतच्च ब्रूयाद्–अमुक! इति वा भगिनि! इति वा, एतच्च लवणादिकं किं त्वया जानता दत्तमुताजानता?, एवमुक्तः सन् पर एवं वदेद्–यथा पूर्वं मयाऽजानता दत्तं, साम्प्रतं तु यदि भवतोऽनेन प्रयोजनं ततो दत्तम्, एतत्परिभोगं कुरुध्वं, तदेवं परैः समनुज्ञातं समनुसृष्टं सत्प्रासुकं कारणवशादप्रासुकं वा भुञ्जीत पिबेद्वा, यच्च न शक्नोति भोक्तुं पातुं वा तत्साधर्मिकादिभ्यो दद्यात्, तदभावे बहुपर्यापन्नविधिं प्राक्तनं विदध्यात्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ प्रथमस्य दशमः समाप्तः ॥ २–१–१–१० ॥

उक्तो दशमः, अधुनैकादशः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके लब्धस्य पिण्डस्य विधिरुक्तः, तदिहापि विशेषतः स एवोच्यते—

आ. सू. ६०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: प्रथम-अध्ययनं "पिण्डैषणा", एकादशम-उद्देशक: आरब्ध:

भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्जमाणे मणुन्नं भोयणजायं लभित्ता से भिक्खू गिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य भिक्खू नो भुंजिज्जा तुमं चेव णं भुंजिज्जासि, से एगइओ भोक्खामित्तिकट्टु पलिउंचिय २ आलोइज्जा, तंजहा—इमे पिंडे इमे लोए इमे तित्ते इमे कडुयए इमे कसाए इमे अंबिले इमे महुरे, नो खलु इत्तो किंचि गिलाणस्स सयइत्ति माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, तहाठियं आलोइज्जा जहाठियं गिलाणस्स सयइत्ति, तं तित्तयं तित्तएत्ति वा कडुयं कडुयं कसायं कसायं अंबिलं अंबिलं महुरं महुरं० ॥ (सू० ६०)

भिक्षामटन्ति भिक्षाटाः भिक्षणशीलाः साधव इत्यर्थः, नामशब्दः सम्भावनायां, वक्ष्यमाणमेषां संभाव्यते, 'एके' केचन एवमाहुः–साधुसमीपमागत्य वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, ते च साधवः 'समाना वा' साम्भोगिका भवेयुः, वाशब्दादसाम्भोगिका वा, तेऽपि च 'वसन्तः' वास्तव्या अन्यतो वा ग्रामादेः समागता भवेयुः, तेषु च कश्चित्साधुः 'ग्लायति' ग्लानिमनुभवति, तत्कृते तान् सम्भोगिकादींस्ते भिक्षाटा मनोज्ञभोजनलाभे सत्येवमाहुरिति सम्बन्धः, 'से' इति एतन्मनोज्ञमाहारजातं 'हन्दह' गृह्णीत यूयं 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'तस्य' ग्लानस्य 'आहरत' नयत, तस्मै प्रयच्छत इत्यर्थः, ग्लानश्चेन्न भुङ्क्ते ग्राहक एवाभिधीयते–त्वमेव भुङ्क्ष्वेति, स च भिक्षुर्भिक्षोर्हस्ताद् ग्लानार्थं गृहीत्वाऽऽहारं तत्राध्युपपन्नः सन्नेक एवाहं भोक्ष्य इतिकृत्वा तस्य ग्लानस्य 'पलिउंचिअ पलिउंचिय'त्ति मनोज्ञं गोपित्वा गोपित्वा वातादिरोगमुद्दिश्य तथा तस्य 'आलोकयेत्' दर्शयति यथाऽपथ्योऽयं पिण्ड इति बुद्धिरुत्पद्यते, तद्यथा–अग्रतो ढौकयित्वा वदति –अयं पिण्डो भवदर्थं साधुना दत्तः, किन्त्वयं 'लोए'त्ति रूक्षः, तथा तिक्तः कटुः कषायोऽम्लो मधुरो वेत्यादि दोषदुष्ट-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्वान्नातः किञ्चिद् ग्लानस्य 'स्वदतीति' उपकारे न वर्त्तत इत्यर्थः, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैतत्कुर्यादिति । यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति–तथाऽवस्थितमेव ग्लानस्यालोकयेद्यथाऽवस्थितमिति, एतदुक्तं भवति–मातृस्थानपरित्यागेन यथाऽवस्थितमेव ब्रूयादिति, शेषं सुगमम् ॥ तथा—

भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु—समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा मणुन्नं भोयणजायं लभित्ता से य भिक्खू गिलाइ से हंदह णं तस्स आहरह, से य भिक्खू नो भुंजिज्जा आहारिज्जा, से णं नो खलु मे अंतराए आहरिस्सामि, इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म ॥ (सू० ६१)

'भिक्षादाः' साधवो मनोज्ञमाहारं लब्ध्वा समनोज्ञांस्तांश्च वास्तव्यान् प्राघूर्णकान् वा ग्लानमुद्दिश्यैवमूचुः–एतन्मनोज्ञमाहारजातं गृह्णीत यूयं ग्लानाय नयत, स चेन्न भुङ्क्ते ततोऽस्मदन्तिकमेव ग्लानार्थम् 'आहरेत्' आनयेत्, स चैवमुक्तः सन्नेवं वदेद्–यथाऽन्तरायमन्तरेणाहरिष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽहारमादाय ग्लानान्तिकं गत्वा प्राक्तनान् भक्तादिरूक्षादिदोषानुद्घाट्य ग्लानायादत्त्वा स्वत एव लौल्याद्भुक्त्वा ततस्तस्य साधोर्निवेदयति, यथा मम शूलं वैयावृत्त्यकालापर्याश्यादिकमन्तरायिकमभूदतोऽहं तद् ग्लानभक्तं गृहीत्वा नायात इत्यादि मातृ[सं]स्थानं संस्पृशेत्, एतदेव दर्शयति–इत्येतानि–पूर्वोक्तान्यायतनानि–कर्मोपादानस्थानानि 'उपातिक्रम्य' सम्यक् परिहृत्य मातृस्थानपरिहारेण ग्लानाय वा दद्याद्गृह्णीयात्साधुसमीपं वाऽऽहरेदिति ॥ पिण्डाधिकार एव सप्तपिण्डैषणा अधिकृत्य सूत्रमाह—

अह भिक्खू जाणिज्जा सत्त पिंडेसणाओ सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा—असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मत्ते, तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा मत्तेण वा असणं वा ४ सयं वा णं जाइज्जा परो वा से दिज्जा फासुयं पडिगाहिज्जा, पढमा पिंडेसणा १ ॥ अहावरा दुच्चा पिंडेसणा—संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, तहेव दुच्चा पिंडेसणा २ ॥ अहावरा तच्चा पिंडेसणा—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति—गाहावई वा जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं अन्नयरेसु विरूवरूवेसु भायणजाएसु उवनिक्खित्तपुव्वे सिया, तंजहा—थालंसि वा पिढरंसि वा सरगंसि वा परगंसि वा वरगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा—असंसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे असंसट्ठे मत्ते, से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहिए वा, से पुव्वामेव०—आउसोत्ति वा! २ एएण तुमं असंसट्ठेण हत्थेण संसट्ठेण मत्तेणं संसट्ठेण वा हत्थेण असंसट्ठेण मत्तेण अस्सिं पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा निहट्टु उचित्तु दलयाहि तहप्पगारं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा २ फासुयं० पडिगाहिज्जा, तइया पिंडेसणा ३ ॥ अहावरा चउत्था पिंडेसणा—से भिक्खू वा० से जं० पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाए, तहप्पगारं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं० जाव पडि०, चउत्था पिंडेसणा ४ ॥ अहावरा पंचमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा, तंजहा—सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्जा बहुपरियावन्ने पाणीसु दगलेवे, तहप्पगारं असणं वा ४ सयं० जाव पडिगाहि०, पंचमा पिंडेसणा ५ ॥ अहावरा छट्ठा पिंडेसणा—से भिक्खू वा २ पग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्जा, जं च सयट्ठाए पग्गहियं, जं च परट्ठाए पग्गहियं, तं पायपरियावन्नं तं पाणिपरियावन्नं फासुयं पडि०, छट्ठा पिंडेसणा ६ ॥ अहावरा सत्तमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा० बहुउज्झि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [६२]

दीप अनुक्रम [३९६]

यधम्मियं भोयणजायं जाणिज्जा, जं चऽन्ने बहवे दुपयचउप्पयसमणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा नावकंखंति, तहप्पगारं उज्झियधम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्जा परो वा से दिज्जा जाव पडि०, सत्तमा पिंडेसणा ७ ॥ इच्चेयाओ सत्त पिंडेसणाओ, अहावराओ सत्त पाणेसणाओ, तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा—असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते, तं चेव भाणियव्वं, नवरं चउत्थाए नाणत्तं । से भिक्खू वा० से जं० पुण पाणगजायं जाणिज्जा, तंजहा—तिलोदगं वा ६, अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे तहेव पडिगाहिज्जा ॥ (सू० ६२)

अथशब्दोऽधिकारान्तरे, किमधिकुरुते?, सप्त पिण्डैषणाः पानैषणाश्चेति, 'अथ' अनन्तरं भिक्षुर्जानीयात्, काः?–सप्त-पिण्डैषणाः पानैषणाश्च, ताश्चेमाः, तद्यथा—"असंसट्ठा १ संसट्ठा २ उद्धडा ३ अप्पलेवा ४ उग्गहिआ ५ पग्गहिया ६ उज्झियधम्मे"ति, अत्र च द्वये साधवो–गच्छान्तर्गता गच्छविनिर्गताश्च, तत्र गच्छान्तर्गतानां सप्तानामपि ग्रहणमनुज्ञातं, गच्छनिर्गतानां पुनराद्ययोर्द्वयोरग्रहः पञ्चस्वभिग्रह इति, तत्राद्यां तावद्दर्शयति–'तत्र' तासु मध्ये 'खलु' इत्यलङ्कारे, इमा प्रथमा पिण्डैषणा, तद्यथा–असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं च मात्रं, द्रव्यं पुनः सावशेषं वा स्यान्निरवशेषं वा, तत्र निरवशेषे पश्चात्कर्मदोषस्तथाऽपि गच्छस्य बालाद्याकुलत्वात्तन्निषेधो नास्ति, अत एव सूत्रे तच्चिन्ता न कृता, शेषं सुगमम् ॥ तथा-ऽपरा द्वितीया पिण्डैषणा, तद्यथा–संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रकमित्यादि सुगमम् ॥ अथापरा तृतीया पिण्डैषणा, तद्यथा इह खलु प्रज्ञापकापेक्षया प्राच्यादिषु दिक्षु सन्ति केचित् श्रद्धालवः, ते चामी–गृहपत्यादयः कर्मकरीपर्यन्ताः, तेषां च गृहेष्वन्यतरेषु नानाप्रकारेषु भाजनेषु पूर्वमुत्क्षिप्तमशनादि स्यात्, भाजनानि च स्थालादीनि सुबोध्यानि नवरं 'सरगम्' इति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शरिकाभिः कृतं सूपादि 'परगं' वंशनिष्पन्नं छब्बकादि 'वरगं' मण्यादि महार्घमूल्यं, शेषं सुगमं यावत्परिगृह्णीयादिति, अत्र च संसृष्टासंसृष्टसावशेषद्रव्यैरष्टौ भङ्गाः, तेषु चाष्टमो भङ्गः संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यमित्येष गच्छनिर्गतानामपि कल्पते, शेषास्तु भङ्गा गच्छान्तर्गतानां सूत्रार्थहान्यादिकं कारणमाश्रित्य कल्पन्त इति ॥ अपरा चतुर्थी पिण्डैषणाऽल्पलेपा नाम, सा यत्पुनरेवमल्पलेपं जानीयात्, तद्यथा–'पृथुकम्' इति भुग्नशाल्याद्यपगततुषं यावत् 'तन्दुलपलम्बं' इति भुग्नशाल्यादितन्दुलानिति, अत्र च पृथुकादिके गृहीतेऽप्यल्पं पश्चात्कर्मादि, तथाऽल्पं पर्यायजातमल्पं तुषादि त्यजनीयमित्येवंप्रकारमल्पलेपम्, अन्यदपि वल्लचनकादि यावत्परिगृह्णीयादिति ॥ अथापरा पञ्चमी पिण्डैषणाऽवगृहीता नाम, तद्यथा–स भिक्षुर्यावदुपहृतमेव भोक्तुकामस्य भाजनस्थितमेव भोजनजातं ढौकितं जानीयात्, तत्पुनर्भाजनं दर्शयति, तद्यथा—'शरावं' प्रतीतं 'डिण्डिमं' कंश (कांस्य) भाजनं 'कोशकं' प्रतीतं, तेन च दात्रा कदाचित् पूर्वमेवोदकेन हस्तो मात्रकं वा धौतं स्यात्, तथा च निषिद्धं ग्रहणम्, अथ पुनरेवं जानीयाद्बहुपर्यापन्नः–परिणतः पाण्यादिषूदकलेपः, तत एवं ज्ञात्वा यावद् गृह्णीयादिति ॥ अथापरा षष्ठी पिण्डैषणा प्रगृहीता नाम–स्वार्थं परार्थं वा पिठरकादेरुद्धृत्य चट्टुकादिनोत्क्षिप्ता परेण च न गृहीता प्रव्रजिताय वा दापिता सा प्रकर्षेण गृहीता प्रगृहीता तां तथाभूतां प्राभृतिकां 'पात्रपर्यापन्नां वा' पात्रस्थितां 'पाणिपर्यापन्नां वा' हस्तस्थितां वा यावत्प्रतिगृह्णीयादिति ॥ अथापरा सप्तमी पिण्डैषणा उज्झितधर्मिका नाम, सा च सुगमा ॥ आसु च सप्तस्वपि पिण्डैषणासु संसृष्टाद्यष्टभङ्गका भणनीयाः, नवरं चतुर्थ्यां नानात्वमिति, तस्या अलेपत्वात्संसृष्टाद्यभाव इति ॥ एवं पानैषणा अपि नेया भङ्गकाश्चायोज्याः, नवरं चतुर्थ्यां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नानात्वं, स्वच्छत्वाच्च तस्या अल्पलेपत्वं, ततश्च संसृष्टाद्यभाव इति, आसां चैषणानां यथोत्तरं विशुद्धितारतम्यादेष एव क्रमो न्याय्य इति ॥ साम्प्रतमेताः प्रतिपद्यमानेन पूर्वप्रतिपन्नेन वा यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह—

इच्चेयासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं सत्तण्हं पाणेसणाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे नो एवं वइज्जा—मिच्छापडिवन्ना खलु एए भयंतारो, अहमेगे सम्मं पडिवन्ने, जे एए भयंतारो एयाओ पडिमाओ पडिवज्जित्ता णं विहरंति जो य अहमंसि एयं पडिमं पडिवज्जित्ताणं विहरामि सव्वेऽवि ते उ जिणाणाए उवट्ठिया अन्नुन्नसमाहीए, एवं च णं विहरंति, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥ (सू० ६३) २–१–१–११ पिण्डैषणायामेकादश उद्देशकः ॥

इत्येतासां सप्तानां पिण्डैषणानां पानैषणानां वाऽन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानो नैतद्वदेत्, तद्यथा—'मिथ्याप्रतिपन्नाः' न सम्यक् पिण्डैषणाद्यभिग्रहवन्तो भगवन्तः–साधवः, अहमेवैकः सम्यक्प्रतिपन्नो, यतो मया विशुद्धः पिण्डैषणाभिग्रहः कृत एभिश्च न, इत्येवं गच्छनिर्गतेन गच्छान्तर्गतेन वा समदृष्ट्या द्रष्टव्याः, नापि गच्छान्तर्गतेनोत्तरोत्तरपिण्डैषणाभिग्रहवता पूर्वपूर्वतरपिण्डैषणाभिग्रहवन्तो दूष्या इति, यच्च विधेयं तद्दर्शयति–य एते भगवन्तः–साधव एताः 'प्रतिमाः' पिण्डैषणाद्यभिग्रहविशेषान् 'प्रतिपद्य' गृहीत्वा ग्रामानुग्रामं 'विहरन्ति' यथायोगं पर्यटन्ति, यां चाहं प्रतिमां प्रतिपद्य विहरामि, सर्वेऽप्येते जिनाज्ञायां जिनाज्ञया वा 'समुत्थिताः' अभ्युद्यतविहारिणः संवृत्ताः, ते चान्योऽन्यसमाधिना यो यस्य गच्छान्तर्गतादेः समाधिरभिहितः, तद्यथा–सप्तापि गच्छवासिनां, तन्निर्गतानां तु द्वयोरग्रहः पञ्चस्वभिग्रहः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इत्यनेन 'विहरन्ति' यतन्त इति, तथाविहारिणश्च सर्वेऽपि ते जिनाज्ञां नातिलङ्घन्ते, तथा चोक्तम्—"जोऽवि[1] दुवत्थतिवत्थो बहुवत्थ अचेलओव्व संथरइ । न हु ते हीलंति परं सव्वेवि अ ते जिणाणाए ॥ १ ॥" एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा 'सामग्र्यं' सम्पूर्णो भिक्षुभावो यदात्मोत्कर्षवर्जनमिति २–१–१–११ ॥ द्वितीयश्रुतस्कन्धे प्रथमाध्ययनटीका परिसमाप्ता ॥

१. योऽपि द्विवस्त्रस्त्रिवस्त्रो बहुवस्त्रोऽचेलको वा संस्तरति । नैव ते हीलन्ति परान् सर्वेऽपि च ते जिनाज्ञायाम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ द्वितीयं शय्यैषणाख्यमध्ययनम्

उक्तं प्रथममध्ययनं, साम्प्रतं द्वितीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने धर्माधारशरीरपरिपालनार्थमादावेव पिण्डग्रहणविधिरुक्तः, स च गृहीतः सन्नवश्यमल्पसागारिके प्रतिश्रये भोक्तव्य इत्यतस्तद्गतगुणदोषनिरूपणार्थं द्वितीयमध्ययनम्, अनेन च सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्णनीयानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे शय्यैषणेति, तस्या निक्षेपविधानाय पिण्डैषणानिर्युक्तिर्यत्र संभवति तां तत्रातिदिश्य प्रथमगाथया अपरासां च निर्युक्तीनां यथायोगं संभवं द्वितीयगाथया आविर्भाव्य निक्षेपं च तृतीयगाथया शय्याषट्कनिक्षेपे प्राप्ते नामस्थापने अनादृत्य निर्युक्तिकृदाह—

दव्वे खित्ते काले भावे सिज्जा य जा तहिं पगयं। केरिसिया सिज्जा खलु संजयजोगत्ति नायव्वा?॥ २९८॥

द्रव्यशय्या क्षेत्रशय्या कालशय्या भावशय्या, अत्र च या द्रव्यशय्या तस्यां प्रकृतं, तामेव च दर्शयति–कीदृशी सा द्रव्यशय्या? संयतानां योग्येत्येवं ज्ञातव्या भविष्यति॥ द्रव्यशय्याव्याचिख्यासयाऽऽह—

तिविहा य दव्वसिज्जा सचित्ताऽचित्त मीसगा चेव। खित्तंमि जंमि खित्ते काले जा जंमि कालंमि॥२९९॥

त्रिविधा द्रव्यशय्या भवति, तद्यथा–सचित्ता अचित्ता मिश्रा चेति, तत्र सचित्ता पृथिवीकायादौ, अचित्ता तत्रैव प्रा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: द्वितीय-अध्ययनं "शयैषणा", आरब्धं

सुके, मिश्राऽपि तत्रैवार्द्धपरिणते, अथवा सचित्तामुत्तरगाथया स्वत एव निर्युक्तिकृद् भावयिष्यति। 'क्षेत्र'मिति तु क्षेत्रशय्या, सा च यत्र ग्रामादिके क्षेत्रे क्रियते, कालशय्या तु या यस्मिन्नृतुबद्धादिके काले क्रियते ॥ तत्र सचित्तद्रव्यशय्योदाहरणार्थमाह—

उक्कलकलिंग गोअम वग्गुमई चेव होइ नायव्वा। एयं तु उदाहरणं नायव्वं दव्वसिज्जाए ॥ ३०० ॥

अस्या भावार्थः कथानकादवसेयः, तच्चेदम्–एकस्यामटव्यां द्वौ भ्रातराबुत्कलकलिङ्गाभिधानौ विषमप्रदेशे पल्लिं निवेश्य चौर्येण वर्त्तेते, तयोश्च भगिनी वल्गुमती नाम, तत्र कदाचिद् गौतमाभिधानो नैमित्तिकः समायातः, ताभ्यां च प्रतिपन्नः, तया च वल्गुमत्योक्तं–यथा नायं भद्रकः, अत्र वसन् यदा तदाऽयमस्माकं पल्लिविनाशाय भविष्यत्यतो निर्द्धाट्यते, ततस्ताभ्यां तद्वचनान्निर्द्धाटितः, स तस्यां प्रद्वेषमापन्नः प्रतिज्ञामग्रहीद्, यथा–नाहं गौतमो भवामि यदि वल्गुमत्युदरं विदार्य तत्र न स्वपिमीति, अन्ये तु भणन्ति–सैव वल्गुमत्यपत्यानां लघुत्वात्पल्लिस्वामिनी, उत्कलकलिङ्गौ नैमित्तिकौ, सा तयोर्भक्त्या गौतमं पूर्वनैमित्तिकं निर्द्धाटितवती, अतस्तद्भद्वेषात्प्रतिज्ञामादाय सर्षपान् वपन्निर्गतः, सर्षपाश्च वर्षाकालेन जाताः, ततस्तदनुसारेणान्यं राजानं प्रवेश्य सा पल्ली समस्ता लुण्टिता दग्धा च, गौतमेनापि वल्गुमत्या उदरं पाटयित्वा सावशेषजीवितदेहाया उपरि सुप्तमित्येषा वा सचित्ता द्रव्यशय्येति ॥ भावशय्याप्रतिपादनार्थमाह—

दुविहा य भावसिज्जा कायगए छव्विहे य भावंमि। भावे जो जत्थ जया सुहदुहगब्भाइसिज्जासु ॥ ३०१ ॥

द्वे विधे–प्रकारावस्याः सा द्विविधा, तद्यथा–कायविषया षड्भावविषया च, तत्र यो जीवः 'यत्र' औदयिकादौ भावे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'यदा' यस्मिन् काले वर्त्तते सा तस्य षड्भावरूपा भावशय्या, शयनं शय्या स्थितिरितिकृत्वा, तथा रुयादिकायगतो गर्भत्वेन स्थितो यो जीवस्तस्य रुयादिकाय एव भावशय्या, यतः रुयादिकाये सुखिते दुःखिते सुप्ते उत्थिते वा तादृगवस्थ एव तदन्तर्वर्त्ती जीवो भवति, अतः कायविषया भावशय्या द्वितीयेति ॥ अध्ययनार्थाधिकारः सर्वोऽपि शय्याविषयः, उद्देशार्थाधिकारप्रतिपादनाय निर्युक्तिकृदाह—

सव्वेवि य सिज्जविसोहिकारगा तहवि अत्थि उ विसेसो । उद्देसे उद्देसे वुच्छामि समासओ किंचि ॥३०२॥

'सर्वेऽपि' त्रयोऽप्युद्देशका यद्यपि शय्याविशुद्धिकारकास्तथाऽपि प्रत्येकमस्ति विशेषस्तमहं लेशतो वक्ष्य इति ॥ एतदेवाह—

उग्गमदोसा पढमिल्लुयंमि संसत्तपच्चवाया य १ । बीयंमि सोअवाई बहुविहसिज्जाविवेगो २ य ॥ ३०३ ॥

तत्र प्रथमोद्देशके वसतेरुद्गमदोषाः–आधाकर्मादयस्तथा गृहस्थादिसंसक्तप्रत्यपायश्च चिन्त्यन्ते ?, तथा द्वितीयोद्देशके शौचवादिदोषा बहुप्रकारः शय्याविवेकश्च–त्यागश्च प्रतिपाद्यत इत्ययमर्थाधिकारः २ ॥

तइए जयंतछलणा सज्झायस्सऽणुवरोहि जइयव्वं । समविसमाईएसु य समणेणं निज्जरट्ठाए ३ ॥ ३०४ ॥

तृतीयोद्देशके यतमानस्य–उद्गमादिदोषपरिहारिणः साधोर्या छलना स्यात्तत्परिहारे यतितव्यं, तथा स्वाध्यायानुपरोधिनि समविषमादौ प्रतिश्रये साधुना निर्जरार्थिना स्थातव्यमित्ययमर्थाधिकारः ३ ॥ गतो निर्युक्त्यनुगमः, अधुना सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: द्वितीय-अध्ययनं "शयैषणा", प्रथम-उद्देशक: आरब्ध:

से भिक्खू वा० अभिकंखिज्जा उवस्सयं एसित्तए अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा, से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा सअंडं जाव ससंताणयं तहप्पगारे उवस्सए नो ठाणं वा सिज्जं वा निसीहियं वा चेइज्जा ॥ से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अप्पंडं जाव अप्पसंताणयं तहप्पगारे उवस्सए' पडिलेहित्ता पमज्जित्ता तओ संजयामेव ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥ से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा जाव अणासेविए वा नो ठाणं वा ३ चेइज्जा । एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ ॥ से भिक्खू वा० से जं पुण उ० बहवे समणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स तं चेव भाणियव्वं ॥ से भिक्खू वा० से जं० बहवे समण० समुद्दिस्स पाणाइं ४ जाव चेएति, तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ३, अह पुणेवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडे जाव सेविए पडिलेहित्ता २ तओ संजयामेव चेइज्जा ॥ से भिक्खू वा० से जं पुण अस्संजए भिक्खुपडियाए कडिए वा उक्कंबिए वा छन्ने वा लित्ते वा घट्ठे वा मट्ठे वा संमट्ठे वा संपधूमिए वा तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा सेज्जं वा निसीहिं वा चेइज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पुरिसंतरकडे जाव आसेविए पडिलेहित्ता २ तओ चेइज्जा ॥ (सू० ६४)

स भिक्षुः 'उपाश्रयं' वसतिमेषितुं यद्यभिकाङ्क्षेत्ततो ग्रामादिकमनुप्रविशेत्, तत्र च प्रविश्य साधुयोग्यं प्रतिश्रयमन्वेषयेत्, तत्र च यदि साण्डादिकमुपाश्रयं जानीयात्ततस्तत्र स्थानादिकं न विदध्यादिति दर्शयति–सुगमं, नवरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'स्थानं' कायोत्सर्गः 'शय्या' संस्तारकः 'निषीधिका' स्वाध्यायभूमिः 'णो चेइज्ज'त्ति नो चेतयेत्–नो कुर्यादित्यर्थः ॥ एतद्विपरीते तु प्रत्युपेक्ष्य स्थानादीनि कुर्यादिति ॥ साम्प्रतं प्रतिश्रयगतानुद्गमादिदोषान् बिभणिषुराह–'सः' भाव-भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा—'अस्सिंपडियाए'त्ति एतत्प्रतिज्ञया एतान् साधून् प्रतिज्ञाय–उद्दिश्य प्राण्युपमर्देन साधुप्रतिश्रयं कश्चिच्छ्राद्धः कुर्यादिति । एतदेव दर्शयति–एकं साधर्मिकं 'साधुम्' अर्हत्प्रणीतधर्मानुष्ठायिनं सम्यगुद्दिश्य–प्रतिज्ञाय प्राणिनः 'समारभ्य' प्रतिश्रयार्थमुपमर्द्य प्रतिश्रयं कुर्यात्, तथा तमेव साधुं सम्यगुद्दिश्य 'क्रीतं' मूल्येनावाप्तं, तथा 'पामिच्चं'ति अन्यस्मादुच्छिन्नं गृहीतम् 'आच्छेद्यमि'ति भृत्यादेर्बलादाच्छिद्य गृहीतम् 'अनिसृष्टं' स्वामिनाऽनुत्सङ्कलितम् 'अभ्याहृतं' निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम्, एवंभूतं प्रतिश्रयम् 'आहृत्य' उपेत्य 'चेएइ'त्ति साधवे ददाति, तथाप्रकारे चोपाश्रये पुरुषान्तरकृतादौ स्थानादि न विदध्यादिति ॥ एवं बहुवचनसूत्रमपि नेयम् ॥ तथा साध्वीसूत्रमप्येकवचनबहुवचनाभ्यां नेयमिति ॥ किञ्च–सूत्रद्वयं पिण्डैषणानुसारेण नेयं, सुगमं च ॥ तथा–स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा–भिक्षुप्रतिज्ञया 'असंयतः' गृहस्थः प्रतिश्रयं कुर्यात्, स चैवंभूतः स्यात्, तद्यथा—'कटकितः' काष्ठादिभिः कुड्यादौ संस्कृतः 'उक्कंबिओ'त्ति वंशादिकम्बाभिरवबद्धः 'छन्ने व'त्ति दर्भा-दिभिश्छादितः लिप्तः गोमयादिना घृष्टः सुधादिखरपिण्डेन मृष्टः स एव लेवनिकादिना समीकृतः 'संसृष्टः' भूमिकर्मा-दिना संस्कृतः 'संप्रधूपितः' दुर्गन्धापनयनार्थं धूपादिना धूपितः, तदेवंभूते प्रतिश्रयेऽपुरुषान्तरस्वीकृते यावदनासेविते स्थानादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरकृतासेवितादौ प्रत्युपेक्ष्य स्थानादि कुर्यादिति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू वा० से जं० पुण उवस्सयं जा० अस्संजए भिक्खुपडियाए खुडियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ कुज्जा, जहा पिंडेसणाए जाव संथारगं संथारिज्जा बहिया वा निण्णक्खु तहप्पगारे उवस्सए अपु० नो ठाणं० ३ अह पुणेवं० पुरिसंतरकडे आसेविए पडिलेहित्ता २ तओ संजयामेव आव चेइज्जा ॥ से भिक्खू वा० से जं० अस्संजए भिक्खुपडियाए उदगप्पसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा ठाणाओ ठाणं साहरइ बहिया वा निण्णक्खू त० अपु० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसंतरकडं चेइज्जा ॥ से भिक्खू वा से जं० अस्संज० भि० पीढं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूखलं वा ठाणाओ ठाणं साहरइ बहिया वा निण्णक्खू तहप्पगारे उ० अपु० नो ठाणं वा चेइज्जा, अह पुण० पुरिसं० चेइज्जा ॥ (सू० ६५)

स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा—'असंयतः' गृहस्थः साधुप्रतिज्ञया लघुद्वारं प्रतिश्रयं महाद्वारं विदध्यात्, तत्रैवंभूते पुरुषान्तरास्वीकृतादौ स्थानादि न विदध्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृतासेवितादौ तु विदध्यादिति, अत्र सूत्रद्वयेऽप्युत्तरगुणा अभिहिताः, एतद्दोषदुष्टाऽपि पुरुषान्तरस्वीकृतादिका कल्पते, मूलगुणदुष्टा तु पुरुषान्तरस्वीकृताऽपि न कल्पते, ते चामी मूलगुणदोषाः—"पट्ठी वंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीओ" एतैः पृष्ठवंशादिभिः साधुप्रतिज्ञया या वसतिः क्रियते सा मूलगुणदुष्टा ॥ स भिक्षुर्यं पुनरेवम्भूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा—गृहस्थः साधुप्रतिज्ञया उदकप्रसूतानि कन्दादीनि स्थानान्तरं सङ्क्रामयति बहिर्वा 'निण्णक्खु'त्ति निस्सारयति तथाभूते प्रतिश्रये पुरुषा-

१ पृष्ठिर्वंशो द्वे धारणे चतस्रो मूलवेल्यः.

॥ ३६१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्तरास्वीकृते स्थानादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते तु कुर्यादिति ॥ एवमचित्तनिःसारणसूत्रमपि नेयम्, अत्र च त्रसादिविराधना स्यादिति भावः ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० से जं० तंजहा—खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासा० हम्मि० अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, नन्नत्थ आगाढागाढेहिं कारणेहिं ठाणं वा नो चेइज्जा ॥ से आहच्च चेइए सिया नो तत्थ सीओदगवियडेण वा २ हत्थाणि वा पायाणि वा अच्छीणि वा दंताणि वा मुहं वा उच्छोलिज्ज वा पहोइज्ज वा, नो तत्थ ऊसढं पकरेज्जा, तंजहा—उच्चारं वा पा० खे० सिं० वंतं वा पित्तं वा पूयं वा सोणियं वा अन्नयरं वा सरीरावयवं वा, केवली बूया आयाणमेयं, से तत्थ ऊसढं पगरेमाणे पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्थं वा जाव सीसं वा अन्नयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज्ज वा पाणिं ४ अभिहणिज्ज वा जाव ववरोविज्ज वा, अथ भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा ४ जं तहप्पगारं उवस्सए अंतलिक्खजाए नो ठाणंसि वा ३ चेइज्जा ॥ (सू० ६६)

स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतमुपाश्रयं जानीयात्, तद्यथा—स्कन्धः—एकस्य स्तम्भस्योपर्याश्रयः, मञ्चमालौ—प्रतीतौ, प्रासादो—द्वितीयभूमिका, हर्म्यतलं—भूमिगृहम्, अन्यस्मिन् वा तथाप्रकारे प्रतिश्रये स्थानादि न विदध्यादन्यत्र तथाविधप्रयोजनादिति, स चैवंभूतः प्रतिश्रयस्तथाविधप्रयोजने सति यद्याहृत्य—उपेत्य गृहीतः स्यात्तदानीं यत्तत्र विधेयं तद्दर्शयति—न तत्र शीतोदकादिना हस्तादिधावनं विदध्यात्, तथा न च तत्र व्यवस्थितः 'उत्सृष्टम्' उत्सर्जनं—त्यागमुच्चारादेः कुर्यात्, केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतदात्मसंयमविराधनातः, एतदेव दर्शयति—स तत्र त्यागं कुर्वन् पतेद्वा पतंश्चान्यतरं शरीराव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ ३६२ ॥

यवमिन्द्रियं वा विनाशयेत्, तथा प्राणिनश्चाभिहन्याद्यावज्जीविताद् 'व्यपरोपयेत्' प्रच्यावयेदिति, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूतेऽन्तरिक्षजाते प्रतिश्रये स्थानादि न विधेयमिति ॥ अपि च—

से भिक्खू वा० से जं० सइत्थियं सखुड्डं सपसुभत्तपाणं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा । आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइकुलेण सद्धिं संवसमाणस्स अलसगे वा विसूइया वा छड्डी वा उव्वाहिज्जा अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुपज्जिज्जा, अस्संजए कलुणपडियाए तं भिक्खुस्स गायं तिल्लेण वा घएण वा नवणीएण वा वसाए वा अब्भंगिज्ज वा मक्खिज्ज वा सिणाणेण वा कक्केण वा लुद्धेण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आघंसिज्ज वा पघंसिज्ज वा उव्वलिज्ज वा उव्वट्टिज्ज वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ज वा पक्खालिज्ज वा सिणाविज्ज वा सिंचिज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उज्जालिज्ज वा पज्जालिज्ज वा उज्जालित्ता कायं आयाविज्जा वा प० अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठा० जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥ (सू० ६७)

स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतमुपाश्रयं जानीयात् तद्यथा—यत्र स्त्रियं तिष्ठन्तीं जानीयात्, तथा 'सखुड्डु'न्ति सबालं, यदिवा सह क्षुद्रैरवबद्धः—सिंहश्वमार्जारादिभिर्यो वर्त्तते, तथा पशवश्च भक्तपाने च, यदिवा पशूनां भक्तपाने तद्युक्तं, तथाप्रकारे सागारिके गृहस्थाकुलप्रतिश्रये स्थानादि न कुर्याद्, यतस्तत्रामी दोषाः, तद्यथा—आदानं कर्मोपादानमेतद्, भिक्षोर्गृहपतिकुटुम्बेन सह संवसतो यतस्तत्र भोजनादिक्रिया निःशङ्का न संभवति, व्याधिविशेषो वा कश्चित्संभवेदिति दर्शयति—'अलसगे'त्ति हस्तपादादिस्तम्भः श्वयथुर्वा, विशूचिकाछर्दी प्रतीते, एते व्याधयस्तं साधुमुद्बाधेरन्, अन्यतरद्वा

श्रुतस्कं०२ चूलिका १ शय्यैष०२ उद्देशः १

॥ ३६२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दुःखं 'रोगः' ज्वरादिः 'आतङ्कः' सद्यः प्राणहारी शूलादिस्तत्र समुत्पन्ने, तं च तथाभूतं रोगातङ्कपीडितं दृष्ट्वाऽसंयतः कारुण्येन भक्त्या वा तद्भिक्षुगात्रं तैलादिनाऽभ्यङ्ग्यात् तथेषन्म्रक्षयेद्वा पुनश्च स्नानं–सुगन्धिद्रव्यसमुदयः, कल्कः–कषायद्रव्यक्काथः, लोध्रं–प्रतीतं, वर्णकः–कम्पिल्लकादिः, चूर्णो यवादीनां पद्मकं–प्रतीतम्, इत्यादिना द्रव्येण ईषत्पुनः पुनर्वा घर्षयेत्, घृष्ट्वा चाभ्यङ्गापनयनार्थमुद्वर्त्तयेत्, ततश्च शीतोदकेन वा उष्णोदकेन वा 'उच्छोलेज्ज'त्ति ईषदुच्छोलनं विदध्यात् प्रक्षालयेत्, पुनः पुनः स्नानं वा–सोत्तमाङ्गं कुर्यात्सिञ्चेद्वेति, तथा दारुणा वा दारूणां परिणामं कृत्वा–संघर्षं कृत्वाऽग्निमुज्ज्वालयेत्प्रज्वालयेद्वा, तथा च कृत्वा साधुकायम् 'आतापयेत्' सकृत् प्रतापयेत्पुनः पुनः । अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूते ससागारिके प्रतिश्रये स्थानादिकं न कुर्यादिति ॥

आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरी वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा पचंति वा रुंभंति वा उद्दविंति वा, अह भिक्खूणं उच्चावयं मणं नियंछिज्जा, एए खलु अन्नमन्नं अक्कोसंतु वा मा वा अक्कोसंतु जाव मा वा उद्दविंतु, अह भिक्खूणं पुव्व० जं तहप्पगारे सा० नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥ (सू० ६८)

कर्मोपादानमेतद्भिक्षोः ससागारिके प्रतिश्रये वसतो, यतस्तत्र बहवः प्रत्यपायाः संभवन्ति, तानेव दर्शयति–'इह' इत्थंभूते प्रतिश्रये गृहपत्न्यादयः परस्परत आक्रोशादिकाः क्रियाः कुर्युः, तथा च कुर्वतो दृष्ट्वा स साधुः कदाचिदुच्चावचं मनः कुर्यात्, तत्रोच्चं नाम मैवं कुर्वन्तु, अवचं नाम कुर्वन्त्विति, शेषं सुगममिति ॥

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावई अप्पणो सयट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जा वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पज्जालिज वा विज्झविज्ज वा, अह भिक्खू उच्चावयं मणं नियंछिज्जा, एए खलु अगणिकायं उ० वा २ मा वा उ० पज्जा लिंतु वा मा वा प०, विज्झविंतु वा मा वा वि०, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥ (सू० ६९)

एतदपि गृहपत्यादिभिः स्वार्थमग्निसमारम्भे क्रियमाणे भिक्षोरुच्चावचमनःसम्भवप्रतिपादकं सूत्रं सुगमम् ॥ अपि च—

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइस्स कुंडले वा गुणे वा मणी वा मुत्तिए वा हिरण्णेसु वा सुवण्णेसु वा कडगाणि वा तुडियाणि वा तिसराणि वा पालंबाणि वा हारे वा अद्धहारे वा एगावली वा कणगावली वा मुत्तावली वा रयणावली वा तरुणीयं वा कुमारिं अलंकियविभूसियं पेहाए, अह भिक्खू उच्चाव० एरिसिया वा सा नो वा एरिसिया इय वा णं बूया इय वा णं मणं साइज्जा, अह भिक्खूणं पु० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए नो० ठा० ॥ (सू० ७०)

गृहस्थैः सह संवसतो भिक्षोरेते च वक्ष्यमाणा दोषाः, तद्यथा–अलङ्कारजातं दृष्ट्वा कन्यकां वाऽलङ्कृतां समुपलभ्य ईदृशी तादृशी वा शोभनाऽशोभना वा मद्भार्यासदृशी वा तथाऽलङ्कारो वा शोभनोऽशोभन इत्यादिकां वाचं ब्रूयात्, तथोच्चावचं शोभनाशोभनादौ मनः कुर्यादिति समुदायार्थः, तत्र गुणो–रसना हिरण्यं–दीनारादिद्रव्यजातं त्रुटितानि–मृणालिकाः प्रालम्बः–आप्रदीपन आभरणविशेषः, शेषं सुगमम् ॥ किञ्च—

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइणीओ वा गाहावइधूयाओ वा गा० सुण्हाओ वा गा० धाईओ वा गा० दासीओ वा गा० कम्मकरीओ वा तासिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—जे इमे भवंति समणा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ मेहुणधम्मं परियारणाए आउट्टित्तए, जा य खलु एएहिं सद्धिं मेहुणधम्मं परियारणाए आउट्टाविज्जा पुत्तं खलु सा लभिज्जा उयस्सिं तेयस्सिं वच्चस्सिं जसस्सिं संपराइयं आलोयणदरसणिज्जं, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तासिं च णं अन्नयरी सड्ढी तं तवस्सिं भिक्खुं मेहुणधम्मपडियारणाए आउट्टाविज्जा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे सा० उ० नो ठा ३ चेइज्जा एयं खलु तस्स० ॥ (सू० ७१) पढमा सिज्जा सम्मत्ता २–१–२–१ ॥

पूर्वोक्ते गृहे वसतो भिक्षोरमी दोषाः, तंयथा–गृहपतिभार्यादय एवमालोचयेयुः–यथैते श्रमणा मैथुनादुपरताः, तदेतेभ्यो यदि पुत्रो भवेत्ततोऽसौ 'ओजस्वी' बलवान् 'तेजस्वी' दीप्तिमान् 'वर्चस्वी' रूपवान् 'यशस्वी' कीर्त्तिमान्, इत्येवं संप्रधार्य तासां च मध्ये एवंभूतं शब्दं काचित्पुत्रश्रद्धालुः श्रुत्वा तं साधुं मैथुनधर्म(स्य) 'पडियारणाए'त्ति आसेवनार्थम् 'आउट्टावेज्ज'त्ति अभिमुखं कुर्यात्, अत एतद्दोषभयात्साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूते प्रतिश्रये स्थानादि न कार्यमिति, एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा 'सामग्र्यं' सम्पूर्णो भिक्षुभाव इति ॥ द्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ २–१–२–१ ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, अधुना द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके सागारिकप्रतिबद्धवसतिदोषाः प्रतिपादिताः, इहापि तथाविधवसतिदोषविशेषप्रतिपादनायाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: द्वितीय-अध्ययनं "शयैषणा", द्वितीय-उद्देशक: आरब्ध:

गाहावई नामेगे सुइसमायारा भवंति, से भिक्खू य असिणाणए मोयसमायारे से तग्गंधे दुग्गंधे पडिकूले पडिलोमे यावि भवइ, जं पुव्वं कम्मं तं पच्छा कम्मं जं पच्छा कम्मं तं पुरे कम्मं, तं भिक्खुपडियाए वट्टमाणा करिज्जा वा नो करिज्जा वा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे उ० नो ठाणं० ॥ (सू० ७२)

'एके' केचन गृहपतयः शुचिः समाचारो येषां ते तथा, ते च भागवतादिभक्ता भवन्ति भोगिनो वा–चन्दनागुरुकुङ्कुमकर्पूरादिसेविनः, भिक्षुश्चास्नानतया तथाकार्यवशात् 'मोया'त्ति कायिका तत्समाचरणात्स भिक्षुस्तद्गन्धो भवति, तथा च दुर्गन्धः, एवंभूतश्च तेषां गृहस्थानां 'प्रतिकूलः' नानुकूलोऽनभिमतः, तथा 'प्रतिलोमः' तद्गन्धाद्विपरीतगन्धो भवति, एकार्थिकौ वैतावतिशयानभिमतत्वख्यापनार्थावुपात्ताविति, तथा ते गृहस्थाः साधुप्रतिज्ञया यत्तत्र भोजनस्वाध्यायभूमौ स्नानादिकं पूर्वं कृतवन्तस्तत्तेषामुपरोधात्पश्चात्कुर्वन्ति यद्वा पश्चात्कृतवन्तस्तत्पूर्वं कुर्वन्ति, एवमवसर्पणोत्सर्पणक्रियया साधूनामधिकरणसम्भवः, यदिवा ते गृहस्थाः साधूपरोधात्प्राप्तकालमपि भोजनादिकं न कुर्युः, ततश्चान्तरायमनःपीडादिदोषसम्भवः, अथवा त एव साधवो गृहस्थोपरोधाद्यत्पूर्वं कर्म–प्रत्युपेक्षणादिकं तत्पश्चात्कुर्युर्विपरीतं वा कालातिक्रमेण कुर्युर्न कुर्युर्वा, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथाविधे प्रतिश्रये स्थानादिकं न कार्यमिति ॥ किञ्च—

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं सं०, इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवे भोयणजाए उवक्खडिए सिया, अह पच्छा भिक्खुपडियाए असणं वा ४ उवक्खडिज्ज वा उवकरिज्ज वा, तं च भिक्खू अभिकंखिज्जा भुत्तए वा पायए वा वियट्टित्तए वा, अह भि० जं नो तह० ॥ (सू० ७३) आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइणा सद्धिं संव०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [७४]

दीप अनुक्रम [४०८]

इह खलु गाहावइस्स अप्पणो सयट्ठाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिन्नपुव्वाइं भवंति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए विरूवरूवाइं दारुयाइं भिंदिज्ज वा किणिज्ज वा पामिच्चेज्ज वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगणिकायं उ० प०, तत्थ भिक्खू अभिकंखिज्जा आयावित्तए वा पयावित्तए वा वियट्टित्तए वा, अह भिक्खू० जं नो तहप्पगारे० ॥ (सू० ७४)

कर्मोपादानमेतद्भिक्षोर्यद्गृहस्थावबद्धे प्रतिश्रये स्थानमिति, तद्यथा—'गाहावइस्स अप्पणो'त्ति, तृतीयार्थे षष्ठी, गृहपतिना आत्मना स्वार्थं 'विरूपरूपः' नानाप्रकार आहारः संस्कृतः स्यात्, 'अथ' अनन्तरं पश्चात्साधूनुद्दिश्याशनादिपाकं वा कुर्यात्, तदुपकरणादि वा ढौकयेत्, तं च तथाभूतमाहारं साधुर्भोक्तुं पातुं वाऽभिकाङ्क्षेत्, 'विअट्टित्तए व'त्ति तत्राहारगृद्ध्या विवर्त्तितुम्–आसितुमाकाङ्क्षेत्, शेषं पूर्ववदिति ॥ एवं काष्ठाग्निप्रज्वालनसूत्रमपि नेयमिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० उच्चारपासवणेण उव्वाहिज्जमाणे राओ वा वियाले वा गाहावईकुलस्स दुवारबाहं अवंगुणिज्जा, तेणे य तस्संधिचारी अणुपविसिज्जा, तस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ एवं वइत्तए—अयं तेणो पविसइ वा नो वा पविसइ उवलियइ वा नो वा० आवयइ वा नो वा० वयइ वा नो वा० तेण हडं अन्नेण हडं तस्स हडं अन्नस्स हडं अयं तेणे अयं उवचरए अयं हंता अयं इत्थमकासी तं तवस्सिं भिक्खुं अतेणं तेणंति संकइ, अह भिक्खूणं पु० जाव नो ठा० ॥ (सू० ७५)

स भिक्षुस्तत्र गृहस्थसंसक्ते प्रतिश्रये वसन्नुच्चारादिना बाध्यमानो विकालादौ प्रतिश्रयद्वारभागमुद्घाटयेत्, तत्र च 'स्तेनः' चौरः 'तत्सन्धिचारी' छिद्रान्वेषी अनुप्रविशेत्, तं च दृष्ट्वा तस्य भिक्षोर्नैवं वक्तुं कल्पते–यथाऽयं चौरः प्रविशति न वेति, तथोपलीयते न वेति, तथाऽयमतिपतति न वेति, तथा वदति वा न वदति वा, तेनामुकेनापहृतम् अन्येन वा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्यापहृतमन्यस्य वा, अयं स स्तेनस्तदुपचारको वा, अयं गृहीतायुधोऽयं हन्ता अयमत्राकार्षीदित्यादि न वदनीयं, यत एवं तस्य चौरस्य व्यापत्तिः स्यात्, स वा प्रद्विष्टस्तं साधुं व्यापादयेदित्यादिदोषाः, अभणने च तमेव तपस्विनं भिक्षुमस्तेनं स्तेनमित्याशङ्केतेति, शेषं पूर्ववदिति ॥ पुनरपि वसतिदोषाभिधित्सयाऽऽह—

से भिक्खू वा से जं० तणपुंजेसु वा पलालपुंजेसु वा सअंडे जाव ससंताणए तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा० ॥ ३ ॥ से भिक्खू वा० से जं० तणपुं० पलाल० अप्पंडे जाव चेइज्जा ॥ (सू० ७६)

सुगमम्, एतद्विपरीतसूत्रमपि सुगमं, नवरमल्पशब्दोऽभाववाची ॥ साम्प्रतं वसतिपरित्यागमुद्देशकार्थाधिकारनिर्दिष्टमधिकृत्याह—

से आगंतारेसु आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अभिक्खणं साहम्मिएहिं उवयमाणेहिं नो उवइज्जा ॥ (सू० ७७)

यत्र ग्रामादेर्बहिरागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्ति तान्यागन्तागाराणि, तथाऽऽरामध्यगृहाण्यारामागाराणि, पर्यावसथा—मठाः, इत्यादिषु प्रतिश्रयेषु 'अभीक्ष्णम्' अनवरतं 'साधर्मिकैः' अपरसाधुभिः 'अवपतद्भिः' आगच्छद्भिर्मासादिविहारिभिरुच्छर्दितेषु 'नावपतेत्' नागच्छेत्—तेषु मासकल्पादि न कुर्यादिति ॥ साम्प्रतं कालातिक्रान्तवसतिदोषमाह—

से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवाइणित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति, अयमाउसो ! कालाइक्कंतकिरियावि भवति १ ॥ (सू० ७८)

तेष्वागन्तागारादिषु ये भगवन्तः 'ऋतुबद्धम्' इति शीतोष्णकालयोर्मासकल्पम् 'उपनीय' अतिवाह्य वर्षासु वा चतु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रो मासानतिवाह्य तत्रैव पुनः कारणमन्तरेणासते, अयमायुष्मन्! कालातिक्रमदोषः संभवति, तथा च रुयादिप्रतिबन्धः स्नेहादुद्गमादिदोषसम्भवो वेत्यतस्तथा स्थानं न कल्पत इति १ ॥ इदानीमुपस्थानदोषमभिधित्सुराह—

से आगंतारेसु वा ४ जे भयंतारो उडु० वासा० कप्पं उवाइणावित्ता तं दुगुणा दु(ति)गुणेण वा अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो० अयमाउसो! उवट्ठाणकि० २ ॥ (सू० ७९)

ये 'भगवन्तः' साधव आगन्तागारादिषु ऋतुबद्धं वर्षा वाऽतिवाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा 'द्विगुणत्रिगुणादिना' मास-(सादि)कल्पेन अपरिहृत्य-द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति, अयमेवंभूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवत्यतस्तत्रावस्थातुं न कल्पत इति २ ॥ इदानीमभिक्रान्तवसतिप्रतिपादनायाह—

इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, तंजहा—गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवइ, तं सद्दहमाणेहिं पत्तियमाणेहिं रोयमाणेहिं बहवे समण माहण अतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तंजहा—आएसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सहाओ वा पवाणि वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुहाकम्मंताणि वा दब्भकम्मंताणि वा वद्धकं० वक्कयकं० इंगा-लकम्मं० कट्ठक० सुसाणक० सुण्णागारगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणकम्मंताणि वा भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो! अभिक्कंतकिरिया यावि भवइ ३ ॥ (सू० ८०)

इह प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादिषु दिक्षु श्रावकाः प्रकृतिभद्रका वा गृहपत्यादयो भवेयुः, तेषां च साध्वाचारगोचरः 'णो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुणिसंतो भवइ'त्ति न सुष्ठु निशान्तः–श्रुतोऽवगतो भवति, साधूनामेवंभूतः प्रतिश्रयः कल्पते नैवंभूत इत्येवं न ज्ञातं भवतीत्यर्थः, प्रतिश्रयदानफलं च स्वर्गादिकं तैः कुतश्चिदवगतं, तच्छ्रद्दधानैः प्रतीयमानै रोचयद्भिरित्येकार्था एते किञ्चिद्भेदाद्वा भेदः, तदेवंभूतैः 'अगारिभिः' गृहस्थैर्बहून् श्रमणादीन् उद्दिश्य तत्र तत्रारामादौ यानशालादीनि स्वार्थं कुर्वद्भिः श्रमणाद्यवकाशार्थं 'चेइयाइं' महान्ति कृतानि भवन्ति, तानि चागाराणि स्वनामग्राहं दर्शयति, तद्यथा—'आदेशनानि' लोहकारादिशालाः 'आयतनानि' देवकुलपार्श्वापवरकाः 'देवकुलानि' प्रतीतानि 'सभाः' चातुर्वैद्यादिशालाः 'प्रपाः' उदकदानस्थानानि 'पण्यगृहाणि वा' पण्यापणाः 'पण्यशालाः' धङ्कशालाः 'यानगृहाणि' रथादीनि यत्र यानानि तिष्ठन्ति 'यानशालाः' यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते 'सुधाकर्मान्तानि' यत्र सुधापरिकर्म क्रियते, एवं दर्भवर्ध्रवल्कजाङ्गारकाष्ठकर्म[काष्ठ]गृहाणि द्रष्टव्यानि, 'श्मशानगृहं' प्रतीतं (शून्यागारं–विविक्तगृहं) शान्तिकर्मगृहं–यत्र शान्तिकर्म क्रियते गिरिगृहं–पर्वतोपरिगृहं कन्दरं–गिरिगुहा संस्कृता शैलोपस्थापनं–पाषाणमण्डपः, तदेवंभूतानि गृहाणि तैश्चरकब्राह्मणादिभिरभिक्रान्तानि पूर्वं पश्चाद् 'भगवन्तः' साधवः 'अवपतन्ति' अवतरन्ति, इयमायुष्मन्! विनेयामन्त्रणम्, अभिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवति, अल्पदोषा चेयम् ३ ॥

इह खलु पाईणं वा जाव रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणिमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारिहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं० —आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो! अणभिक्कंतकिरिया यावि भवइ ॥ (सू० ८१)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुगमं, नवरं चरकादिभिरनवसेवितपूर्वा अनभिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवति, इयं चानभिक्रान्तत्वादेवाकल्पनीयेति ४ ॥ साम्प्रतं वर्ज्याभिधानां वसतिमाह—

इह खलु पाईणं वा ४ जाव कम्मकरीओ वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं भयंताराणं कप्पइ आहाकंम्मिए उवस्सए वत्थए, से जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सयट्ठाए चेइयाइं भवंति, तं०—आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, सव्वाणि ताणि समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेइस्सामो, तं०—आएसणाणि वा जाव०, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति, अयमाउसो! वज्जकिरियावि भवइ ५ ॥ (सू० ८२)

इह खल्वित्यादि प्रायः सुगमं, समुदायार्थस्त्वयम्–गृहस्थैः साध्वाचाराभिज्ञैर्यान्यात्मार्थं गृहाणि निर्वर्त्तितानि तानि साधुभ्यो दत्त्वाऽऽत्मार्थं त्वन्यानि कुर्वन्ति, ते च साधवस्तेष्वितरेतरेषूच्चावचेषु 'पाहुडेहिं'ति प्रदत्तेषु गृहेषु यदि वर्त्तन्ते ततो वर्ज्यक्रियाभिधाना वसतिर्भवति, सा च न कल्पत इति ५ ॥ इदानीं महावर्ज्याभिधानां वसतिमधिकृत्याह—

इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइआ सड्ढा भवंति, तेसिं च णं आयारगोयरे जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहण जाव वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं०—आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं०, अयमाउसो! महावज्ज-किरियावि भवइ ६ ॥ (सू० ८३)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [८३]

दीप अनुक्रम [४१७]

इहेत्यादि प्रायः सुगममेव, नवरं श्रमणाद्यर्थं निष्पादिताया यावन्तिकवसतौ स्थानादि कुर्वतो महावर्ज्याभिधाना वसतिर्भवति, अतः अकल्प्या चेयं विशुद्धकोटिश्चेति ६ ॥ इदानीं सावद्याभिधानामधिकृत्याह—

इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया जाव तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ २ अगाराइं चेइयाइं भवंति तं०—आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराणि आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं, अयमाउसो! सावज्जकिरिया यावि भवइ ७ ॥ (सू० ८४)

इहेत्यादि प्रायः सुगमं, नवरं पञ्चविधश्रमणाद्यर्थमेवैषा कल्पिता, ते चामी श्रमणाः–"निग्गंथ[1] १ सक्क २ तावस ३ गेरुअ ४ आजीव ५ पंचहा समणा।" इति, अस्यां च स्थानादि कुर्वतः सावद्यक्रियाऽभिधाना वसतिर्भवति, अकल्पनीया, चेयं विशुद्धकोटिश्चेति ७ ॥ महासावद्याभिधानामधिकृत्याह—

इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं एगं समणजायं समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवन्ति, तं० आएसणाणि जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं जाव महया तसकायसमारंभेणं महया विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं, तंजहा—छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहणओ सीओदए वा परट्ठवियपुव्वे भवइ अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे

१ निर्ग्रन्थाः शाक्याः तापसा गैरिका आजीविकाः पञ्चधाः श्रमणाः.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवइ, जे भयंतारो तह० आएसणाणि वा० उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं दुपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो! महासावज्जकिरिया यावि भवइ ८ ॥ (सू० ८५)

इह कश्चिद्गृहपत्यादिरेकं साधर्मिकमुद्दिश्य पृथिवीकायादिसंरम्भसमारम्भारम्भैरन्यतरेण वा महता तथा 'विरूपरूपैः' नानारूपैः पापकर्मकृत्यैः–अनुष्ठानैः, तद्यथा–छादनतो लेपनतस्तथा संस्तारकार्थं द्वारढक्कनार्थं च, इत्यादीनि प्रयोजनान्युद्दिश्य शीतोदकं त्यक्तपूर्वं भवेत् अग्निर्वा प्रज्वालितपूर्वो भवेत्, तदस्यां वसतौ स्थानादि कुर्वन्तस्ते द्विपक्षं कर्मासेवन्ते, तद्यथा–प्रव्रज्याम् आधाकर्मिकवसत्यासेवनाद्गृहस्थत्वं च रागद्वेषं च ईर्यापथं साम्परायिकं च, इत्यादिदोषान्महासावद्यक्रियाऽभिधाना वसतिर्भवतीति ८ ॥ इदानीमल्पक्रियाऽभिधानामधिकृत्याह—

इह खलु पाईणं वा० रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ २ अगारीहिं जाव उज्जालियपुव्वे भवइ, जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा० उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो! अप्पसावज्जकिरिया यावि भवइ ९ ॥ एवं खलु तस्स० (सू० ८६) ॥ २–१–२–२ ॥ शय्यैषणायां द्वितीयोद्देशकः ॥

सुगमं, नवरमल्पशब्दोऽभाववाचीति ९ । एतत्तस्य भिक्षोः 'सामग्र्यं' संपूर्णो भिक्षुभाव इति ॥ "कालाइक्कंतु १ वठाण २ अभिक्कंता ३ चेव अणभिक्कंता ४ य । वज्जा य ५ महावज्जा ६ सावज्ज ७ मह ८ ऽप्पकिरिआ ९ य ॥ १ ॥"

१ कालातिक्रान्ता उपस्थाना अभिक्रान्ता चैवानभिक्रान्ता च । वर्ज्या च महावर्ज्या सावद्या महासावद्या अल्पक्रिया च ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नवभिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः, आसु चाभिक्रान्ताल्पक्रिये योग्ये शेषास्त्वयोग्या इति ॥ द्वितीयाध्ययनस्य द्वितीयः ॥ २–१–२–२ ॥

उक्तो द्वितीयोद्देशकोऽधुना तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तरसूत्रेऽल्पक्रिया शुद्धा वसतिरभिहिता, इहाप्यादिसूत्रेण तद्विपरीतां दर्शयितुमाह—

से य नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे नो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं, तंजहा—छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहणओ पिंडवाएसणाओ, से य भिक्खू चरियारए ठाणरए निसीहियारए सिज्जासंथारपिंडवाएसणारए, संति भिक्खुणो एवमक्खाइणो उज्जुया नियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा वियाहिया, संतेगइया पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा भवइ, एवं निक्खित्तपुव्वा भवइ, परिभाइयपुव्वा भवइ, परिभुत्तपुव्वा भवइ परिट्ठवियपुव्वा भवइ, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरेइ?, हंता भवइ ॥ (सू० ८७)

अत्र च कदाचित्कश्चित्साधुर्वसत्यन्वेषणार्थं भिक्षार्थं वा गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् केनचिच्छ्रद्धालुनैवमभिधीयते, तद्यथा–प्रचुरान्नपानोऽयं ग्रामोऽतोऽत्र भवतां वसतिमभिगृह्य स्थातुं युक्तमित्येवमभिहितः सन्नेवमाचक्षीत–न केवलं पिण्डपातः प्रासुको दुर्लभस्तदवाप्तावपि यत्रासौ भुज्यते स च प्रासुकः–आधाकर्मादिरहितः प्रतिश्रयो दुर्लभः, 'उंछ' इति छादनाद्युत्तरगुणदोषरहितः, एतदेव दर्शयति—'अहेसणिज्जे'त्ति यथाऽसौ मूलोत्तरगुणदोषरहितत्वेनैषणीयो भवति तथा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: द्वितीय-अध्ययनं "शयैषणा", तृतीय-उद्देशक: आरब्ध:

प्रत सूत्रांक [८७]

दीप अनुक्रम [४२१]

भूतो दुर्लभ इति, ते चामी मूलोत्तरगुणाः—"पट्ठी वंसो दो धारणाओ चत्तारि मूलवेलीओ । मूलगुणेहिं विसुद्धा एसा आहागडा वसही ॥ १ ॥ वंसगकडणोकंपण छायण लेवण दुवारभूमीओ । परिकम्मविप्पमुक्का एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥ २ ॥ धूमिअधूमिअवासिअउज्जोवियबलिकडा अ वत्ता य । सित्ता सम्मट्ठावि अ विसोहिकोडीगया वसही ॥ ३ ॥" अत्र च प्रायशः सर्वत्र सम्भवित्वादुत्तरगुणानां तानेव दर्शयति, न चासौ शुद्धा भवत्यमीभिः कर्मोपादानकर्मभिः, तद्यथा—'छादनतः' दर्भादिना, 'लेपनतः' गोमयादिना संस्तारकम्–अपवर्त्तकमाश्रित्य, तथा द्वारमाश्रित्य बृहल्लघुत्वापादानतः, तथा द्वारस्थगनं–कपाटमाश्रित्य, तथा पिण्डपातैषणामाश्रित्य, तथाहि–कस्मिंश्चिन्नतिश्रये प्रतिवसतः साधून् शय्यातरः पिण्डेनोपनिमन्त्रयेत्, तद्ग्रहे निषिद्धाचरणमग्रहे तत्प्रद्वेषादिसम्भव इत्यादिभिरुत्तरगुणैः शुद्धः प्रतिश्रयो दुरापः, शुद्धे च प्रतिश्रये साधुना स्थानादि विधेयं, यत उक्तम्—"मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं । सेवेज्ज सव्वकालं विवज्जए हुंति दोसा उ ॥ १ ॥" मूलोत्तरगुणशुद्धावासावपि स्वाध्यायादिभूमीसमन्वितो विविक्तो दुराप इति दर्शयति—'से' इत्यादि, तत्र च भिक्षवः चर्यारताः–निरोधासहिष्णुत्वाच्चङ्क्रमणशीलाः, तथा 'स्थानरताः' कायोत्सर्गकारिणः 'निषीधिकारताः' स्वाध्यायध्यायिनः शय्या–सर्वाङ्गिकी संस्तारकः–अर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणः, यदिवा शयनं शय्या

१ पृष्ठिर्वंशो द्वे धारणे चतस्रो मूलवेल्यः । मूलगुणैर्विशुद्धा एषा यथाकृता वसतिः ॥ १ वंशककटनोत्कम्पनच्छादनलेपनं द्वारभूमेः । परिकर्मविप्रमुक्ता एषा मूलोत्तरगुणैः ॥ २ ॥ धवलिता धूपिता वासिता उद्योतिता कृतबलिका च व्यक्ता च । सिक्ता संमृष्टाऽपि च विशोधिकोटीगता वसतिः ॥ ३ ॥ २ मूलोत्तरगुणशुद्धां स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितां वसतिम् । सेवेत सदाकालं विपर्यये तु भवन्ति दोषाः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तदर्थं संस्तारकः शय्यासंस्तारकस्तत्र केचिद्रताः ग्लानादिभावात्, तथा लब्धे पिण्डपाते ग्रासैषणारतास्तदेवं 'सन्ति' भवन्ति केचन भिक्षवः 'एवमाख्यायिनः' यथाऽवस्थितवसतिगुणदोषाख्यायिनः ऋजवो नियागः–संयमो मोक्षो वा तं प्रतिपन्नाः, तथा अमायाविनः, एवंविशिष्टाः साधवः 'व्याख्याताः' प्रतिपादिताः, तदेवं वसतिगुणदोषानाख्याय गतेषु तेषु तैश्च श्रावकैरेवंभूतैषणीयवसत्यभावे साध्वर्थमादेरारभ्य वसतिः कृता पूर्वकृता वा छादनादिना संस्कृता भवेत्, पुनश्च तेष्वन्येषु वा साधुषु समागतेषु 'सन्ति' विद्यन्ते तथाभूताः केचन गृहस्थाः य एवंभूतां छलनां विदध्युः, तद्यथा—प्राभृतिकेव प्राभृतिका–दानार्थं कल्पिता वसतिरिह गृह्यते, सा च तैर्गृहस्थैः 'उक्षिप्तपूर्वा' तेषामादौ दर्शिता यथाऽस्यां वसत यूयमिति, तथा 'निक्षिप्तपूर्वा' पूर्वमेव अस्माभिरात्मकृते निष्पादिता, तथा 'परिभाइयपुव्व'त्ति पूर्वमेवास्माभिरियं भ्रातृव्यादेः परिकल्पितेत्येवंभूता भवेत्, तथाऽन्यैरपीयं परिभुक्तपूर्वा, तथा पूर्वमेवास्माभिरियं परित्यक्तेति, यदि च भगवतां नोपयुज्यते ततो वयमेनामपनेष्यामः, इत्येवमादिका छलना पुनः सम्यग् विज्ञाय परिहर्तव्येति, ननु किमेवं छलनासम्भवेऽपि यथाऽवस्थितवसतिगुणदोषादिकं गृहस्थेन पृष्टः साधुर्व्याकुर्वन्–कथयन् सम्यगेव व्याकरोति?, यदि-वैवं व्याकुर्वन् सम्यग् व्याकर्त्ता भवति?, आचार्य आह–हन्त इति शिष्यामन्त्रणे सम्यगेव व्याकर्त्ता भवतीति ॥ तथा-विधकार्यवशाच्चरककार्पटिकादिभिः सह संवासे विधिमाह—

से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा खुड्डियाओ खुड्डदुवारियाओ नियायाओ संनिरुद्धाओ भवन्ति, तहप्पगा० उवस्सए राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा प० पुरा हत्थेण वा पच्छा पाएण वा तओ संजयामेव निक्खमिज्ज वा २,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

केवली बूया आयाणमेयं, जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा छत्तए वा मत्तए वा दंडए वा लट्ठिया वा भिसिया वा नालिया वा चेलं वा चिलिमिली वा चम्मए वा चम्मकोसए वा चम्मछेयणए वा दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अणिकंपे चलाचले भिक्खू य राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा २ पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा० हत्थं वा० लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ जाव ववरोविज्ज वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवइट्ठं जं तह० उवस्सए पुरा हत्थेण निक्ख० वा पच्छा पाएणं तओ संजयामेव नि० पविसिज्ज वा ॥ (सू० ८८)

स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा—'क्षुद्रिकाः' लघ्व्यः तथा क्षुद्रद्वाराः 'नीचाः' उच्चैस्त्वरहिताः 'संनिरुद्धाः' गृहस्थाकुला वसतयो भवन्ति, ताश्चैवं भवन्ति-तस्यां साधुवसतौ शय्यातरेणान्येषामपि कतिपयदिवसस्थायिनां चरकादीनामवकाशो दत्तो भवेत्, तेषां वा पूर्वस्थितानां पश्चात्साधूनामुपाश्रयो दत्तो भवेत्, तत्र कार्यवशाद्व्रसता रात्र्यादौ निर्गच्छता प्रविशता वा यथा चरकाद्युपकरणोपघातो न भवति तदवयवोपघातो वा तथा पुरो हस्तकरणादिकया गमनागमनादिक्रियया यतितव्यं, शेषं कण्ठ्यं, नवरं 'चिलिमिली' यमनिका 'चर्मकोशः' पाणिंत्रं खल्लकादिः ॥ इदानीं वसतियाञ्चाविधिमधिकृत्याह—

से आगंतारेसु वा अणुवीय उवस्सयं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिट्ठाए ते उवस्सयं अणुन्नविज्जा—कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिन्नायं वसिस्सामो जाव आउसंतो! जाव आउसंतस्स उवस्सए जाव साहम्मियाइं ततो उवस्सयं गिण्हिस्सामो तेण परं विहरिस्सामो ॥ (सू० ८९)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भिक्षुरागन्तागारादीनि गृहाणि पूर्वोक्तानि तेषु प्रविश्यानुविचिन्त्य च–किंभूतोऽयं प्रतिश्रयः? कश्चात्रेश्वरः? इत्येवं पर्यालोच्य च प्रतिश्रयं याचेत, यस्तत्र 'ईश्वरः' गृहस्वामी यो वा तत्र 'समधिष्ठाता' प्रभुनियुक्तस्तानुपाश्रयमनुज्ञापयेत्, तद्यथा—'कामं' तवेच्छया आयुष्मन्! त्वया यथापरिज्ञातं प्रतिश्रयं कालतो भूभागतश्च तथैवाधिवत्स्यामः, एवमुक्तः स कदाचिद् गृहस्थ एवं ब्रूयाद्–यथा कियत्कालं भवतामत्रावस्थानमिति?, एवं गृहस्थेन पृष्टः साधुः—वसतिप्रत्युपेक्षक एतद् ब्रूयाद्–यथा कारणमन्तरेण ऋतुबद्धे मासमेकं वर्षासु चतुरो मासानवस्थानमिति, एवमुक्तः कदाचित्परो ब्रूयात्—नैतावन्तं कालं ममात्रावस्थानं वसतिर्वा, तत्र साधुस्तथाभूतकारणसद्भावे एवं ब्रूयाद्–यावत्कालमिहायुष्मन्त आसते यावद्वा भवत उपाश्रयस्तावत्कालमेवोपाश्रयं गृहीष्यामः, ततः परेण विहरिष्याम इत्युत्तरेण सम्बन्धः, साधुप्रमाणप्रश्ने चोत्तरं दद्याद् यथा समुद्रसंस्थानीयाः सूरयो, नास्ति परिमाणं, यतस्तत्र कार्यार्थिनः केचनागच्छन्ति अपरे कृतकार्या गच्छन्त्यतो यावन्तः साधर्मिकाः समागमिष्यन्ति तावतामयमाश्रयः, साधुपरिमाणं न कथनीयमिति भावार्थः ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० जस्सुवस्सए संवसिज्जा तस्स पुव्वामेव नामगुत्तं जाणिज्जा, तओ पच्छा तस्स गिहे निमंतेमाणस्स वा अनिमंतेमाणस्स वा असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहेज्जा ॥ (सू० ९०)

सुगमं, नवरं साधूनां सामाचार्येषा, यदुत शय्यातरस्य नामगोत्रादि ज्ञातव्यं, तत्परिज्ञानाच्च सुखेनैव प्राघूर्णिकादयो भिक्षामटन्तः शय्यातरगृहप्रवेशं परिहरिष्यन्तीति ॥ किञ्च—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू वा० से जं० ससागारियं सागणियं सउदयं नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए जावऽणुचिंताए तहप्पगारे उवस्सए नो ठा० ॥ (सू० ९१)

स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा–ससागारिकं साग्निकं सोदकं, तत्र स्वाध्यायादिकृते स्थानादि न विधेयमिति ॥ तथा—

से भिक्खू वा० से जं० गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं पंथए पडिबद्धं वा नो पन्नस्स जाव चिंताए तह उ० नो ठा० ॥ (सू० ९२)

यस्योपाश्रयस्य गृहस्थगृहमध्येन पन्थास्तत्र बह्वपायसम्भवात्तत्र न स्थातव्यमिति ॥ तथा—

से भिक्खू वा० से जं०, इह खलु गाहावई वा० कम्मकरीओ वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा जाव उद्दवंति वा नो पन्नस्स०, सेवं नच्चा तहप्पगारे उ० नो ठा० ॥ (सू० ९३) से भिक्खू वा० से जं पुण० इह खलु गाहावई वा कम्मअरीओ वा अन्नमन्नस्स गायं तिल्लेण वा नव० घ० वसाए वा अब्भंगेंति वा मक्खेंति वा नो पण्णस्स जाव तहप्प० उव० नो ठा० (सू० ९४) से भिक्खू वा० से जं पुण०—इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ अन्नमन्नस्स गायं सिणाणेण वा क० लु० चु० प० आघंसंति वा पघंसंति वा उव्वलंति वा उव्वट्टिंति वा नो पन्नस्स० (सू० ९५) से भिक्खू० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्जा, इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरी वा अण्णमण्णस्स गायं सीओदग० उसिणो० उच्छो० पहोयंति सिंचंति सिणावंति वा नो पन्नस्स जाव नो ठाणं० ॥ (सू० ९६)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुगमं, नवरं यत्र प्रातिवेशिकाः प्रत्यहं कलहायमानास्तिष्ठन्ति तत्र स्वाध्यायाद्युपरोधान्न स्थेयमिति ॥ एवं तैलाद्यभ्यङ्गकल्काद्युद्वर्त्तनोदकप्रक्षालनसूत्रमपि नेयमिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा निगिणा ठिया निगिणा उल्लीणा मेहुणधम्मं विन्नविंति रहस्सियं वा मंतं मंतंति नो पन्नस्स जाव नो ठाणं वा ३ चेइज्जा ॥ (सू० ९७)

यत्र प्रातिवेशिकस्त्रियः 'णिगिणाउ'त्ति मुक्तपरिधाना आसते, तथा 'उपलीनाः' प्रच्छन्ना मैथुनधर्मविषयं किञ्चिद्रहस्यं रात्रिसम्भोगं परस्परं कथयन्ति, अपरं वा रहस्यमकार्यसंबद्धं मन्त्रं मन्त्रन्यते, तथाभूते प्रतिश्रये न स्थानादि विधेयं, यतस्तत्र स्वाध्यायक्षितिचित्तविप्लुत्यादयो दोषाः समुपजायन्त इति ॥ अपि च—

से भिक्खू वा से जं पुण उ० आइन्नसंलिक्खं नो पन्नस्स० ॥ (सू० ९८)

कण्ड्यं, नवरं, तत्रायं दोषः–चित्रभित्तिदर्शनात्स्वाध्यायक्षितिः, तथाविधचित्रस्थस्त्र्यादिदर्शनात्पूर्वक्रीडिताक्रीडितस्मरणकौतुकादिसम्भव इति ॥ साम्प्रतं फलहकादिसंस्तारकमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० अभिकंखिज्जा संथारगं एसित्तए, से जं० संथारगं जाणिज्जा सअंडं जाव ससंताणयं, तहप्पगारं संथारं लाभे संते नो पडि० १ ॥ से भिक्खू वा से जं० अप्पंडं जाव संताणगरुयं तहप्पगारं नो प० २ ॥ से भिक्खू वा० अप्पंडं लहुयं अपाडिहारियं तह० नोप० ३ ॥ से भिक्खू वा० अप्पंडं जाव अप्पसंताणगं लहुअं पाडिहारियं नो अहाबद्धं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तहप्पगारं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ४ ॥ से भिक्खू वा २ से जं पुण संथारगं जाणिज्जा अप्पंडं जाव संताणगं लहुअं पाडिहारिअं अहाबद्धं, तहप्पगारं संथारगं लाभे संते पडिगाहिज्जा ५ ॥ (सू० ९९)

स भिक्षुर्यदि फलहकादिसंस्तारकमेषितुमभिकाङ्क्षयेत्, तच्चैवंभूतं जानीयात्, तद्यथा–प्रथमसूत्रे साण्डादित्वात्संयमविराधनादोषः १, द्वितीयसूत्रे गुरुत्वादुत्क्षेपणादावात्मविराधनादिदोषः २, तृतीयसूत्रेऽप्रतिहारकत्वात्तत्परित्यागादिदोषः ३, चतुर्थसूत्रे त्ववबद्धत्वात्तद्बन्धनादिपलिमन्थदोषः ४, पञ्चमसूत्रे त्वल्पाण्डं यावदल्पसन्तानकलघुप्रातिहारिकावबद्धत्वात्सर्वदोषविप्रमुक्तत्वात्संस्तारको ग्राह्य इति सूत्रपञ्चकसमुदायार्थः ५ ॥ साम्प्रतं संस्तारकमुद्दिश्याभिग्रहविशेषानाह—

इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम—अह भिक्खू जाणिज्जा इमाइं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा २ उद्दिसिय २ संथारगं जाइज्जा, तंजहा—इक्कडं वा कढिणं वा जंतुयं वा परगं वा मोरगं वा तणगं वा सोरगं वा कुसं वा कुच्चगं वा पिप्पलगं वा पलालगं वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोति वा भ० दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं संथारगं ? तह० संथारगं सयं वा णं जाइज्जा परो वा देज्जा फासुयं एसणिज्जं जाव पडि०, पढमा पडिमा ॥ (सू० १००)

'इत्येतानि' पूर्वोक्तानि 'आयतनादीनि' दोषरहितस्थानानि वसतिगतानि संस्तारकगतानि च 'उपातिक्रम्य' परिहृत्य वक्ष्यमाणांश्च दोषान् परिहृत्य संस्तारको ग्राह्य इति दर्शयति—'अथ' आनन्तर्ये स भावभिक्षुर्जानीयात् 'आभिः' करणभूताभिश्चतसृभिः 'प्रतिमाभिः' अभिग्रहविशेषभूताभिः संस्तारकमन्वेष्टुं, ताश्चेमाः–उद्दिष्ट १ प्रेक्ष्य २ तस्यैव ३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यथासंस्तृत ४ रूपाः, तत्रोद्दिष्टा फलहकादीनामन्यतमद्ग्रहीष्यामि नेतरदिति प्रथमा १, यदेव प्रागुद्दिष्टं तदेव द्रक्ष्यामि ततो ग्रहीष्यामि नान्यदिति द्वितीया प्रतिमा २, तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो ग्रहीष्यामि नान्यत आनीय तत्र शयिष्य इति तृतीया ३ तदपि फलहकादिकं यदि यथासंस्तृतमेवास्ते ततो गृहीष्यामि नान्यथेति चतुर्थी प्रतिमा ४। आसु च प्रतिमास्वाद्ययोः प्रतिमयोर्गच्छनिर्गतानामग्रहः, उत्तरयोरन्यतरस्यामभिग्रहः, गच्छान्तर्गतानां तु चतस्रोऽपि कल्पन्त इति, एताश्च यथाक्रमं सूत्रैर्दर्शयति–तत्र खल्विमा प्रथमा प्रतिमा तद्यथा–उद्दिश्योद्दिश्यैकैकादी-नामन्यतमद्ग्रहीष्यामीत्येवं यस्याभिग्रहः सोऽपरलाभेऽपि न प्रतिगृह्णीयादिति, शेषं कण्ठ्यं नवरं 'कठिनं' वंशकटादि 'जन्तुकं' तृणविशेषोत्पन्नं 'परकं' येन तृणविशेषेण पुष्पाणि ग्रथ्यन्ते 'मोरगं'ति मयूरपिच्छनिष्पन्नं 'कुच्चगं'ति येन कूर्चकाः क्रियन्ते, एते चैवंभूताः संस्तारका अनूपदेशे सार्द्रादिभूम्यन्तरणार्थमनुज्ञाता इति ॥

अहावरा दुच्चा पडिमा—से भिक्खू वा० पेहाए संथारगं जाइज्जा, तंजहा—गाहावइं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउ०! भइ०! दाहिसि मे? जाव पडिगाहिज्जा, दुच्चा पडिमा २ ॥ अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा० जस्सुवस्सए संवसिज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए, तंजहा—इक्कडे इ वा जाव पलाले इ वा तस्स लाभे संवसिज्जा तस्सालाभे उक्कुडुए वा नेसज्जिए वा विहरिज्जा तच्चा पडिमा ३ ॥ (सू० १०१)

अत्रापि पूर्ववत्सर्वं भणनीयं, यदि परं तमिक्कडादिकं संस्तारकं दृष्ट्वा याचते नादृष्टमिति ॥ एवं तृतीयाऽपि नेया,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इयांस्तु विशेषः–गच्छान्तर्गतो निर्गतो वा यदि वसतिदातैव संस्तारकं प्रयच्छति ततो गृह्णाति, तदभावे उत्कटुको वा निषण्णो वा पद्मासनादिना सर्वरात्रमास्त इति ॥

अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा अहासंथडमेव संथारगं जाइज्जा, तंजहा—पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संते संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कडुए वा २ विहरिज्जा, चउत्था पडिमा ४ ॥ (सू० १०२)

एतदपि सुगमं, केवलमस्यामयं विशेषः–यदि शिलादिसंस्तारकं यथासंस्तृतं शयनयोग्यं लभ्यते ततः शेते नान्यथेति ॥ किञ्च—

इच्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे तं चेव जाव अन्नोऽन्नसमाहीए एवं च णं विहरंति ॥ (सू० १०३)

आसां चतसृणां प्रतिमानामन्यतरां प्रतिपद्यमानोऽन्यमपरप्रतिमाप्रतिपन्नं साधुं न हीलयेद्, यस्मात्ते सर्वेऽपि जिनाज्ञामाश्रित्य समाधिना वर्त्तन्त इति ॥ साम्प्रतं प्रातिहारकसंस्तारकप्रत्यर्पणे विधिमाह—

से भिक्खू वा० अभिकंखिज्जा संथारगं पच्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्जा सअंडं जाव ससंताणयं तहप्प० संथारगं नो पच्चप्पिणिज्जा ॥ (सू० १०४)

स भिक्षुः प्रातिहारिकं संस्तारकं यदि प्रत्यर्पयितुमभिकाङ्क्षेदेवंभूतं जानीयात् तद्यथा–गृहकोकिलकाद्यण्डकसंबद्धमप्रत्युपेक्षणयोग्यं ततो न प्रत्यर्पयेदिति ॥ किञ्च—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू० अभिकंखिज्जा सं० से जं० अप्पंडं० तहप्पगारं० संथारगं पडिलेहिय २ प० २ आयाविय २ विहुणिय २ तओ संजयामेव पच्चप्पिणिज्जा ॥ (सू० १०५)

सुगमम् । साम्प्रतं वसतौ वसतां विधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा पुव्वामेव पन्नस्स उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहिज्जा, केवली बूया आयाणमेयं—अपडिलेहियाए उच्चारपासवणभूमीए, से भिक्खू वा० राओ वा वियाले वा उच्चारपासवणं परिट्ठवेमाणे पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा २ हत्थं वा पायं वा जाव लूसेज्ज व पाणाणि वा ४ अवरोविज्जा, अह भिक्खू णं पु० जं पुव्वामेव पन्नस्स उ० भूमिं पडिलेहिज्जा ॥ (सू० १०६)

सुगमं, नवरं साधूनां सामाचार्येषा, यदुत–विकाले प्रश्रवणादिभूमयः प्रत्युपेक्षणीया इति ॥ साम्प्रतं संस्तारकभूमिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा २ अभिकंखिज्जा सिज्जासंथारगभूमिं पडिलेहित्तए नन्नत्थ आयरिएण वा उ० जाव गणावच्छेएण वा बालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आएसेण वा अंतेण वा मज्झेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा निवाएण वा, तओ संजयामेव पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव बहुफासुयं सिज्जासंथारगं संथरिज्जा ॥ (सू० १०७)

स भिक्षुराचार्योपाध्यायादिभिः स्वीकृतां भूमिं मुक्त्वाऽन्यां स्वसंस्तरणाय प्रत्युपेक्षेत, शेषं सुगमं, नवरमादेशः–प्राघूर्णक इति, तथाऽन्तेन वेत्यादीनां पदानां तृतीया सप्तम्यर्थे इति ॥ इदानीं शयनविधिमधिकृत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू वा० बहु० संथरित्ता अभिकंखिज्जा बहुफासुए सिज्जासंथारए दुरुहित्तए ॥ से भिक्खू० बहु० दुरूहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय २ तओ संजयामेव बहु० दुरूहित्ता तओ संजयामेव बहु० सइज्जा ॥ (सू० १०८)

से इत्यादि स्पष्टम् । इदानीं सुप्तविधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० बहु० सयमाणे नो अन्नमन्नस्स हत्थेण हत्थं पाएण पायं कारण कायं आसाइज्जा, से अणासायमाणे तओ संजयामेव बहु० सइज्जा ॥ से भिक्खू वा उस्सासमाणे वा नीसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डोए वा वायनिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ता तओ संजयामेव ऊससिज्जा वा जाव वायनिसग्गं वा करेज्जा ॥ (सू० १०९)

निगदसिद्धम्, इयमत्र भावना–स्वपद्भिर्हस्तमात्रव्यवहितसंस्तारकैः स्वप्तव्यमिति ॥ एवं सुप्तस्य निःश्वसितादिविधि-सूत्रमुत्तानार्थं, नवरम् 'आसयं व'त्ति आस्यं 'पोसयं वा' इत्यधिष्ठानमिति ॥ साम्प्रतं सामान्येन शय्यामङ्गीकृत्याह—

से भिक्खू वा० समा वेगया सिज्जा भविज्जा विसमा वेगया सि० पवाया वे० निवाया वे० ससरक्खा वे० अप्पससरक्खा वे० सदंसमसगा वेगया अप्पदंसमसगा० सपरिसाडा वे० अपरिसाडा० सउवसग्गा वे० निरुवसग्गा वे० तहप्पगाराहिं सिज्जाहिं संविज्जमाणाहिं पग्गहियतरागं विहारं विहरिज्जा नो किंचिवि गिलाइज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जएत्तिबेमि (सू० ११०) २–१–२–२ ॥

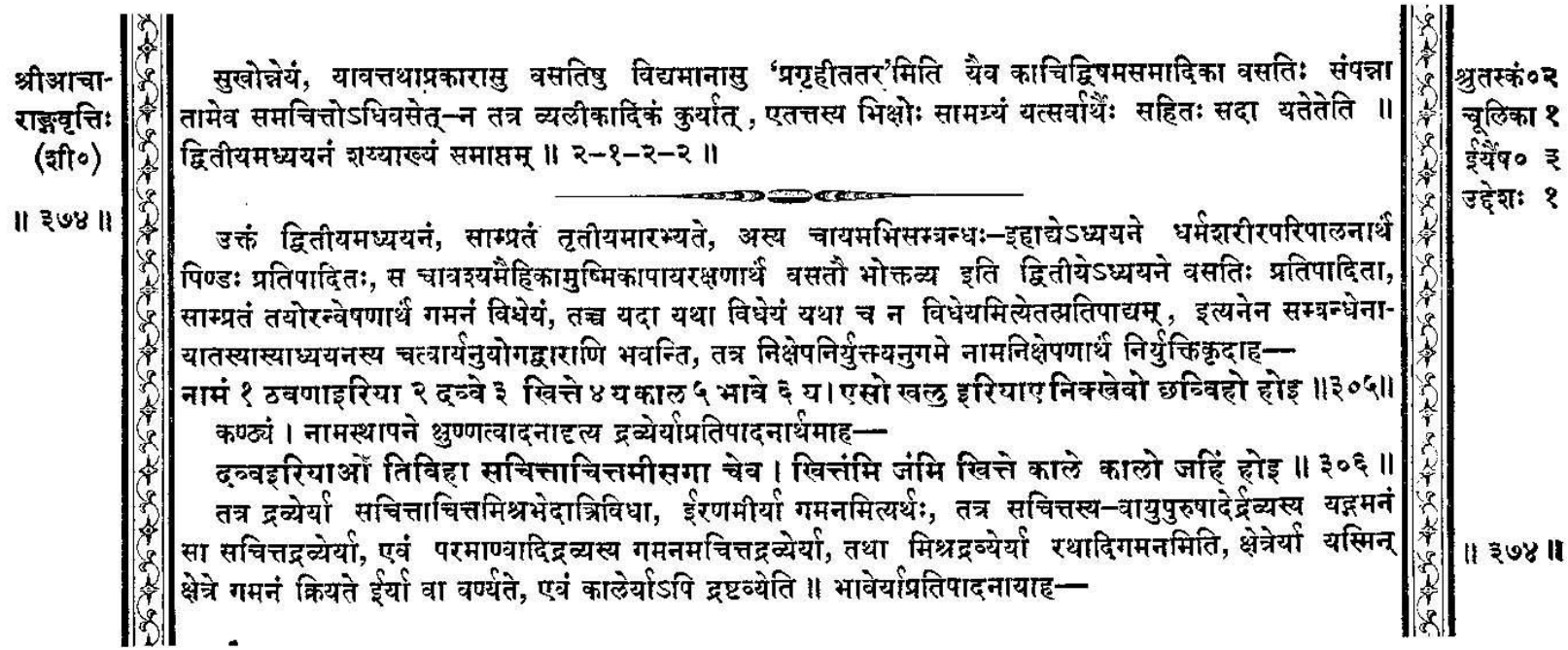
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र यत् २-१-२-२ लिखितं, तत् मुद्रण दोषः| (यहाँ २/१/२/३ होना चाहिए, क्योंकि दूसरे श्रुतस्कंध की पहेली चुडा के दूसरे अध्ययन का ये तीसरा उद्देशक समाप्त हुआ है|

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [११०]

दीप अनुक्रम [४४४]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ ३७४ ॥

सुखोत्तेर्यं, यावत्तथाप्रकारासु वसतिषु विद्यमानासु 'प्रगृहीततर'मिति यैव काचिद्विषमसमादिका वसतिः संपन्ना तामेव समचित्तोऽधिवसेत्–न तत्र व्यलीकादिकं कुर्यात्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं यत्सर्वार्थैः सहितः सदा यतेतेति ॥ द्वितीयमध्ययनं शय्याख्यं समाप्तम् ॥ २–१–२–२ ॥

उक्तं द्वितीयमध्ययनं, साम्प्रतं तृतीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहाद्येऽध्ययने धर्मशरीरपरिपालनार्थं पिण्डः प्रतिपादितः, स चावश्यमैहिकामुष्मिकापायरक्षणार्थं वसतौ भोक्तव्य इति द्वितीयेऽध्ययने वसतिः प्रतिपादिता, साम्प्रतं तयोरन्वेषणार्थं गमनं विधेयं, तच्च यदा यथा विधेयं यथा च न विधेयमित्येतत्प्रतिपाद्यम्, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमे नामनिक्षेपणार्थं निर्युक्तिकृदाह–

नामं १ ठवणाइरिया २ दव्वे ३ खित्ते ४ य काल ५ भावे ६ य। एसो खलु इरियाए निक्खेवो छव्विहो होइ ॥३०५॥

कण्ठ्यं। नामस्थापने श्रुण्णत्वादनादृत्य द्रव्येर्याप्रतिपादनार्थमाह–

दव्वइरियाओ तिविहा सचित्ताचित्तमीसगा चेव। खित्तंमि जंमि खित्ते काले कालो जहिं होइ ॥ ३०६ ॥

तत्र द्रव्येर्या सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिविधा, ईरणमीर्या गमनमित्यर्थः, तत्र सचित्तस्य–वायुपुरुषादेर्द्रव्यस्य यद्गमनं सा सचित्तद्रव्येर्या, एवं परमाण्वादिद्रव्यस्य गमनमचित्तद्रव्येर्या, तथा मिश्रद्रव्येर्या रथादिगमनमिति, क्षेत्रेर्या यस्मिन् क्षेत्रे गमनं क्रियते ईर्या वा वर्ण्यते, एवं कालेर्याऽपि द्रष्टव्येति ॥ भावेर्याप्रतिपादनायाह–

॥ ३७४ ॥

श्रुतस्कं०२ चूलिका १ ईर्या० ३ उद्देशः १

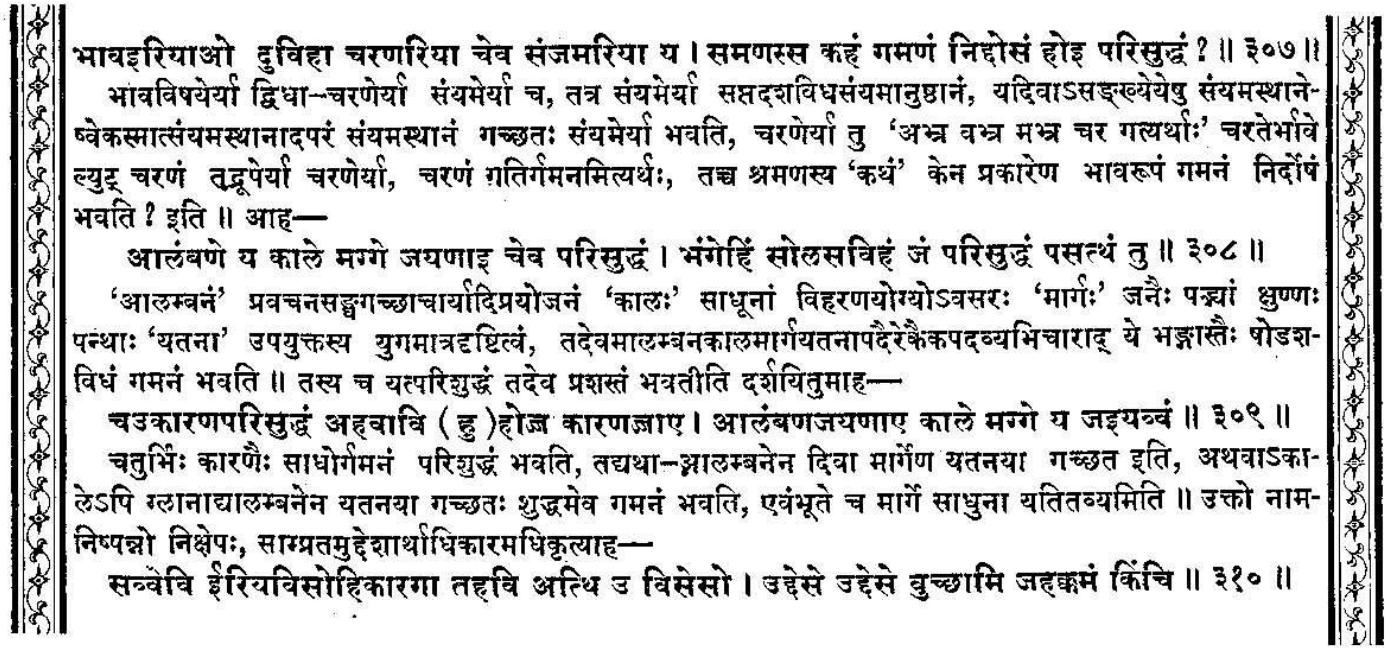
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र यत् २-१-२-२ लिखितं, तत् मुद्रण दोष:| (यहाँ २/१/२/३ होना चाहिए, क्योंकि दूसरे श्रुतस्कंध की पहेली चुडा के दूसरे अध्ययन का ये तीसरा उद्देशक समाप्त हुआ है| अब यहाँ तीसरा अध्ययन आरम्भ हो रहा है|

प्रथम चूलिकाया: तृतीय-अध्ययनं "ईर्या", प्रथम-उद्देशक: आरब्ध:

प्रत सूत्रांक [११०]

दीप अनुक्रम [४४४]



भावइरियाओ दुविहा चरणरिया चेव संजमरिया य। समणस्स कहं गमणं निद्दोसं होइ परिसुद्धं ? ॥ ३०७ ॥

भावविषयेर्या द्विधा–चरणेर्या संयमेर्या च, तत्र संयमेर्या सप्तदशविधसंयमानुष्ठानं, यदिवाऽसङ्ख्येयेषु संयमस्थानेष्वेकस्मात्संयमस्थानादपरं संयमस्थानं गच्छतः संयमेर्या भवति, चरणेर्या तु 'अभ्र वभ्र मभ्र चर गत्यर्थाः' चरतेर्भावे ल्युट् चरणं तद्रूपेर्या चरणेर्या, चरणं गतिर्गमनमित्यर्थः, तच्च श्रमणस्य 'कथं' केन प्रकारेण भावरूपं गमनं निर्दोषं भवति ? इति ॥ आह—

आलंबणे य काले मग्गे जयणाइ चेव परिसुद्धं। भंगेहिं सोलसविहं जं परिसुद्धं पसत्थं तु ॥ ३०८ ॥

'आलम्बनं' प्रवचनसङ्गच्छाचार्यादिप्रयोजनं 'कालः' साधूनां विहरणयोग्योऽवसरः 'मार्गः' जनैः पद्भ्यां क्षुण्णः पन्थाः 'यतना' उपयुक्तस्य युगमात्रदृष्टित्वं, तदेवमालम्बनकालमार्गयतनापदैरेकैकपदव्यभिचाराद् ये भङ्गास्तैः षोडशविधं गमनं भवति ॥ तस्य च यत्परिशुद्धं तदेव प्रशस्तं भवतीति दर्शयितुमाह—

चउकारणपरिसुद्धं अहवावि (हु) होज्ज कारणज्जाए। आलंबणजयणाए काले मग्गे य जइयव्वं ॥ ३०९ ॥

चतुर्भिः कारणैः साधोर्गमनं परिशुद्धं भवति, तद्यथा–आलम्बनेन दिवा मार्गेण यतनया गच्छत इति, अथवाऽकालेऽपि ग्लानाद्यालम्बनेन यतनया गच्छतः शुद्धमेव गमनं भवति, एवंभूते च मार्गे साधुना यतितव्यमिति ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह—

सव्वेवि ईरियविसोहिकारगा तहवि अत्थि उ विसेसो। उद्देसे उद्देसे वुच्छामि जहक्कमं किंचि ॥ ३१० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'सर्वेऽपि' त्रयोऽपि यद्यपीर्याविशुद्धिकारकास्तथाऽपि प्रत्युद्देशकमस्ति विशेषः, तं च यथाक्रमं किञ्चिद्वक्ष्याम इति ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह—

पढमे उवागमण निग्गमो य अद्धाण नावजयणा य । बिइए आरूढ छलणं जंघासंतार पुच्छा य ॥ ३११ ॥

प्रथमोद्देशके वर्षाकालादावुपागमनं–स्थानं तथा निर्गमश्च शरत्कालादौ यथा भवति तदत्र प्रतिपाद्यमध्वनि यतना चेति, द्वितीयोद्देशके नावादारूढस्य छलनं–प्रक्षेपणं व्यावर्ण्यते, जङ्घासन्तारे च पानीये यतना, तथा नानाप्रकारे च प्रश्ने साधुना यद्विधेयमेतच्च प्रतिपाद्यमिति ॥

तइयंमि अदायणया अप्पडिबंधो य होइ उवहिंमि । वज्जेयव्वं च सया संसारियरायगिहगमणं ॥ ३१२ ॥

तृतीयोद्देशके यदि कश्चिदुदकादीनि पृच्छति, तस्य जानताऽप्यदर्शनता विधेयेत्ययमधिकारः, तथोपधावप्रतिबन्धो विधेयः, तदपहरणे च स्वजनराजगृहगमनं च वर्जनीयं, न च तेषामाख्येयमिति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

अब्भुवगए खलु वासावासे अभिपवुट्ठे बहवे पाणा अभिसंभूया बहवे बीया अहुणाभिन्ना अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुबीया जाव ससंताणगा अणभिक्कंता पंथा नो विन्नाया मग्गा सेवं नच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा, तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥ (सू० १११)

आभिमुख्येनोपगतासु वर्षासु अभिप्रवृष्टे च पयोमुचि, अत्र वर्षाकालवृष्टिभ्यां चत्वारो भङ्गाः, तत्र साधूनां सामा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चार्येवैषा, यदुत–निर्व्याघातेनाप्राप्त एवाषाढचतुर्मासके तृणफलकडगलकभस्ममात्रकादिपरिग्रहः, किमिति ?, यतो जातायां वृष्टौ बहवः 'प्राणिनः' इन्द्रगोपकबीयावकगर्दभकादयः 'अभिसंभूताः' प्रादुर्भूताः, तथा बहूनि 'बीजानि' अभिनवाङ्कुरितानि, अन्तराले च मार्गास्तस्य–साधोर्गच्छतो बहुप्राणिनो बहुबीजा यावत्ससन्तानका अनभिक्रान्ताश्च पन्थानः, अत एव तृणाकुलत्वान्न विज्ञाताः मार्गाः, स–साधुरेवं ज्ञात्वा न ग्रामाद्ग्रामान्तरं यायात्, ततः संयत एव वर्षासु यथाऽवसरप्राप्तायां वसतावुपलीयेत–वर्षाकालं कुर्यादिति ॥ एतदपवादार्थमाह—

से भिक्खू वा० सेज्जं गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव राय० नो महई विहारभूमी नो महई वियारभूमी नो सुलभे पीढफलगसिज्जासंथारगे नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे जत्थ बहवे समण० वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य अच्चाइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणे जाव चिंताए, सेवं नच्चा तहप्पगारं गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा नो वासावासं उवल्लिइज्जा ॥ से भि० से जं० गामं वा जाव राय० इमंसि खलु गामंसि वा जाव महई विहारभूमी महई वियार० सुलभे जत्थ पीढ ४ सुलभे फा० नो जत्थ बहवे समण० उवागमिस्संति वा अप्पाइन्ना वित्ती जाव रायहाणिं वा तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्जा ॥ (सू० ११२)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवं राजधान्यादिकं जानीयात्, तद्यथा–अस्मिन् ग्रामे यावद् राजधान्यां वा न विद्यते महती 'विहारभूमिः' स्वाध्यायभूमिः, तथा 'विचारभूमिः' बहिर्गमनभूमिः, तथा नैवात्र सुलभानि पीठफलहकशय्यासंस्तारकादीनि, तथा न सुलभः प्रासुकः पिण्डपातः, 'उंछे'त्ति एषणीयः, एतदेव दर्शयति—'अहेसणीज्जे'त्ति यथाऽसावुद्गमादिदोषर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हित एषणीयो भवति तथाभूतो दुर्लभ इति, यत्र च ग्रामनगरादौ बहवः श्रमणब्राह्मणकृपणवणीमगादय उपागता अपरे चोपागमिष्यन्ति, एवं च तत्रात्याकीर्णा वृत्तिः, वर्त्तनं-वृत्तिः, सा च भिक्षाटनस्वाध्यायध्यानबहिर्गमनकार्येषु जनसङ्कुलत्वादाकीर्णा भवति, ततश्च न प्राज्ञस्य तत्र निष्क्रमणप्रवेशौ यावच्चिन्तनादिकाः क्रिया निरुपद्रवाः संभवन्ति, स साधुरेवं ज्ञात्वा न तत्र वर्षाकालं विदध्यादिति ॥ एवं च व्यत्ययसूत्रमपि व्यत्ययेन नेयमिति ॥ साम्प्रतं गतेऽपि वर्षाकाले यदा यथा च गन्तव्यं तदधिकृत्याह—

अह पुणेवं जाणिज्जा—चत्तारि मासा वासावासाणं वीइक्कंता हेमंताण य पंचदसरायकप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गे बहुपाणा जाव ससंताणगा नो जत्थ बहवे जाव उवागमिस्संति, सेवं नच्चा नो गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ अह पुणेवं जाणिज्जा चत्तारि मासा० कप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गे अप्पंडा जाव ससंताणगा बहवे जत्थ समण० उवागमिस्संति, सेवं नच्चा तओ संजयामेव० दूइज्जिज्ज ॥ (सू० ११३)

अथैवं जानीयाद् यथा चत्वारोऽपि मासाः प्रावृट्कालसम्बन्धिनोऽतिक्रान्ताः, कार्त्तिकचातुर्मासिकमतिक्रान्तमित्यर्थः, तत्रोत्सर्गतो यदि न वृष्टिस्ततः प्रतिपद्येवान्यत्र गत्वा पारणकं विधेयम्, अथ वृष्टिस्ततो हेमन्तस्य पञ्चसु दशसु वा दिनेषु 'पर्युषितेषु' गतेषु गमनं विधेयं, तत्रापि यद्यन्तराले पन्थानः साण्डा यावत्ससन्तानका भवेयुर्न च तत्र बहवः श्रमणब्राह्मणादयः समागताः समागमिष्यन्ति वा ततः समस्तमेव मार्गशिरं यावत्तत्रैव स्थेयं, तत ऊर्द्धं यथा तथाऽस्तु न स्थेयमिति ॥ एवमेतद्विपर्ययसूत्रमप्युक्तार्थम् ॥ इदानीं मार्गयतनामधिकृत्याह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११४]

दीप अनुक्रम [४४८]

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ जुगमायाए पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पादं रीइज्जा साहट्टु पायं रीइज्जा वितिरिच्छं वा कट्टु पायं रीइज्जा, सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाणाणि वा बी० हरि० उदए वा मट्टिआ वा अविद्धत्थे सइ परक्कमे जाव नो उज्जुयं गच्छिज्जा, तओ संजया० गामा० दूइज्जिज्जा ॥ (सू० ११४)

स भिक्षुर्यावद् ग्रामान्तरं गच्छन् 'पुरतः' अग्रतः 'युगमात्रं' चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोर्द्धिसंस्थितं भूभागं पश्यन् गच्छेत्, तत्र च पथि दृष्ट्वा 'त्रसान् प्राणिनः' पतङ्गादीन् 'उद्धट्टु'त्ति पादमुद्धृत्याग्रतलेन पादपातप्रदेशं वाऽतिक्रम्य गच्छेत्, एवं संहृत्य-शरीराभिमुखमाक्षिप्य पादं विवक्षितपादपातप्रदेशादारत एव विन्यस्य उत्क्षिप्य वाऽग्रभागं पार्ष्णिकया गच्छेत्, तथा तिरश्चीनं वा पादं कृत्वा गच्छेत्, अयं चान्यमार्गाभावे विधिः, सति त्वन्यस्मिन् पराक्रमे—गमनमार्गे संयतः संस्तेनैव 'पराक्रमेत्' गच्छेत् न ऋजुनेत्येवं ग्रामान्तरं गच्छेत् सर्वोपसंहारोऽयमिति ॥ से इत्यादि, उत्तानार्थम् ॥ अपि च—

से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से विरूवरूवाणि पच्चंतिगाणि दसुगायणाणि मिलक्खूणि अणायरियाणि दुसन्नप्पाणि दुप्पन्नवणिज्जाणि अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि सइ लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जाणवएहिं नो विहारवडियाए पवज्जिज्जा गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, तेणं बाला अयं तेणे अयं उवचरए अयं ततो आगएत्तिकट्टु तं भिक्खुं अक्कोसिज्ज वा जाव उद्दविज्ज वा वत्थं प० कं० पाय० अच्छिंदिज्ज वा भिंदिज्ज वा अवहरिज्ज वा परिट्ठविज्ज

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगाराइं विरू० पव्वंतियाणि दस्सुगा० जाव विहारवत्तियाए नो पवज्जिज्ज वा गमणाए तओ संजया गा० दू० ॥ (सू० ११५)

स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा—'अन्तरा' ग्रामान्तराले 'विरूपरूपाणि' नानाप्रकाराणि प्रात्यन्तिकानि दस्यूनां–चौराणामायतनानि–स्थानानि 'मिलक्खूणि'त्ति बर्बरशबरपुलिन्द्रादिम्लेच्छप्रधानानि 'अनार्याणि' अर्द्धषड्विंशजनपदबाह्यानि 'दुःसञ्ज्ञाप्यानि' दुःखेनार्यसञ्ज्ञां ज्ञाप्यन्ते, तथा 'दुष्प्रज्ञाप्यानि' दुःखेन धर्मसञ्ज्ञोपदेशेनानार्यसङ्कल्पान्निवर्त्त्यन्ते 'अकालप्रतिबोधीनि' न तेषां कश्चिदपर्यटनकालोऽस्ति, अर्द्धरात्रादावपि मृगयादौ गमनसम्भवात्, तथाऽकालभोजीन्यपीति, सत्यन्यस्मिन् ग्रामादिके विहारे विद्यमानेषु चान्येष्वार्यजनपदेषु न तेषु म्लेच्छस्थानेषु विहरिष्यामीति गमनं न प्रतिपद्येत, किमिति?, यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, संयमात्मविराधनातः, तत्रात्मविराधने संयमविराधनाऽपि संभवतीत्यात्मविराधनां दर्शयति—'ते' म्लेच्छाः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे एवमूचुः, तद्यथा–अयं स्तेनः, अयमुपचरकः–चरोऽयं तस्मादस्मच्छत्रुग्रामादागत इतिकृत्वा वाचाऽऽक्रोशयेयुः, तथा दण्डेन ताडयेयुः यावज्जीविताद्व्यपरोपयेयुः, तथा वस्त्रादि 'आच्छिन्द्युः' अपहरेयुः, ततस्तं साधुं निर्द्धाटयेयुरिति। अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूतेषु म्लेच्छस्थानेषु गमनार्थं न प्रतिपद्यते, ततस्तानि परिहरन् संयत एव ग्रामान्तरं गच्छेदिति ॥ तथा—

से भिक्खू० दूइज्जमाणे अंतरा से अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [११६]

दीप अनुक्रम [४५०]

वा सइ लाढे विहाराए संथ० जण० नो विहारवडियाए०, केवली बूया आयाणमेयं, तेणं बाला तं चेव जाव गमणाए तओ सं० गा० दू० ॥ (सू० ११६)

कण्ठ्यं, नवरम् 'अराजानि' यत्र राजा मृतः 'युवराजानि' यत्र नाद्यापि राज्याभिषेको भवतीति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा गा० दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा तिआहेण वा चउआहेण वा पंचाहेण वा पाउणिज्ज वा नो पाउणिज्ज वा तहप्पगारं विहं अणेगाहगमणिज्जं सइ लाढे जाव गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणएसु वा बीएसु वा हरि० उद० मट्टियाए वा अविद्धत्थाए, अह भिक्खू जं तह० अणेगाह० जाव नो पव०, तओ सं० गा० दू० ॥ (सू० ११७)

स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यत्पुनरेवं जानीयात् 'अन्तरा' ग्रामान्तराले मम गच्छतः 'विहं'ति अनेकाहगमनीयः पन्थाः 'स्यात्' भवेत्, तमेवंभूतमध्वानं ज्ञात्वा सत्यन्यस्मिन् विहारस्थाने न तत्र गमनाय मतिं विदध्यादिति, शेषं सुगम् ॥ साम्प्रतं नौगमनविधिमधिकृत्याह—

से भि० गामा० दूइज्जिज्जा० अंतरा से नावासंतारिमे उदए सिया, से जं पुण नावं जाणिज्जा असंजए अ भिक्खुपडियाए किणिज्ज वा पामिच्चेज्ज वा नावाए वा नावं परिणामं कट्टु थलाओ वा नावं जलंसि ओगाहिज्जा जलाओ वा नावं थलंसि उक्कसिज्जा पुण्णं वा नावं उस्सिंचिज्जा सन्नं वा नावं उप्पीलाविज्जा तहप्पगारं नावं उड्ढगामिणिं वा अहे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गा० तिरियगामि० परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए अप्पतरे वा भुज्जतरे वा नो दूरुहिज्जा गमणाए ॥ से भिक्खू वा० पुव्वामेव तिरिच्छसंपाइमं नावं जाणिज्जा, जाणित्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा २ भण्डगं पडिलेहिज्जा २ एगओ भोयणभंडगं करिज्जा २ ससीसोवरियं कायं पाए पमज्जिज्जा सागारं भत्तं पच्चक्खाइज्जा, एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा तओ सं० नावं दूरुहिज्जा ॥ (सू० ११८)

स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि नौसंतार्यमुदकं जानीयात्, नावं चैवंभूतां विजानीयात्, तद्यथा—'असंयतः' गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया नावं क्रीणीयात्, अन्यस्मादुच्छिन्नां वा गृह्णीयात्, परिवर्त्तनां वा कुर्यात्, एवं स्थलाद्यानयनादिक्रियोपेतां नावं ज्ञात्वा नारुहेदिति, शेषं सुगमम् ॥ इदानीं कारणजाते नावारोहणविधिमाह—सुगमम् ॥ तथा—

से भिक्खू वा० नावं दुरूहमाणे नो नावाओ पुरओ दुरूहिज्जा नो नावाओ मग्गओ दुरूहिज्जा नो नावाओ मज्झओ दुरूहिज्जा नो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्झाइज्जा । से णं परो नावागओ नावागयं वइज्जा—आउसंतो ! समणा एयं ता तुमं नावं उक्कसाहिज्जा वा वुक्कसाहि वा खिवाहि वा रज्जूयाए वा गहाय आकासाहि, नो से तं परिन्नं परिजाणिज्जा, तुसिणीओ उवेहिज्जा । से णं परो नावागओ नावाग० वइ०—आउसं० नो संचाएसि तुमं नावं उक्कसित्तए वा ३ रज्जूयाए वा गहाय आकसित्तए वा आहर एयं नावाए रज्जूयं सयं चेव णं वयं नावं उक्कसिस्सामो वा जाव रज्जूए वा गहाय आकसिस्सामो, नो से तं प० तुसि० । से णं प० आउसं० एअं ता तुमं नावं आलित्तेण वा पीढएण वा वंसेण वा बलएण वा अवलुएण वा वाहेहि, नो से तं प० तुसि० । से णं परो० एयं ता तुमं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नावाए उदयं हत्थेण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहेण वा नावाउस्सिंचणेण वा उस्सिंचाहि, नो से तं० से णं परो० समणा! एयं तुमं नावाए उत्तिंगं हत्थेण वा पाएण वा बाहुणा वा ऊरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा कायेण वा उस्सिंचणेण वा चेलेण वा मट्टियाए वा कुसपत्तेण वा कुविंदएण वा पिहेहि, नो से तं० ॥ से भिक्खू वा २ नावाए उत्तिंगेण उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरिं नावं कज्जलावेमाणिं पेहाए नो परं उवसंकमित्तु एवं बूया–आउसंतो! गाहावइ एयं ते नावाए उदयं उत्तिंगेण आसवइ उवरुवरिं नावा वा कज्जलावेइ, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा अप्पुस्सुए अबहिल्लेसे एगंतगएण अप्पाणं विउसेज्जा समाहीए, तओ सं० नावासंतारिमे व्यउदए आहारियं रीइज्जा, एयं खलु सया जइज्जासि त्तिबेमि ॥ इरियाए पढमो उद्देसो (सू० ११९) २–१–३–१ ॥

स्पष्टं, नवरं नो नावोऽग्रभागमारुहेत् निर्यामकोपद्रवसम्भवात्, नावारोहिणां वा पुरतो नारोहेत्, प्रवर्त्तनाधिकरणसम्भवात्, तत्रस्थश्च नौव्यापारं नापरेण चोदितः कुर्यात्, नाप्यन्यं कारयेदिति। 'उत्तिंगं'ति रन्ध्रं 'कज्जलावेमाणं'ति प्लाव्यमानम् 'अप्पुस्सुए'त्ति अविमनस्कः शरीरोपकरणादौ मूर्छामकुर्वन् तस्मिंश्चोदके नावं गच्छन् 'अहारिय'मिति यथाऽऽर्यं भवति तथा गच्छेद्, विशिष्टाध्यवसायो यायादित्यर्थः, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ तृतीयस्याध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः २–१–३–१ ॥

आ. सू. ६४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: तृतीय-अध्ययनं "ईर्या", द्वितीय-उद्देशक: आरब्ध:

उक्तः प्रथमोद्देशकोऽधुना द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके नावि व्यवस्थितस्य विधिरभिहितस्तदिहापि स एवाभिधीयते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से णं परो णावा० आउसंतो ! समणा एयं ता तुमं छत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा गिण्हाहि, एयाणि तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा पज्जेहि, नो से तं० ॥ (सू० १२०)

सः 'परः' गृहस्थादिर्नावि व्यवस्थितस्तत्स्थमेव साधुमेवं ब्रूयात्, तद्यथा–आयुष्मन् ! श्रमण ! एतन्मदीयं तावच्छत्रकादि गृहाण, तथैतानि 'शस्त्रजातानि' आयुधविशेषान् धारय, तथा दारकाद्युदकं पायय, इत्येतां 'परिज्ञां' पार्श्वनां परस्य न शृणुयादिति ॥ तदकरणे च परः प्रद्विष्टः सन् यदि नावः प्रक्षिपेत्तत्र यत्कर्त्तव्यं तदाह—

से णं परो नावागए नावागयं वएज्जा—आउसंतो ! एस णं समणे नावाए भंडभारिए भवइ, से णं बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिविज्जा, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढिज्ज वा निवेढिज्ज वा उप्फेसं वा करिज्जा, अह० अभिकंतकूरकम्मा खलु बाला बाहाहिं गहाय ना० पक्खिविज्जा से पुव्वामेव वइज्जा—आउसंतो ! गाहावई मा मेत्तो बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिवह, सयं चेव णं अहं नावाओ उदगंसि ओगाहिस्सामि, से णेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं ग० पक्खिविज्जा तं नो सुमणे सिया नो दुम्मणे सिया नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा नो तेसिं बालाणं घायाए वहाए समुट्ठिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ सं० उदगंसि पविज्जा ॥ (सू० १२१)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स परः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे नौगतस्तत्स्थं साधुमुद्दिश्यापरमेवं ब्रूयात्, तद्यथा–आयुष्मन्! अयमत्र श्रमणो भाण्डवन्निश्चेष्टत्वाद् गुरुः भाण्डेन वोपकरणेन गुरुः, तदेनं च बाहुग्राहं नाव उदके प्रक्षिपत यूयमित्येवंप्रकारं शब्दं श्रुत्वा तथाऽन्यतो वा कुतश्चित् 'निशम्य' अवगम्य 'सः' साधुर्गच्छगतो निर्गतो वा तेन च चीवरधारिणैतद्विधेयं–क्षिप्रमेव चीवराण्यसाराणि गुरुत्वान्निर्वाहितुमशक्यानि च 'उद्वेष्टयेत्' पृथक् कुर्यात्, तद्विपरीतानि तु 'निर्वेष्टयेत्' सुबद्धानि कुर्यात्, तथा 'उप्फेसं वा कुज्ज'त्ति शिरोवेष्टनं वा कुर्याद् येन संवृतोपकरणो निर्व्याकुलत्वात्सुखेनैव जलं तरति, तांश्च धर्मदेशनयाऽनुकूलयेत्, अथ पुनरेवं जानीयादित्यादि कण्ठ्यमिति ॥ साम्प्रतमुदकं प्लवमानस्य विधिमाह—

से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो हत्थेण हत्थं पाएण पायं कारण कायं आसाइज्जा, से अणासायणाए अणासायमाणे तओ सं० उदगंसि पविज्जा ॥ से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो उम्मुग्गनिमुग्गियं करिज्जा, मामेयं उदगं कन्नेसु वा अच्छीसु वा नक्कंसि वा मुहंसि वा परियावज्जिज्जा, तओ० संजयामेव उदगंसि पविज्जा ॥ से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे दुब्बलियं पाउणिज्जा खिप्पामेव उवहिं विगिंचिज्ज वा विसोहिज्ज वा, नो चेव णं साइज्जिज्जा, अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणद्धेण वा कारण उदगतीरे चिट्ठिज्जा ॥ से भिक्खू वा० उदउल्लं वा २ कायं नो आमज्जिज्जा वा णो पमज्जिज्जा वा संलिहिज्जा वा निल्लिहिज्जा वा उव्वलिज्जा वा उव्वट्टिज्जा वा आयाविज्ज वा पया०, अह पु० विगओदओ मे काए छिन्नसिणेहे काए तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा पयाविज्ज वा तओ सं० गामा० दूइज्जिज्जा ॥ (सू० १२२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भिक्षुरुदके प्लवमानो हस्तादिकं हस्तादिना 'नासादयेत्' न संस्पृशेद्, अप्कायादिसंरक्षणार्थमिति भावः, ततस्तथा कुर्वन् संयत एवोदकं प्लवेदिति ॥ तथा—स भिक्षुरुदके प्लवमानो मज्जनोन्मज्जने नो विदध्यादिति (शेषं) सुगममिति ॥ किञ्च स भिक्षुरुदके प्लवमानः 'दौर्बल्यं' श्रमं प्राप्नुयात् ततः क्षिप्रमेवोपधिं त्यजेत् तदेशं वा विशोधयेत्–त्यजेदिति, नैवोपधावासक्तो भवेत् । अथ पुनरेवं जानीयात् 'पारए सिअ'त्ति समर्थोऽहमस्मि सोपधिरेवोदकपारगमनाय ततस्तस्मादुदकादुत्तीर्णः सन् संयत एवोदकार्द्रेण गलद्बिन्दुना कायेन सस्निग्धेन वोदकतीरे तिष्ठेत्, तत्र चेर्यापथिकां च प्रतिक्रामेत् ॥ न चैतत्कुर्यादित्याह—स्पष्टं, नवरमत्रेयं सामाचारी–यदुदकार्द्रं वस्त्रं तत्स्वत एव यावन्निष्प्रगलं भवति तावदुदकतीर एव स्थेयम्, अथ चौरादिभयाद्गमनं स्यात्ततः प्रलम्बमानं कायेनास्पृशता नेयमिति ॥ तथा—

से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे नो परेहिं सद्धिं परिजविय २ गामा० दूइ०, तओ० सं० गामा० दूइ०॥(सू०१२३)

कण्ठ्यं, नवरं 'परिजविय२'त्ति परैः सार्द्धं भृशमुल्लापं कुर्वन्न गच्छेदिति ॥ इदानीं जङ्घासंतरणविधिमाह—

से भिक्खू वा गामा० दू० अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिज्जा २ एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा तओ सं० उदगंसि आहारियं रीएज्जा ॥ से भि० आहारियं रीयमाणे नो हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा ॥ से भिक्खू वा० जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे नो सायावडियाए नो परिदाहपडियाए महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उदउल्लेण वा २ काएण दगतीरए चिट्ठिज्जा ॥ से भि० उदउल्लं वा कायं ससि० कायं नो आमज्जिज्ज वा नो० अह पु० विगओदए मे काए छिन्नसिणेहे तहप्पगारं कायं आमज्जिज्ज वा० पयाविज्ज वा तओ सं० गामा० दूइ० ॥ (सू० १२४)

'तस्य' भिक्षोर्ग्रामान्तरं गच्छतो यदा अन्तराले जानुदग्नादिकमुदकं स्यात्तत ऊर्ध्वकायं मुखवस्त्रिकया अधःकायं च रजोहरणेन प्रमृज्योदकं प्रविशेत्, प्रविष्टश्च पादमेकं जले कृत्वाऽपरमुत्क्षिपन् गच्छेत्, न जलमालोडयता गन्तव्यमित्यर्थः, 'अहारियं रीएज्ज'त्ति यथा ऋजु भवति तथा गच्छेन्नार्दवितर्दं विकारं वा कुर्वन् गच्छेदिति ॥ स भिक्षुर्यथाऽऽर्यमेव गच्छन् महत्युदके महाश्रये वक्षःस्थलादिप्रमाणे जङ्घातरणीये नदीह्रदादौ पूर्वविधिनैव कायं प्रवेशयेत्, प्रविष्टश्च यद्युपकरणं निर्वाहयितुमसमर्थस्ततः सर्वमसारं वा परित्यजेत्, अथैवं जानीयाच्छक्तोऽहं पारगमनाय ततस्तथाभूत एव गच्छेत्, उत्तीर्णश्च कायोत्सर्गादि पूर्ववत्कुर्यादिति ॥ आमर्जनप्रमार्जनादिसूत्रं पूर्ववन्नेयमिति ॥ साम्प्रतमुदकोत्तीर्णस्य गमनविधिमाह—

से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे नो मट्टियागएहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय २ विकुज्जिय २ विफालिय २ उम्मग्गेण हरियवहाए गच्छिज्जा, जमेयं पाएहिं मट्टियं खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिज्जा, से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहिज्जा तओ० सं० गामा० ॥ से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा फ० पा० तो० अ० अग्गलपासगाणि वा गड्डाओ वा दरीओ वा सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा नो उज्जु०, केवली०, से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा २ रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१२५]

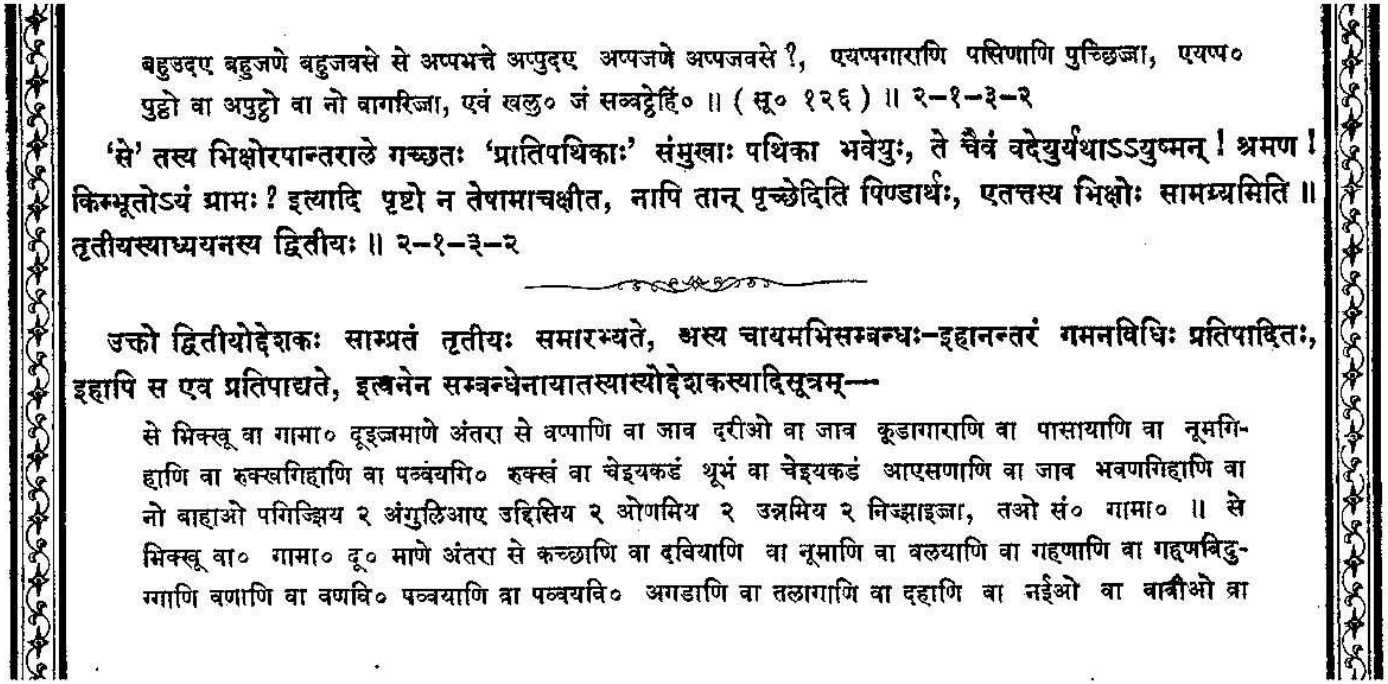
दीप अनुक्रम [४५९]

वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय २ उत्तरिज्जा, जे तत्थ पाडिपहिया उवागच्छंति ते पाणी जाइज्जा २, तओ सं०अवलंबिय २ उत्तरिज्जा तओ स० गामा० दू० ॥ से भिक्खू वा० गा० दूइज्जमाणे अंतरा से जवसाणि वा सगडाणि वा रहाणि वा सचक्काणि वा परचक्काणि वा से णं वा विरूवरूवं संनिरुद्धं पेहाए सइ परक्कमे सं० नो उ०, से णं परो सेणागओ वइज्जा आउसंतो! एस णं समणे सेणाए अभिनिवारियं करेइ, से णं बाहाए गहाय आगसह, से णं परो बाहाहिं गहाय आगसिज्जा, तं नो सुमणे सिया जाव समाहीए तओ सं० गामा० दू० ॥ (सू० १२५)

स भिक्षुरुदकादुत्तीर्णः सन् कर्दमाविलपादः सन्(नो)हरितानि भृशं छित्त्वा तथा विकुब्जानि कृत्वा एवं भृशं पाटयित्वोन्मार्गेण हरितवधाय गच्छेद्–यथैनां पादमृत्तिकां हरितान्यपनयेयुरित्येवं मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैतत्कुर्याच्छेषं सुगममिति ॥ स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि वप्रादिकं पश्येत्ततः सत्यन्यस्मिन् सङ्क्रमे तेन ऋजुना पथा न गच्छेद्, यतस्तत्र गर्त्तादौ निपतन् सचित्तं वृक्षादिकमवलम्बेत, तच्चायुक्तम्, अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत्, कथञ्चित्पतितश्च गच्छगतो वह्यादिकमप्यवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयत एव गच्छेदिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्यदि ग्रामान्तराले 'यवसं' गोधूमादिधान्यं शकटस्कन्धावारनिवेशादिकं वा भवेत् तत्र बहुपायसम्भवात्तन्मध्येन सत्यपरस्मिन् पराक्रमे न गच्छेत्, शेषं सुगममिति ॥ तथा—

से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज्जा—आउ० समणा! केवइए एस गामे वा जाव रायहाणी वा केवईया इत्थ आसा हत्थी गामपिंडोलगा मणुस्सा परिवसंति! से बहुभत्ते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



बहुउदए बहुजणे बहुजवसे से अप्पभत्ते अप्पुदए अप्पजणे अप्पजवसे ?, एयप्पगाराणि पसिणाणि पुच्छिज्जा, एयप्प० पुट्ठो वा अपुट्ठो वा नो वागरिज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं० ॥ (सू० १२६) ॥ २–१–३–२

'से' तस्य भिक्षोरपान्तराले गच्छतः 'प्रातिपथिकाः' संमुखाः पथिका भवेयुः, ते चैवं वदेयुर्यथाऽऽयुष्मन् ! श्रमण ! किम्भूतोऽयं ग्रामः ? इत्यादि पृष्टो न तेषामाचक्षीत, नापि तान् पृच्छेदिति पिण्डार्थः, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ तृतीयस्याध्ययनस्य द्वितीयः ॥ २–१–३–२

उक्तो द्वितीयोद्देशकः साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरं गमनविधिः प्रतिपादितः, इहापि स एव प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से भिक्खू वा गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से वप्पाणि वा जाव दरीओ वा जाव कूडागाराणि वा पासायाणि वा नूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वयगि० रुक्खं वा चेइयकडं थूभं वा चेइयकडं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलिआए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्झाइज्जा, तओ सं० गामा० ॥ से भिक्खू वा० गामा० दू० माणे अंतरा से कच्छाणि वा दवियाणि वा नूमाणि वा वलयाणि वा गहणाणि वा गहणविदुग्गाणि वणाणि वा वणवि० पव्वयाणि वा पव्वयवि० अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा नईओ वा वावीओ वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	प्रथम चूलिकाया: तृतीय-अध्ययनं "ईर्या", तृतीय-उद्देशक: आरब्ध:

पुक्खरिणीओ वा दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय २ जाव निज्झाइज्जा, केवली०, जे तत्थ मिगा वा पसू वा पंखी वा सरीसिवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा खहचरा वा सत्ता ते उत्तसिज्ज वा वित्तसिज्ज वा वाडं वा सरणं वा कंखिज्जा, चारित्ति मे अयं समणे, अह भिक्खू णं पु० जं नो बाहाओ पगिज्झिय २ निज्झाइज्जा, तओ संजयामेव आयरिउवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ (सू०१२७)

स भिक्षुर्ग्रामाद्ग्रामान्तरं गच्छन् यद्यन्तराले एतत्पश्येत्, तद्यथा–परिखाः प्राकारान् 'कूटागारान्' पर्वतोपरि गृहाणि, 'नूमगृहाणि' भूमीगृहाणि, वृक्षप्रधानानि तदुपरि वा गृहाणि वृक्षगृहाणि, पर्वतगृहाणि—पर्वतगुहाः, 'रुक्खं वा चेइअकडं'ति वृक्षस्याधो व्यन्तरादिस्थलकं 'स्तूपं वा' व्यन्तरादिकृतं, तदेवमादिकं साधुना भृशं बाहुं 'प्रगृह्य' उत्क्षिप्य तथाऽङ्गुलीः प्रसार्य तथा कायमवनम्योन्नम्य वा न दर्शनीयं नाप्यवलोकनीयं, दोषाश्चात्र दग्धमुषितादौ साधुराशङ्कचेताजितेन्द्रियो वा संभाव्येत तत्स्थः पक्षिगणो वा संत्रासं गच्छेत्, एतद्दोषभयात्संयत एव 'दूयेत्' गच्छेदिति ॥ तथा–स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छेत्, तस्य च गच्छतो यद्येतानि भवेयुः, तद्यथा—'कच्छाः' नद्यासन्ननिम्नप्रदेशा मूलकवालुङ्कादिवाटिका वा 'दवियाणि'त्ति अटव्यां घासार्थं राजकुलावरुद्धभूमयः 'निम्नानि' गर्त्तादीनि 'वलयानि' नद्यादिवेष्टितभूमिभागाः 'गहनं' निर्जलप्रदेशोऽरण्यक्षेत्रं वा 'गुञ्जालिकाः'दीर्घा गम्भीराः कुटिलाः श्लक्ष्णाः जलाशयाः 'सरःपङ्क्तयः' प्रतीताः 'सरःसरःपङ्क्तयः' परस्परसंलग्नानि बहूनि सरांसीति, एवमादीनि बाह्वादिना न प्रदर्शयेद् अवलोकयेद्वा, यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, किमिति ?, यतो ये तत्स्थाः पक्षिमृगसरीसृपादयस्ते त्रासं गच्छेयुः, तदावासितानां वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधुविषयाऽऽशङ्का समुत्पद्येत, अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्तथा न कुर्यात्, आचार्योपाध्यायादिभिश्च गीतार्थैः सह विहरेदिति ॥ साम्प्रतमाचार्यादिना सह गच्छतः साधोर्विधिमाह—

से भिक्खू वा २ आयरिउवज्झा० गामा० नो आयरियउवज्झायस्स हत्थेण वा हत्थं जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आयरिउ० सद्धिं जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा आय० सद्धिं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पा० एवं वइज्जा—आउसंतो! समणा! के तुब्भे? कओ वा एह? कहिं वा गच्छिहिह?, जे तत्थ आयरिए वा उवज्झाए वा से भासिज्ज वा वियागरिज्ज वा, आयरिउवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं करिज्जा, तओ० सं० अहाराईणिए वा० दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा अहाराइणियं गामा० दू० नो राईणियस्स हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे तओ सं० अहाराइणियं गामा० दू० ॥ से भिक्खू वा २ अहाराइणिअं गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पाडिपहिया एवं वइज्जा—आउसंतो! समणा! के तुब्भे?, जे तत्थ सव्वराइणिए से भासिज्ज वा वागरिज्ज वा, राइणियस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं भासिज्जा, तओ संजयामेव अहाराइणियाए गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ (सू० १२८)

स भिक्षुराचार्यादिभिः सह गच्छंस्तावन्मात्रायां भूमौ स्थितो गच्छेद् यथा हस्तादिसंस्पर्शो न भवतीति ॥ तथा—स भिक्षुराचार्यादिभिः सार्द्धं गच्छन् प्रातिपथिकेन पृष्टः सन् आचार्यादीनतिक्रम्य नोत्तरं दद्यात्, नाप्याचार्यादौ जल्पत्यन्तरभाषां कुर्यात्, गच्छंश्च संयत एव युगमात्रया दृष्ट्या यथारत्नाधिकं गच्छेदिति तात्पर्यार्थः ॥ एवमुत्तरसू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

त्रद्वयमप्याचार्योपाध्यायैरिवापरेणापि रत्नाधिकेन साधुना सह गच्छता हस्तादिसङ्घट्टोऽन्तरभाषा च वर्जनीयेति द्रष्टव्यमिति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्जा, ते णं पा० एवं वइज्जा—आउ० स०! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह, तं०—मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खिं वा सिरीसिवं वा जलयरं वा से आइक्खह दंसेह, तं नो आइक्खिज्जा नो दंसिज्जा, नो तस्स तं परिन्नं परिजाणिज्जा, तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा नो जाणंति वइज्जा, तओ सं० गामा० दू० ॥ से भिक्खू वा० गा० दू० अंतरा से पाडि० उवा०, ते णं पा० एवं वइज्जा—आउ० स०! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा तया पत्ता पुप्फा फला बीया हरिया उदगं वा संनिहियं अगणिं वा संनिखित्तं से आइक्खह जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा से पाडि० उवा०, ते णं पाडि० एवं आउ० स० अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह जवसाणि वा जाव से णं वा विरूवरूवं संनिविट्ठं से आइक्खह जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खु वा० गामा० दूइज्जमाणे अंतरा पा० जाव आउ० स० केवइए इत्तो गामे वा जाव रायहाणिं वा से आइक्खह जाव दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्जेज्जा, अंतरा से पाडिपहिया आउसंतो समणा! केवइए इत्तो गामस्स नगरस्स वा जाव रायहाणीए वा मग्गे से आइक्खह, तहेव जाव दूइज्जिज्जा ॥ (सू०१२९)

'से' तस्य भिक्षोर्गच्छतः प्रातिपथिकः कश्चित्संमुखीन एतद्ब्रूयात्, तद्यथा—आयुष्मन्! श्रमण! अपिच किं भवता पथ्यागच्छता कश्चिन्मनुष्यादिरुपलब्धः?, तं चैवं पृच्छन्तं तूष्णीभावेनोपेक्षेत, यदिवा जानन्नपि नाहं जानामीत्येवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१२९]

दीप अनुक्रम [४६३]

वदेदिति ॥ अपि च–स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् केनचित्संमुखीनेन प्रातिपथिकेन पृष्टः सन् उदकप्रसूतं कन्दमूलादि नैवाचक्षीत, जानन्नपि नैव जानामीति वा ब्रूयादिति ॥ एवं यवसासनादिसूत्रमपि नेयमिति ॥ तथा कियद्दूरे ग्रामादिप्रश्नसूत्रमपि नेयमिति ॥ एवं कियान् पन्था ? इत्येतदपीति ॥ किञ्च—

से भिक्खू० गा० दू० अंतरा से गोणं वियालं पडिवहे पेहाए जाव चित्तचिल्लडं वियालं प० पेहाए नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा नो मग्गाओ उम्मग्गं संकमिज्जा नो गहणं वा वणं वा दुग्गं वा अणुपविसिज्जा नो रुक्खंसि दूरुहिज्जा नो महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा नो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्थं वा कंखिज्जा अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवगरणपडियाए संपिंडिया गच्छिज्जा, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छिज्जा जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥ (सू० १३०)

स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यद्यन्तराले "गां" वृषभं 'व्यालं' दर्पितं प्रतिपथे पश्येत्, तथा सिंहं व्याघ्रं यावच्चित्रकं तदपत्यं वा व्यालं क्रूरं दृष्ट्वा च तद्भयान्नैवोन्मार्गेण गच्छेत्, न च गहनादिकमनुप्रविशेत्, नापि वृक्षादिकमारोहेत्, न चोदकं प्रविशेत्, नापि शरणमभिकाङ्क्षेत्, अपि त्वल्पोत्सुकोऽविमनस्कः संयत एव गच्छेत्, एतच्च गच्छनिर्गतैर्विधेयं, गच्छान्तर्गतास्तु व्यालादिकं परिहरत्यपीति ॥ किञ्च—'से' तस्य भिक्षोर्ग्रामान्तराले गच्छतः 'विहं'ति अटवीप्रायो दीर्घोऽध्वा भवेत्, तत्र च 'आमोषकाः' स्तेनाः 'उपकरणप्रतिज्ञया' उपकरणार्थिनः समागच्छेयुः, न तद्भयादुन्मार्गगमनादि कुर्यादिति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से भिक्खू वा० गा० दू० अंतरा से आमोसगा संपिंडिया गच्छिज्जा, ते णं आ० एवं वइज्जा—आउ० स०! आहर एयं वत्थं वा ४ देहि निक्खिवाहि, तं नो दिज्जा निक्खिविज्जा, नो वंदिय २ जाइज्जा, नो अंजलिं कट्टु जाइज्जा, नो कलुणपडियाए जाइज्जा, धम्मियाए जायणाए जाइज्जा, तुसिणीयभावेण वा ते णं आमोसगा सयं करणिज्जंतिकट्टु अक्कोसंति वा जाव उद्दविंति वा वत्थं वा ४ अच्छिंदिज्ज वा जाव परिट्ठविज्ज वा, तं नो गामसंसारियं कुज्जा, नो रायसंसारियं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु बूया—आउसंतो! गाहावई एए खलु आमोसगा उवगरणपडियाए सयंकरणिज्जंतिकट्टु अक्कोसंति वा जाव परिट्ठवंति वा, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्टु विहरिज्जा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामा० दूइ० ॥ एयं खलु० सया जइ० (सू० १३१) त्तिबेमि ॥ समाप्तमीर्याख्यं तृतीयमध्ययनम् ॥२–१–३–३

स भिक्षुर्ग्रामान्तरे गच्छन् यदि स्तेनैरुपकरणं याच्येत तत्तेषां न समर्पयेत्, बलाद्गृह्यतां भूमौ निक्षिपेत्, न च चौरगृहीतमुपकरणं वन्दित्वा दीनं वा वदित्वा पुनर्याचेत, अपि तु धर्मकथनपूर्वकं गच्छान्तर्गतो याचेत तूष्णीभावेन वोपेक्षेत, ते पुनः स्तेनाः स्वकरणीयमितिकृत्वैतत्कुर्युः, तद्यथा–आक्रोशन्ति वाचा ताडयन्ति दण्डेन यावज्जीवितात्त्याजयन्ति, वस्त्रादिकं वाऽऽच्छिन्द्युर्यावत्तत्रैव 'प्रतिष्ठापयेयुः' त्यजेयुः, तच्च तेषामेवं चेष्टितं न ग्रामे 'संसारणीयं' कथनीयं, नापि राजकुलादौ, नापि परं—गृहस्थमुपसंक्रम्य चौरचेष्टितं कथयेत्, नाप्येवंप्रकारं मनो वाचं वा सङ्कल्प्यान्यत्र गच्छेदिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१३१]

दीप अनुक्रम [४६५]

अथ चतुर्थं भाषाजातमध्ययनम् ।

उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने पिण्डविशुद्ध्यर्थं गमनविधिरुक्तः, तत्र च गतेन पथि वा यादृग्भूतं वाच्यं न वाच्यं वा, अनेन च सम्बन्धेनायातस्य भाषाजाताध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमे भाषाजातशब्दयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

जह वक्कं तह भासा जाए छक्कं च होइ नायव्वं । उप्पत्तीए १ तह पज्जवं २ तरे ३ जायगहणे ४ य ॥ ३१३ ॥

यथा वाक्यशुद्ध्यध्ययने वाक्यस्य निक्षेपः कृतस्तथा भाषाया अपि कर्त्तव्यः, जातशब्दस्य तु षट्कनिक्षेपोऽयं ज्ञातव्यो– नाम १ स्थापना २ द्रव्य ३ क्षेत्र ४ काल ५ भाव ६ रूपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यजातं तु आगमतो नोआगमतः, व्यतिरिक्तं निर्युक्तिकारो गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति–तच्चतुर्विधम्, उत्पत्तिजातं १ पर्यवजातम् २ अन्तरजातं ३ ग्रहणजातं ४, तत्रोत्पत्तिजातं नाम यानि द्रव्याणि भाषावर्गणान्तःपातीनि काययोगगृहीतानि वाग्योगेन निसृष्टानि भाषात्वेनोत्पद्यन्ते तदुत्पत्तिजातं, यद्द्रव्यं भाषात्वेनोत्पन्नमित्यर्थः १, पर्यवजातं तैरेव वाग्निसृष्टभाषाद्रव्यैर्यानि विश्रेणिस्थानि भाषावर्गणान्तर्गतानि निसृष्टद्रव्यपराघातेन भाषापर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते तानि द्रव्याणि पर्यवजातमित्युच्यन्ते २, यानि त्वन्तराले समश्रेण्यामेव निसृष्टद्रव्यमिश्रितानि भाषापरिणामं भजन्ते तान्यन्तरजातमित्युच्यन्ते ३, यानि पुनर्द्र-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: चतुर्थ-अध्ययनं "भाषाजात", आरब्धं

व्याणि समश्रेणिविश्रेणिस्थानि भाषात्वेन परिणतानि कर्णशष्कुलीविवरप्रविष्टानि गृह्यन्ते तानि चानन्तप्रदेशिकानि द्रव्यतः क्षेत्रतोऽसङ्ख्येयप्रदेशावगाढानि कालत एकद्वित्र्यादियावदसङ्ख्येयसमयस्थितिकानि भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति तानि चैवंभूतानि ग्रहणजातमित्युच्यन्ते ४। उक्तं द्रव्यजातं, क्षेत्रादिजातं तु स्पष्टत्वान्निर्युक्तिकारेण नोक्तं, तच्चैवंभूतं–यस्मिन् क्षेत्रे भाषाजातं व्यावर्ण्यते यावन्मात्रं वा क्षेत्रं स्पृशति तत्क्षेत्रजातम्, एवं कालजातमपि, भावजातं तु तान्येवोत्पत्तिपर्यवान्तरग्रहणद्रव्याणि श्रोतरि यदा शब्दोऽयमिति बुद्धिमुत्पादयन्तीति। इह त्वधिकारो द्रव्यभाषाजातेन, द्रव्यस्य प्राधान्यविवक्षया, द्रव्यस्य तु विशिष्टावस्था भाव इतिकृत्वा भावभाषाजातेनाप्यधिकार इति ॥ उद्देशार्थाधिकारार्थमाह—

सव्वेऽवि य वयणविसोहिकारगा तहवि अत्थि उ विसेसो। वयणविभत्ती पढमे उप्पत्ती वज्जणा बीए ॥ ३१४॥

यद्यपि द्वावप्युद्देशकौ वचनविशुद्धिकारकौ तथाऽप्यस्ति विशेषः, स चायं–प्रथमोद्देशके वचनस्य विभक्तिः वचनविभक्तिः—एकवचनादिषोडशविधवचनविभागः, तथैवंभूतं भाषणीयं नैवंभूतमिति व्यावर्ण्यते, द्वितीयोद्देशके तूत्पत्तिः–क्रोधाद्युत्पत्तिर्यथा न भवति तथा भाषितव्यम् ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा २ इमाइं वयायाराइं सुच्चा निसम्म इमाइं अणायाराइं अणारियपुव्वाइं जाणिज्जा—जे कोहा वा वायं विउंजंति जे माणा वा० जे मायाए वा० जे लोभा वा वायं विउंजंति जाणओ वा फरुसं वयंति अजाणओ वा फ० सव्वं चेयं सावज्जं वज्जिज्जा विवेगमायाए, धुवं चेयं जाणिज्जा अधुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा ४ लभिय नो लभिय भुंजिय नो भुं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: चतुर्थ-अध्ययनं "भाषाजात", प्रथम-उद्देशक: आरब्ध:

जिय अदुवा आगओ अदुवा नो आगओ अदुवा एइ अदुवा नो एइ अदुवा एहिइ अदुवा नो एहिइ इत्थवि आगए इत्थवि नो आगए इत्थवि एइ इत्थवि नो एति इत्थवि एहिति इत्थवि नो एहिति ॥ अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, तंजहा—एगवयणं १ दुवयणं २ बहुव० ३ इत्थि० ४ पुरि० ५ नपुंसगवयणं ६ अज्झत्थव० ७ उवणीयवयणं ८ अवणीयवयणं ९ उवणीयअवणीयव० १० अवणीयउवणीयव० ११ तीयव० १२ पडुप्पन्नव० १३ अणागयव० १४ पच्चक्खवयणं ९५ परुक्खव० १६, से एगवयणं वइस्सामीति एगवयणं वइज्जा जाव परुक्खवयणं वइस्सामीति परुक्खवयणं वइज्जा, इत्थी वेस पुरिसो वेस नपुंसगं वेस एयं वा चेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ निट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, इच्चेयाइं आययणाइं उवातिकम्म ॥ अह भिक्खू जाणिज्जा चत्तारि भासज्जायाइं, तंजहा—सच्चमेगं पढमं भासज्जायं १ बीयं मोसं २ तईयं सच्चामोसं ३ जं नेव सच्चं नेव मोसं नेव सच्चामोसं असच्चामोसं नाम तं चउत्थं भासजायं ४ ॥ से बेमि जे अईया जे य पडुप्पन्ना जे अणागया अरहंता भगवंतो सव्वे ते एयाणि चेव चत्तारि भासज्जायाइं भासिंसु वा भासंति वा भासिस्संति वा पन्नविंसु वा ३, सव्वाइं च णं एयाइं अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि रसमंताणि फासमंताणि चओवचइयाइं विप्परिणामधम्माइं भवंतीति अक्खायाइं ॥ (सू० १३२)

स भावभिक्षुः 'इमान्' इत्यन्तःकरणनिष्पन्नान्, इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात्समनन्तरं वक्ष्यमाणान् वाच्याचारा वागाचाराः—वाग्व्यापारास्तान् श्रुत्वा, तथा 'निशम्य' ज्ञात्वा भाषासमित्या भाषां भाषेतोत्तरेण सम्बन्ध इति । तत्र यादृग्भूता भाषा न भाषितव्येति तत्तावद्दर्शयति—'इमान्' वक्ष्यमाणान् 'अनाचारान्' साधूनामभाषणयोग्यान् पूर्व-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधुभिरनाचीर्णपूर्वान् साधुर्जानीयात्, तद्यथा–ये केचन क्रोधाद्वा वाचं 'विउंजन्ति' विविधं व्यापारयन्ति–भाषन्ते यथा चौरस्त्वं दासस्त्वमित्यादि तथा मानेन भाषन्ते यथोत्तमजातिरहं हीनस्त्वमित्यादि तथा मायया यथा ग्लानोऽहमपरसन्देशकं वा सावद्यकं केनचिदुपायेन कथयित्वा मिथ्यादुष्कृतं करोति सहसा ममैतदायातमिति तथा लोभेनाहमनेनोक्तेनातः किञ्चिल्लप्स्य इति तथा कस्यचिद्दोषं जानानास्तद्दोषोद्घटनेन परुषं वदन्ति अजानाना वा, सर्वं चैतत्क्रोधादिवचनं सहावद्येन–पापेन गर्ह्येण वा वर्त्तत इति सावद्यं तद्वर्जयेत् विवेकमादाय, विवेकिना भूत्वा सावद्यं वचनं वर्जनीयमित्यर्थः, तथा केनचित्सार्द्धं साधुना जल्पता नैव सावधारणं वचो वक्तव्यं यथा 'ध्रुवमेतत्' निश्चितं वृष्ट्यादिकं भविष्यतीत्येवं जानीयाद् अध्रुवं वा जानीयादिति। तथा कथञ्चित्साधुं भिक्षार्थं प्रविष्टं ज्ञातिकुलं वा गतं चिरयन्तमुद्दिश्यापरे साधव एवं ब्रवीरन् यथा–भुञ्जमहे वयं स तत्राशनादिकं लब्ध्वैव समागमिष्यति, यदिवा म्रियते तदर्थं किञ्चित् नैवासौ तस्माल्लब्धलाभः समागमिष्यति, एवं तत्रैव भुक्त्वाऽभुक्त्वा वा समागमिष्यतीति सावधारणं न वक्तव्यम्, अथ चैवंभूतां सावधारणां वाचं न ब्रूयाद् यथाऽऽगतः कश्चिद्राजादिर्नो वा समागतः तथाऽऽगच्छति न वा समागच्छति एवं समागमिष्यति न वेति, एवमत्र पत्तनमठादावपि भूतादिकालत्रयं योज्यं, यमर्थं सम्यग् न जानीयात्तदेवमेवैतदिति न ब्रूयादिति भावार्थः, सामान्येन सर्वत्रगः साधोरयमुपदेशो, यथा—'अनुविचिन्त्य' विचार्य सम्यग्निश्चित्यातिशयेन श्रुतोपदेशेन वा प्रयोजने सति 'निष्ठाभाषी' सावधारणभाषी सन् 'समित्या' भाषासमित्या 'समतया वा' रागद्वेषाकरणलक्षणया षोडशवचनविधिज्ञो भाषां भाषेत । यादृग्भूता च भाषा भाषितव्या तां षोडश-

॥ ३८६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वचनविधिगतां दर्शयति—'तद्यथे'त्यर्थमुपप्रदर्शनार्थः, एकमेव वचनं वृक्षः १, द्विवचनं वृक्षौ २, बहुवचनं वृक्षा इति ३, स्त्रीवचनं वीणा कन्या इत्यादि ४, पुंवचनं घटः पट इत्यादि ५, नपुंसकवचनं पीठं देवकुलमित्यादि ६, अध्यात्मवचनम्, आत्मन्यधि अध्यात्मं–हृदयगतं तत्परिहारेणान्यद्भणिष्यतस्तदेव सहसा पतितम् ७, 'उपनीतवचनं' प्रशंसावचनं यथा रूपवती स्त्री ८, तद्विपर्ययेणापनीतवचनं यथेयं रूपहीनेति ९, 'उपनीतापनीतवचनं' कश्चिद् गुणः प्रशस्यः कश्चिन्निन्द्यो, यथा–रूपवतीयं स्त्री किन्त्वसद्वृत्तेति १०, 'अपनीतोपनीतवचनम्' अरूपवती स्त्री किन्तु सद्वृत्तेति ११, 'अतीतवचनं' कृतवान् १२ 'वर्त्तमानवचनं' करोति १३ 'अनागतवचनं' करिष्यति १४ 'प्रत्यक्षवचनम्' एष देवदत्तः १५, 'परोक्षवचनं' स देवदत्तः १६, इत्येतानि षोडश वचनानि, अमीषां स भिक्षुरेकार्थविवक्षायामेकवचनमेव ब्रूयाद् यावत्परोक्षवचनविवक्षायां परोक्षवचनमेव ब्रूयादिति । तथा स्त्र्यादिके दृष्टे सति स्त्र्येवैषा पुरुषो वा नपुंसकं वा, एवमेवैतदन्यद्वैतत्, एवम् 'अनुविचिन्त्य' निश्चित्य निष्ठाभाषी सन् समित्या समतया संयत एव भाषां भाषेत, तथा 'इत्येतानि' पूर्वोक्तानि भाषागतानि वक्ष्यमाणानि वा 'आयतनानि' दोषस्थानानि 'उपातिक्रम्य' अतिलङ्घ्य भाषां भाषेत । अथ स भिक्षुर्जानीयात् 'चत्वारि भाषाजातानि' चतस्रो भाषाः, तद्यथा–सत्यमेकं प्रथमं भाषाजातं यथार्थम्–अवितथं, तद्यथा-गौर्गौरेवाश्वोऽश्व एवेति १, एतद्विपरीता तु मृषा द्वितीया, यथा गौरश्वोऽश्वो गौरिति २, तृतीया भाषा सत्यामृषेति, यत्र किञ्चित्सत्यं किञ्चिन्मृषेति, यथाऽश्वेन यान्तं देवदत्तमुष्ट्रेण यातीत्यभिदधाति ३, चतुर्थी तु भाषा योच्यमाना न सत्या नापि मृषा नापि सत्यामृषा आमन्त्रणाज्ञापनादिका साऽत्रासत्याऽमृषेति ४ ॥ स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह–

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोऽहं यदेतद्ब्रवीमि तत्सर्वैरेव तीर्थकृद्भिरतीतानागतवर्त्तमानैर्भाषितं भाष्यते भाषिष्यते च, अपि चैतानि–सर्वाण्यप्येतानि भाषाद्रव्याण्यचित्तानि च वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति चयोपचयिकानि विविधपरिणामधर्माणि भवन्तीति, एवमाख्यातं तीर्थकृद्भिरिति, अत्र च वर्णादिमत्त्वाविष्करणेन शब्दस्य मूर्त्तत्वमावेदितं, न ह्यमूर्त्तस्याकाशादेर्वर्णादयः संभवन्ति तथा चयोपचयधर्माणीत्यनेन तु शब्दस्यानित्यत्वमाविष्कृतं, विचित्रपरिणामत्वाच्छब्दद्रव्याणामिति ॥ साम्प्रतं शब्दस्य कृतकत्वाविष्करणायाह—

से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा पुव्विं भासा अभासा भासिज्जमाणी भासा भासा भासासमयवीइक्कंता च णं भासिया भासा अभासा ॥ से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्जा जा य भासा सच्चा १ जा य भासा मोसा २ जा य भासा सच्चामोसा ३ जा य भासा असच्चाऽमोसा ४, तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं कक्कसं कडुयं निट्ठुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परियावणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्जा, जा य भासा सच्चा सुहुमा जा य भासा असच्चामोसा तहप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभूओवघाइयं अभिकंख भासं भासिज्जा ॥ (सू० १३३)

स भिक्षुरेवंभूतं शब्दं जानीयात्, तद्यथा–भाषाद्रव्यवर्गणानां वाग्योगनिस्सरणात् 'पूर्वं' प्रागभाषा 'भाष्यमाणैव' वाग्योगेन निसृज्यमानैव भाषा, भाषाद्रव्याणि भाषा भवति, तदनेन तालोष्ठादिव्यापारेण प्रागसतः शब्दस्य निष्पादनात्स्फुटमेव कृतकत्वमावेदितं, मृत्पिण्डे दण्डचक्रादिनेव घटस्येति, सा चोच्चरितप्रध्वंसित्वाच्छब्दानां भाषणोत्तरकालमप्य-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाषैव, यथा कपालावस्थायां घटोऽघट इति, तदनेन प्रागभावप्रध्वंसाभावौ शब्दस्यावेदिताविति ॥ इदानीं चतसृणां भाषाणामभाषणीयामाह–स भिक्षुर्यां पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा–सत्यां १ मृषां २ सत्यामृषाम् ३ असत्यामृषां ४, तत्र मृषा सत्यामृषा च साधूनां तावन्न वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशादिगुणोपेता सा न वाच्या, तां च दर्शयति–सहावद्येन वर्त्तत इति सावद्या तां सत्यामपि न भाषेत, तथा सह क्रियया–अनर्थदण्डप्रवृत्तिलक्षणया वर्त्तत इति सक्रिया तामिति तथा 'कर्कशां' चर्विताक्षरां तथा 'कटुकां' चित्तोद्वेगकारिणीं तथा 'निष्ठुरां' हक्काप्रधानां 'परुषां' मर्मोद्घाटनपराम् 'अण्हयकरि'न्ति कर्माश्रवकरीम्, एवं छेदनभेदनकरीं यावदपद्रावणकरीमित्येवमादिकां 'भूतोपघातिनीं' प्राण्युपताप-कारिणीम् 'अभिकाङ्क्ष्य' मनसा पर्यालोच्य सत्यामपि न भाषेतेति ॥ भाषणीयां त्वाह–स भिक्षुर्यां पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा–या च भाषा सत्या 'सूक्ष्मे'ति कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोच्यमाना मृषाऽपि सत्या भवति यथा सत्यपि मृगदर्शने लुब्धकादेरपलाप इति, उक्तञ्च—"अलिअं न भासिअव्वं अत्थि हु सच्चंपि जं न वत्तव्वं । सच्चंपि होइ अलिअं जं परपीडाकरं वयणं ॥ १ ॥" या चासत्यामृषा–आमन्त्रण्याज्ञापनादिका तां तथाप्रकारां भाषामसावद्यामक्रियां यावदभूतो-पघातिनीं मनसा पूर्वम् 'अभिकाङ्क्ष्य' पर्यालोच्य सर्वदा साधुर्भाषां भाषेतेति ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपडिसुणेमाणे नो एवं वइज्जा—होलित्ति वा गोलित्ति वा वसुलेत्ति वा कुप-क्खेत्ति वा घडदासित्ति वा साणेत्ति वा तेणित्ति वा चारिएत्ति वा माईत्ति वा मुसावाइत्ति वा, एयाइं तुमं ते जणगा वा,

१ अलीकं न भाषितव्यं अस्त्येव सत्यमपि यत्र वक्तव्यम् । सत्यमपि भवत्यलीकं यत् परपीडाकरं वचनम् ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एअप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणे एवं वइज्जा—अमुगे इ वा आउसोत्ति वा आउसंतारोत्ति वा सावगेत्ति वा उवासगेत्ति वा धम्मिएत्ति वा धम्मपिएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा २ इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पडिसुणेमाणे नो एवं वइज्जा—होली इ वा गोलीति वा इत्थीगमेणं नेयव्वं ॥ से भिक्खू वा २ इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पडिसुणेमाणी एवं वइज्जा—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा भोईति वा भगवईति वा साविगेति वा उवासिएत्ति वा धम्मिएत्ति वा धम्मप्पिएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ॥ (सू० १३४)

स भिक्षुः पुमांसमामन्त्रयन्नामन्त्रितं वाऽशृण्वन्तं नैवं भाषेत, तद्यथा–होल इति वा गोल इति वा, एतौ च देशान्तरेऽवज्ञासंसूचकौ, तथा 'वसुले'त्ति वृषलः 'कुपक्षः' कुत्सितान्वयः घटदास इति वा श्वेति वा स्तेन इति वा चारिक इति वा मायीति वा मृषावादीति वा, इत्येतानि–अनन्तरोक्तानि त्वमसि तव जनकौ वा-मातापितरावेतानीति, एवंप्रकारां भाषां यावन्न भाषेतेति ॥ एतद्विपर्ययेण च भाषितव्यमाह–स भिक्षुः पुमांसमामन्त्रयन्नामन्त्रितं वाऽशृण्वन्तमेवं ब्रूयाद् यथाऽमुक इति वा आयुष्मन्निति वा आयुष्मन्त इति वा तथा श्रावक धर्मप्रिय इति, एवमादिकां भाषां भाषेतेति ॥ एवं स्त्रियमधिकृत्य सूत्रद्वयमपि प्रतिषेधविधिभ्यां नेयमिति ॥ पुनरप्यभाषणीयामाह—

से भि० नो एवं वइज्जा—नभोदेवित्ति वा गज्जदेवित्ति वा विज्जुदेवित्ति वा पवुट्ठदे० निवुट्ठदेवित्तए वा पडउ वा वासं मा वा पडउ निप्फज्जउ वा सस्सं मा वा नि० विभाउ वा रयणी मा वा विभाउ उदेउ वा सूरिए मा वा उदेउ सो वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राया जयउ वा मा जयउ, नो एयप्पगारं भासं भासिज्जा ॥ पन्नवं से भिक्खू वा २ अंतलिक्खेत्ति वा गुज्झाणुचरिएत्ति वा संमुच्छिए वा निवइए वा पओ वइज्जा वुट्ठबलाहगेत्ति वा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सव्वट्ठेहिं समिए सहिए सया जइज्जासि त्तिबेमि २–१–४–१ ॥ भाषाध्ययनस्य प्रथमः ॥ (सू० १३५)

स भिक्षुरेवंभूतामसंयतभाषां न वदेत्, तद्यथा–नभोदेव इति वा गर्जति देव इति वा तथा विद्युद्देवः प्रवृष्टो देवः निवृष्टो देवः, एवं पततु वर्षा मा वा, निष्पद्यतां शस्यं मेति वा, विभातु रजनी मेति वा, उदेतु सूर्यो मा वा, जयत्वसौ राजा मा वेति, एवंप्रकारां देवादिकां भाषां न भाषेत ॥ कारणजाते तु प्रज्ञावान् संयतभाषयाऽन्तरिक्षमित्यादिकया भाषेत, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ चतुर्थस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः २–१–४–१ ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके वाच्यावाच्यविशेषोऽभिहितः, तदिहापि स एव शेषभूतोऽभिधीयते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से भिक्खू वा जहा वेगईयाइं रूवाइं पासिज्जा तहावि ताइं नो एवं वइज्जा, तंजहा—गंडी गंडीति वा कुट्ठी कुट्ठीति वा जाव महुमेहुणीति वा हत्थच्छिन्नं हत्थच्छिन्नेत्ति वा एवं पायछिन्नेत्ति वा नक्कछिण्णेइ वा कण्णछिन्नेइ वा उट्ठछिन्नेति वा, जेयावन्ने तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं बुइया २ कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख नो भासिज्जा ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: चतुर्थ-अध्ययनं "भाषाजात",द्वितीय-उद्देशक: आरब्ध:

से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा तहावि ताइं एवं वइज्जा—तंजहा—ओयंसी ओयंसित्ति वा तेयंसी तेयंसीति वा जसंसी जसंसीइ वा वच्चंसी वच्चंसीइ वा अभिरूयंसी २ पडिरूवंसी २ पासाइयं २ दरिसणिज्जं दरिसणीयत्ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा तहप्पगाराहिं भासाहिं बुइया २ नो कुप्पंति माणवा तेयावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिज्जा, तंजहा—वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा, तहावि ताइं नो एवं वइज्जा, तंजहा—सुकडे इ वा सुट्ठुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० जहा वेगईयाइं रूवाइं पासिज्जा, तंजहा—वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा तहावि ताइं एवं वइज्जा, तंजहा—आरंभकडे इ वा सावज्जकडे इ वा पयत्तकडे इ वा पासाइयं पासाइए वा दरिसणीयं दरसणीयंति वा अभिरूवं अभिरूवंति वा पडिरूवं पडिरूवंति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥ (सू० १३६)

स भिक्षुर्यद्यपि 'एगइयाइ'न्ति कानिचिद्रूपाणि गण्डीपदकुष्ठादीनि पश्येत् तथाप्येतानि स्वनामग्राहं तद्विशेषणविशिष्टानि नोच्चारयेदिति, तद्यथेत्युदाहरणोपप्रदर्शनार्थः, 'गण्डी' गण्डमस्यास्तीति गण्डी यदिवोच्छूनगुल्फपादः स गण्डीत्येवं न व्याहर्त्तव्यः, तथा कुष्ठ्यपि न कुष्ठीति व्याहर्त्तव्यः, एवमपरव्याधिविशिष्टो न व्याहर्त्तव्यो यावन्मधुमेहीति मधुवर्णमूत्रानवरतप्रश्रावीति, अत्र च धूताध्ययने व्याधिविशेषाः प्रतिपादितास्तदपेक्षया सूत्रे यावदित्युक्तम्, एवं छिन्नहस्तपादनासिकाकर्णोष्ठादयः, तथाऽन्ये च तथाप्रकाराः काणकुण्टादयः, तद्विशेषणविशिष्टाभिर्वाग्भिरुक्ता उक्ताः कुप्यन्ति मानवास्तांस्तथाप्रकारांस्तथाप्रकाराभिर्वाग्भिरभिकाङ्क्ष्य नो भाषेतेति ॥ यथा च भाषेत तथाऽऽह–स भिक्षुर्यद्यपि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गण्डीपदादिव्याधिग्रस्तं पश्येत्तथाऽपि तस्य यः कश्चिद्विशिष्टो गुण ओजस्तेज इत्यादिकस्तमुद्दिश्य सति कारणे वदेदिति, केशववत्कृष्णश्वशुक्लदन्तगुणोद्घाटनवद्गुणग्राही भवेदित्यर्थः ॥ तथा स भिक्षुर्यद्यप्येतानि रूपाणि पश्येत्तद्यथा—'वप्राः' प्राकारा यावद्गृहाणि, तथाऽप्येतानि नैवं वदेत्, तद्यथा–सुकृतमेतत् सुष्ठु कृतमेतत् साधु–शोभनं कल्याणमेतत्, कर्त्तव्यमेवैतदेवंविधं भवद्विधानामिति, एवंप्रकारामन्यामपि भाषामधिकरणानुमोदनात् नो भाषेतेति ॥ पुनर्भाषणीयामाह–स भिक्षुर्वप्रादिकं दृष्ट्वाऽपि तदुद्देशेन न किञ्चिद् ब्रूयात्, प्रयोजने सत्येवं संयतभाषया ब्रूयात्, तद्यथा–महारम्भकृतमेतत् सावद्यकृतमेतत् तथा प्रयत्नकृतमेतत्, एवं प्रसादनीयदर्शनादिकां भाषामसावद्यां भाषेतेति ॥

से भिक्खू वा २ असणं वा० उवक्खडियं तहाविहं नो एवं वइज्जा, तं० सुकडेत्ति वा सुट्ठुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्जे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाय एवं वइज्जा, तं०–आरंभकडेत्ति वा सावज्जकडेत्ति वा पयत्तकडे इ वा भद्दयं भद्देति वा ऊसढं ऊसढे इ वा रसियं २ मणुन्नं २ एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥ (सू० १३७)

एवमशनादिगतप्रतिषेधसूत्रद्वयमपि नेयमिति, नवरम् 'ऊसढ'न्ति उच्छ्रितं वर्णगन्धाद्युपेतमिति ॥ पुनरभाषणीयामाह–किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पसुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलचरं वा से त्तं परिवूढकायं पेहाए नो एवं वइज्जा—थूले इ वा पमेइले इ वा वट्टे इ वा वज्झे इ वा पाइमे इ वा, एयप्पगारं भासं सा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वज्जं जाव नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा जाव जलयरं वा सेत्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वइज्जा —परिवूढकाएत्ति वा उवचियकाएत्ति वा थिरसंघयणेत्ति वा चियमंससोणिएत्ति वा बहुपडिपुन्नइंदिइएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा २ विरूवरूवाओ गाओ पेहाए नो एवं वइज्जा, तंजहा—गाओ दुज्झाओत्ति वा दम्मेत्ति वा गोरहत्ति वा वाहिमत्ति वा रहजोग्गत्ति वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ॥ से भि० विरूवरूवाओ गाओ पेहाए एवं वइज्जा, तंजहा—जुवंगवित्ति वा धेणुत्ति वा रसवइत्ति वा हस्सेइ वा महल्लेइ वा महव्वएइ वा संवहणित्ति वा, एअप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० तहेव गंतुमुज्जाणाइं पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महल्ले पेहाए नो एवं वइज्जा, तं०—पासायजोग्गाति वा तोरणजोग्गाइ वा गिहजोग्गाइ वा फलिहजो० अग्गलजो० नावाजो० उदग० दोणजो० पीढचंगबेरनंगलकुलियजंतलट्ठीनाभिगंडीआसणजो० सयणजाणउवस्सयजोगाइं वा, एयप्पगारं० नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू वा० तहेव गंतु० एवं वइज्जा, तंजहा—जाइमंता इ वा दीहवट्टा इ वा महालया इ वा पयायसाला इ वा विडिमसाला इ वा पासाइया इ वा जाव पडिरूवाति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा ॥ से भि० बहुसंभूया वणफला पेहाए तहावि ते नो एवं वइज्जा, तंजहा—पक्का इ वा पायखज्जा इ वा वेलोइया इ वा टाला इ वा वेहिया इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा ॥ से भिक्खू० बहुसंभूया वणफला अंबा पेहाए एवं वइज्जा, तं०—असंथडा इ वा बहुनिवट्टिमफला इ वा बहुसंभूया इ वा भूयरुचित्ति वा, एयप्पगारं भा० असा० ॥ से० बहुसंभूया ओसही पेहाए तहावि ताओ न एवं वइज्जा, तंजहा—पक्का इ वा नीलीया इ वा छवी-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इया इ वा लाइमा इ वा भज्जिमा इ वा बहुखज्जा इ वा, एयप्पगा० नो भासिज्जा ॥ से० बहु० पेहाए तहावि एवं वइज्जा, तं०—रूढा इ वा बहुसंभूया इ वा थिरा इ वा ऊसढा इ वा गब्भिया इ वा पसूया इ वा ससारा इ वा, एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासि० ॥ (सू० १३८)

स भिक्षुर्गवादिकं 'परिवृद्धकायं' पुष्टकायं प्रेक्ष्य नैतद्वदेत्, तद्यथा–स्थूलोऽयं प्रमेदुरोऽयं तथा वृत्तस्तथा वध्यो वहनयोग्यो वा, एवं पचनयोग्यो देवतादेः पातनयोग्यो वेति, एवमादिकामन्यामप्येवंप्रकारां सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ॥ भाषणविधिमाह–स भिक्षुर्गवादिकं परिवृद्धकायं प्रेक्ष्यैवं वदेत्, तद्यथा–परिवृद्धकायोऽयमित्यादि सुगममिति ॥ तथा–स भिक्षुः 'विरूपरूपाः' नानाप्रकारा गाः समीक्ष्य नैतद्वदेत्, तद्यथा–दोहनयोग्या एता गावो दोहनकालो वा वर्त्तते तथा 'दम्यः' दमनयोग्योऽयं 'गोरहकः' कल्होटकः, एवं वाहनयोग्यो रथयोग्यो वेति, एवंप्रकारां सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ॥ सति कारणे भाषणविधिमाह–स भिक्षुर्नानाप्रकारा गाः प्रेक्ष्य प्रयोजने सत्येवं ब्रूयात्, तद्यथा–'जुवंगवे'त्ति युवाऽयं गौः धेनुरिति वा रसवतीति वा, (ह्रस्वः महान् महाव्ययो वा) एवं संवहन इति, एवंप्रकारामसावद्यां भाषां भाषेतेति ॥ किञ्च–स भिक्षुरुद्यानादिकं गत्वा महतो वृक्षान् प्रेक्ष्य नैवं वदेत्, तद्यथा–प्रासादादियोग्या अमी वृक्षा इति, एवमादिकां सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ॥ यत्तु वदेत्तदाह–स भिक्षुस्तथैवोद्यानादिकं गत्वैवं वदेत्, तद्यथा—'जातिमन्तः' सुजातय इति, एवमादिकां भाषामसावद्यां संयत एव भाषेतेति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्बहुसंभूतानि वृक्षफलानि प्रेक्ष्य नैवं वदेत्, तद्यथा–एतानि फलानि 'पक्वानि' पाकप्राप्तानि, तथा 'पाकखाद्यानि' बद्धास्थीनि गर्त्तोप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपच्य भक्षणयोग्यानीति, तथा

आ. सू. ६६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं कालं न विषहन्तीत्यर्थः, 'टालानि' अनवबद्धास्थीनि कोमलास्थीनीति यदुक्तं भवति, तथा 'द्वैधिकानि' इति पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि वेति, एवमादिकां भाषां फलगतां सावद्यां नो भाषेत ॥ यदभिधानीयं तदाह–स भिक्षुर्बहुसम्भूतफलानाम्रान् प्रेक्ष्यैवं वदेत्, तद्यथा—'असमर्थाः' अतिभरेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः, एतेन पक्वार्थ उक्तः, तथा 'बहुनिर्वर्त्तितफलाः' बहूनि निर्वर्त्तितानि फलानि येषु ते तथा, एतेन पाकखाद्यार्थ उक्तः, तथा 'बहुसम्भूताः' बहूनि संभूतानि पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचितार्थ उक्तः, तथा 'भूतरूपाः' इति वा भूतानि रूपाण्यनवबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालाद्यर्थ उपलक्षितः, एवंभूता एते आम्राः, आम्रग्रहणं प्रधानोपलक्षणम्, एवंभूतामनवद्यां भाषां भाषेतेति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्बहुसम्भूता ओषधीर्वीक्ष्य तथाऽप्येता नैतद्वदेत्, तद्यथा–पक्का नीला आर्द्राः छविमत्यः 'लाइमाः' लाजायोग्या रोपणयोग्या वा, तथा 'भज्जिमाओ'त्ति पचनयोग्या भञ्जनयोग्या वा 'बहुखज्जा' बहुभक्ष्याः पृथुककरणयोग्या वेति, एवंप्रकारां सावद्यां भाषां नो भाषेत ॥ यथा च भाषेत तदाह–स भिक्षुर्बहुसंभूता ओषधीः प्रेक्ष्यैतद् ब्रूयात्, तद्यथा–रूढा इत्यादिकामसावद्यां भाषां भाषेत ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० तहप्पगाराइं सद्दाइं सुणिज्जा तहावि एयाइं नो एवं वइज्जा, तंजहा—सुसद्देत्ति वा दुसद्देत्ति वा, एयप्पगारं भासं सावज्जं नो भासिज्जा ॥ से भि० वहावि ताइं एवं वइज्जा, तंजहा—सुसद्दं सुसद्दित्ति वा दुसद्दं दुसद्दित्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा, एयप्पगारं असावज्जं जाव भासिज्जा, एवं रूवाइं किण्हेत्ति वा ५ गंधाइं सुरभिगंधित्ति वा २ रसाइं तित्ताणि वा ५ फासाइं कक्खडाणि वा ८ ॥ (सू० १३९)

स भिक्षुर्यद्यप्येतान् शब्दान् शृणुयात् तथाऽपि नैवं वदेत्, तद्यथा–शोभनः शब्दोऽशोभनो वा माङ्गलिकोऽमाङ्गलिको वा, इत्यर्थं न व्याहर्त्तव्यः ॥ विपरीतं त्वाह—यथाऽवस्थितशब्दप्रज्ञापनाविषये एतद्वदेत्, तद्यथा—'सुसद्दं'ति शोभनशब्दं शोभनमेव ब्रूयाद्, अशोभनं त्वशोभनमिति ॥ एवं रूपादिसूत्रमपि नेयम् ॥ किञ्च—

से भिक्खू वा० वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीइ निट्ठाभासी निसम्मभासी अतुरियभासी विवेगभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा ५ ॥ एवं खलु० सया जइ (सू० १४०) त्तिबेमि ॥ २–१–४–२ ॥ भाषाऽध्ययनं चतुर्थम् ॥ २–१–४ ॥

स भिक्षुः क्रोधादिकं वान्त्वैवंभूतो भवेत्, तद्यथा–अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी निशम्यभाषी अत्वरितभाषी विवेकभाषी भाषासमित्युपेतो भाषां भाषेत, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ चतुर्थमध्ययनं भाषाजाताख्यं २–१–४ समाप्तमिति ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुनः संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्तिः

प्रत सूत्रांक [१४०]

दीप अनुक्रम [४७४]

अथ वस्त्रैषणाऽध्ययनम् ।

चतुर्थाध्ययनानन्तरं पञ्चममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने भाषासमितिः प्रतिपादिता, तदनन्तरमेषणासमितिर्भवतीति सा वस्त्रगता प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽध्ययनार्थाधिकारो वस्त्रैषणा प्रतिपाद्येति, उद्देशार्थाधिकारदर्शनार्थं तु निर्युक्तिकार आह—

पढमे गहणं बीए धरणं पगयं तु दव्ववत्थेणं । एमेव होइ पायं भावे पायं तु गुणधारी ॥ ३१५ ॥

प्रथमे उद्देशके वस्त्रग्रहणविधिः प्रतिपादितः, द्वितीये तु धरणविधिरिति ॥ नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे वस्त्रैषणेति, तत्र वस्त्रस्य नामादिश्चतुर्विधो निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यवस्त्रं त्रिधा, तद्यथा–एकेन्द्रियनिष्पन्नं कार्पासिकादि, विकलेन्द्रियनिष्पन्नं चीनांशुकादि, पञ्चेन्द्रियनिष्पन्नं कम्बलरत्नादि, भाववस्त्रं त्वष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीति, इह तु द्रव्यवस्त्रेणाधिकारः, तदाह निर्युक्तिकारः–'पगयं तु दव्ववत्थेणं'ति । वस्त्रस्येव पात्रस्यापि निक्षेप इति मन्यमानोऽत्रैव पात्रस्यापि निक्षेपातिनिर्देशं निर्युक्तिकारो गाथापश्चार्द्धेनाह—'एवमेव' इति वस्त्रवत्पात्रस्यापि चतुर्विधो निक्षेपः, तत्र द्रव्यपात्रमेकेन्द्रियादिनिष्पन्नं, भावपात्रं साधुरेव गुणधारीति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से भि० अभिकंखिज्जा वत्थं एसित्तए, से जं पुण वत्थं जाणिज्जा, तंजहा—जंगियं वा भंगियं वा साणियं वा पोत्तगं वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकायाः पंचम-अध्ययनं "वस्त्रैषणा", आरब्धं

प्रथम चूलिकायाः पंचम-अध्ययनं "वस्त्रैषणा", प्रथम-उद्देशकः आरब्धः

खोमियं वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्थं वा जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारिज्जा नो बीयं, जा निग्गंथी सा चत्तारिसंघाडीओ धारिज्जा, एगं दुहत्थवित्थारं दो तिहत्थवित्थाराओ एगं चउहत्थवित्थारं, तहप्पगारेहिं वत्थेहिं असंधिज्जमाणेहिं, अह पच्छा एगमेगं संसिविज्जा ॥ (सू० १४१)

स भिक्षुरभिकाङ्क्षेद्वस्त्रमन्वेष्टुं तत्र यत्पुनरेवंभूतं वस्त्रं जानीयात्, तद्यथा—'जंगियं'ति जङ्गमोष्ट्रादिचूर्णानिष्पन्नं, तथा 'भंगियं'ति नानाभङ्गिकविकलेन्द्रियलालानिष्पन्नं, तथा 'साणयं'ति सणवल्कलनिष्पन्नं 'पोत्तगं'ति ताड्यादिपत्रसङ्घातनिष्पन्नं 'खोमियं'ति कार्पासिकं 'तूलकडं'ति अर्कादितूलनिष्पन्नम्, एवं तथाप्रकारमन्यदपि वस्त्रं धारयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः। येन साधुना यावन्ति धारणीयानि तद्दर्शयति–तत्र यस्तरुणो निर्ग्रन्थः–साधुर्यौवने वर्त्तते 'बलवान्' समर्थः 'अल्पातङ्कः' अरोगी 'स्थिरसंहननः' दृढकायो दृढधृतिश्च, स एवंभूतः साधुरेकं 'वस्त्रं' प्रावरणं त्वक्त्राणार्थं धारयेत् नो द्वितीयमिति, यदपरमाचार्यादिकृते बिभर्त्ति तस्य स्वयं परिभोगं न कुरुते, यः पुनर्बालो दुर्बलो वृद्धो वा यावदल्पसंहननः स यथासमाधि द्व्यादिकमपि धारयेदिति, जिनकल्पिकस्तु यथाप्रतिज्ञमेव धारयेत् न तत्रापवादोऽस्ति । या पुनर्निर्ग्रन्थी सा चतस्रः संघाटिका धारयेत्, तद्यथा–एकां द्विहस्तपरिमाणां यां प्रतिश्रये तिष्ठन्ती प्रावृणोति, द्वे त्रिहस्तपरिमाणे, तत्रैकामुज्ज्वलां भिक्षाकाले प्रावृणोति, अपरां बहिर्भूमिगमनावसर इति, तथाऽपरां चतुर्हस्तविस्तरां समवसरणादौ सर्वशरीरप्रच्छादिकां प्रावृणोति, तस्याश्च यथाकृताया अलाभे अथ पश्चादेकमेकेन सार्द्धं सीव्येदिति ॥ किञ्च—

से भि० परं अद्धजोयणमेराए वत्थपडिया० नो अभिसंधारिज्ज गमणाए ॥ (सू० १४२)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भिक्षुर्वस्त्रार्थमर्द्धयोजनात्परतो गमनाय मनो न विदध्यादिति ॥

से भि० से जं० अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं जहा पिंडेसणाए भाणियव्वं ॥ एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ बहवे समणमाहण० तहेव पुरिसंतरकडा जहा पिंडेसणाए ॥ (सू० १४३)

सूत्रद्वयमाधाकर्मिकोद्देशेन पिण्डैषणावन्नेयमिति ॥ साम्प्रतमुत्तरगुणानधिकृत्याह—

से भि० से जं० असंजए भिक्खुपडियाए कीयं वा धोयं वा रत्तं वा घट्टं वा मट्ठं वा संपधूमियं वा तहप्पगारं वत्थं अपुरिसंतरकडं जाव नो०, अह पु० पुरिसं० जाव पडिगाहिज्जा ॥ (सू० १४४)

'साधुप्रतिज्ञया' साधुमुद्दिश्य गृहस्थेन क्रीतधौतादिकं वस्त्रमपुरुषान्तरकृतं न प्रतिगृह्णीयात्, पुरुषान्तरस्वीकृतं तु गृह्णीयादिति पिण्डार्थः ॥ अपि च—

से भिक्खू वा २ से जाइं पुण वत्थाइं जाणिज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं, तं०—आईणगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पत्तुन्नाणि वा अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा देसरागाणि वा अमिलाणि वा गज्जफलाणि वा फालियाणि वा कोयवाणि वा कंबलगाणि वा पावराणि वा, अन्नयराणि वा तह० वत्थाइं महद्धणमुल्लाइं लाभे संते नो पडिगाहिज्जा ॥ से भि० आइण्णपाउरणाणि वत्थाणि जाणिज्जा, तं०—उद्दाणि वा पेसाणि वा पेसलाणि वा किण्हमिगाईणगाणि वा नीलमिगाईणगाणि वा गोरमि० कणगाणि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा कणगकंताणि वा कणगपट्टाणि वा कणगखइयाणि वा कणगफुसियाणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा [विगाणि वा] आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा, अन्नयराणि तह० आईणपाउरणाणि वत्थाणि लाभे संते नो० ॥ (सू० १४५)

स भिक्षुर्यानि पुनर्महाधनमूल्यानि जानीयात्, तद्यथा—'आजिनानि' मूषकादिचर्मनिष्पन्नानि श्लक्ष्णानि—सूक्ष्माणि च तानि वर्णच्छव्यादिभिश्च कल्याणानि–शोभनानि वा सूक्ष्मकल्याणानि, 'आयाणि'त्ति क्वचिद्देशविशेषेऽजाः सूक्ष्मरोमवत्यो भवन्ति तत्पक्ष्मनिष्पन्नानि आजकानि भवन्ति, तथा क्वचिद्देशे इन्द्रनीलवर्णः कर्पासो भवति तेन निष्पन्नानि कायकानि, 'क्षौमिकं' सामान्यकार्पासिकं 'दुकूलं' गौडविषयविशिष्टकार्पासिकं पट्टसूत्रनिष्पन्नानि पट्टानि 'मलयानि' मलयजसूत्रोत्पन्नानि 'पत्तुन्नं'ति वल्कलतन्तुनिष्पन्नम् अंशुकचीनांशुकादीनि नानादेशेषु प्रसिद्धाभिधानानि, तानि च महार्घमूल्यानीतिकृत्वा ऐहिकामुष्मिकापायभयाल्लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ स भिक्षुर्यानि पुनरेवंभूतानि अजिननिष्पन्नानि 'प्रावरणीयानि' वस्त्राणि जानीयात्, तद्यथा—'उद्दाणि व'त्ति उद्राः–सिन्धुविषये मत्स्यास्तत्सूक्ष्मचर्मनिष्पन्नानि उद्राणि 'पेसाणि'त्ति सिन्धुविषय एव सूक्ष्मचर्माणः पशवस्तच्चर्मनिष्पन्नानीति 'पेसलाणि'त्ति तच्चर्मसूक्ष्मपक्ष्मनिष्पन्नानि कृष्णनीलगौरमृगाजिनानि–प्रतीतानि 'कनकानि च' इति कनकरसच्छुरितानि, तथा कनकस्येव कान्तिर्येषां तानि कनककान्तीनि तथा कृतकनकरसपट्टानि कनकपट्टानि एवं 'कनकखचितानि' कनकरसस्तबकाञ्चितानि कनकस्पृष्टानि तथा व्याघ्रचर्माणि एवं 'वग्घाणि'त्ति व्याघ्रचर्मविचित्रितानि 'आभरणानि' आभरणप्रधानानि 'आभरणविचित्राणि' गिरिवि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

डकादिविभूषितानि अन्यानि वा तथाप्रकाराण्यजिनप्रावरणानि लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ साम्प्रतं वस्त्रग्रहणाभिग्रहविशेषमधिकृत्याह—

इच्चेइयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं वत्थं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा, से भि० २ उद्देसिय वत्थं जाइज्जा, तं०—जंगियं वा जाव तूलकडं वा, तह० वत्थं सयं वा ण जाइज्जा, परो० फासुयं० पडि०, पढमा पडिमा १ । अहावरा दुच्चा पडिमा—से भि० पेहाए वत्थं जाइज्जा गाहावई वा० कम्मकरी वा से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा २ दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं वत्थं ?, तहप्प० वत्थं सयं वा० परो० फासुयं एस० लाभे० पडि०, दुच्चा पडिमा २ । अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा० से जं पुण० तं अंतरिज्जं वा उत्तरिज्जं वा तहप्पगारं वत्थं सयं० पडि०, तच्चा पडिमा ३ । अहावरा चउत्था पडिमा—से० उज्झियधम्मियं वत्थं जाइज्जा जं चऽन्ने बहवे समण० वणीमगा नावकंखंति तहप्प० उज्झिय० वत्थं सयं० परो० फासुयं जाव प०, चउत्थापडिमा ४ ॥ इच्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए ॥ सिया णं एताए एसणाए एसमाणं परो वइज्जा—आउसंतो समणा ! इज्जाहि तुमं मासेण वा दसराएण वा पंचराएण वा सुते सुततरे वा तो ते वयं अन्नयरं वत्थं दाहामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति वा ! २ नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारं संगारं पडिसुणित्तए, अभिकंखसि मे दाउं इयाणिमेव दलयाहि, से णेवं वयंतं परो वइज्जा—आउ० स० ! अणुगच्छाहि तो ते वयं अन्न० वत्थं दाहामो, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसोत्ति ! वा २ नो खलु मे कप्पइ संगारवयणे पडिसुणित्तए०, से सेवं वयंतं परो णेया वइज्जा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१४६]

दीप अनुक्रम [४८०]

—आउसोत्ति वा भइणित्ति वा! आहरेयं वत्थं समणस्स दाहामो, अवियाइं वयं पच्छावि अप्पणो सयट्ठाए पाणाइं ४ समारंभ समुद्दिस्स जाव चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म तहप्पगारं वत्थं अफासुअं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ सिआ णं परो नेता वइज्जा—आउसोत्ति! वा २ आहर एयं वत्थं सिणाणे वा ४ आघंसित्ता वा प० समणस्स णं दाहामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० से पुव्वामेव आउ० भ०! मा एयं तुमं वत्थं सिणाणेण वा जाव पघंसाहि वा, अभि० एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सिणाणेण वा पघंसित्ता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफा० नो प० ॥ से णं परो नेता वइज्जा०—भ०! आहर एयं वत्थं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेत्ता वा पहोलेत्ता वा समणस्स णं दाहामो०, एय० निग्घोसं तहेव नवरं मा एयं तुमं वत्थं सीओदग० उसि० उच्छोलेहि वा पहोलेहि वा, अभिकंखसि, सेसं तहेव जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ से णं परो ने० आ० भ०! आहरेयं वत्थं कंदाणि वा जाव हरियाणि वा विसोहित्ता समणस्स णं दाहामो, एय० निग्घोसं तहेव, नवरं मा एयाणि तुमं कंदाणि वा जाव विसोहेहि, नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारे वत्थे पडिग्गाहित्तए, से सेवं वयंतस्स परो जाव विसोहित्ता दलइज्जा, तहप्प० वत्थं अफासुअं नो प० ॥ सिया से परो नेता वत्थं निसिरिज्जा, से पुव्वा० आ० भ०! तुमं चेव णं संतियं वत्थं अंतोअंतेणं पडिलेहिज्जिस्सामि, केवली बूया आ०, वत्थंतेण बद्धे सिया कुंडले वा गुणे वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा मणी वा जाव रयणावली वा पाणे वा बीए वा हरिए वा, अह भिक्खू णं पु० जं पुव्वामेव वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहिज्जा ॥ (सू० १४६)

'इत्येतानि' पूर्वोक्तानि वक्ष्यमाणानि वाऽऽयतनान्यतिक्रम्याथ भिक्षुश्चतसृभिः 'प्रतिमाभिः' वक्ष्यमाणैरभिग्रहविशेषै-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्त्रमन्वेष्टुं जानीयात्, तद्यथा—'उद्दिष्टं' प्राक् सङ्कल्पितं वस्त्रं याचिष्ये, प्रथमा प्रतिमा १, तथा 'प्रेक्षितं' दृष्टं सद् वस्त्रं याचिष्ये नापरमिति द्वितीया २, तथा अन्तरपरिभोगेन उत्तरीयपरिभोगेन वा शय्यातरेण परिभुक्तप्रायं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति तृतीया ३, तथा तदेवोत्सृष्टधार्मिकं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति चतुर्थी प्रतिमेति ४ सूत्रचतुष्टयसमुदायार्थः । आसां चतसृणां प्रतिमानां शेषो विधिः पिण्डैषणावन्नेय इति ॥ किञ्च—'स्यात्' कदाचित् 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'एतया' अनन्तरोक्तया वस्त्रैषणया वस्त्रमन्वेषयन्तं साधुं परो वदेद्, यथा—आयुष्मन्! श्रमण! त्वं मासादौ गते समागच्छ ततोऽहं वस्त्रादिकं दास्यामि, इत्येवं तस्य न शृणुयात्, शेषं सुगमं यावदिदानीमेव ददस्वेति, एवं वदन्तं साधुं परो ब्रूयाद्, यथा—अनुगच्छ तावत्पुनः स्तोकवेलायां समागताय दास्यामि, इत्येतदपि न प्रतिशृणुयाद्, वदेच्चेदानीमेव ददस्वेति, तदेवं पुनरपि वदन्तं साधुं 'परो' गृहस्थो नेताऽपरं भगिन्यादिकमाहूय वदेद् यथाऽऽनयैतद्, वस्त्रं येन श्रमणाय दीयते, वयं पुनरात्मार्थं भूतोपमर्देनापरं करिष्याम इति, एतत्प्रकारं वस्त्रं पश्चात्कर्मभयाल्लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ तथा—स्यात्तर एवं वदेद्, यथा—स्नानादिना सुगन्धिद्रव्येणाघर्षणादिकां क्रियां कृत्वा दास्यामि, तदेतन्निशम्य प्रतिषेधं विदध्यात्, अथ प्रतिषिद्धोऽप्येवं कुर्यात्, ततो न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ एवमुदकादिना धावनादिसूत्रमपि ॥ स परो वदेद्याचितः सन् यथा कन्दादीनि वस्त्रादपनीय दास्यामीति, अत्रापि पूर्ववन्निषेधादिकश्चर्च इति ॥ किञ्च—स्यात्परो याचितः सन् कदाचिद्वस्त्रं 'निसृजेत्' दद्यात्, तं च ददमानमेवं ब्रूयाद्, यथा—स्वदीयमेवाहं वस्त्रमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षिष्ये, नैवा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्युपेक्षितं गृह्णीयाद्, यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, किमिति?, यतस्तत्र किञ्चित्कुण्डलादिकमाभरणजातं बद्धं भवेत्, सचित्तं वा किंचिद् भवेद्, अतः साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यद्वस्त्रं प्रत्युपेक्ष्य गृह्णीयादिति ॥ किञ्च—

से भि० से जं० सअंडं० ससंताणं तहप्प० वत्थं अफा० नो प० ॥ से भि० से जं अप्पंडं जाव संताणगं अलं अथिरं अधुवं अधारणिज्जं रोइज्जंतं न रुच्चइ तह० अफा० नो प० ॥ से भि० से जं० अप्पंडं जाव संताणगं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं रोइज्जंतं रुच्चइ, तह० वत्थं फासु० पडि० ॥ से भि० नो नवए मे वत्थेत्तिकट्टु नो बहुदेसिएण सिणाणेण वा जाव पघंसिज्जा ॥ से भि० नो नवए मे वत्थेत्तिकट्टु नो बहुदे० सीओदगवियडेण वा २ जाव पहोइज्जा ॥ से भिक्खू वा २ दुब्भिगंधे मे वत्थित्तिकट्टु नो बहु० सिणाणेण तहेव बहुसीओ० उस्सि० आलावओ ॥ (सू० १४७)

स भिक्षुर्यत्पुनः साण्डादिकं वस्त्रं जानीयात् तन्न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं वस्त्रं जानीयात्, तद्यथा—अल्पाण्डं यावदल्पसन्तानकं किन्तु 'अनलम्' अभीष्टकार्यासमर्थं हीनादित्वात्, तथा 'अस्थिरं' जीर्णम् 'अध्रुवं' स्वल्पकालानुज्ञापनात्, तथा 'अधारणीयम्' अप्रशस्तप्रदेशखञ्जनादिकलङ्काङ्कितत्वात्, तथा चोक्तम्—"चत्तारि देविया भागा, दो य भागा य माणुसा। आसुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसो ॥ १ ॥ देविएसुत्तमो लाभो, माणुसेसु अ मज्झिमो। आसुरेसु अ गेलन्नं, मरणं जाण रक्खसे ॥ २ ॥" स्थापना चेयम् ॥ किञ्च—"लक्खणहीणो उवही उवहणई

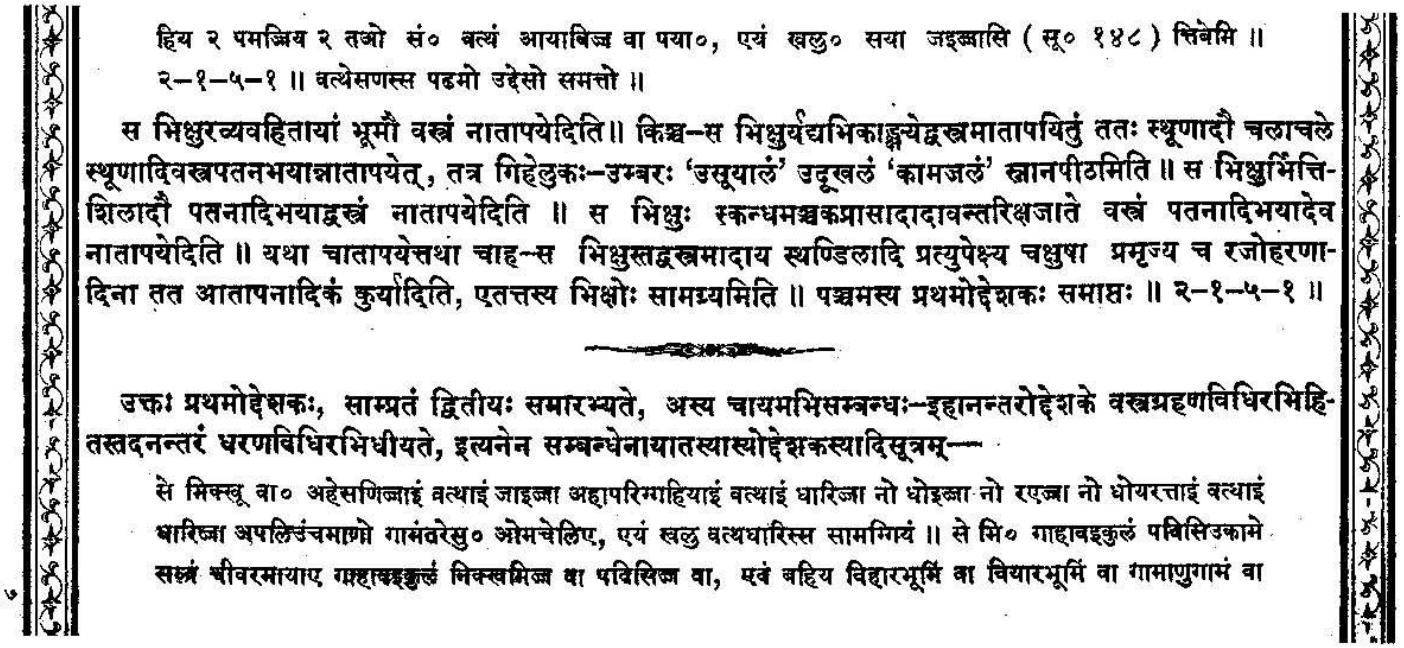
१ चत्वारो दैविका भागा द्वौ च भागौ च मानुजौ। आसुरौ च द्वौ भागौ मध्ये वस्त्रस्य राक्षसौ ॥ १ ॥ दैविकेष्वुत्तमो लाभो मानुष्ययोश्च मध्यमः। आसुरयोश्च ग्लानत्वं मरणं जानीहि राक्षसे ॥ २ ॥ २ लक्षणहीनम् उपधिरुपहन्ति ज्ञानदर्शनचारित्राणि.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नाणदंसणचरित्तं" इत्यादि, तदेवंभूतमप्रायोग्यं 'रोच्यमानं' प्रशस्यमानं दीयमानमपि वा दात्रा न रोचते, साधवे न कल्पत इत्यर्थः ॥ एतेषां चानलादीनां चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गा भवन्ति, तत्राद्याः पञ्चदशाशुद्धाः, शुद्धस्त्वेकः षोडशस्तमधिकृत्य सूत्रमाह–स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं वस्त्रं चतुष्पदविशुद्धं जानीयात्तच्च लाभे सति गृह्णीयादिति पिण्डार्थः ॥ किञ्च–स भिक्षुः 'नवम्' अभिनवं वस्त्रं मम नास्तीतिकृत्वा ततः 'बहुदेश्येन' ईषद्बहुना 'स्नानादिकेन' सुगन्धिद्रव्येणाघृष्य प्रघृष्य वा नो शोभनत्वमापादयेदिति ॥ तथा–स भिक्षुः 'नवम्' अभिनवं वस्त्रं मम नास्तीतिकृत्वा ततस्तस्यैव 'नो' नैव शीतोदकेन बहुशो न धावनादि कुर्यादिति ॥ अपि च–स भिक्षुर्यद्यपि मलोपचितत्वाद्दुर्गन्धि वस्त्रं स्यात् तथाऽपि तदपनयनार्थं सुगन्धिद्रव्योदकादिना नो धावनादि कुर्याद् गच्छनिर्गतः, तदन्तर्गतस्तु यतनया प्रासुकोदकादिना लोकोपघातसंसक्तिभयात् मलापनयनार्थं कुर्यादपीति ॥ धौतस्य प्रतापनविधिमधिकृत्याह—

से भिक्खू वा० अभिकंखिज्ज वत्थं आयावित्तए वा प०, तहप्पगारं वत्थं नो अणंतरहियाए जाव पुढवीए संताणए आयाविज्ज वा प० ॥ से भि० अभि० वत्थं आ० प० त० वत्थं थूणंसि वा गिहेलुगंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अन्नयरे तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अणिकंपे चलाचले नो आ० नो प०॥ से भिक्खू वा० अभि० आयावित्तए वा तह० वत्थं कुकियंसि वा भित्तंसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अन्नयरे वा तह० अंतलि० जाव नो आयाविज्ज वा प० ॥ से भि० वत्थं आया० प० तह० वत्थं खंधंसि वा मं० मा० पासा० ह० अन्नयरे वा तह० अंतलि० नो आयाविज्ज वा० प० ॥ से० तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा २ अहे झामथंडिल्लंसि वा जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिले-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



हिय २ पमज्जिय २ तओ सं० वत्थं आयाविज्ज वा पया०, एवं खलु० सया जइज्जासि (सू० १४८) त्तिबेमि ॥ २–१–५–१ ॥ वत्थेसणस्स पढमो उद्देसो समत्तो ॥

स भिक्षुरव्यवहितायां भूमौ वस्त्रं नातापयेदिति॥ किञ्च–स भिक्षुर्यद्यभिकाङ्क्षयेद्वस्त्रमातापयितुं ततः स्थूणादौ चलाचले स्थूणादिवस्त्रपतनभयान्नातापयेत्, तत्र गिहेलुकः–उम्बरः 'उसूयालं' उदूखलं 'कामजलं' स्नानपीठमिति ॥ स भिक्षुर्भित्ति-शिलादौ पतनादिभयाद्वस्त्रं नातापयेदिति ॥ स भिक्षुः स्कन्धमञ्चकप्रासादादावन्तरिक्षजाते वस्त्रं पतनादिभयादेव नातापयेदिति ॥ यथा चातापयेत्तथा चाह–स भिक्षुस्तद्वस्त्रमादाय स्थण्डिलादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणा-दिना तत आतापनादिकं कुर्यादिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ पञ्चमस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ २–१–५–१ ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरोद्देशके वस्त्रग्रहणविधिरभिहि-तस्तदनन्तरं धरणविधिरभिधीयते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

से भिक्खू वा० अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा नो धोइज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा अपलिउंचमाणो गामंतरेसु० ओमचेलिए, एयं खलु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥ से भि० गाहावइकुलं पविसिउकामे सव्वं चीवरमायाए गाहावइकुलं निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा, एवं बहिय विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा गामाणुगामं वा

आ. सू. ६७

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

	प्रथम चूलिकाया: पंचम-अध्ययनं "वस्त्रैषणा", द्वितीय-उद्देशक: आरब्ध:

दूइज्जिज्जा, अह पु० तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए जहा पिंडेसणाए नवरं सव्वं चीवरमायाए ॥ (सू० १४९)

स भिक्षुः 'यथैषणीयानि' अपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत यथापरिगृहीतानि च धारयेत्, न तत्र किञ्चित्कुर्यादिति दर्शयति, तद्यथा–न तद्वस्त्रं गृहीतं सत् प्रक्षालयेत् नापि रञ्जयेत् तथा नापि बाकुशिकतया धौतरक्तानि धारयेत्, तथाभूतानि न गृह्णीयादित्यर्थः, तथाभूताधौतारक्तवस्त्रधारी च ग्रामान्तरे गच्छन् 'अपलिउंचमाणे'त्ति अगोपयन् सुखेनैव गच्छेद्, यतोऽसौ—'अवमचेलिकः' असारवस्त्रधारी, इत्येतत्तस्य भिक्षोर्वस्त्रधारिणः 'सामग्र्यं' सम्पूर्णो भिक्षुभावः यदेवंभूतवस्त्रधारणमिति, एतच्च सूत्रं जिनकल्पिकोद्देशेन द्रष्टव्यं, वस्त्रधारित्वविशेषणाद् गच्छान्तर्गतेऽपि चाविरुद्धमिति ॥ किञ्च–से इत्यादि पिण्डैषणावन्नेयं, नवरं तत्र सर्वमुपधिम्, अत्र तु स सर्वं चीवरमादायेति विशेषः ॥ इदानीं प्रातिहारिकोपहतवस्त्रविधिमधिकृत्याह—

से एगइओ मुहुत्तगं २ पाडिहारियं वत्थं जाइज्जा जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिज्जा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हिज्जा नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज्जा, नो परं उवसंकमित्ता एवं वइज्जा—आउ० समणा! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा?, थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परट्ठविज्जा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्जा नो णं साइज्जिज्जा॥ से एगइओ एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा नि० जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा० ५ विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तह० वत्थाणि नो अप्पणा गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव जाव नो साइज्जंति, बहुवयणेण भाणि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५०]

दीप अनुक्रम [४८४]

यव्वं, से हंता अहमवि मुहुत्तगं पाडिहारियं वत्थं जाइत्ता जाव एगाहेण वा ५ विप्पवसिय २ उवागच्छिस्सामि, अवियाइं एयं ममेव सिया, माइट्ठाणं संफासे नो एवं करिज्जा ॥ (सू० १५०)

स कश्चित्साधुरपरं साधुं मुहूर्त्तादिकालोद्देशेन प्रातिहारिकं वस्त्रं याचेत, याचित्वा चैकाक्येव ग्रामान्तरादौ गतः, तत्र चासावेकाहं यावत्यहं वोषित्वाऽऽगतः, तस्य चैकाकित्वात्स्वपतो वस्त्रमुपहतं, तच्च तथाविधं वस्त्रं तस्य समर्पयतोऽपि वस्त्रस्वामी न गृह्णीयात्, नापि गृहीत्वाऽन्यस्मै दद्यात्, नाप्युच्छिन्नं दद्याद्, यथा गृहाणेदं, त्वं पुनः कतिभिरहोभिर्ममान्यद्दद्यात्, नापि तदैव वस्त्रेण परिवर्त्तयेत्, न चापरं साधुमुपसंक्रम्यैतद्ददेत्, तद्यथा–आयुष्मन्! श्रमण! 'अभिकाङ्क्षसि' इच्छस्येवंभूतं वस्त्रं धारयितुं परिभोक्तुं चेति?, यदि पुनरेकाकी कश्चिद्गच्छेत्तस्य तदुपहतं वस्त्रं समर्पयेत् न स्थिरं–दृढं सत् 'परिच्छिन्द्य परिच्छिन्द्य' खण्डशः २ कृत्वा 'परिष्ठापयेत्' त्यजेत्, तथाप्रकारं वस्त्रं 'ससंधिय'न्ति उपहतं स्वतो वस्त्रस्वामी 'नास्वादयेत्' न परिभुञ्जीत, अपि तु तस्यैवोपहन्तुः समर्पयेत्, अन्यस्मै वैकाकिनो गन्तुः समर्पयेदिति। एवं बहुवचनेनापि नेयमिति ॥ किञ्च—'सः' भिक्षुः 'एकः' कश्चिदेवं साध्वाचारमवगम्य ततोऽहमपि प्रातिहारिकं वस्त्रं मुहूर्त्तादिकालमुद्दिश्य याचित्वाऽन्यत्रैकाहादिना वासेनोपहनिष्यामि, ततस्तद्वस्त्रं ममैव भविष्यतीत्येवं मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैतत्कुर्यादिति ॥ तथा—

से भि० नो वण्णमंताइं वत्थाइं विवण्णाइं करिज्जा विवण्णाइं न वण्णमंताइं करिज्जा, अन्नं वा वत्थं लभिस्सामित्तिकट्टु नो अन्नमन्नस्स दिज्जा, नो पामिच्चं कुज्जा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु एवं वदेज्जा—आउसो०!

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समभिकंखसि मे वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ?, थिरं वा संतं नो पलिच्छिंदिय २ परिट्ठविज्जा, जहा मेयं वत्थं पावगं परो मन्नइ, परं च णं अदत्तहारी पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स नियाणाय नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्जा, जाव अण्पुस्सुए, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जिज्जा ॥ से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज्जमाणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्जा इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपिंडिया गच्छेज्जा, णो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज्जा जाव गामा० दूइज्जेज्जा ॥ से भि० दूइज्जमाणे अंतरा से आमोसगा पडियागच्छेज्जा, ते णं आमोसगा एवं वदेज्जा—आउसं० ! आहरेयं वत्थं देहि णिक्खिवाहि जहा रियाए णाणत्तं वत्थपडियाए, एयं खलु० सया जइज्जासि (सू० १५१) त्तिबेमि वत्थेसणा समत्ता ॥ २–१–५–२

स भिक्षुर्वर्णवन्ति वस्त्राणि चौरादिभयान्नो विगतवर्णानि कुर्यात्, उत्सर्गतस्तादृशानि न ग्राह्याण्येव, गृहीतानां वा परिकर्म न विधेयमिति तात्पर्यार्थः, तथा विवर्णानि न शोभनवर्णानि कुर्यादित्यादि सुगममिति ॥ नवरं 'विहं'ति अटवीप्रायः पन्थाः । तथा तस्य भिक्षोः पथि यदि 'आमोषकाः' चौरा वस्त्रग्रहणप्रतिज्ञया समागच्छेयुरित्यादि पूर्वोक्तं यावदेतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ पञ्चममध्ययनं समाप्तम् ॥ २–१–५ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ पात्रैषणाख्यं षष्ठमध्ययनम्।

पञ्चमाध्ययनानन्तरं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इह प्रथमेऽध्ययने पिण्डविधिरुक्तः, स च वसतावागमोक्तेन विधिना भोक्तव्य इति द्वितीये वसतिविधिरभिहितः, तदन्वेषणार्थं च तृतीये ईर्यासमितिः प्रतिपादिता, पिण्डाद्यर्थं प्रवृत्तेन कथं भाषितव्यमिति चतुर्थे भाषासमितिरुक्ता, स च पटलकैर्विना न ग्राह्य इति तदर्थं पञ्चमे वस्त्रैषणा प्रतिपादिता, तदधुना पात्रेणापि विना पिण्डो न ग्राह्य इत्यनेन सम्बन्धेन पात्रैषणाऽध्ययनमायातम्, अस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे पात्रैषणाऽध्ययनम्, अस्य च निक्षेपोऽर्थाधिकारश्चानन्तराध्ययन एव लाघवार्थं निर्युक्तिकृताऽभिहितः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा अभिकंखिज्जा पायं एसित्तए, से जं पुण पादं जाणिज्जा, तंजहा—अलाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा, तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे से एगं पायं धारिज्जा नो बिइयं ॥ से भि० परं अद्धजोयणमेराए पायपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० से जं० अस्सिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ जहा पिंडेसणाए चत्तारि आलावगा, पंचमे बहवे समण० पगणिय २ तहेव ॥ से भिक्खू वा० अस्संजए भिक्खुपडियाए बहवे समणमाहणे० वत्थेसणाऽऽलावओ ॥ से भिक्खू वा० से जाइं पुण पायाइं जाणिज्जा विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं, तं०—अयपा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: षष्ठं-अध्ययनं "पात्रैषणा", आरब्धं

प्रथम चूलिकाया: षष्ठं-अध्ययनं "पात्रैषणा", प्रथम-उद्देशक: आरब्ध:

याणि वा तउपाया० तंबपाया० सीसगपा० हिरण्णपा० सुवण्णपा० रीरिअपाया० हारपुडपा० मणिकायकंसपाया० संखसिंगपा० दंतपा० चेलपा० सेलपा० चम्मपा० अन्नयराइं वा तह० विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं पायाइं अफासुयाइं नो० ॥ से भि० से जाइं पुण पाया० विरूव० महद्धणबंधणाइं, तं०—अयबंधणाणि वा जाव चम्मबंधणाणि वा, अन्नयराइं तहप्प० महद्धणबंधणाइं अफा० नो प० ॥ इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्जा चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू० उद्दिसिय २ पायं जाएज्जा, तंजहा—अलाउयपायं वा ३ तह० पायं सयं वा णं जाइज्जा जाव पडि० पढमा पडिमा १ । अहावरा० से० पेहाए पायं जाइज्जा, तं०—गाहावइं वा कम्मकरीं वा से पुव्वामेव आलोइज्जा, आउ० भ०! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पादं तं०—लाउयपायं वा ३, तह० पायं सयं वा जाव पडि०, दुचा पडिमा २ । अहा० से भि० से जं पुण पायं जाणिज्जा संगइयं वा वेजइयंतियं वा तहप्प० पायं सयं वा जाव पडि०, तच्चा पडिमा ३ । अहावरा चउत्था पडिमा—से भि० उज्झियधम्मियं जाएज्जा जावऽन्ने बहवे समणा जाव नावकंखंति तह० जाएज्जा जाव पडि०, चउत्था पडिमा ४ । इच्चेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं जहा पिंडेसणाए ॥ से णं एयाए एसणाए एसमाणं पासित्ता परो वइज्जा, आउ० स०! एज्जासि तुमं मासेण वा जहा वत्थेसणाए, से णं परो नेता व०—आ० भ०! आहारेयं पायं तिल्लेण वा घ० नव० वसाए वा अब्भंगित्ता वा तहेव सिणाणादि तहेव सीओदगाइं कंदाइं तहेव ॥ से णं परो ने०—आउ० स०! मुहुत्तगं २ जाव अच्छाहि ताव अम्हे असणं वा उवकरेंसु वा उवक्खडेंसु वा, तो ते वयं आउसो०! सपाणं सभोयणं पडिग्गहं दाहामो, तुच्छए पडिग्गहे दिन्ने समणस्स नो सुट्ठु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साहु भवइ, से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउ० भइ०! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा०, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ उवकरित्ता उवक्खडित्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दलइज्जा तह० पडिग्गहगं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ सिया से परो उवणित्ता पडिग्गहगं निसिरिज्जा, से पुव्वामे० आउ० भ०! तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडिलेहिस्सामि, केवली० आयाण०, अंतो पडिग्गहगंसि पाणाणि वा बीया० हरि०, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडि० सअंडाइं सव्वे आलावगा भाणियव्वा जहा वत्थेसणाए, नाणत्तं तिल्लेण वा घय० नव० वसाए वा सिणाणादि जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगा० थंडिलंसि पडिलेहिय २ पम० २ तओ० संज० आमज्जिज्जा, एवं खलु० सया जएज्जा त्तिबेमि ॥ (सू० १५२) २–१–६–१

स भिक्षुरभिकाङ्क्षेत् पात्रमन्वेष्टुं, तत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा–अलाबुकादिकं तत्र च यः स्थिरसंहननाद्युपेतः स एकमेव पात्रं बिभृयात् न च द्वितीयं, स च जिनकल्पिकादिः, इतरस्तु मात्रकसद्द्वितीयं पात्रं धारयेत्, तत्र सङ्घाटके सत्येकस्मिन् भक्तं द्वितीये पात्रे पानकं, मात्रकं त्वाचार्यादिप्रायोग्यकृतेऽशुद्धस्य वेति ॥ 'से भिक्खू' इत्यादीनि सूत्राणि सुगमानि यावन्महार्घमूल्यानि पात्राणि लाभे सत्यप्रासुकानि न प्रतिगृह्णीयादिति, नवरं 'हारपुडपाय'त्ति लोहपात्रमिति ॥ एवमयोबन्धनादिसूत्रमपि सुगमं। तथा प्रतिमाचतुष्टयसूत्राण्यपि वस्त्रैषणावन्नेयानीति, नवरं तृतीयप्रतिमायां 'संगइयं'ति दातुः स्वाङ्गिकं–परिभुक्तप्रायं 'वेजयंतियं'ति द्वित्रेषु पात्रेषु पर्यायेणोपभुज्यमानं पात्रं याचेत ॥ 'एतया' अनन्तरोक्तया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१५२]

दीप अनुक्रम [४८६]

पात्रैषणया पात्रमन्विषन्तं साधुं प्रेक्ष्य परो ब्रूयाद् भगिन्यादिकं यथा–तैलादिनाऽभ्यज्य साधवे ददस्वेत्यादि सुगममिति ॥ तथा–स नेता तं साधुमेवं ब्रूयाद्, यथा–रिक्तं पात्रं दातुं न वर्त्तत इति मुहूर्त्तकं तिष्ठ त्वं यावदशनादिकं कृत्वा पात्रकं भृत्वा ददामीत्येवं कुर्वन्तं निषेधयेत्, निषिद्धोऽपि यदि कुर्यात्ततः पात्रं न गृह्णीयादिति ॥ यथा दीयमानं गृह्णीयात्तथाऽऽह–तेन दात्रा दीयमानं पात्रमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षेतेत्यादि वस्त्रवन्नेयमिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ षष्ठस्याध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः परिसमाप्तः ॥ २–१–६–१ ॥

उद्देशकाभिसम्बन्धोऽयम्–इहानन्तरसूत्रे पात्रनिरीक्षणमभिहितमिहापि तच्छेषमभिधीयते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—

से भिक्खू वा २ गाहावइकुलं पिंड० पविट्ठे समाणे पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहगं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं तओ सं० गाहावइं० पिंड० निक्ख० प०, केवली०, आउ०! अंतो पडिग्गहगंसि पाणे वा बीए वा हरि० परियावज्जिज्जा, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं अवहट्टु पाणे पमज्जिय रयं तओ सं० गाहावइ० निक्खमिज्ज वा २ ॥ (सू० १५३)

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशन् पूर्वमेव भृशं प्रत्युपेक्ष्य पतद्ग्रहं, तत्र च यदि प्राणिनः पश्येत्ततस्तान् 'आहृत्य' विष्कृष्य त्यक्त्वेत्यर्थः, तथा प्रमृज्य च रजस्ततः संयत एव गृहपतिकुलं प्रविशेद्वा निष्क्रामेद्वा इत्येषोऽपि पात्रविधिरेव, यतोऽत्रापि पूर्वं पात्रं सम्यक् प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च पिण्डो ग्राह्य इति पात्रगतैव चिन्तेति, किमिति पात्रं प्रत्युपेक्ष्य पिण्डो ग्राह्य इति ?, अप्रत्युपेक्षिते तु कर्मबन्धो भवतीत्याह–केवली ब्रूयाद् यथा कर्मोपादानमेतत्, यथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: षष्ठं-अध्ययनं "पात्रैषणा", द्वितीय-उद्देशक: आरब्ध:

च कर्मोपादानं तथा दर्शयति—'अन्तः' मध्ये पतद्ग्रहकस्य प्राणिनो–द्वीन्द्रियादयः, तथा बीजानि रजो वा 'पर्यापद्येरन्' भवेयुः, तथाभूते च पात्रे पिण्डं गृह्णतः कर्मोपादानं भवतीत्यर्थः, साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकं यत्पूर्वमेव पात्रप्रत्युपेक्षणं कृत्वा तद्गतप्राणिनो रजश्चापनीय गृहपतिकुले प्रवेशो निष्क्रमणं वा कार्यमिति ॥ किञ्च—

से भि० जाव समाणे सिया से परो आहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाइत्ता नीहट्टु दलइज्जा, तहप्पं० पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं जाव नो प०, से य आहच्च पडिग्गाहिए सिया खिप्पामेव उदगंसि साहरिज्जा, से पडिग्गहमायाए पाणं परिट्ठविज्जा, ससिणिद्धाए वा भूमीए नियमिज्जा ॥ से० उदउल्लं वा ससिणिद्धं वा पडिग्गहं नो आमज्जिज वा २ अह पु० विगओदए मे पडिग्गहए छिन्नसिणेहे तह० पडिग्गहं तओ० सं० आमज्जिज्ज वा जाव पयाविज्ज वा ॥ से भि० गाहा० पविसिउकामे पडिग्गहमायाए गाहा० पिंड० पविसिज्ज वा नि०, एवं बहिया वियारभूमीं विहारभूमीं वा गामा० दूइज्जिज्जा, तिव्वदेसीयाए जहा बिइयाए वत्थेसणाए नवरं इत्थ पडिग्गहे, एयं खलु तस्स० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जएज्जासि (सू० १५४) त्तिबेमि ॥ पाएसणा सम्मत्ता ॥ २–१–६–२ ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टः सन् पानकं याचेत, तस्य च स्यात्–कदाचित्स परो गृहस्थोऽनाभोगेन प्रत्यनीकतया, तथाऽऽनुकम्पया विमर्षतया वा गृहान्तः–मध्य एवापरस्मिन् पतद्ग्रहे स्वकीये भाजने आहृत्य शीतोदकं 'परिभाज्य' विभागीकृत्य 'पीहट्टु'त्ति निःसार्य दद्यात्, स–साधुस्तथाप्रकारं शीतोदकं परहस्तगतं परपात्रगतं वाऽप्रासुक-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयात्, तद्यथाऽकामेन विमनस्केन वा प्रतिगृहीतं स्यात् ततः क्षिप्रमेव तस्यैव दातुरुदकभाजने प्रक्षिपेत्, अनिच्छतः कूपादौ समानजातीयोदके प्रतिष्ठापनविधिना प्रतिष्ठापनं कुर्यात्, तदभावेऽन्यत्र वा छायागर्त्तादौ प्रक्षिपेत्, सति चान्यस्मिन् भाजने तत् सभाजनमेव निरुपरोधिनि स्थाने मुञ्चेदिति ॥ तथा–स भिक्षुरुदकार्द्रादेः पतद्ग्रहस्यामर्जनादि न कुर्यादीषच्छुष्कस्य तु कुर्यादिति पिण्डार्थः ॥ किञ्च–स भिक्षुः क्वचिद् गृहपतिकुलादौ गच्छन् सपतद्ग्रह एव गच्छेदित्यादि सुगमं यावदेतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥ षष्ठमध्ययनं समाप्तम् ॥ २–१–६ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ सप्तममवग्रहप्रतिमाख्यमध्ययनम् ।

उक्तं षष्ठमध्ययनमधुना सप्तममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–पिण्डशय्यावस्त्रपात्रादयोऽवग्रहमाश्रित्य भवन्तीत्यतोऽसावेव कतिविधो भवतीत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं–यथा साधुना विशुद्धोऽवग्रहो ग्राह्य इति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपेऽवग्रहप्रतिमेति नाम, तत्रावग्रहस्य नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यादिचतुर्विधं निक्षेपं दर्शयितुकामो निर्युक्तिकार आह—

दव्वे खित्ते काले भावेऽवि य उग्गहो चउद्धा उ। देविंद १ रायउग्गह २ गिहवइ ३ सागरिय ४ साहम्मी ॥३१६॥

द्रव्यावग्रहः क्षेत्रावग्रहः कालावग्रहो भावावग्रहश्चेत्येवं चतुर्विधोऽवग्रहः, यदिवा सामान्येन पञ्चविधोऽवग्रहः, तद्यथा–देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्त्तिरुचकदक्षिणार्द्धमवग्रहः १, राज्ञश्चक्रवर्त्त्यादेर्भरतादिक्षेत्रं २, गृहपतेर्ग्राममहत्तरादेर्ग्रामपाटकादिकमवग्रहः ३, तथा सागारिकस्य–शय्यातरस्य यद्गृहशालादिकं ४, साधर्मिकाः–साधवो ये मासकल्पेन तत्रावस्थितास्तेषां वसत्यादिरवग्रहः सपादं योजनमिति ५, तदेवं पञ्चविधोऽवग्रहः, वसत्यादिपरिग्रहं च कुर्वता सर्वेऽप्येते यथाऽवसरमनुज्ञाप्या इति ॥ साम्प्रतं द्रव्याद्यवग्रहप्रतिपादनायाह—

दव्वुग्गहो उ तिविहो सचित्ताचित्तमीसओ चेव। खित्तुग्गहोऽवि तिविहो दुविहो कालुग्गहो होइ ॥३१७॥

द्रव्याद्यवग्रहस्त्रिविधः, शिष्यादेः सचित्तो रजोहरणादेरचित्तः शिष्यरजोहरणादेर्मिश्रः, क्षेत्रावग्रहोऽपि सचित्तादि-

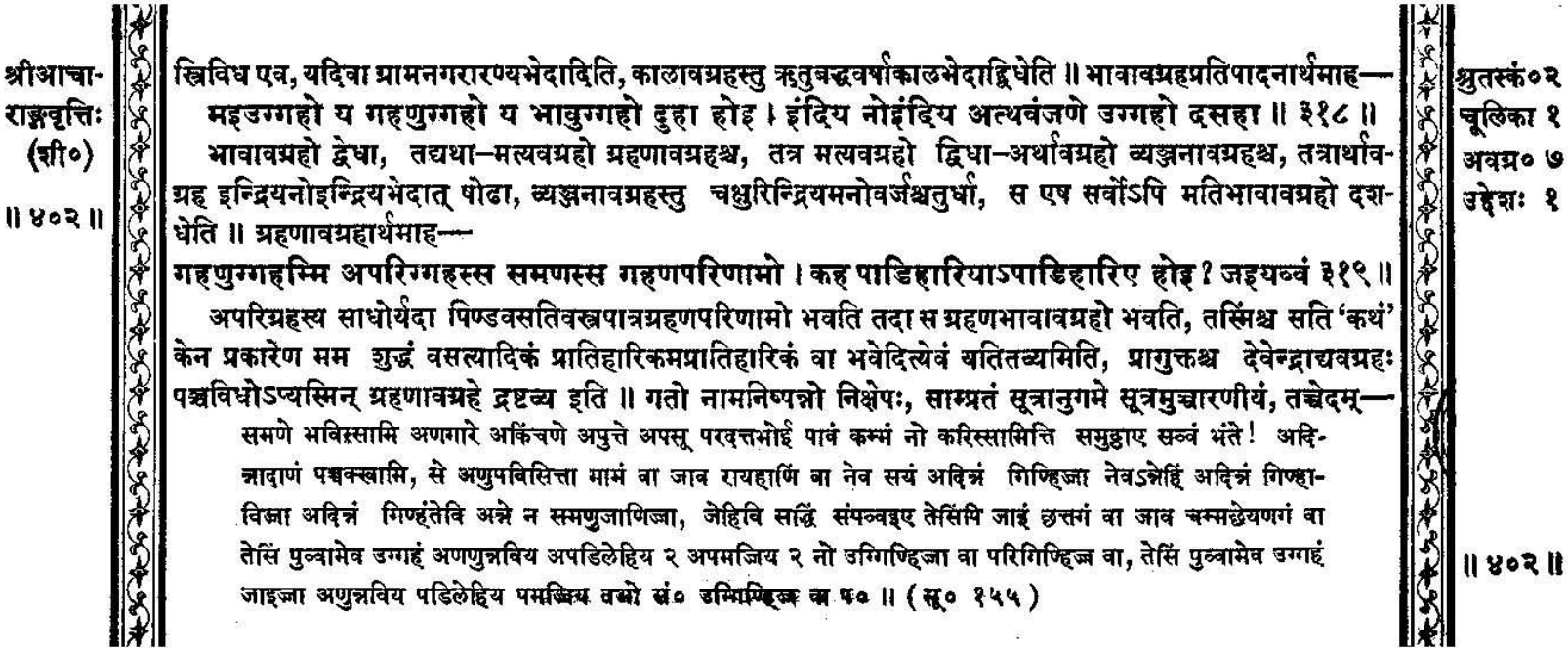
Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: सप्तमं-अध्ययनं "अवग्रह प्रतिमा", आरब्धं

पूज्य आगमोद्धारकश्री संशोधित मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित..आगमसूत्र-[०१], अंग सूत्र-[०१] "आचार" "मूलं एवं शिलांकाचार्य-कृत् वृत्ति:

प्रत सूत्रांक [१५४]

दीप अनुक्रम [४८८]



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ ४०२ ॥

स्त्रिविध एव, यदिवा ग्रामनगरारण्यभेदादिति, कालावग्रहस्तु ऋतुबद्धवर्षाकालभेदाद्विधेति ॥ भावावग्रहप्रतिपादनार्थमाह—

मइउग्गहो य गहणुग्गहो य भावुग्गहो दुहा होइ । इंदिय नोइंदिय अत्थवंजणे उग्गहो दसहा ॥ ३१८ ॥

भावावग्रहो द्वेधा, तद्यथा–मत्यवग्रहो ग्रहणावग्रहश्च, तत्र मत्यवग्रहो द्विधा–अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्च, तत्रार्थावग्रह इन्द्रियनोइन्द्रियभेदात् षोढा, व्यञ्जनावग्रहस्तु चक्षुरिन्द्रियमनोवर्जश्चतुर्धा, स एष सर्वोऽपि मतिभावावग्रहो दशधेति ॥ ग्रहणावग्रहार्थमाह—

गहणुग्गहम्मि अपरिग्गहस्स समणस्स गहणपरिणामो । कह पाडिहारियाऽपाडिहारिए होइ ? जइयव्वं ३१९ ॥

अपरिग्रहस्य साधोर्यदा पिण्डवसतिवस्त्रपात्रग्रहणपरिणामो भवति तदा स ग्रहणभावावग्रहो भवति, तस्मिंश्च सति 'कथं' केन प्रकारेण मम शुद्धं वसत्यादिकं प्रातिहारिकमप्रातिहारिकं वा भवेदित्येवं यतितव्यमिति, प्रागुक्तश्च देवेन्द्राद्यवग्रहः पञ्चविधोऽप्यस्मिन् ग्रहणावग्रहे द्रष्टव्य इति ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोई पावं कम्मं नो करिस्सामित्ति समुट्ठाए सव्वं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से अणुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणिं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंतेवि अन्ने न समणुजाणिज्जा, जेहिवि सद्धिं संपव्वइए तेसिंपि जाइं छत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय २ अपमज्जिय २ नो उग्गिण्हिज्जा वा परिगिण्हिज्ज वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं जाइज्जा अणुन्नविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ सं० उग्गिण्हिज्ज वा प० ॥ (सू० १५५)

श्रुतस्कं०२ चूलिका १ अवग्र० ७ उद्देशः १

॥ ४०२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: सप्तमं-अध्ययनं "अवग्रह प्रतिमा", प्रथम-उद्देशक: आरब्ध:

श्राम्यतीति श्रमणः–तपस्वी यतोऽहमत एवंभूतो भविष्यामीति दर्शयति—'अनगारः' अगा–वृक्षास्तैर्निष्पन्नमगारं तन्न विद्यत इत्यनगारः, त्यक्तगृहपाश इत्यर्थः, तथा 'अकिञ्चनः' न विद्यते किमप्यस्येत्यकिञ्चनो, निष्परिग्रह इत्यर्थः, तथा 'अपुत्रः' स्वजनबन्धुरहितो, निर्मम इत्यर्थः, एवम् 'अपशुः' द्विपदचतुष्पदादिरहितः, यत एवमतः परदत्तभोजी सन् पापं कर्म न करिष्यामीत्येवं समुत्थायैतत्प्रतिज्ञो भवामीति दर्शयति–यथा सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, दन्तशोधनमात्रमपि परकीयमदत्तं न गृह्णामीत्यर्थः, तदनेन विशेषणकदम्बकेनापरेषां शाक्यसरजस्कादीनां सम्यक्श्रमणत्वं निराकृतं भवति, स चैवंभूतोऽकिञ्चनः श्रमणोऽनुप्रविश्य ग्रामं वा यावद्राजधानीं वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयात् नैवापरेण ग्राहयेत् नाप्यपरं गृह्णन्तं समनुजानीयात्, यैर्वा साधुभिः सह सम्यक् प्रव्रजितस्तिष्ठति वा तेषामपि सम्बन्ध्युपकरणमननुज्ञाप्य न गृह्णीयादिति दर्शयति, तद्यथा–छत्रकमिति 'छद अपवारणे' छादयतीति छत्रं–वर्षाकल्पादि, यदिवा कारणिकः क्वचित्कुङ्कणदेशादावतिवृष्टिसम्भवाच्छत्रकमपि गृह्णीयाद् यावच्चर्मच्छेदनकमप्यननुज्ञाप्याप्रत्युपेक्ष्य च नावगृह्णीयात् सकृत् प्रगृह्णीयादनेकशः । तेषां च सम्बन्धि यथा गृह्णीयात्तथा दर्शयति–पूर्वमेव ताननुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणादिना सकृदनेकशो वा गृह्णीयादिति ॥ किञ्च—

से भि० आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिट्ठए ते उग्गहं अणुन्नविज्जा—कामं खलु आउसो० ! अहालंदं अहापरिन्नायं वसामो जाव आउसो ! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिया एइतावं उग्गहं उग्गिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो ॥ से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिया संभोइया समणुन्ना उवाग-

आ. सू. ६८

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च्छिज्जा जे तेण सयमेसित्तए असणे वा ४ तेण ते साहम्मिया ३ उवनिमंतिज्जा, नो चेव णं परवडियाए ओगिज्झिय २ उवनि० ॥ (सू० १५६)

स भिक्षुरागन्तागारादौ प्रविश्यानुविचिन्त्य च–पर्यालोच्य यतिविहारयोग्यं क्षेत्रं ततोऽवग्रहं वसत्यादिकं याचेत, यश्च याच्यस्तं दर्शयति–यस्तत्र 'ईश्वरः' गृहस्वामी तथा यस्तत्र 'समधिष्ठाता' गृहपतिना निक्षिप्तभरः कृतस्तानवग्रहं–क्षेत्रावग्रहम् 'अनुज्ञापयेत्' याचेत, कथमिति दर्शयति—'काम'मिति तवेच्छया 'खलु' इति वाक्यालङ्कारे आयुष्मन्! गृहपते! 'अहालंद'मिति यावन्मात्रं कालं भवाननुजानीते 'अहापरिन्नायं'ति यावन्मात्रं क्षेत्रमनुजानीषे तावन्मात्रं कालं तावन्मात्रं च क्षेत्रमाश्रित्य वयं वसाम इति यावत्, इहायुष्मन्! यावन्मात्रं कालमिहायुष्मतोऽवग्रहो यावन्तश्च साधर्मिकाः–साधवः समागमिष्यन्ति एतावन्मात्रमवग्रहिष्यामस्तत ऊर्ध्वं विहरिष्याम इति ॥ अवगृहीते चावग्रहे सत्युत्तरकालविधिमाह–तदेवमवगृहीतेऽवग्रहे स साधुः किं पुनः कुर्यादिति दर्शयति–ये तत्र केचन प्राघूर्णकाः 'साधर्मिकाः' साधवः 'साम्भोगिकाः' एकसामाचारीप्रविष्टाः 'समनोज्ञाः' उद्युक्तविहारिणः 'उपागच्छेयुः' अतिथयो भवेयुः, ते चैवंभूता ये तेनैव साधुना परलोकार्थिना स्वयमेषितव्याः, ते च स्वयमेवागता भवेयुः, तांश्चाशनादिना स्वयमाहृतेन स साधुरुपनिमन्त्रयेद्, यथा–गृहीत यूयमेतन्मयाऽऽनीतमशनादिकं क्रियतां ममानुग्रहमित्येवमुपनिमन्त्रयेत्, न चैव 'परवडियाए'त्ति परानीतं यदशनादि तद्भृशम् 'अवगृह्य' आश्रित्य नोपनिमन्त्रयेत्, किं तर्हि?, स्वयमेवानीतेन निमन्त्रयेदिति ॥ तथा—

से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थोग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ साहम्मिआ अन्नसंभोइआ समणुन्ना उवाग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

च्छिज्जा जे तेण सयमेसित्तए पीढे वा फलए वा सिज्जा वा संथारए वा तेण ते साहम्मिए अन्नसंभोइए समणुन्ने उवनिमंतिज्जा नो चेवणं परवडियाए ओगिज्झिय उवनिमंतिज्जा ॥ से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थुग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा सूई वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा नहच्छेयणए वा तं अप्पणो एगस्स अट्ठाए पाडिहारियं जाइत्ता नो अन्नमन्नस्स दिज्ज वा अणुपइज्ज वा, सयंकरणिज्जंतिकट्टु, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवित्ता इमं खलु २ त्ति आलोइज्जा, नो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पच्चप्पिणिज्जा ॥ (सू० १५७)

पूर्वसूत्रवत्सर्वं, नवरमसाम्भोगिकान् पीठफलकादिनोपनिमन्त्रयेद्, यतस्तेषां तदेव पीठिकादिसंभोग्यं नाशनादीनि ॥ किञ्च–तस्मिन्नवग्रहे गृहीते यस्तत्र गृहपत्यादिको भवेत् तस्य सम्बन्धि सूच्यादिकं यदि कार्यार्थमेकमात्मानमुद्दिश्य गृह्णीयात् तदपरेषां साधूनां न समर्पयेत्, कृतकार्यश्च प्रतीपं गृहस्थस्यैवानेन सूत्रोक्तेन विधिना समर्पयेदिति ॥ अपि च—

से भि० से जं० उग्गहं जाणिज्जा अणंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए तह० उग्गहं नो गिण्हिज्जा वा २ ॥ से भि० से जं पुण उग्गहं थूणंसि वा ४ तह० अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे जाव नो उगिण्हिज्जा वा २ ॥ से भि० से जं० कुलियंसि वा ४ जाव नो उगिण्हिज्ज वा २ ॥ से भि० खंधंसि वा ४ अन्नयरे वा तह० जाव नो उग्गहं उगिण्हिज्ज वा २ ॥ से भि० से जं० पुण० ससागारियं० सखुड्डुपसुभत्तपाणं नो पन्नस्स निक्खमणपवेसे जाव धम्माणुओगचिंताए, सेवं नच्चा तह० उवस्सए ससागारिए० नो उवग्गहं उगिण्हिज्जा वा २ ॥ से भि० से जं० गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं पंथे पडिबद्धं वा नो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पन्नस्स जाव सेवं न० ॥ से भि० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा तहेव तिल्लादि सिणाणादि सीओदगवियडादि निगिणाइ वा जहा सिज्जाए आलावगा, नवरं उग्गहवत्तव्वया ॥ से भि० से जं० आइन्न-संलिक्खे नो पन्नस्स० उगिण्हिज्ज वा २, एयं खलु० ॥ (सू० १५८) उग्गहपडिमाए पढमो उद्देसो ॥ २–१–७–१ ॥

यत्पुनः सचित्तपृथिवीसम्बन्धमवग्रहं जानीयात्तन्न गृह्णीयादिति ॥ तथा–अन्तरिक्षजातमप्यवग्रहं न गृह्णीयादित्यादि शय्यावन्नेयं यावदुद्देशकसमाप्तिः, नवरमवग्रहाभिलाप इति ॥ सप्तमस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥ २–१–७–१ ॥

उक्तः प्रथमोद्देशकः, अधुना द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–पूर्वोद्देशकेऽवग्रहः प्रतिपादितस्तदिहापि तच्छेषप्रतिपादनायोद्देशकः, तस्य चादिसूत्रम्—

से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा, जे तत्थ ईसरे० ते उग्गहं अणुन्नविज्जा कामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरिन्नायं वसामो जाव आउसो! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिआए ताव उग्गहं उगिण्हिस्सामो, तेण परं वि०, से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाण वा माह० छत्तए वा जाव चम्मछेदणए वा तं नो अंतोहिंतो बाहिं नीणिज्जा बहियाओ वा नो अंतो पविसिज्जा, सुत्तं वा नो पडिबोहिज्जा, नो तेसिं किंचिवि अप्पत्तियं पडिणीयं करिज्जा ॥ (सू० १५९)

स भिक्षुरागन्तागारादावपरब्राह्मणाद्युपभोगसामान्ये कारणिकः सन्नीश्वरादिकं पूर्वप्रक्रमेणावग्रहं याचेत, तस्मिंश्चाव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम चूलिकाया: सप्तमं-अध्ययनं "अवग्रह प्रतिमा", द्वितीय-उद्देशक: आरब्ध:

गृहीतेऽवग्रहे यत्तत्र श्रमणब्राह्मणादीनां छत्राद्युपकरणजातं भवेत्तन्नैवाभ्यन्तरतो बहिर्निष्क्रामयेत् नापि ततोऽभ्यन्तरं प्रवेशयेत् नापि ब्राह्मणादिकं सुप्तं प्रतिबोधयेत् न च तेषाम् 'अप्पत्तियं'ति मनसः पीडां कुर्यात् तथा 'प्रत्यनीकतां' प्रतिकूलतां न विदध्यादिति ॥

से भि० अभिकंखिज्जा अंबवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे २ ते उग्गहं अणुजाणाविज्जा—कामं खलु जाव विहरिस्सामो, से किं पुण० एवोग्गहियंसि अह भिक्खू इच्छिज्जा अंबं भुत्तए वा से जं पुण अंबं जाणिज्जा सअंडं ससंताणं तह० अंबं अफा० नो प० ॥ से भि० से जं० अप्पंडं अप्पसंताणगं अतिरिच्छछिन्नं अव्वोच्छिन्नं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्जा ॥ से भि० से जं० अप्पंडं वा जाव संताणगं तिरिच्छछिन्नं वुच्छिन्नं फा० पडि० ॥ से भि० अंबभित्तगं वा अंबपेसियं वा अंबचोयगं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा भुत्तए वा पायए वा, से जं० अंबभित्तगं वा ५ सअंडं अफा० नो पडि० ॥ से भिक्खू वा २ से जं० अंबं वा अंबभित्तगं वा अप्पंडं० अतिरिच्छछिन्नं २ अफा० नो प० ॥ से जं० अंबडालगं वा अप्पंडं ५ तिरिच्छच्छिन्नं वुच्छिन्नं फासुयं पडि० ॥ से भि० अभिकंखिज्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए, जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि० ॥ अह भिक्खू इच्छिज्जा उच्छुं भुत्तए वा पा०, से जं० उच्छुं जाणिज्जा सअंडं जाव नो प०, अतिरिच्छछिन्नं तहेव, तिरिच्छछिन्नेऽवि तहेव ॥ से भि० अभिकंखि० अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसा० उच्छुडा० भुत्तए वा पाय०, से जं पु० अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा सअंडं० नो प० ॥ से भि० से जं० अंतरुच्छुयं वा० अप्पंडं वा० जाव पडि०, अतिरिच्छछिन्नं तहेव ॥ से भि० लहसणवणं उवागच्छित्तए, तहेव तिन्निवि आलावगा, नवरं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लसुणं ॥ से भि० लसुणं वा लसुणकंदं वा लसु० चोयगं वा लसुणनालगं वा भुत्तए वा २ से जं० लसुणं वा जाव लसुणबीयं वा सअंडं जाव नो प०, एवं अतिरिच्छच्छिन्नेऽवि तिरिच्छछिन्ने जाव प० ॥ (सू० १६०)

स भिक्षुः कदाचिदाम्रवनेऽवग्रहमीश्वरादिकं याचेत, तत्रस्थश्च सति कारणे आम्रं भोक्तुमिच्छेत्, तच्चाम्रं साण्डं ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्यत्पुनराम्रमल्पाण्डमल्पसन्तानकं वा जानीयात् किन्तु 'अतिरश्चीनच्छिन्नं' तिरश्चीनमपाटितं तथा 'अव्यवच्छिन्नम्' अखण्डितं यावदप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ तथा–स भिक्षुरल्पाण्डमल्पसन्तानकं तिरश्चीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं यावत्प्रासुकं कारणे सति गृह्णीयादिति ॥ एवमाम्रावयवसम्बन्धि सूत्रत्रयमपि नेयमिति, नवरम्—'अंबभित्तयं'ति आम्रार्द्धम् 'अंबपेसी' आम्रफाली 'अंबचोयगं'ति आम्रछल्ली सालगं–रसं 'डालगं'ति आम्रश्लक्ष्णखण्डानीति ॥ एवमिक्षुसूत्रत्रयमप्याम्रसूत्रवन्नेयमिति, नवरम् 'अंतरुच्छुयं'ति पर्वमध्यमिति ॥ एवं लशुनसूत्रत्रयमपि नेयमिति, आम्रादिसूत्राणामवकाशो निशीथषोडशोद्देशकादवगन्तव्य इति ॥ साम्प्रतमवग्रहाभिग्रहविशेषानधिकृत्याह—

से भि० आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्जा, इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं उग्गिण्हित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्जा जाव विहरिस्सामो पढमा पडिमा १ । अहावरा० जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ—अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं उग्गिण्हिस्सामि, अण्णेसिं भिक्खूणं उग्गहे उग्गहिए उवल्लिसामि, दुच्चा पडिमा २ । अहा-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वरा० जस्स णं भि० अहं च० उग्गिण्हिस्सामि अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए नो उवलिस्सामि, तच्चा पडिमा ३ । अहावरा० जस्स णं भि० अहं च० नो उग्गहं उग्गिण्हिस्सामि, अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवलिस्सामि, चउत्था पडिमा ४। अहावरा० जस्स णं अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं चउ०, नो दुण्हं नो तिण्हं नो चउण्हं नो पंचण्हं पंचमा पडिमा ५। अहावरा० से भि० जस्स एव उग्गहे उवलिइज्जा जे तत्थ अहासमन्नागए इक्कडे वा जाव पलाले तस्स लाभे संवसिज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुओ वा नेसज्जिओ वा विहरिज्जा, छट्ठा पडिमा ६ । अहावरा स० जे भि० अहासंथडमेव उग्गहं जाइज्जा, तंजहा—पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव तस्स लाभे संते०, तस्स अलाभे उ० ने० विहरिज्जा, सत्तमा पडिमा ७ । इच्चेयासिं सत्तण्हं पडिमाणं अन्नयरं जहा पिंडेसणाए ॥ (सू० १६१)

स भिक्षुरागन्तागारादावग्रहे गृहीते ये तत्र गृहपत्यादयस्तेषां सम्बन्धीन्यायतनानि पूर्वप्रतिपादितान्यतिक्रम्यैतानि च वक्ष्यमाणानि कर्मोपादानानि परिहृत्यावग्रहमवग्रहीतुं जानीयात्, अथ भिक्षुः सप्तभिः प्रतिमाभिरभिग्रहविशेषैरवग्रहं गृह्णीयात्, तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा, तद्यथा–स भिक्षुरागन्तागारादौ पूर्वमेव विचिन्त्यैवंभूतः प्रतिश्रयो मया ग्राह्यो नान्यथाभूत इति प्रथमा । तथाऽन्यस्य च भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति, तद्यथा–अहं च खल्वन्येषां साधूनां कृतेऽवग्रहं 'गृहीष्यामि' याचिष्ये, अन्येषां वाऽवग्रहे गृहीते सति 'उपालयिष्ये' वत्स्यामीति द्वितीया । प्रथमा प्रतिमा सामान्येन, इयं तु गच्छान्तर्गतानां साधूनां साम्भोगिकानामसांभोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां, यतस्तेऽन्योऽन्यार्थं याचन्त इति। तृतीया त्वियम्–अन्यार्थमवग्रहं याचिष्येऽन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीति, एषा त्वाहालन्दिकानां, यतस्ते सूत्रार्थविशेष-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यादभिकाङ्क्षन्त आचार्यार्थं याचन्ते । चतुर्थी पुनरहमन्येषां कृतेऽवग्रहं न याचिष्ये अन्यावगृहीते च वत्स्यामीति, इयं तु गच्छ एवाभ्युद्यतविहारिणां जिनकल्पाद्यर्थं परिकर्म कुर्वताम् । अथापरा पञ्चमी–अहमात्मकृतेऽवग्रहमवग्रहीष्यामि न चापरेषां द्वित्रिचतुष्पञ्चानामिति, इयं तु जिनकल्पिकस्य । अथापरा षष्ठी–यदीयमवग्रहं ग्रहीष्यामि तदीयमेवोत्कटादिसंस्तारकं ग्रहीष्यामि, इतरथोत्कुटुको वा निषण्णः उपविष्टो वा रजनीं गमिष्यामीत्येषा जिनकल्पिकादेरिति । अथापरा सप्तमी–एषैव पूर्वोक्ता, नवरं यथासंस्तृतमेव शिलादिकं ग्रहीष्यामि नेतरदिति, शेषमात्मोत्कर्षवर्जनादि पिण्डैषणावच्चेयमिति ॥ किञ्च—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं पंचविहे उग्गहे पन्नत्ते, तं०—देविंदउग्गहे १ रायउग्गहे २ गाहावइउग्गहे ३ सागारियउग्गहे ४ साहम्मियउग्ग० ५, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं (सू० १६२) उग्गहपडिमा सम्मत्ता ॥ अध्ययनं समाप्तं सप्तमम् ॥ २–१–७–२ ॥

श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातम्–इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिः पञ्चविधोऽवग्रहो व्याख्यातः, तद्यथा–देवेन्द्रावग्रह इत्यादि सुखोन्नेयं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥ अवग्रहप्रतिमाख्यं सप्तममध्ययनं समाप्तं, तत्समाप्तौ प्रथमाऽऽचाराङ्गचूला समाप्ता ॥ २–१–७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सप्तसप्तिकाख्या द्वितीया चूला।

उक्तं सप्तममध्ययनं, तदुक्तौ च प्रथमचूलाऽभिहिता, इदानीं द्वितीया समारभ्यते, अस्याश्चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरचूडायां वसत्यवग्रहः प्रतिपादितः, तत्र च कीदृशे स्थाने कायोत्सर्गस्वाध्यायोच्चारप्रश्रवणादि विधेयमित्येतत्प्रतिपादनाय द्वितीयचूडा, सा च सप्ताध्ययनात्मिकेति निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह—

सत्तिक्कगाणि इक्कस्सरगाणि पुव्व भणियं तहिं ठाणं। उद्धट्ठाणे पगयं निसीहियाए तहिं छक्कं ॥ ३२० ॥

'सप्तैककान्येकसराणी'ति सप्ताध्ययनान्युद्देशकरहितानि भवन्तीत्यर्थः, तत्रापि 'पूर्वं' प्रथमं स्थानाख्यमध्ययनमभिहितमित्यतस्तद्व्याख्यायते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयम्–किंभूतं साधुना स्थानमाश्रयितव्यमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे स्थानमिति नाम, तस्य च नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्रेह द्रव्यमाश्रित्योर्द्धस्थानेनाधिकारः, तदाह निर्युक्तिकारः–ऊर्द्धस्थाने 'प्रकृतं' प्रस्ताव इति, द्वितीयमध्ययनं निशीथिका, तस्याश्च षट्को निक्षेपः, तं च स्वस्थान एव करिष्यामीति। साम्प्रतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा० अभिकंखेज्जा ठाणं ठाइत्तए, से अणुपविसिज्जा गामं वा जाव रायहाणिं वा, से जं पुण ठाणं जाणिज्जा—
सअंडं जाव मक्कडासंताणयं तं तह० ठाणं अफासुयं अणेस० लाभे संते नो प०, एवं सिज्जागमेण नेयव्वं जाव उदयपसू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीया चूलिका- "सप्तसप्तिका"

द्वितीया चूलिकाया: प्रथमा सप्तसप्तिका- 'स्थान-विषयक'

प्रत सूत्रांक [१६३]

दीप अनुक्रम [४९७]

याइंति ॥ इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म २ अह भिक्खू इच्छिज्जा चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए, तत्थिमा पढमा पडिमा —अचित्तं खलु उवसज्जिज्जा अवलंबिज्जा काएण विप्परिकम्माइ सवियारं ठाणं ठाइस्सामि पढमा पडिमा । अहावरा दुच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा अवलंबिज्जा काएण विप्परिकम्माइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि दुच्चा पडिमा । अहावरा तच्चा पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा अवलंबिज्जा नो काएण विपरिकम्माई नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामित्ति तच्चा पडिमा । अहावरा चउत्था पडिमा—अचित्तं खलु उवसज्जेज्जा नो अवलंबिज्जा काएण नो परकम्माई नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामित्ति वोसट्ठकाए वोसट्ठकेसमंसुलोमनहे संनिरुद्धं वा ठाणं ठाइस्सामित्ति चउत्था पडिमा, इच्चेयासिं चउण्हं पडिमाणं जाव पग्गहियतरायं विहरिज्जा, नो किंचिवि वइज्जा, एयं खलु तस्स० जाव जइज्जासि त्तिबेमि (सू० १६३) ॥ ठाणासत्तिक्कयं सम्मत्तं ॥ २–२–८ ॥

'स' पूर्वोक्तो भिक्षुर्यदा स्थानमभिकाङ्क्षेत् स्थातुं तदा सोऽनुप्रविशेद्ग्रामादिकम्, अनुप्रविश्य च स्थानमूर्द्धस्थानाद्यर्थमन्वेषयेत्, तच्च साण्डं यावत्ससन्तानकमप्रासुकमिति लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति, इत्येवमन्यान्यपि सूत्राणि शय्यावद्द्रष्टव्यानि यावदुदकप्रसृतानि कन्दादीनि यदि भवेयुस्तत्तथाभूतं स्थानं न गृह्णीयादिति ॥ साम्प्रतं प्रतिमोद्देशेनाह-'इत्येतानि' पूर्वोक्तानि वक्ष्यमाणानि वा 'आयतनानि' कर्मोपादानानि 'उपातिक्रम्य २' अतिलङ्घ्याथ भिक्षुः स्थानं स्थातुमिच्छेत् 'चतसृभिः प्रतिमाभिः' अभिग्रहविशेषैः करणभूतैः, तांश्च यथाक्रममाह, तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा–कस्यचिद्भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति, यथाऽहमचित्तं स्थानमुपाश्रयिष्यामि, तथा किञ्चिदचित्तं कुड्यादिकमवलम्बयिष्ये कायेन, तथा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'विपरिक्रमिष्यामि' परिस्पन्दं करिष्यामि, हस्तपादाद्याकुञ्चनादि करिष्यामीत्यर्थः, तथा तत्रैव सविचारं स्तोकपादादिविहरणरूपं स्थानं 'स्थास्यामि' समाश्रयिष्यामि, प्रथमा प्रतिमा । द्वितीयायां त्वाकुञ्चनप्रसारणादिक्रियामवलम्बनं च करिष्ये न पादविहरणमिति । तृतीयायां त्वाकुञ्चनप्रसारणमेव नावलम्बनपादविहरणे इति । चतुर्थ्यां पुनस्त्रयमपि न विधत्ते, स चैवंभूतो भवति–व्युत्सृष्टः–त्यक्तः परिमितं कालं कायो येन स तथा, तथा व्युत्सृष्टं केशश्मश्रुलोमनखं येन स तथा, एवंभूतश्च सम्यग्निरुद्धं स्थानं स्थास्यामीत्येवं प्रतिज्ञाय कायोत्सर्गव्यवस्थितो मेरुवन्निष्प्रकम्पस्तिष्ठेत्, यद्यपि कश्चित्केशाद्युत्पाटयेत्तथाऽपि स्थानान्न चलेदिति, आसां चान्यतमां प्रतिमां प्रतिपद्य नापरमप्रतिपन्नप्रतिमं साधुमपवदेन्नात्मोत्कर्षं कुर्यान्न किञ्चिदेवंजातीयं वदेदिति ॥ प्रथमः सप्तैककः समाप्तः ॥ २–२–१ ॥

प्रथमानन्तरं द्वितीयः सप्तैककः, सम्बन्धश्चास्य–इहानन्तराध्ययने स्थानं प्रतिपादितं, तच्च किंभूतं स्वाध्याययोग्यं?, तस्यां च स्वाध्यायभूमौ यद्विधेयं यच्च न विधेयमित्यनेन सम्बन्धेन निषीधिकाऽध्ययनमायातम्, अस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे निषीथिकेति नाम, अस्य च नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः षड्विधो निक्षेपः, नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यनिषीथं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं यद्द्रव्यं प्रच्छन्नं, क्षेत्रनिषीथं तु ब्रह्मलोकरिष्टविमानपार्श्ववर्त्तिन्यः कृष्णराजयो यस्मिन् वा क्षेत्रे तद्व्याख्यायते, कालनिषीथं कृष्णरजन्यो यत्र वा काले निषीथं व्या-

१ निशीथनिषीधयोः प्राकृते एकेन निसीहशब्देन वाच्यत्वात् एवं निक्षेपवर्णनं तथा च निषीधिका निशीथिकेत्युभयमपि संमतमभिधानयोः ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीया चूलिकाया: द्वितीया सप्तसप्तिका- 'निषिधिका-विषयक'

प्रत सूत्रांक [१६४]

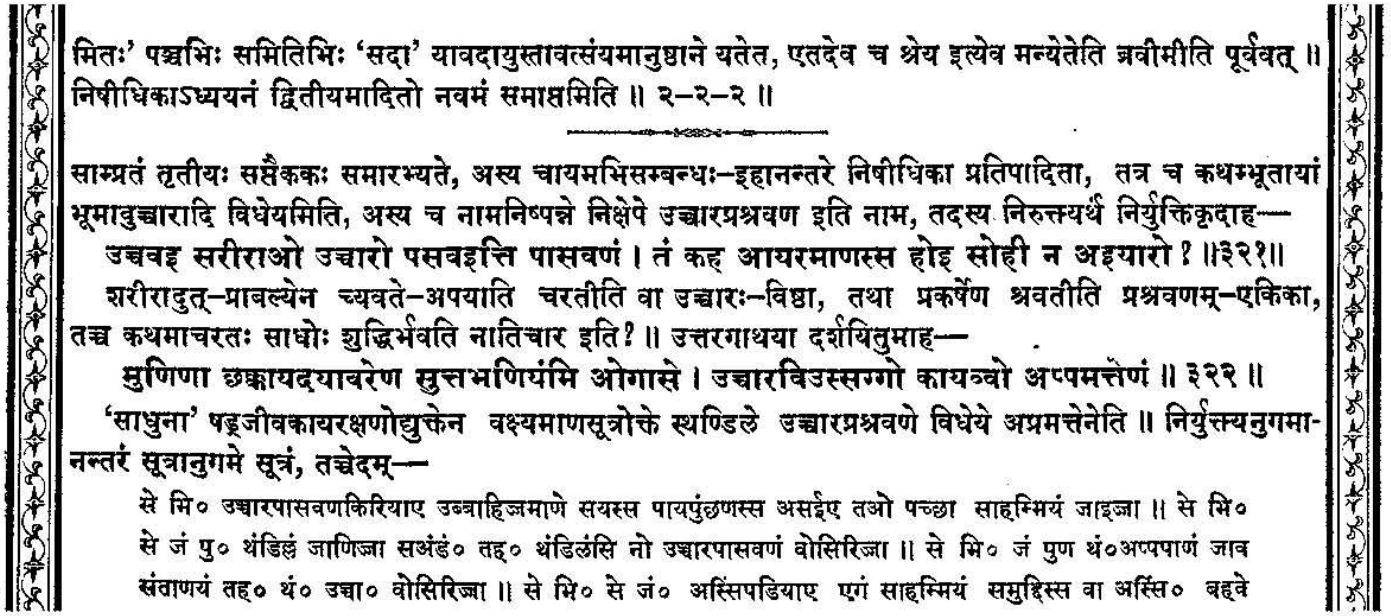
दीप अनुक्रम [४९८]

ख्यायत इति, भावनिषीथं नोआगमत इदमेवाध्ययनम्, आगमैकदेशत्वात्, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा २ अभिकं० निसीहियं फासुयं गमणाए, से पुण निसीहियं जाणिज्जा—सअंडं तह० अफा० नो चेइस्सामि ॥ से भिक्खू० अभिकंखेज्जा निसीहियं गमणाए, से पुण नि० अप्पपाणं अप्पबीयं जाव संताणयं तह० निसीहियं फासुयं चेइस्सामि, एवं सिज्जागमेणं नेयव्वं जाव उदयप्पसूयाइं ॥ जे तत्थ दुवग्गा तिवग्गा चउवग्गा पंचवग्गा वा अभिसंधारिंति निसीहियं गमणाए ते नो अन्नमन्नस्स कायं आलिंगिज्ज वा विलिंगिज्ज वा चुंबिज्ज वा दंतेहिं वा नहेहिं वा अच्छिंदिज्ज वा वुच्छि०, एयं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए समिए सया जएज्जा, सेयमिणं मन्निज्जासि त्तिबेमि ॥ (सू० १६४) निसीहियासत्तिक्कयं ॥ २–२–९ ॥

स भावभिक्षुर्यदि वसतेरुपहताया अन्यत्र निषीधिकां–स्वाध्यायभूमिं गन्तुमभिकाङ्क्षेत्, तां च यदि साण्डा यावत्सस-न्तानकां जानीयात्ततोऽप्रासुकत्वान्न परिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च–स भिक्षुरल्पाण्डादिकां गृह्णीयादिति ॥ एवमन्यान्यपि सूत्राणि शय्यावन्नेयानि यावद् यत्रोदकप्रसूतानि कन्दादीनि स्युस्तां न गृह्णीयादिति ॥ तत्र गतानां विधिमधिकृत्याह-ये तत्र साधवो नैषेधिकाभूमौ द्वित्राद्या गच्छेयुस्ते नान्योऽन्यस्य 'कायं' शरीरमालिङ्गयेयुः–परस्परं गात्रसंस्पर्शं न कुर्यु-रित्यर्थः, नापि 'विविधम्' अनेकप्रकारं यथा मोहोदयो भवति तथा विलिङ्गेयुरिति, तथा कन्दर्पप्रधाना वक्रसंयोगादिकाः क्रिया न कुर्युरिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं यदसौ 'सर्वार्थैः' अशेषप्रयोजनैरामुष्मिकैः 'सहितः' समन्वितः तथा 'स-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



मितः' पञ्चभिः समितिभिः 'सदा' यावदायुस्तावत्संयमानुष्ठाने यतेत, एतदेव च श्रेय इत्येव मन्येतेति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ निषीधिकाऽध्ययनं द्वितीयमादितो नवमं समाप्तमिति ॥ २–२–२ ॥

साम्प्रतं तृतीयः सप्तैककः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरे निषीधिका प्रतिपादिता, तत्र च कथम्भूतायां भूमावुच्चारादि विधेयमिति, अस्य च नामनिष्पन्ने निक्षेपे उच्चारप्रश्रवण इति नाम, तदस्य निरुक्तयर्थं निर्युक्तिकृदाह—

उच्चवइ सरीराओ उच्चारो पसवइत्ति पासवणं । तं कह आयरमाणस्स होइ सोही न अइयारो ? ॥३२१॥

शरीरादुत्–प्राबल्येन च्यवते–अपयाति चरतीति वा उच्चारः–विष्ठा, तथा प्रकर्षेण श्रवतीति प्रश्रवणम्–एकिका, तच्च कथमाचरतः साधोः शुद्धिर्भवति नातिचार इति? ॥ उत्तरगाथया दर्शयितुमाह—

मुणिणा छक्कायदयावरेण सुत्तभणियंमि ओगासे । उच्चारविउस्सग्गो कायव्वो अप्पमत्तेणं ॥ ३२२ ॥

'साधुना' षड्जीवकायरक्षणोद्युक्तेन वक्ष्यमाणसूत्रोक्ते स्थण्डिले उच्चारप्रश्रवणे विधेये अप्रमत्तेनेति ॥ निर्युक्त्यनुगमानन्तरं सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम्—

से भि० उच्चारपासवणकिरियाए उव्वाहिज्जमाणे सयस्स पायपुंछणस्स असईए तओ पच्छा साहम्मियं जाइज्जा ॥ से भि० से जं पु० थंडिलं जाणिज्जा सअंडं० तह० थंडिलंसि नो उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा ॥ से भि० जं पुण थं०अप्पपाणं जाव संताणयं तह० थं० उच्चा० वोसिरिज्जा ॥ से भि० से जं० अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स वा अस्सिं० बहवे

आ. सू. ६९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साहम्मिया स० अस्सिं प० एगं साहम्मिणिं स० अस्सिंप० बहवे साहम्मिणीओ स० अस्सिं० बहवे समण० पगणिय २ समु० पाणाइं ४ जाव उद्देसियं चेएइ, तह० थंडिलं पुरिसंतरकडं जाव बहियानीहडं वा अनी० अन्नयरंसि वा तहप्प-गारंसि थं० उच्चारं नो वोसि० ॥ से भि० से जं० बहवे समणमा० कि० व० अतिही समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं जाव उद्देसियं चेएइ, तह० थंडिलं पुरिसंतरगडं जाव बहियाअनीहडं अन्नयरंसि वा तह० थंडिलंसि नो उच्चारपा-सवण०, अह पुण एवं जाणिज्जा—अपुरिसंतरगडं जाव बहिया नीहडं अन्नयरंसि वा तहप्पगारं० थं०उच्चार० वोसि० ॥ से० जं० अस्सिंपडियाए कयं वा कारियं वा पामिच्चियं वा छन्नं वा घट्टं वा मट्ठं वा लित्तं वा संमट्ठं वा संपधूवियं वा अन्नयरंसि वा तह० थंडि० नो उ० ॥ से भि० से जं पुण थं० जाणेज्जा, इह खलु गाहावई वा गाहा० पुत्ता वा कंदाणि वा जाव हरियाणि वा अंतराओ वा बाहिं नीहरंति बहियाओ वा अंतो साहरंति अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उच्चा० ॥ से भि० से जं पुण० जाणेज्जा—खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासायंसि वा अन्नयरंसि वा० थं० नो उ० ॥ से भि० से जं पुण० अणंतरहियाए पुढवीए ससिणिद्धाए पु० ससरक्खाए पु० मट्टियाए मक्कडाए चि-त्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुयाए कोलावासंसि वा दारुयंसि वा जीवपइट्ठियंसि वा जाव मक्कडासंताणयंसि अन्न० तह० थं० नो उ० ॥ (सू० १६५)

स भिक्षुः कदाचिदुच्चारप्रश्रवणकर्त्तव्यतयोत्-प्राबल्येन बाध्यमानः स्वकीयपादपुञ्छनसमाध्यादावुच्चारादिकं कुर्यात्, स्वकीयस्य त्वभावेऽन्यं 'साधर्मिकं' साधुं याचेत पूर्वप्रत्युपेक्षितं पादपुञ्छनकसमाध्यादिकमिति, तदनेनैतत्प्रतिपादितं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र आद्य संपादक महोदयेन ३-(१०) लिखितं, तत् हेतु सह कथनं| (३- अर्थात् सप्तैकक ३, एवं १०- अर्थात् प्रथम और दूसरी चुडा के अध्ययन मिलाकर ये दसवां अध्ययन हुआ, [चुडा १ के ७ अध्ययन और दूसरी चुडा का यह तीसरा अध्ययन] | इसी तरह आगे भी समझ लेना|

भवति–वेगधारणं न कर्त्तव्यमिति ॥ अपि च–स भिक्षुरुच्चारप्रश्रवणाशङ्कायां पूर्वमेव स्थण्डिलं गच्छेत्, तस्मिंश्च साण्डादिकेऽप्रासुकत्वादुच्चारादि न कुर्यादिति ॥ किञ्च–अल्पाण्डादिके तु प्रासुके कार्यमिति ॥ तथा स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्, तद्यथा–एकं बहून् वा साधर्मिकान् समुद्दिश्य तत्प्रतिज्ञया कदाचित्कश्चित्स्थण्डिलं कुर्यात् तथा श्रवणादीन् प्रगणय्य वा कुर्यात्, तच्चैवंभूतं पुरुषान्तरस्वीकृतमस्वीकृतं वा मूलगुणदुष्टमुद्देशिकं स्थण्डिलमाश्रित्योच्चारादि न कुर्यादिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्यावन्तिके स्थण्डिलेऽपुरुषान्तरस्वीकृते उच्चारादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते तु कुर्यादिति ॥ अपि च–स भिक्षुः साधुमुद्दिश्य क्रीतादावुत्तरगुणाशुद्धे स्थण्डिले उच्चारादि न कुर्यादिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्गृहपत्यादिना कन्दादिके स्थण्डिलान्निष्काश्यमाने तत्र वा निक्षिप्यमाणे नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ तथा–स भिक्षुः स्कन्धादौ स्थण्डिले नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्, तद्यथा–अनन्तरितायां सचित्तायां पृथिव्यां तत्रोच्चारादि न कुर्यात्, शेषं सुगमं, नवरं 'कोलावासं'ति घुणावासम् ॥ अपि च—

से भि० से जं० जाणे०—इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा जाव बीयाणि वा परिसाडिंसु वा परिसाडिंति वा परिसाडिस्संति वा अन्न० तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० इह खलु गाहावई वा गा० पुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुगाणि वा मासाणि वा कुलत्थाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु वा पइरिंति वा पइरिस्संति वा अन्नयरंसि वा तह० थंडि० नो उ० ॥ से भि० २ जं० आमोयाणि वा घासाणि वा भिलुयाणि वा विज्जुलयाणि वा खाणुयाणि वा कडयाणि वा पगडाणि वा दरीणि वा पदुग्गाणि वा समाणि वा २ अन्नयरंसि तह० नो उ० ॥ से भिक्खू० से जं०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुण थंडिलं जाणिज्जा माणुसरंधणाणि वा महिसकरणाणि वा वसहक० अस्सक० कुक्कुडक० मक्कडक० हयक० लावयक० वट्टयक० तित्तिरक० कवोयक० कविंजलकरणाणि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० जाणे० वेहाण-सट्ठाणेसु वा गिद्धपट्ठा० वा तरुपडणट्ठाणेसु वा० मेरुपडणठा० विसभक्खणयठा० अगणिपडणट्ठा० अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्न० तह० नो उ० ॥ से भिक्खू० से जं पुण जा० अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० ॥ से भि० से जं० जाणे० तिगाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ॥ से भि० से जं० जाणे० इंगालदाहेसु खारदाहेसु वा मडयदाहेसु वा मडयथूभियासु वा मडयचेइएसु वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० ॥ से जं जाणे० नइयायतणेसु वा पंकाययणेसु वा ओघाययणेसु वा सेयणवहंसि वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० ॥ से भि० से जं जाणे० नवियासु वा मट्टियखाणिआसु नवियासु गोप्पहेलियासु वा गवाणीसु वा खाणीसु वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ० ॥ से जं जा० डागवच्चंसि वा सागव० मूलग० हत्थंकरवच्चंसि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० वो० ॥ से भि० से जं असणवणंसि वा सणव० धायइव० के-यइवणंसि वा अंबव० असोगव० नागव० पुन्नागव० चुलगव० अन्नयरेसु तह० पत्तोवेएसु वा पुप्फोवेएसु वा फलोवेएसु वा बीओवेएसु वा हरिओवेएसु वा नो उ० वो० ॥ (सू० १६६)

स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्–तद्यथा यत्र गृहपत्यादयः कन्दबीजादिपरिक्षेपणादिक्रियाः कालत्रयव-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तिनीः कुर्युस्तत्रैहिकामुष्मिकापायभयादुच्चारादि न कुर्यादिति ॥ तथा–यत्र च गृहपत्यादयः शाल्यादीन्युप्तवन्तो वपन्ति वप्स्यन्ति वा तत्राप्युच्चारादि न विदध्यादिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्, तद्यथा—'आमोकानि' कचवरपुञ्जाः 'धासाः' बृहत्यो भूमिराजयः 'भिलुगाणि' श्लक्ष्णभूमिराजयः 'विज्जलं' पिच्छलं 'स्थाणुः' प्रतीतः 'कडवाणि' इक्षुयोन्नलकादिदण्डकाः 'प्रगर्त्ताः' महागर्त्ताः 'दरी' प्रतीता 'प्रदुर्गाणि' कुड्यप्राकारादीनि, एतानि च समानि वा विषमाणि वा भवेयुस्तदेतेष्वात्मसंयमविराधनासम्भवान्नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्, तद्यथा—'मानुपरन्धनानि' चुल्यादीनि तथा महिष्यादीनुद्दिश्य यत्र किञ्चित्क्रियते ते वा यत्र स्थाप्यन्ते तत्र लोकविरुद्धप्रवचनोपघातादिभयान्नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ तथा–स भिक्षुः 'वेहानसस्थानानि' मानुषोल्लम्बनस्थानानि 'गृध्रपृष्ठस्थानानि' यत्र मुमूर्षवो गृध्रादिभक्षणार्थं रुधिरादिदिग्धदेहा निपत्यासते 'तरुपतनस्थानानि' यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुवत्पतितास्तिष्ठन्ति तरुभ्यो वा यत्र पतन्ति, एवं मेरुपतनस्थानान्यपि, मेरुश्च–पर्वतोऽभिधीयत इति, एवं विषभक्षणाग्निप्रवेशस्थानादिषु नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ अपि च–आरामदेवकुलादौ नोच्चारादि विदध्यादिति ॥ तथा–प्राकारसम्बन्धिन्यट्टालादौ नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ किञ्च–त्रिकचतुष्कचत्वरादौ च नोच्चारादि व्युत्सृजेदिति ॥ किञ्च–स भिक्षुरङ्गारदाहस्थानश्मशानादौ नोच्चारादि विदध्यादिति ॥ अपि च—'नद्यायतनानि' यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्नानादि कुर्वन्ति 'पङ्कायतनानि' यत्र पङ्किलप्रदेशे लोका धर्मार्थं लोटनादिक्रियां कुर्वन्ति 'ओघायतनानि' यानि प्रवाहत एव पूज्यस्थानानि तडागजलप्रवेशौघमार्गो वा 'सेचनपथे वा' नीकादौ नोच्चारादि विधेयमिति ॥ तथा–स भि-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१६६]

दीप अनुक्रम [५००]

क्षुरभिनवासु मृत्खनिषु, तथा नवासु गोप्रहेल्यासु 'गवादनीषु' सामान्येन वा गवादनीषु खनीषु वा नोच्चारादि विदध्यादिति ॥ किञ्च—'डाग'त्ति डालप्रधानं शाकं पत्रप्रधानं तु शाकमेव तद्वति स्थाने, तथा मूलकादिवति च नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ तथा–अशनो–वीयकस्तद्वनादौ च नोच्चारादि कुर्यादिति, तथा पत्रपुष्पफलाद्युपेतेष्विति ॥ कथं चोच्चारादि कुर्यादिति दर्शयति—

से भि० सयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवक्कमे अणावायंसि असंलोयंसि अप्पपाणंसि जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवस्सयंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा, से तमायाए एगंतमवक्कमे अणावाहंसि जाव संताणयंसि अहारामंसि वा झामथंडिल्लंसि वा अन्नयरंसि वा तह० थंडिल्लंसि अचित्तंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज्जा, एयं खलु तस्स० सया जइज्जासि (सू० १६७)त्तिबेमि ॥ उच्चारपासवणसप्तिक्कओ सम्मत्तो ॥ २–२–३ ॥

स भिक्षुः स्वकीयं परकीयं वा 'पात्रकं' समाधिस्थानं गृहीत्वा स्थण्डिलं वाऽनापातमसंलोकं गत्वोच्चारं प्रस्रवणं वा 'कुर्यात्' प्रतिष्ठापयेदिति, शेषमध्ययनसमाप्तिं यावत्पूर्ववदिति ॥ तृतीयं सप्तैकैकाध्ययनमादितो दशमं समाप्तम् ॥२–२–३–१०

तृतीयानन्तरं चतुर्थः सप्तैककः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहाद्ये स्थानं द्वितीये स्वाध्यायभूमिस्तृतीये उच्चारादिविधिः प्रतिपादितः, तेषु च वर्त्तमानो यद्यनुकूलप्रतिकूलशब्दान् शृणुयात्तेष्वरक्तद्विष्टेन भाव्यम्, इत्यनेन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीया चूलिकाया: चतुर्था सप्तसप्तिका- 'शब्द-विषयक'

सम्बन्धेनायातस्यास्य नामनिष्पन्ने निक्षेपे शब्दसप्तैकक इति नाम, अस्य च नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यनिक्षेपं दर्शयितुं निर्युक्तिकृद्गाथापश्चार्द्धेनाह—

[दव्वं संठाणाई भावो वन्नकसिणं स भावो य] । दव्वं सद्दपरिणयं भावो उ गुणा य कित्ती य ॥ ३२३ ॥

द्रव्यं नोआगमतो व्यतिरिक्तं शब्दत्वेन यानि भाषाद्रव्याणि परिणतानि तानीह गृह्यन्ते, भावशब्दस्त्वागमतः शब्दे उपयुक्तः, नोआगमतस्तु गुणा–अहिंसादिलक्षणा यतोऽसौ हिंसाऽनृतादिविरतिलक्षणैर्गुणैः श्लाघ्यते, कीर्त्तिश्च यथा भगवत एव चतुस्त्रिंशदतिशयाद्युपेतस्य सातिशयरूपसंपत्समन्वितस्येत्यर्हन्निति लोके ख्यातिरिति, निर्युक्त्यनुगमादनन्तरं सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम्—

से भि० मुइंगसद्दाणि वा नंदीस० झल्लरीस० अन्नयराणि वा तह० विरूवरूवाइं सद्दाइं विततताइं कन्नसोयणपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं—वीणासद्दाणि वा विपंचीस० पिप्पी(बद्धी)सगस० तूणयसद्दा० वणयस० तुंबवीणियसद्दाणि वा ढंकुणसद्दाइं अन्नयराइं तह० विरूवरूवाइं० सद्दाइं विततताइं कण्णसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं०—तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियसद्दा० गोधियस० किरिकिरियास० अन्नयरा० तह० विरूव० सद्दाणि कण्ण० गमणाए ॥ से भि० अहावेग० तं० संखसद्दाणि वा वेणु० वंससद० खरमुहिस० परिपिरियास० अन्नय० तह० विरूव० सद्दाइं झुसिराइं कन्न० ॥ (सू० १६८)

'स' पूर्वाधिकृतो भिक्षुर्यदि विततततघनशुषिररूपांश्चतुर्विधानातोद्यशब्दान् शृणुयात्, ततस्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया 'ना-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिसन्धारयेद्गमनाय' न् तदाकर्णनाय गमनं कुर्यादित्यर्थः, तत्र विततं–मृदङ्गनन्दीझल्र्यादि, ततं–वीणाविपञ्चीबद्धीसकादितन्त्रीवाद्यं, वीणादीनां च भेदस्तन्त्रीसङ्ख्यातोऽवसेयः, घनं तु–हस्तालकंसालादि प्रतीतमेव नवरं लत्तिका–कंशिका गोहिका–भाण्डानां कक्षाहस्तगतातोद्यविशेषः 'किरिकिरिया' तेषामेव वंशादिकम्बिकातोद्यं, शुषिरं तु शङ्खवेण्वादीनि प्रतीतान्येव, नवरं खरमुही–तोहाडिका 'पिरिपिरिय'त्ति कोलियकपुटावनद्धा वंशादिनलिका, इत्येष सूत्रचतुष्टयसमुदायार्थः ॥ किञ्च—

से भि० अहावेग० तं० वप्पाणि वा फलिहाणि वा जाव सराणि वा सागराणि वा सरसरपंतियाणि वा अन्न० तह० विरूव० सद्दाइं कण्ण० ॥ से भि० अहावे० तं० कच्छाणि वा णूमाणि वा गहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणि वा अन्न० ॥ अहा० त० गामाणि वा नगराणि वा निगमाणि वा रायहाणाणि वा आसमपट्टणसंनिवेसाणि वा अन्न० तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा सभाणि वा पवाणि वा अन्नय० तहा० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंजहा—तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंजहा—महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभक० अस्सक० हत्थिक० जाव कविंजलकरणट्ठा० अन्न० तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तंज० महिसजुद्धाणि वा जाव कविंजलजु० अन्न० तह० नो अभि० ॥ से भि० अहावे० तं० जूहियठाणाणि वा हयजू० गयजू० अन्न० तह० नो अभि० ॥ (सू० १६९)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स भिक्षुरथ कदाचिदेकतरान् कांश्चित् शब्दान् शृणुयात्, तद्यथा—'वप्पाणि वे'ति वप्रः—केदारस्तदादिर्वा, तद्वर्णकाः शब्दा वप्रा एवोक्ताः, वप्रादिषु वा श्रव्यगेयादयो ये शब्दास्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया वप्रादीन्न गच्छेदित्येवं सर्वत्रायोज्यम् । अपि च—यावन्महिषयुद्धानीति षडपि सूत्राणि सुबोध्यानि ॥ किञ्च—स भिक्षुर्यूथमिति—द्वन्द्वं वधूवरादिकं तत्स्थानं वेदिकादि, तत्र श्रव्यगेयादिशब्दश्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेत्, वधूवरवर्णनं वा यत्र क्रियते तत्र न गच्छेदिति, एवं हयगजयूथादिस्थानानि द्रष्टव्यानीति ॥ तथा—

से भि० जाव सुणेइ, तंजहा—अक्खाइयठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा महताऽऽहयनट्टगीयवाईयतंतीतलतालतुडियपडुप्पवाइयट्ठाणाणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभिसं० ॥ से भि० जाव सुणेइ, तं०—कलहाणि वा डिंबाणि वा डमराणि वा दोरज्जाणि वा वेर० विरुद्धर० अन्न० तह० सद्दाइं नो० ॥ से भि० जाव सुणेइ खुड्डियं दारियं परिभुत्तमंडियं अलंकियं निवुज्झमाणिं पेहाए एगं वा पुरिसं वहाए नीणिज्जमाणं पेहाए अन्नयराणि वा तह० नो अभि० ॥ से भि० अन्नयराइं विरूव० महासवाइं एवं जाणेज्जा तंजहा—बहुसगडाणि वा बहुरहाणि वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपच्चंताणि वा अन्न० तह० विरूव० महासवाइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्जा गमणाए ॥ से भि० अन्नयराइं विरूव० महूस्सवाइं एवं जाणिज्जा, तंजहा—इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि वा मज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा नच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विछड्डियमाणाणि वा विगोवयमाणाणि वा अन्नय० तह० विरूव० महु० कन्नसोय०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

॥ से भि० नो इहलोइएहिं सद्देहिं नो परलोइएहिं स० नो सुएहिं स० नो असुएहिं स० नो दिट्ठेहिं सद्देहिं नो अदिट्ठेहिं स० नो कंतेहिं सद्देहिं सज्जिज्जा नो गिज्झिज्जा नो मुज्झिज्जा नो अज्झोववज्जिज्जा, एयं खलु० जाव जएज्जासि (सू० १७०) त्तिबेमि ॥ सद्दसत्तिक्कओ ॥ २–२–४ ॥

स भिक्षुः 'आख्यायिकास्थानानि' कथानकस्थानानि, तथा 'मानोन्मानस्थानानि' मानं–प्रस्थकादिः उन्मानं–नाराचादि, यदिवा मानोन्मानमित्यश्वादीनां वेगादिपरीक्षा तत्स्थानानि तद्वर्णनस्थानानि वा, तथा महान्ति च तानि आहतनृत्यगीतवादित्रतन्त्रीतलतालत्रुटितप्रत्युत्पन्नानि च तेषां स्थानानि–सभास्तद्वर्णनानि वा श्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनायेति ॥ किञ्च–कलहादिवर्णनं तत्स्थानं वा श्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेदिति ॥ अपि च–स भिक्षुः क्षुल्लिकां 'दारिकां' डिक्करिकां मण्डितालङ्कृतां बहुपरिवृतां 'णिवुज्झमाणिं'ति अश्वादिना नीयमानां, तथैकं पुरुषं वधाय नीयमानं प्रेक्ष्याहमत्र किञ्चिच्छ्रोष्यामीति श्रवणार्थं तत्र न गच्छेदिति ॥ स भिक्षुर्यान्येवं जानीयात्, महान्त्येतान्याश्रवस्थानानि–पापोपादानस्थानानि वर्त्तन्ते, तद्यथा–बहुशकटानि बहुरथानि बहुम्लेच्छानि बहुप्रात्यन्तिकानि, इत्येवंप्रकाराणि स्थानानि श्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद् गन्तुमिति ॥ किञ्च–स भिक्षुर्महोत्सवस्थानानि यान्येवंभूतानि जानीयात्, तद्यथा–स्त्रीपुरुषस्थविरबालमध्यवयांस्येतानि भूषितानि गायनादिकाः क्रिया यत्र कुर्वन्ति तानि स्थानानि श्रवणेच्छया न गच्छेदिति ॥ इदानीं सर्वोपसंहारार्थमाह–सः 'भिक्षुः' ऐहिकामुष्मिकापायभीरुः 'नो' नैव 'ऐहलौकिकैः' मनुष्यादिकृतैः 'पारलौकिकैः' पारापतादिकृतैरैहिकामुष्मिकैर्वा शब्दैः, तथा श्रुतैरश्रुतैर्वा, तथा साक्षादुपलब्धै-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रनुपलब्धैर्वा 'न सङ्गं कुर्यात्' न रागं गच्छेत् न गार्द्धं प्रतिपद्येत न तेषु मुह्येत नाध्युपपन्नो भवेत्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं, शेषं पूर्ववत्, इह च सर्वत्रायं दोषः–अजितेन्द्रियत्वं स्वाध्यायादिहानी रागद्वेषसम्भव इति, एवमन्येऽपि दोषा ऐहिकामुष्मिकापायभूताः स्वधिया समालोच्या इति॥ चतुर्थसप्तैककाध्ययनमादित एकादशं समाप्तम्॥ २–२–४–११॥

अथ पञ्चमं रूपसप्तैककमध्ययनम्। चतुर्थसप्तैककानन्तरं पञ्चमं समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तरं श्रवणेन्द्रियमाश्रित्य रागद्वेषोत्पत्तिर्निषिद्धा तदिहापि चक्षुरिन्द्रियमाश्रित्य निषिध्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य नामनिष्पन्ने निक्षेपे रूपसप्तैकक इति नाम, तत्र रूपस्य चतुर्धा निक्षेपः, नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यभावनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद् गाथाऽर्द्धमाह—

दव्वं संठाणाई भावो वन्न कसिणं सभावो य। [दव्वं सद्दपरिणयं भावो उ गुणा य कित्ती य] ॥ ३२४॥

तत्र द्रव्यं नोआगमतो व्यतिरिक्तं पञ्च संस्थानानि परिमण्डलादीनि, भावरूपं द्विधा–वर्णतः स्वभावतश्च, तत्र वर्णतः कृत्स्नाः पञ्चापि वर्णाः, स्वभावरूपं त्वन्तर्गतक्रोधादिवशाद्भ्रूभङ्गललाटनयनारोपणनिष्ठुरवागादिकम्, एतद्विपरीतं प्रसन्नस्येति, उक्तञ्च—"[१]रुट्ठस्स खरा दिट्ठी उप्पलधवला पसन्नचित्तस्स। दुहियस्स ओमिलायइ गंतुमणस्सुस्सुआ होइ॥१॥" सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम्—

१ रुष्टस्य खरा दृष्टिः उत्पलधवला प्रसन्नचित्तस्य। दुःखितस्यावम्लायति गन्तुमनस उत्सुका भवति॥ १॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीया चूलिकाया:पंचमा सप्तसप्तिका- 'रूप-विषयक'

से भि० अहावेगइयाइं रूवाइं पासइ, तं० गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघाइमाणि वा कट्ठकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा चित्तक० मणिकम्माणि वा दंतक० पत्तछिज्जकम्माणि वा विविहाणि वा वेढिमाइं अन्नयराइं० विरू० चक्खुदंसणपडियाए नो अभिसंधारिज्ज गमणाए, एवं नायव्वं जहा सद्दपडिमा सव्वा वाइत्तवज्जा रूवपडिमावि ॥ (सू० १७१) पञ्चमं सप्तिकयं ॥ २–२–५ ॥

स भावभिक्षुः क्वचित् पर्यटन्नथैकानि–कानिचिन्नानाविधानि रूपाणि पश्यति, तद्यथा—'ग्रथितानि' ग्रथितपुष्पादिनिर्वर्त्तितस्वस्तिकादीनि 'वेष्टिमानि' वस्त्रादिनिर्वर्त्तितपुत्तलिकादीनि 'पूरिमाणि'त्ति यान्यन्तः पूरणेन पुरुषाद्याकृतीनि भवन्ति 'संघातिमानि' चोलकादीनि 'काष्ठकर्माणि' रथादीनि 'पुस्तकर्माणि' लेप्यकर्माणि 'चित्रकर्माणि' प्रतीतानि 'मणिकर्माणि' विचित्रमणिनिष्पादितस्वस्तिकादीनि, तथा 'दन्तकर्माणि' दन्तपुत्तलिकादीनि, तथा पत्रच्छेद्यकर्माणि, इत्येवमादीनि विरूपरूपाणि चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय, एतानि द्रष्टुं गमने मनोऽपि न विदध्यादित्यर्थः । एवं शब्दसप्तैककसूत्राणि चतुर्विधातोद्यरहितानि सर्वाण्यपीहायोज्यानि केवलं रूपप्रतिज्ञयेत्येवमभिलापो योज्यः, दोषाश्चात्र प्राग्वत्समायोज्या इति ॥ पञ्चमं सप्तैककाध्ययनमादितो द्वादशं समाप्तमिति ॥ २–२–५–१२ ॥

अथ षष्ठं परक्रियाभिधं सप्तैककमध्ययनम् । साम्प्रतं पञ्चमानन्तरं षष्ठः सप्तैककः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः–अनन्तरं रागद्वेषोत्पत्तिनिमित्तप्रतिषेधोऽभिहितः, तदिहापि स एवान्येन प्रकारेणाभिधीयते इत्यनेन सम्बन्धे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीया चूलिकाया:षष्ठा सप्तसप्तिका- 'परक्रिया-विषयक'

नायातस्यास्य नामनिष्पन्ने निक्षेपे परक्रियेत्यादानपदेन नाम, तत्र परशब्दस्य षड्विधं निक्षेपं दर्शयितुं निर्युक्तिकारो गाथाऽर्द्धमाह—

छक्कं परइक्किक्कं त १ दव्व २ माएस ३ कम ४ बहु ५ पहाणे ६।

षट्कं 'पर' इति परशब्दविषये नामादिः षड्विधो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यादिपरमेकैकं षड्विधं भवतीति दर्शयति, तद्यथा–तत्परम् १ अन्यपरम् २ आदेशपरं ३ क्रमपरं ४ बहुपरं ५ प्रधानपर ६ मिति, तत्र द्रव्यपरं तावत्तद्भूपतयैव वर्त्तमानं–परमन्यत्तत्परं यथा परमाणोः परः परमाणुः १, अन्यपरं त्वन्यरूपतया परमन्यद्, यथा एकाणुकाद् द्व्यणुकत्र्यणुकादि, एवं द्व्यणुकादेकाणुकत्र्यणुकादि २, 'आदेशपरम्' आदिश्यते–आज्ञाप्यत इत्यादेशः–यः कस्यांचित्क्रियायां नियोज्यते कर्मकरादिः स चासौ परश्चादेशपर इति ३, क्रमपरं तु द्रव्यादि चतुर्द्धा, तत्र द्रव्यतः क्रमपरमेकप्रदेशिकद्रव्याद् द्विप्रदेशिकद्रव्यम्, एवं द्व्यणुकात्र्यणुकमित्यादि, क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढमित्यादि, कालत एकसमयस्थितिकाद् द्विसमयस्थितिकमित्यादि, भावतः क्रमपरमेकगुणकृष्णाद्विगुणकृष्णमित्यादि ४, बहुपरं बहुत्वेन परं बहुपरं यद्यस्माद्बहु तद्बहुपरं, तद्यथा—"जीवा पुग्गल समया दव्व पएसा य पज्जवा चेव । थोवाणंताणंता विसेसअहिया दुवेऽणंता ॥ १ ॥" तत्र जीवाः स्तोकाः तेभ्यः पुद्गला अनन्तगुणा इत्यादि ५, प्रधानपरं तु प्रधानत्वेन परः, द्विपदानां तीर्थकरः चतुष्पदानां सिंहादिः अपदानामर्जुनसुवर्णपनसादिः ६, एवं क्षेत्रकालभावपराण्यपि तत्परा-

आ. सू. ७०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिपड्डिधत्वेन क्षेत्रादिप्राधान्यतया पूर्ववत्स्वधिया योज्यानीति, सामान्येन तु जम्बूद्वीपक्षेत्रात्पुष्करादिकं क्षेत्रं परं, कालपरं तु प्रावृट्कालाच्छरत्कालः, भावपरमौदयिकादौपशमिकादिः ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

परकिरियं अज्झत्थियं संसेसियं नो तं सायए नो तं नियमे, सिया से परो पाए आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो पायाइं संबाहिज्ज वा पलिमद्दिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो पायाइं कुसिज्ज वा रइज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो पायाइं तिल्लेण वा घ० वसाए वा मक्खिज्ज वा अब्भिगिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो पायाइं लुद्धेण वा कक्केण वा चुन्नेण वा वण्णेण वा उल्लोढिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं २ । से सिया परो पायाइं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलिज्ज वा पहोलिज्ज वा नो तं० । से सिया परो पायाइं अन्नयरेण विलेवणजाएण आलिंपिज्ज वा विलिंपिज्ज वा नो तं० । से सिया परो पायाइं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा पधू० नो तं २ । से सिया परो पायाओ आणुयं वा कंटयं वा नीहरिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो तं० २ । से सिया परो पायाओ पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा विसो० नो तं० २ । से सिया परो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जिज्ज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो कायं लोट्टेण वा संबाहिज्ज वा पलिमद्दिज्ज वा नो तं० २ । से सिया परो कायं तिलेण वा घ० वसा० मक्खिज्ज वा अब्भंगिज्ज वा नो तं० २ । से सिया परो कायं लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ज वा उव्वलिज्ज वा नो तं० २ । से सिया परो कायं सीओ० उसिणो० उच्छोलिज्ज वा प० नो तं० २ । से सिया परो कायं अन्नयरेण विलेवणजाएण आलिंपिज्ज वा २ नो तं० २ । से० कायं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज्ज वा प० नो तं० २ । से० का-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७२]

दीप अनुक्रम [५०६]

यंसि वणं आमज्जिज्ज वा २ नो तं २ । से० वणं संवाहिज्ज वा पलि० नो तं० । से० वणं तिल्लेण वा घ० २ मक्खिज्ज वा अब्भं० नो तं० २ । से० वणं लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ज वा उव्वलेज्ज वा नो तं० २ । से सिया परो कायंसि वणं सीओ० उ० उच्छोलिज्ज वा प० नो तं० २ । से० सि वणं वा गंडं वा अरइं वा पुलयं वा भगंदलं वा अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदिज्ज वा विच्छिंदिज्ज वा नो तं० २ । से सिया परो अन्न० जाएण आच्छिंदित्ता वा विच्छिंदित्ता वा पूयं वा सोणियं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं० २ । से० कायंसि गंडं वा अरइं वा पुलइयं वा भगंदलं वा आमज्जिज्ज वा २ नो तं० २ । से० गंडं वा ४ संवाहिज्ज वा पलि० नो तं० २ । से० कायं० गंडं वा ४ तिल्लेण वा ३ मक्खिज्ज वा २ नो तं० २ । से० गंडं वा लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ज वा उ० नो तं० २ । से० गंडं वा ४ सीओदग २ उच्छोलिज्ज वा प० नो तं० २ । से० गंडं वा ४ अन्नयरेणं सत्थजाएणं अच्छिंदिज्ज वा वि० अन्न० सत्थ० अच्छिंदित्ता वा २ पूयं वा २ सोणियं वा नीह० विसो० नो तं साइए २ । से सिया परो कायंसि सेयं वा जल्लं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं० २ । से सिया परो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा नहम० नीहरिज्ज वा २ नो तं० २ । से सिया परो दीहाइं वालाइं दीहाइं वा रोमाइं दीहाइं भमुहाइं दीहाइं कक्खरोमाइं दीहाइं वत्थिरोमाइं कप्पिज्ज वा संठविज्ज वा नो तं० २ । से सिया परो सीसाओ लिक्खं वा जूयं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं० २ । से सिया परो अंकंसि वा पलियंकंसि वा तुयट्टावित्ता पायाइं आमज्जिज्ज वा पम०, एवं हिट्ठिमो गमो पायाइ भाणियव्वो । से सिया परो अंकंसि वा २ तुयट्टावित्ता हारं वा अद्धहारं वा उरत्थं वा गेवेयं वा मउडं वा पालंबं वा सुवन्नसुत्तं वा आविहिज्ज वा पिणहिज्ज वा नो तं० २ । से० परो आ-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रामंसि वा उज्जाणंसि वा नीहरित्ता वा पविसित्ता वा पायाइं आमज्जिज्ज वा प० नो तं साइए ॥ एवं नेयव्वा अन्नमन्नकिरियावि ॥ (सू० १७२)

पर–आत्मनो व्यतिरिक्तोऽन्यस्तस्य क्रिया–चेष्टा कायव्यापाररूपा तां परक्रियाम् 'आध्यात्मिकीम्' आत्मनि क्रियमाणां, पुनरपि विशिनष्टि—'सांश्लेषिकीं' कर्मसंश्लेषजननीं 'नो' नैव 'आस्वादयेत्' अभिलषेत्, मनसा न तत्राभिलाषं कुर्यादित्यर्थः, तथा न तां परक्रियां 'नियमयेत्' कारयेद्वाचा, नापि कायेनेति । तां च परक्रियां विशेषतो दर्शयति —'से' तस्य साधोर्निष्प्रतिकर्मशरीरस्य सः 'परः' अन्यो धर्मश्रद्धया पादौ रजोऽवगुण्ठितौ आमृज्यात् कर्षटादिना, वाशब्दस्तूत्तरपक्षापेक्षः, तन्नास्वादयेन्नापि नियमयेदिति, एवं स साधुस्तं परं पादौ संबाधयन्तं मर्दयन्तं वा स्पर्शयन्तं-रञ्जयन्तं, तथा तैलादिना म्रक्षयन्तमभ्यञ्जयन्तं वा, तथा लोध्रादिना उद्वर्त्तनादि कुर्वन्तं, तथा शीतोदकादिना उच्छोलनादि कुर्वाणं, तथाऽन्यतरेण सुगन्धिद्रव्येणालिम्पन्तं, तथा विशिष्टधूपेन धूपयन्तं, तथा पादात्कण्टकादिकमुद्धरन्तम्, एवं शोणितादिकं निस्सारयन्तं 'नास्वादयेत्' मनसा नाभिलषेत् नापि नियमयेत्—कारयेद्वाचा कायेनेति ॥ शेषाणि कायव्रणगतादीनि आरामप्रवेशनिष्क्रमणप्रमार्जनसूत्रं यावदुत्तानार्थानि ॥ एवममुमेवार्थमुत्तरसप्तकेऽपि तुल्यत्वात्सङ्क्षेपरुचिः सूत्रकारोऽतिदिशति—'एवम्' इति याः पूर्वोक्ताः क्रिया–रजःप्रमार्जनादिकास्ताः 'अन्योऽन्यं' परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योऽन्योऽन्यक्रियासप्तैकक इति ॥ किञ्च—

से सिया परो सुद्धेणं असुद्धेणं वा वइबलेण वा तेइच्छं आउट्टे से० असुद्धेणं वइबलेणं तेइच्छं आउट्टे ॥ से सिया परो गिलाणस्स

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सचित्ताणि वा कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि वा हरियाणि वा खणित्तु कड्ढित्तु वा कड्ढावित्तु वा तेइच्छं आउट्टाविज्ज नो तं सा० २ कडुवेयणा पाणभूयजीवसत्ता वेयणं वेइंति, एयं खलु० समिए सया जए सेयमिणं मन्निज्जासि (सू० १७३) त्तिबेमि ॥ छट्ठओ सत्तिक्कओ ॥ २–२–६ ॥

'से' तस्य साधोः स परः शुद्धेनाशुद्धेन वा 'वाग्बलेन' मन्त्रादिसामर्थ्येन 'चिकित्सां' व्याध्युपशमम् 'आउट्टे'त्ति कर्त्तुमभिलषेत्। तथा स परो ग्लानस्य साधोश्चिकित्सार्थं सचित्तानि कन्दमूलादीनि 'खनित्वा' समाकृष्य स्वतोऽन्येन वा खानयित्वा चिकित्सां कर्त्तुमभिलषेत् तच्च 'नास्वादयेत्' नाभिलषेन्मनसा, एतच्च भावयेत्–इह पूर्वकृतकर्मफलेश्वरा जीवाः कर्मविपाककृतकटुकवेदनाः कृत्वा परेषां शारीरमानसा वेदनाः स्वतः प्राणिभूतजीवसत्त्वास्तत्कर्मविपाकजां वेदनामनुभवन्तीति, उक्तञ्च—"पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तवायं, न खलु भवति नाशः कर्मणां सञ्चितानाम्। इति सहगणयित्वा यद्यदायाति सम्यक्, सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्ते ? ॥ १ ॥" शेषमुक्तार्थं यावदध्ययनपरिसमाप्तिरिति ॥ षष्ठमादितस्त्रयोदशं सप्तैककाध्ययनं समाप्तम् ॥ २–१–६–१३ ॥

अथ सप्तममन्योऽन्यक्रियाभिधमध्ययनम्। षष्ठानन्तरं सप्तमोऽस्य चायमभिसम्बन्धः–इहानन्तराध्ययने सामान्येन परक्रिया निषिद्धा, इह तु गच्छनिर्गतोद्देशेनान्योऽन्यक्रिया निषिध्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य नामनिष्पन्ने निक्षेपे अन्योऽन्यक्रियेति नाम, तत्रान्यस्य निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद् गाथापश्चार्द्धमाह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्र एक मुद्रण-दोष:, "२-१-६-१३," तस्य सुध्धि: - २-२-६/१३.(क्योंकि ये दूसरे श्रुतस्कंध की दूसरी चुडा का छट्ठा सप्तैकक है|)

द्वितीया चूलिकाया: सप्तमा सप्तसप्तिका- 'अन्योन्य क्रिया'-विषयक'

अन्ने छक्कं तं पुण तदन्नमाएसओ चेव ॥ ३२५ ॥

अन्यस्य नामादिषड्विधो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यान्यत्रिधा–तदन्यद् अन्यान्यद् आदेशान्यच्चेति द्रव्यपरवन्नेयमिति ॥ अत्र परक्रियायामन्योऽन्यक्रियायां च गच्छान्तर्गतैर्यतना कर्त्तव्येति, गच्छनिर्गतानां त्वेतया न प्रयोजनमिति दर्शयितुं निर्युक्तिकृदाह—

जयमाणस्स परो जं करेइ जयणाएँ तत्थ अहिगारो । निप्पडिकम्मस्स उ अन्नमन्नकरणं अजुत्तं तु ॥ ३२६ ॥

॥ सत्तिक्काणं निज्जुत्ती सम्मत्ता ॥

जयमाणस्सेत्यादि पातनिकयैव भावितार्था ॥ साम्प्रतं सूत्रं, तच्चेदम्—

से भिक्खू वा २ अन्नमन्नकिरियं अज्झत्थियं संसेइयं नो तं सायए २ ॥ से अन्नमन्नं पाए आमज्जिज्ज वा० नो तं०, सेसं तं चेव, एयं खलु० जइज्जासि (सू० १७४) त्तिबेमि ॥ सप्तमम् ॥ २–२–७ ॥

अन्योऽन्यस्य–परस्परस्य क्रियां–पादादिप्रमार्जनादिकां सर्वां पूर्वोक्तां क्रियाव्यतिहारविशेषितामाध्यात्मिकीं सांश्लेषिकीं नास्वादयेदित्यादि पूर्ववन्नेयं यावदध्ययनसमाप्तिरिति॥ सप्तममादितश्चतुर्दशं, सप्तैककाध्ययनं समाप्तं, द्वितीया च समाप्ता चूलिका ॥ २–२–७–१० ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथ भावनाख्या तृतीया चूलिका ।

उक्ता द्वितीया चूला, तदनन्तरं तृतीया समारभ्यते, अस्याश्चायमभिसम्बन्धः–इहादितः प्रभृति येन श्रीवर्द्धमानस्वामिनेदमर्थतोऽभिहितं तस्योपकारित्वात्तद्भक्तव्यतां प्रतिपादयितुं तथा पञ्चमहाव्रतोपेतेन साधुना पिण्डशय्यादिकं ग्राह्यमतस्तेषां महाव्रतानां परिपालनार्थं भावनाः प्रतिपाद्या इत्यनेन सम्बन्धेनायातेयं चूडेति, अस्याश्चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा–अप्रशस्तभावनापरित्यागेन प्रशस्ता भावना भावयितव्या इति, नामनिष्पन्ने निक्षेपे भावनेति नाम, तस्याश्च नामादि चतुर्विधो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह—

दव्वं गंधंगतिलाइएसु सीउण्हविसहणाईसु । भावंमि होइ दुविहा पसत्थ तह अप्पसत्था य ॥ ३२७ ॥

तत्र 'द्रव्य'मिति द्रव्यभावना नोआगमतो व्यतिरिक्ता गन्धाङ्गैः–जातिकुसुमादिभिर्द्रव्यैस्तिलादिषु द्रव्येषु या वासना सा द्रव्यभावनेति, तथा शीतेन भावितः शीतसहिष्णुरुष्णेन वा उष्णसहिष्णुर्भवतीति, आदिग्रहणाद्व्यायामक्षुण्णदेहो व्यायामसहिष्णुरित्याद्यन्येनापि द्रव्येण द्रव्यस्य या भावना सा द्रव्यभावनेति, भावे तु–भावविषया प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदेन द्विरूपा भावनेति ॥ तत्राप्रशस्तां भावभावनामधिकृत्याह—

पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव । कोहे माणे माया लोभे य हवंति अपसत्था ॥ ३२८ ॥

प्राणिवधाद्यकार्येषु प्रथमं प्रवर्त्तमानः साशङ्कः प्रवर्त्तते पश्चात्सौनःपुन्यकरणतया निशङ्कः प्रवर्त्तते, तदुक्तम्—"क-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तृतीया चूलिका- "भावना" आरब्धा:

रोत्पादौ तावत्सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं, द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते । तृतीयं निःशङ्को विगतघृणमन्यत्करुते, ततः पापाभ्यासात्सततमशुभेषु प्रमते ॥ १ ॥" ॥ प्रशस्तभावनामाह—

दंसणनाणचरित्ते तववेरग्गे य होइ उ पसत्था । जा य जहा ता य तहा लक्खण वुच्छं सलक्खणओ ॥३२९॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपोवैराग्यादिषु या यथा च प्रशस्तभावना भवति तां प्रत्येकं लक्षणतो वक्ष्य इति ॥ दर्शनभावनार्थमाह—

तित्थगराण भगवओ पवयणपावयणिअइसइड्ढीणं । अभिगमणनमणदरिसणकित्तणसंपूअणाथुणणा ॥ ३३० ॥

तीर्थकृतां भगवतां प्रवचनस्य–द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिनाम्–आचार्यादीनां युगप्रधानानां, तथाऽतिशयिनामृद्धिमतां–केवलिमनःपर्यायावधिमच्चतुर्दशपूर्वविदां तथाऽऽमर्षौषध्यादिप्राप्तऋद्धीनां यदभिगमनं गत्वा च दर्शनं तथा गुणोत्कीर्त्तनं संपूजनं गन्धादिना स्तोत्रैः स्तवनमित्यादिका दर्शनभावना, अनया हि दर्शनभावनयाऽनवरतं भाव्यमानया दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ किञ्च—

जम्माभिसेयनिक्खमणचरणनाणुप्पया य निव्वाणे । दियलोअभवणमंदरनंदीसरभोमनगरेसुं ॥ ३३१ ॥

अट्ठावयमुज्जिंते गयग्गपयए य धम्मचक्के य । पासरहावत्तनगं चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ३३२ ॥

तीर्थकृतां जन्मभूमिषु तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु तथा देवलोकभवनेषु मन्दरेषु तथा नन्दीश्वररुद्वीपादौ भौमेषु च–पातालभवनेषु यानि शाश्वतानि चैत्यानि तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथायामन्ते क्रियेति, एवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ 'गजाग्रपदे' दशार्णकूटवर्त्तिनि तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे तथा अहिच्छत्रायां

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने, एवं रथावर्त्ते पर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतं यत्र च श्रीमद्वर्द्धमानमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम्, एतेषु च स्थानेषु यथासम्भवमभिगमनवन्दनपूजनोत्कीर्त्तनादिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ किञ्च—

गणियं निमित्त जुत्ती संदिट्ठी अवितहं इमं नाणं । इय एगंतमुवगया गुणपच्चइया इमे अत्था ॥ ३३३ ॥
गुणमाहप्पं इसिनामकित्तणं सुरनरिंदपूया य । पोराणचेइयाणि य इय एसा दंसणे होइ ॥ ३३४ ॥

प्रवचनविदाममी गुणप्रत्ययिका अर्था भवन्ति, तद्यथा–गणितविषये–बीजगणितादौ परं पारमुपगतोऽयं, तथाऽष्टाङ्गस्य निमित्तस्य पारगोऽयं, तथा दृष्टिपातोक्ता नानाविधा युक्तीः–द्रव्यसंयोगान् हेतून्वा वेत्ति, तथा सम्यग्–अविपरीता दृष्टिः–दर्शनमस्य त्रिदशैरपि चालयितुमशक्या तथाऽवितथमस्येदं ज्ञानं यथैवायमाह तत्तथैवेत्येवं प्रावचनिकस्याचार्यादेः प्रशंसां कुर्वतो दर्शनविशुद्धिर्भवतीति, एवमन्यदपि गुणमाहात्म्यमाचार्यादेर्वर्णयतः तथा पूर्वमहर्षीणां च नामोत्कीर्त्तनं कुर्वतः तेषामेव च सुरनरेन्द्रपूजादिकं कथयतः तथा चिरन्तनचैत्यानि पूजयतः इत्येवमादिकां क्रियां कुर्वतस्तद्वासनावासितस्य दर्शनविशुद्धिर्भवतीत्येषा प्रशस्ता दर्शनविषया भावनेति ॥ ज्ञानभावनामधिकृत्याह—

तत्तं जीवाजीवा नायव्वा जाणणा इहं दिट्ठा । इह कज्जकरणकारगसिद्धी इह बंधमुक्खो य ॥ ३३५ ॥
बद्धो य बंधहेऊ बंधणबंधप्फलं सुकहियं तु । संसारपवंचोऽवि य इहयं कहिओ जिणवरेहिं ॥ ३३६ ॥
नाणं भविस्सई एवमाइया वायणाइयाओ य । सज्झाए आउत्तो गुरुकुलवासो य इय नाणे ॥ ३३७ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्र ज्ञानस्य भावना ज्ञानभावना–एवंभूतं मौनीन्द्रं ज्ञानं प्रवचनं यथाऽवस्थिताशेषपदार्थाविर्भावकमित्येवंरूपेति, अनया च प्रधानमोक्षाङ्गं सम्यक्त्वमाधिगमिकमाविर्भवति, यतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, तत्त्वं च जीवाजीवादयो नव पदार्थाः, ते च तत्त्वज्ञानार्थिना सम्यग् ज्ञातव्याः, तत्परिज्ञानमिहैव–आर्हते प्रवचने दृष्टम्–उपलब्धमिति, तथैव–आर्हते प्रवचने कार्यं–परमार्थरूपं मोक्षाख्यं तथा करणं–क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, कारकः–साधुः सम्यग्दर्शनाद्यनुष्ठाता, क्रियासिद्धिश्च–इहैव मोक्षावाप्तिलक्षणा, तामेव दर्शयति–बन्धः–कर्मबन्धनं तस्मान्मोक्षः–कर्मविचटनलक्षणः, असावपीहैव, नान्यत्र शाक्यादिकप्रवचने भवति, इत्येवं ज्ञानं भावयतो ज्ञानभावना भवतीति ॥ तथा 'बद्धः' अष्टप्रकारकर्मपुद्गलैः प्रतिप्रदेशमवष्टब्धो जीवः, तथा 'बन्धहेतवः' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः तथा बन्धनम्–अष्टप्रकारकर्मवर्गणारूपं तत्फलं–चतुर्गतिसंसारपर्यटनसातासाताद्यनुभवनरूपमिति, एतत्सर्वमत्रैव सुकथितम्, अन्यद्वा यत्किञ्चित्सुभाषितं तदिहैव प्रवचनेऽभिहितमिति ज्ञानभावना, तथा विचित्रसंसारप्रपञ्चोऽत्रैव जिनेन्द्रैः कथित इति ॥ तथा ज्ञानं मम विशिष्टतरं भविष्यतीति ज्ञानभावना विधेया, ज्ञानमभ्यसनीयमित्यर्थः, आदिग्रहणादेकाग्रचित्तादयो गुणा भवन्तीति, तथैतदपि ज्ञाने भावनीयं, यथा—"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ" इत्यादि, तथैभिश्च कारणैर्ज्ञानमभ्यसनीयं, तद्यथा–ज्ञानसङ्ग्रहार्थं निर्जरार्थम् अव्यवच्छित्त्यर्थं स्वाध्यायार्थमित्यादि, तथा ज्ञानभावनया नित्यं गुरुकुलवासो भवति, तथा चोक्तम्—"णाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥", इत्यादिका ज्ञानविषया भावना भवतीति ॥ चारित्रभावनामधिकृत्याह—

१ ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साहुमहिंसाधम्मो सच्चमदत्तविरई य बंभं च । साहु परिग्गहविरई साहु तवो बारसंगो य ॥ ३३८ ॥
वेरग्गमप्पमाओ एगत्ता (ग्गे) भावणा य परिसंगं । इय चरणमणुगयाओ भणिया इत्तो तवो वुच्छं ॥३३९॥

साधु–शोभनोऽहिंसादिलक्षणो धर्म इति प्रथमव्रतभावना, तथा सत्यमस्मिन्नेवार्हते प्रवचने साधु–शोभनं नान्यत्रेति द्वितीयव्रतस्य, तथाऽदत्तविरतिश्चात्रैव साध्वीति तृतीयस्य, एवं ब्रह्मचर्यमप्यत्रैव नवगुप्तिगुप्तं धार्यत इति, तथा परिग्रहविरतिश्चेहैव साध्वीति, एवं द्वादशाङ्गं तप इहैव शोभनं नान्यत्रेति ॥ तथा वैराग्यभावना–सांसारिकसुखजुगुप्सारूपा, एवमप्रमादभावना–मद्यादिप्रमादानां कर्मबन्धोपादानरूपाणामनासेवनरूपा, तथैकाग्रभावना—"एक्को मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसंजुओ । सेसा मे बहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १ ॥" इत्यादिका भावनाः (इति प्रकृष्टमृषित्वाङ्गं) 'चरणमुपगताः' चरणाश्रिताः, इत ऊर्ध्वं तपोभावनां 'वक्ष्ये' अभिधास्य इति ॥

किह मे हविज्जऽवंझो दिवसो? किं वा पहू तवं काउं?। को इह दव्वे जोगो खित्ते काले समयभावे? ॥३४०॥

'कथं' केन निर्विकृत्यादिना तपसा मम दिवसोऽवन्ध्यो भवेत्? कतरद्वा तपोऽहं विधातुं 'प्रभुः' शक्तः?, तच्च कतरत्तपः कस्मिन् द्रव्यादौ मम निर्वहति? इति भावनीयं, तत्र द्रव्ये उत्सर्गतो वल्लचणकादिके क्षेत्रे स्निग्धरूक्षादौ काले शीतोष्णादौ भावेऽग्लानोऽहमेवंभूतं तपः कर्तुमलम्, इत्येवं द्रव्यादिकं पर्यालोच्य यथाशक्ति तपो विधेयं "शक्तितस्त्यागतपसी" (तत्त्वार्थे अ०६ सू० २३ दर्शन०) इति वचनादिति ॥ किञ्च—

१ एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनसंयुतः । शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उच्छाहपालणाए इति (एव) तवे संजमे य संघयणे। वेरग्गेऽणिचाई होइ चरित्ते इहं पगयं ॥ ३४१ ॥

तथाऽनशनादिके तपस्यनिगूहितबलवीर्येणोत्साहः कर्त्तव्यः, गृहीतस्य च प्रतिपालनं कर्त्तव्यमिति, उक्तञ्च—"तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झिअव्वयधुवम्मि। अणिगूहिअबलविरिओ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥ १ ॥ किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं। होइ न उज्जमिअव्वं सपच्चवायंमि माणुस्से? ॥ २ ॥" इत्येवं तपसि भावना विधेया। एवं 'संयमे' इन्द्रियनोइन्द्रियनिग्रहरूपे, तथा 'संहनने' वज्रर्षभादिके तपोनिर्वाहनासमर्थे भावना विधेयेति, वैराग्यभावना त्वनित्यत्वादिभावनारूपा, तदुक्तम्—"भावयितव्यमनित्यत्व १ मशरणत्वं २ तथैकता ३ ऽन्यत्वे ४। अशुचित्वं ५ संसारः ६ कर्माश्रव ७ संवर ८ विधिश्च ॥ १ ॥ निर्जरण ९ लोकविस्तर १० धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ता च ११। बोधेः सुदुर्लभत्वं च १२ भावना द्वादश विशुद्धाः ॥ २ ॥" इत्यादिका अनेकप्रकारा भावना भवन्तीति, इह पुनश्चारित्रे प्रकृतं—चरित्रभावनयेहाधिकार इति ॥ निर्युक्त्यनुगमानन्तरं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि हुत्था, तंजहा—हत्थुत्तराइं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए हत्थुत्तराहिं जाए हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए हत्थुत्तराहिं कसिणे पडिपुन्ने अव्वाघाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, साइणा भगवं परिनिव्वुए। (सू० १७५)

१ तीर्थकरश्चतुर्ज्ञानी सुरमहितो ध्रुवे सेधितव्ये। अनिगूहितबलवीर्यः सर्वस्थान्नोद्यच्छति ॥ १ ॥ किं पुनरवशेषैर्दुःखक्षयकारणात् सुविहितैः। भवति नोद्यमितव्यं सप्रत्यपाये मानुष्ये ॥ २ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७६]

दीप अनुक्रम [५१०]



समणे भगवं महावीरे इमाए ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए वीइक्कंताए सुसमाए समाए वीइक्कंताए सुसमदुस्समाए समाए वीइक्कंताए दूसमसुसमाए समाए बहु विइक्कंताए पन्नहत्तरीए वासेहिं मासेहि य अद्धनवमेहिं सेसेहिं जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं महाविजयसिद्धत्थपुप्फुत्तरवरपुंडरीयदिसासोवत्थियवद्धमाणाओ महाविमाणाओ वीसं सागरोवमाइं आउयं पालइत्ता आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं चुए चइत्ता इह खलु जंबुदीवे णं दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढभरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंमि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरस्स गुत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिंसि गब्भं वक्कंते, समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि हुत्था, चइस्सामित्ति जाणइ चुएमित्ति जाणइ चयमाणे न याणेइ, सुहुमे णं से काले पन्नत्ते, तओ णं समणे भगवं महावीरे हियाणुकंपएणं देवेणं जीयमेयंतिकट्टु जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले तस्स णं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं बासीहिं राइंदिएहिं वइक्कंतेहिं तेसीइमस्स राइंदियस्स परियाए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसाओ उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करित्ता सुभाणं पुग्गलाणं पक्खेवं करित्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरइ, जेवि य से तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे तंपि य दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंसि उस० को० देवा० जालंधरायणगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भं साहरइ, समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि होत्था—साहरिज्जिस्सामित्ति जाणइ साहरिज्जमाणे न याणइ साह-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रिएमित्ति जाणइ समणाउसो!। तेणं कालेणं तेणं समएणं तिसलाए खत्तियाणीए अहऽन्नया कयाई नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं वीइक्कंताणं जे से गिम्हाणं पढमे मासे दुचे पक्खे चित्तसुद्धे तस्स णं चित्तसुद्धस्स तेरसीपक्खेणं हत्थु० जोग० समणं भगवं महावीरं अरोग्गा अरोग्गं पसूया । जण्णं राइं तिसलाख० समणं० महावीरं अरोया अरोयं पसूया तण्णं राइं भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहिं देवीहि य उवयंतेहिं उप्पयंतेहि य एगे महं दिव्वे देवुज्जोए देवसन्निवाए देवकहकहए उप्पिंजलगभूए यावि हुत्था । जण्णं रयणिं० तिसलाख० समणं० पसूया तण्णं रयणिं बहवे देवा य देवीओ य एगं महं अभयवासं च १ गंधवासं च २ चुन्नवासं च ३ पुप्फवा० ४ हिरन्नवासं च ५ रयणवासं च ६ वासिंसु, जण्णं रयणिं तिसलाख० समणं० पसूया तण्णं रयणिं भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो देवा य देवीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सूइकम्माइं तित्थयराभिसेयं च करिंसु, जओ णं पभिइ भगवं महावीरे तिसलाए ख० कुच्छिंसि गब्भं आगए तओ णं पभिइ तं कुलं विपुलेणं हिरन्नेणं सुवन्नेणं धणेणं धन्नेणं माणिक्केणं मुत्तिएणं संखसिलप्पवालेणं अईव २ परिवड्ढइ, तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो एयमट्ठं जाणित्ता निव्वत्तदसाहंसि वुक्कंतंसि सुइभूयंसि विपुलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडावेंति २ त्ता मित्तनाइसयणसंबंधिवग्गं उवनिमंतेंति मित्त० उवनिमंतित्ता बहवे समणमाहणकिवणवणीमगाहिं भिच्छुंडगपंडरगाईण विच्छड्डुंति विग्गोवेंति विस्साणेंति दायारेसु दाणं पज्जभाइंति विच्छड्डित्ता विग्गो० विस्साणित्ता दाया० पज्जभाइत्ता मित्तनाइ० भुंजावेंति मित्त० भुंजावित्ता मित्त० वग्गेण इममेयारूवं नामधिज्जं कारवेंति—जओ णं पभिइ इमे कुमारे ति० ख० कुच्छिंसि गब्भे आहूए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तओ णं पभिइ इमं कुलं विपुलेणं हिरन्नेणं० संखसिलप्पवालेणं अतीव २ परिवड्ढइ ता होउ णं कुमारे वद्धमाणे, तओ णं समणे भगवं महावीरे पंचधाइपरिवुडे, तं०—खीरधाईए १ मज्जणधाईए २ मंडणधाईए ३ खेलावणधाइए ४ अंकधा० ५ अंकाओ अंकं साहरिज्जमाणे रम्मे मणिकुट्टिमतले गिरिकंदरसमुल्लीणेविव चंपयपायवे अहाणुपुव्वीए संवड्ढइ, तओ णं समणे भगवं० विन्नायपरिणय (मित्ते) विणियत्तबालभावे अप्पुस्सुयाइं उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सद्फरिस-रसरूवगंधाइं परियारेमाणे एवं च णं विहरइ। (सू० १७६)। समणे भगवं महावीरे कासवगुत्ते तस्स णं इमे तिन्नि नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा—अम्मापिउसंति वद्धमाणे १ सहसंमुइए समणे २ भीमं भयभेरवं उरालं अचेलयं परीसह—सहत्तिकट्टु देवेहिं से नामं कयं समणे भगवं महावीरे ३, समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पिया कासवगुत्तेणं तस्स णं तिन्नि नाम० तं०—सिद्धत्थे इ वा सिज्जंसे इ वा जसंसे इ वा, समणस्स णं० अम्मा वासिट्ठस्सगुत्ता तीसे णं तिन्नि ना०, तं०—तिसला इ वा विदेहदिन्ना इ वा पियकारिणी इ वा, समणस्स णं भ० पित्तिअए सुपासे कासवगुत्तेणं, समण० जिट्ठे भाया नंदिवद्धणे कासवगुत्तेणं, समणस्स णं जेट्ठा भइणी सुदंसणा कासवगुत्तेणं, समणस्स णं भग० भज्जा जसोया कोडि-न्नागुत्तेणं, समणस्स णं० धूया कासवगोत्तेणं तीसे णं दो नामधिज्जा एवमा०—अणुज्जा इ वा पियदंसणा इ वा, समणस्स णं भ० नत्तूई कोसिया गुत्तेणं तीसे णं दो नाम० तं०—सेसवई इ वा जसवई इ वा, (सू० १७७)। समणस्स णं० ३ अम्मा-पियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि हुत्था, ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निंदित्ता गरिहित्ता पडिक्कमित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्जित्ता कुससंथारगं दुरू-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हित्ता भत्तं पच्चक्खायंति २ अपच्छिमाए मारणंतियाए संलेहणासरीरए झुसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्प-जहित्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना, तओ णं आउक्खएणं भव० ठि० चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिज्झिस्संति बुज्झिस्संति मुच्चिस्संति परिनिव्वाइस्संति सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति (सू० १७८)। तेणं कालेणं २ समणे भ० नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसित्तिकट्टु अगारमज्झे वसित्ता अम्मापिऊहिं कालगएहिं देवलोगमणुपत्तेहिं समत्तपइन्ने चिच्चा हिरन्नं चिच्चा सुवन्नं चिच्चा बलं चिच्चा वाहणं चिच्चा धण-कणगरयणसंतसारसावइज्जं विच्छड्डित्ता विग्गोवित्ता विस्साणित्ता दायारेसु णं दाइत्ता परिभाइत्ता संवच्छरं दलइत्ता जे से हेमं-ताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं हत्थुत्तरा० जोग० अभिनिक्ख-मणाभिप्पाए यावि हुत्था,—संवच्छरेण होहिइ अभिनिक्खमणं तु जिणवरिंदस्स। तो अत्थसंपयाणं पवत्तई पुव्वसूराओ ॥१॥ एगा हिरन्नकोडी अट्ठेव अणूणगा सयसहस्सा । सूरोदयमाईयं दिज्जइ जा पायरासुत्ति ॥ २ ॥ तिन्नेव य कोडिसया अ-ट्ठासीइं च हुंति कोडीओ। असिइं च सयसहस्सा एयं संवच्छरे दिन्नं ॥ ३ ॥ वेसमणकुंडधारी देवा लोगंतिया महि-ड्ढीया। बोहिंति य तित्थयरं पन्नरससु कम्मभूमीसु ॥ ४ ॥ बंभंमि य कप्पंमी बोद्धव्वा कण्हराइणो मज्झे। लोगं-तिया विमाणा अट्ठसु वत्था असंखिज्जा ॥ ५ ॥ एए देवनिकाया भगवं बोहिंति जिणवरं वीरं । सव्वजगजीवहियं अ-रिहं ! तित्थं पवत्तेहि ॥ ६ ॥ तओ णं समणस्स भ० म० अभिनिक्खमणाभिप्पायं जाणित्ता भवणवइवा०जो०विमा-णवासिणो देवा य देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं सएहिं २ नेवत्थेहिं सए० २ चिंधेहिं सव्विड्ढीए सव्वजुईए सव्वबल-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समुदएणं सयाइं २ जाणविमाणाइं दुरूहंति सया० दुरूहित्ता अहावायराइं पुग्गलाइं परिसाडंति २ अहासुहुमाइं पुग्गलाइं परियाइंति २ उड्ढं उप्पयंति उड्ढं उप्पइत्ता ताए उक्किट्ठाए सिग्घाए चवलाए तुरियाए दिव्वाए देवगईए अहे णं ओवयमाणा २ तिरिएणं असंखिज्जाइंदीवसमुद्दाइं वीइक्कममाणा २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे तेणेव उवागच्छंति २ जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसे तेणेव उवागच्छंति, उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए तेणेव झत्ति वेगेण ओवइया, तओ णं सक्के देविंदे देवराया सणियं २ जाणविमाणं पट्ठवेति सणियं २ जाणविमाणं पट्ठवेत्ता सणियं २ जाणविमाणाओ पच्चोरुहइ सणियं २ एगंतमवक्कमइ एगंतमवक्कमित्ता महया वेउव्विएणं समुग्घाएणं समोहणइ २ एगं महं नाणामणिकणगरयणभत्तिचित्तं सुभं चारु कंतरूवं देवच्छंदयं विउव्वइ, तस्स णं देवच्छंदयस्स बहुमज्झदेसभाए एगं महं सपायपीढं नाणामणिकणयरयणभत्तिचित्तं सुभं चारुकंतरूवं सीहासणं विउव्वइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ समणं भगवं महावीरं गहाय जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छइ सणियं २ पुरत्थाभिमुहं सीहासणे निसीयावेइ सणियं २ निसीयावित्ता सयपागसहस्सपागेहिं तिलेहि अब्भंगेइ गंधकासाईएहिं उल्लोलेइ २ सुद्धोदएण मज्जावेइ २ जस्स णं मुल्लं सयसहस्सेणं तिपडोलतित्तिएणं साहिएणं सीतेण गोसीसरत्तचंदणेणं अणुलिंपइ २ ईसिं निस्सासवायवोज्झं वरनयरपट्टणुग्गयं कुसलनरपसंसियं अस्सलालापेलवं छेयारियकणगखइयंतकम्मं हंसलक्खणं पट्टजुयलं नियंसावेइ २ हारं अद्धहारं उरत्थं नेवत्थं एगावलिं पालंबसुत्तं पट्टमउडरयणमालाउ आविंधावेइ आविंधावित्ता गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मल्लेणं कप्परुक्खमिव समलंकरेइ २ त्ता दुचंपि महया वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ २ एगं महं चंदप्पहं सिबियं सहस्सवाहणियं विउव्वति, तंजहा—ईहामिगउसभतुरगनरमकरविहगवानरकुंजररुरुसरभचमरसद्दूलसीहवणलयभत्तिचित्तलयविज्जाहरमिहुणजुयलजंतजोगजुत्तं अच्चीसहस्समालिणीयं सुनिरूवियं मिसिमिसिंतरूवगसहस्सकलियं ईसिं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं मुत्ताहलमुत्ताजालंतरोवियं तवणीयपवरलंबूसपलंबंतमुत्तदामं हारद्धहारभूसणसमोणयं अहियपिच्छणिज्जं पउमलयभत्तिचित्तं असोगलयभत्तिचित्तं कुंदलयभत्तिचित्तं नाणालयभत्ति० विरइयं सुभं चारुकंतरूवं नाणामणिपंचवन्नघंटापडायपडिमंडियग्गसिहरं पासाईयं दरिसणिज्जं सुरूवं,—सीया उवणीया जिणवरस्स जरमरणविप्पमुक्कस्स । ओसत्तमल्लदामा जलथलयदिव्वकुसुमेहिं ॥ १ ॥ सिबियाइ मज्झयारे दिव्वं वररयणरूवचिंचइयं । सीहासणं महरिहं सपायपीढं जिणवरस्स ॥ २ ॥ आलइयमालमउडो भासुरबुंदी वराभरणधारी । खोमियवत्थनियत्थो जस्स य मुहं सयसहस्सं ॥ ३ ॥ छट्ठेण उ भत्तेणं अज्झवसाणेण सुंदरेण जिणो । लेसाहिं विसुज्झंतो आरुहई उत्तमं सीयं ॥ ४ ॥ सीहासणे निविट्ठो सक्कीसाणा य दोहि पासेहिं । वीयंति चामराहिं मणिरयणविचित्तदंडाहिं ॥ ५ ॥ पुव्विं उक्खित्ता माणुसेहिं साहट्टु रोमकूवेहिं । पच्छा वहंति देवा सुरअसुरा गरुलनागिंदा ॥ ६ ॥ पुरओ सुरा वहंती असुरा पुण दाहिणंमि पासंमि । अवरे वहंति गरुला नागा पुण उत्तरे पासे ॥ ७ ॥ वणसंडं व कुसुमियं पउमसरो वा जहा सरयकाले । सोहइ कुसुमभरेणं इय गगणयलं सुरगणेहिं ॥ ८ ॥ सिद्धत्थवणं व जहा कणयारवणं व चंपयवणं वा । सोहइ कु० ॥ ९ ॥ वरपडहभेरिझल्लरिसंखसयसहस्सिएहिं तूरेहिं । गयणयले धरणियले तूरनिनाओ परमरम्मो ॥ १० ॥ ततवितते घणझु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिरं आउज्जं चउव्विहं बहुविहीयं । वाइंति तत्थ देवा बहूहिं आनट्टगसएहिं ॥ ११ ॥ तेणं कालेणं तेणं समएणं जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तरानक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए बिइयाए पोरिसीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं एगसाडगमायाए चंदप्पभाए सिबियाए सहस्सवाहिणियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणिज्जमाणे उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निगच्छइ २ जेणेव नायसंडे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ २ ईसिं रयणिप्पमाणं अच्छोप्पेणं भूमिभाएणं सणियं २ चंदप्पभं सिबियं सहस्सवाहिणिं ठवेइ २ सणियं २ चंदप्पभाओ सीयाओ सहस्सवाहिणीओ पच्चोयरइ २ सणियं २ पुरत्थाभिमुहे सीहासणे निसीयइ आभरणालंकारं ओमुअइ, तओ णं वेसमणे देवे भत्तुव्वायपडिओ भगवओ महावीरस्स हंसलक्खणेणं पडेणं आभरणालंकारं पडिच्छइ, तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, तओ णं सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स जन्नवायपडिए वइरामएणं थालेण केसाइं पडिच्छइ २ अणुजाणेसि भंतेत्तिकट्टु खीरोयसागरं साहरइ, तओ णं समणे जाव लोयं करित्ता सिद्धाणं नमुक्कारं करेइ २ सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मंतिकट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ २ देवपरिसं च मणुयपरिसं च आलिक्खचित्तभूयमिव ठवेइ—दिव्वो मणुस्सघोसो तुरियनिनाओ य सक्कवयणेणं । खिप्पामेव निलुक्को जाहे पडिवज्जइ चरित्तं ॥ १ ॥ पडिवज्जित्तु चरित्तं अहोनिसं सव्वपाणभूयहियं । साहट्टु लोमपुलया सव्वे देवा निसामिंति ॥ २ ॥ तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सामाइयं खओवसमियं चरित्तं पडिवन्नस्स मणपज्जवनाणे नामं नाणे समुप्पन्ने अड्ढाइज्जेहिं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दीवेहिं दोहि य समुद्देहिं सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं वियत्तमणसाणं मणोगयाइं भावाइं जाणेइ। तओ णं समणे भगवं महावीरे पव्वइए समाणे मित्तनाइं सयणसंबंधिवग्गं पडिविसज्जेइ, २ इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—बारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति, तंजहा—दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहिआसइस्सामि, तओ णं स० भ० महावीरे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हित्ता वोसिट्ठचत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कुम्मारगामं समणुपत्ते, तओ णं स० भ० म० वोसिट्ठचत्तदेहे अणुत्तरेणं आलएणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं बंभचेरवासेणं खंतीए मुत्तीए समिईए गुत्तीए तुट्टीए ठाणेणं कमेणं सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, एवं वा विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जंति–दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अदीणमाणसे तिविहमणवयणकायगुत्ते सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ, तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारस वासा वीइक्कंता तेरसमस्स य वासस्स परियाए वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दुच्चे मासे चउत्थे पक्खे वइसाहसुद्धे तस्स णं वेसाहसुद्धस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए वियत्ताए पोरिसीए जंभियगामस्स नगरस्स बहिया नईए उज्जुवालियाए उत्तरकूले सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणंसि उड्ढंजाणूअहोसिरस्स झाणकोट्ठोवगयस्स वेयावत्तस्स चेइयस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सालरुक्खस्स अदूरसामंते उक्कुडुयस्स गोदोहियाए आयावणाए आयावेमाणस्स छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं सुक्कज्झाणं-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रत सूत्रांक [१७९]

दीप अनुक्रम [५१३... ५४०]

तरियाए वट्टमाणस्स निव्वाणे कसिणे पडिपुन्ने अव्वाहए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ, तं०—आगइं गइं ठिइं चयणं उववायं भुत्तं पीयं कडं पडिसेवियं आविकम्मं रहोकम्मं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ, जण्णं दिवसं समणस्स भगवओ महावीरस्स निव्वाणे कसिणे जाव समुप्पन्ने तण्णं दिवसं भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहि य देवीहि य उवयंतेहिं जाव उप्पिंजलगब्भूए यावि हुत्था, तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्नवरनाणदंसणधरे अप्पाणं च लोगं च अभिसमिक्ख पुव्वं देवाणं धम्ममाइक्खइ, ततो पच्छा मणुस्साणं, तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्ननाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं पंच महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकाया आतिक्खति भासइ परूवेइ, तं—पुढविकाए जाव तसकाए, पढमं भंते ! महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा ३ जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थिमा पढमा भावणा—

'तेणं कालेण'मित्यादि 'तेन कालेन' इति दुष्षमसुषमादिना 'तेन समयेन' इति विवक्षितेन विशिष्टेन कालेन सतोत्पत्त्यादिकमभूदिति सम्बन्धः, तत्र 'पंचहत्थुत्तरे यावि हुत्था' इत्येवमादिना 'आरोग्गा आरोग्गं पसूय'त्ति, इत्येवमन्तेन ग्रन्थेन भगवतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनो विमानच्यवनं ब्राह्मणीगर्भाधानं ततः शक्रादेशान्त्रिशलागर्भसंहरणमुत्पत्तिश्चाभिहिता, 'तत्थ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पंचहत्थुत्तरेहिं होत्थ'त्ति हस्त उत्तरो यासामुत्तरफाल्गुनीनां ता हस्तोत्तराः, ताश्च पञ्चसु स्थानेषु–गर्भाधानसंहरणजन्मदीक्षाज्ञानोत्पत्तिरूपेषु संवृत्ता अतः पञ्चहस्तोत्तरो भगवानभूदिति, 'चवमाणे ण जाणइ'त्ति आन्तर्मुहूर्त्तिकत्वाच्छद्मस्थोपयोगस्य च्यवनकालस्य च सूक्ष्मत्वादिति, तथा 'जण्णं रयणी अरोया अरोयं पसूयन्ती'त्येवमादिना 'उप्पन्ननाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं निग्गंथाणं पञ्च महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकायाइं आइक्खई'त्येवमन्तेन ग्रन्थेन भगवतो वीरवर्द्धमानस्वामिनो जातकर्माभिषेकसंवर्द्धनदीक्षाकेवलज्ञानोत्पत्तयोऽभिहिताः, प्रकटार्थं च सर्वमपि सूत्रं, साम्प्रतमुत्पन्नज्ञानेन भगवता पञ्चानां महाव्रतानां प्राणातिपातविरमणादीनां प्रत्येकं याः पञ्च पञ्च भावनाः प्ररूपितास्ता व्याख्यायन्ते, तत्र प्रथममहाव्रतभावनाः पञ्च, तत्र प्रथमां तावदाह—

इरियासमिए से निग्गंथे नो अणइरियासमिएत्ति, केवली बूया०–अणइरियासमिए से निग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्ज वा वत्तिज्ज वा परियाविज्ज वा लेसिज्ज वा उद्दविज्ज वा, इरियासमिए से निग्गंथे नो इरियाअसमिइत्ति पढमा भावणा १ । अहावरा दुच्चा भावणा–मणं परियाणइ से निग्गंथे, जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे अहिगरणिए पाउसिए पारियाविए पाणाइवाइए भूओवघाइए, तहप्पगारं मणं नो पधारिज्जा गमणाए, मणं परिजाणइ से निग्गंथे, जे य मणे अपावएत्ति दुच्चा भावणा २ । अहावरा तच्चा भावणा–वइं परिजाणइ से निग्गंथे, जा य वई पाविया सावज्जा सकिरिया जाव भूओवघाइया तहप्पगारं वइं नो उच्चारिज्जा, जे वइं परिजाणइ से निग्गंथे, जाव वइ अपावियत्ति तच्चा भावणा ३ । अहावरा चउत्था भावणा–आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे, नो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणायाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए, केवली बूया०—आयाणभंडमत्तनिक्खेवणाअसमिए से निग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्जा वा जाव उद्दविज्ज वा, तम्हा आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे, नो आयाणभंडनिक्खेवणाअसमिएत्ति चउत्था भावणा ४ । अहावरा पंचमा भावणा—आलोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणालोइयपाणभोयणभोई, केवली बूया०—अणालोईयपाणभोयणभोई से निग्गंथे पाणाणि वा ४ अभिहणिज्ज वा जाव उद्दविज्ज वा, तम्हा आलोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणालोईयपाणभोयणभोईत्ति पंचमा भावणा ५ । एयावता महव्वए सम्मं काएण फासिए पालिए तीरिए किट्टिए अवट्ठिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ॥ अहावरं दुच्चं महव्वयं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं वइदोसं, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं भासिज्जा नेवन्नेणं मुसं भासाविज्जा अन्नंपि मुसं भासंतं न समणुमन्निज्जा तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति—तत्थिमा पढमा भावणा—अणुवीइभासी से निग्गंथे नो अणणुवीइभासी, केवली बूया०—अणणुवीइभासी से निग्गंथे समावज्जिज्ज मोसं वयणाए, अणुवीइभासी से निग्गंथे नो अणणुवीइभासित्ति पढमा भावणा । अहावरा दुच्चा भावणा—कोहं परियाणइ से निग्गंथे नो कोहणे सिया, केवली बूया—कोहप्पत्ते कोहत्तं समावइज्जा मोसं वयणाए, कोहं परियाणइ से निग्गंथे न य कोहणे सियत्ति दुच्चा भावणा । अहावरा तच्चा भावणा—लोभं परियाणइ से निग्गंथे नो अ लोभणए सिया, केवली बूया—लोभपत्ते लोभी समावइज्जा मोसं वयणाए, लोभं परियाणइ से निग्गंथे नो य लोभणए सियत्ति तच्चा भावणा । अहावरा चउत्था भावणा—भयं परिजाणइ से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निग्गंथे नो भयभीरुए सिया, केवली बूया–भयपत्ते भीरू समावइज्जा मोसं वयणाए, भयं परिजाणइ से निग्गंथे नो भयभीरुए सिया चउत्था भावणा ४। अहावरा पंचमा भावणा–हासं परियाणइ से निग्गंथे नो य हासणए सिया, केव० हासपत्ते हासी समावइज्जा मोसं वयणाए, हासे परियाणइ से निग्गंथे नो हासणए सियत्ति पंचमी भावणा ५। एतावता दोच्चे महव्वए सम्मं काएण फासिए जाव आणाए आराहिए यावि भवइ दुच्चे भंते! महव्वए॥ अहावरं तच्चं भंते! महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं अदिन्नादाणं, से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं अन्नंपि गिण्हंतं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थिमा पढमा भावणा–अणुवीइ मिउग्गहं जाई से निग्गंथे नो अणणुवीइमिउग्गहं जाई से निग्गंथे, केवली बूया–अणणुवीइ मिउग्गहं जाई निग्गंथे अदिन्नं गिण्हेज्जा, अणुवीइ मिउग्गहं जाई से निग्गंथे नो अणणुवीइ मिउग्गहं जाइत्ति पढमा भावणा १। अहावरा दुच्चा भावणा–अणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणणुन्नविअ पाणभोयणभोई, केवली बूया–अणणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्जा, तम्हा अणुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणणुन्नविय पाणभोयणभोईत्ति दुच्चा भावणा २। अहावरा तच्चा भावणा–निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया–निग्गंथेणं उग्गहंसि अणुग्गहियंसि एतावता अणुग्गहणसीले अदिन्नं ओगिण्हिज्जा, निग्गंथेणं उग्गहं उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलएत्ति तच्चा भावणा। अहावरा चउत्था भावणा–निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया–निग्गंथेणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



उग्गहंसि उ अभिक्खणं २ अणुग्गहणसीले अदिन्नं गिण्हिज्जा, निग्गंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलएत्ति चउत्था भावणा। अहावरा पंचमा भावणा–अणुवीइ मिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु, नो अणणुवीई मिउग्गहजाई, केवली बूया—अणणुवीइ मिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु अदिन्नं उगिण्हिज्जा अणुवीइमिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु नो अणणुवीइमिउग्गहजाती इइ पंचमा भावणा, एतावया तच्चे महव्वए सम्मं० जाव आणाए आराहए यावि भवइ, तच्चं भंते! महव्वयं ॥ अहावरं चउत्थं महव्वयं पच्चक्खामि सव्वं मेहुणं, से दिव्वं वा माणुस्सं वा तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं गच्छेज्जा तं चेवं अदिन्नादाणवत्तव्वया भाणियव्वा जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थिमा पढमा भावणा—नो निग्गंथे अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहित्तए सिया, केवली बूया—निग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, नो निग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहित्तए सियत्ति पढमा भावणा १। अहावरा दुच्चा भावणा—नो निग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए निज्झाइत्तए सिया, केवली बूया–निग्गंथे णं इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोएमाणे निज्झाएमाणे संतिभेया संतिविभंगा जाव धम्माओ भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीणं मणोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए निज्झाइत्तए सियत्ति दुच्चा भावणा २। अहावरा तच्चा भावणा—नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए सिया, केवली बूया—निग्गंथे णं इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सियत्ति तच्चा भावणा ३। अहावरा चउत्था भावणा—नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे न पणीयर-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सभोयणभोई से निग्गंथे, केवली बूया—अइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे पणियरसभोयणभोई संतिभेया जाव भंसिज्जा, नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो पणीयरसभोयणभोइत्ति चउत्था भावणा ४ । अहावरा पंचमा भावणा—नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया, केवली बूया—निग्गंथे णं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवेमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सियत्ति पंचमा भावणा ५, एतावया चउत्थे महव्वए सम्मं काएण फासेइ जाव आराहिए यावि भवइ, चउत्थं भंते! महव्वयं ॥ अहावरं पंचमं भंते! महव्वयं सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतमचित्तं वा नेव सयं परिग्गहं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं गिण्हाविज्जा अन्नंपि परग्गहं गिण्हंतं न समणुजाणिज्जा जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति, तत्थिमा पढमा भावणा—सोयओ णं जीवे [मणुन्ना]मणुन्नाइं सद्दाइं सुणेइ मणुन्नामणुन्नेहिं सद्देहिं नो सज्जिज्जा नो रज्जिज्जा नो गिज्झेज्जा नो मुज्झि(च्छे)ज्जा नो अज्झोववज्जिज्जा नो विणिघायमावज्जेज्जा, केवली बूया—निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं सद्देहिं सज्जमाणे रज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा, न सक्का न सोउ सद्दा, सोतविसयमागया । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥ सोयओ जीवे मणुन्नामणुन्नाइं सद्दाइं सुणेइ पढमा भावणा १ । अहावरा दुच्चा भावणा—चक्खूओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं रूवाइं पासइ मणुन्नामणुन्नेहिं रूवेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा,—न सक्का रूवमद्दट्ठु, चक्खुविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥ चक्खूओ जीवो मणुन्ना २ रूवाइं पासइ, दुच्चा भावणा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहावरा तच्चा भावणा—घाणओ जीवे मणुन्ना २ इं गंधाइं अग्घायइ मणुन्नामणुन्नेहिं गंधेहिं नो सज्जिज्जा नो रज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा केवली बूया—मणुन्नामणुन्नेहिं गंधेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा,—न सक्का गंधमग्घाउं, नासाविसयमागयं । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥ घाणओ जीवो मणुन्ना २ इं गंधाइं अग्घायइत्ति तच्चा भावणा ३ । अहावरा चउत्था भावणा—जिब्भाओ जीवो मणुन्ना २ इं रसाइं अस्साएइ, मणुन्नामणुन्नेहिं रसेहिं नो सज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया—निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं रसेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा,—न सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं । रागद्दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥ १ ॥ जीहाओ जीवो मणुन्ना२इं रसाइं अस्साएइत्ति चउत्था भावणा ४ । अहावरा पंचमा भावणा—फासओ जीवो मणुन्ना २ इं फासाइं पडिसेवेएइ मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं नो सज्जिज्जा जाव नो विणिघायमावज्जिज्जा, केवली बूया—निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं सज्जमाणे जाव विणिघायमावज्जमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज्जा,—न सक्का फासमवेएउं, फासविसयमागयं । रागद्दोसा० ॥ १ ॥ फासओ जीवो मणुन्ना २ इं फासाइं पडिसंवेएति पंचमा भावणा ५ । एतावता पंचमे महव्वते सम्मं अवट्ठिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पंचमं भंते ! महव्वयं । इच्चेएहिं पंचमहव्वएहिं पणवीसाहि य भावणाहिं संपन्ने अणगारे अहासुयं अहाकप्पं अहामग्गं-सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आणाए आराहित्ता यावि भवइ ॥ (सू० १७९) **भावनाऽध्ययनम् ॥ २–३ ॥**

'इरिया समिए' इत्यादि, ईरणं गमनमीर्या तस्यां समितो–दत्तावधानः पुरतो युगमात्रभूभागन्यस्तदृष्टिगामीत्यर्थः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न त्वसमितो भवेत्, किमिति ?, यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतद्, गमनक्रियायामसमितो हि प्राणिनः 'अभिहन्यात्' पादेन ताडयेत्, तथा 'वर्त्तयेत्' अन्यत्र पातयेत्, तथा 'परितापयेत्' पीडामुत्पादयेत्, 'अपद्रापयेद्वा' जीविताद्व्यपरोपयेदित्यत ईर्यासमितेन भवितव्यमिति प्रथमा भावना, द्वितीयभावनायां तु मनसा दुष्प्रणिहितेन न भाव्यं, तदर्शयति–यन्मनः 'पापकं' सावद्यं सक्रियम् 'अण्हयकरं'ति कर्माश्रवकारि, तथा छेदनभेदनकरं अधिकरणकरं कलहकरं प्रकृष्टदोषं प्रदोषिकं तथा प्राणिनां परितापकारीत्यादि न विधेयमिति, अथापरा तृतीया भावना–दुष्प्रसक्ता या वाक् प्राणिनामपकारिणी सा नाभिधातव्येति तात्पर्यार्थः, तथा चतुर्थी भावना–आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिः, तत्र च निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन भवितव्यमिति, तथाऽपरा पञ्चमी भावना—'आलोकितं' प्रत्युपेक्षितमशनादि भोक्तव्यं, तदकरणे दोषसम्भवादिति, इत्येवं पञ्चभिर्भावनाभिः प्रथमं व्रतं स्पर्शितं पालितं तीर्णं कीर्त्तितमवस्थितमाज्ञयाऽऽराधितं भवतीति । द्वितीयव्रतभावनामाह, तत्र प्रथमेयम्–अनुविचिन्त्यभाषिणा भवितव्यं, तदकरणे दोष सम्भवात्, द्वितीय भावनायां तु क्रोधः सदा परित्याज्यो, यतः क्रोधान्धो मिथ्याऽपि भाषत इति, तृतीयभावनायां तु लोभजयः कर्त्तव्यः, तस्यापि मृषावादहेतुत्वादिति हृदयम्, चतुर्थ्यां पुनर्भयं त्याज्यं, पूर्वोक्तादेव हेतोरिति, पञ्चमभावनायां तु हास्यमिति, एवं पञ्चभिर्भावनाभिर्यावदाज्ञयाऽऽराधितं भवतीति । तृतीयव्रते प्रथमभावनैषा–अनुविचिन्त्य शुद्धोऽवग्रहो याचनीय इति, द्वितीयभावना त्वाचार्यादीननुज्ञाप्य भोजनादिकं विधेयम्, तृतीया त्वेषा–अवग्रहं गृह्णता निर्ग्रन्थेन साधुना परिमित एवावग्रहो ग्राह्य इति, चतुर्थभावनायां तु 'अभीक्ष्णम्' अनवरतमवग्रहपरिमाणं विधेयमिति, पञ्चम्यां त्वनु-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विचिन्त्य मितमवग्रहं साधर्मिकसम्बन्धिनं गृह्णीयात्, इत्येवमाज्ञया तृतीयव्रतमाराधितं भवतीति। चतुर्थव्रते प्रथमे-यम्–स्त्रीणां सम्बन्धिनीं कथां न कुर्यात्, द्वितीयायां तु तदिन्द्रियाणि मनोहारीणि नालोकयेत्, तृतीयायां तु पूर्व-क्रीडितादि न स्मरेत्, चतुर्थ्यां नातिमात्रभोजनपानासेवी स्यात्, पञ्चम्यां तु स्त्रीपशुपण्डकविरहितशय्याऽवस्थानमिति। पञ्चमव्रतभावना पुनरेषा–श्रोत्रमाश्रित्य मनोज्ञान् शब्दान् श्रुत्वा न तत्र गार्द्धं विदध्यादिति, एवं द्वितीयतृतीयच-तुर्थपञ्चमभावनासु यथाक्रमं रूपरसगन्धस्पर्शेषु गार्द्धं न कार्यमिति, शेषं सुगमं यावदध्ययनं समाप्तमिति॥ भावनाख्यं पञ्चदशमध्ययनं। तृतीया चूडा समाप्तेति॥ २–३–१५।

उक्तं तृतीयचूडात्मकं भावनाख्यमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थचूडारूपं विमुक्त्यध्ययनमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः– इहानन्तरं महाव्रतभावनाः प्रतिपादिताः तदिहाप्यनित्यभावना प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य च-त्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतमर्थाधिकारं दर्शयितुं निर्युक्तिकृदाह—

अणिच्चे पव्वए रुप्पे भुयगस्स तहा (या) महासमुद्दे य। एए खलु अहिगारा अज्झयणंमी विमुत्तीए ३४२

अस्याध्ययनस्यानित्यत्वाधिकारः तथा पर्वताधिकारः पुना रूप्याधिकारः तथा भुजगत्वगधिकार एवं समुद्राधिका-रश्च, इत्येते पञ्चार्थाधिकारास्तांश्च यथायोगं सूत्र एव भणिष्याम इति॥ नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे विमुक्तिरिति नाम, अस्य च नामादिनिक्षेपः उत्तराध्ययनान्तःपातिविमोक्षाध्ययनवदित्यतिदेष्टुं निर्युक्तिकार आह—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्था चूलिका- "विमुक्ति"

जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुत्ति पगयं तु भावेणं । देसविमुक्का साहू सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ३४३

य एव मोक्षः सैव विमुक्तिः, अस्याश्च मोक्षवन्निक्षेप इत्यर्थः, प्रकृतम्–अधिकारो भावविमुक्त्येति, भावविमुक्तिस्तु देशसर्वभेदाद्द्वेधा, तत्र देशतः साधूनां भवस्थकेवलिपर्यन्तानां, सर्वविमुक्तास्तु सिद्धा इति, अष्टविधकर्मविघटनादिति ॥ सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

अणिच्चमावासमुविंति जंतुणो, पलोयए सुच्चमिणं अणुत्तरं । विउसिरे विन्नु अगारबंधणं, अभीरु आरंभपरिग्गहं चए ॥ १ ॥

आवसन्त्यस्मिन्नित्यावासो–मनुष्यादिभवस्तच्छरीरं वा तमनित्यमुप–सामीप्येन यान्ति–गच्छन्ति जन्तवः–प्राणिन इति, चतसृष्वपि गतिषु यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्र तत्रानित्यभावमुपगच्छन्तीत्यर्थः, एतच्च मौनीन्द्रं प्रवचनमनुत्तरं श्रुत्वा 'प्रलोकयेत्' पर्यालोचयेद्, यथैव प्रवचनेऽनित्यत्वादिकमभिहितं तथैव लक्ष्यते–दृश्यते इत्यर्थः, एतच्च श्रुत्वा प्रलोक्य च विद्वान् 'व्युत्सृजेत्' परित्यजेत् 'अगारबन्धनं' गृहपाशं पुत्रकलत्रधनधान्यादिरूपं, किम्भूतः सन्? इत्याह— 'अभीरुः' सप्तप्रकारभयरहितः परीषहोपसर्गाप्रधृष्यश्च 'आरम्भं' सावद्यमनुष्ठानं परिग्रहं च सबाह्याभ्यन्तरं त्यजेदिति ॥ १ ॥ साम्प्रतं पर्वताधिकारे,—

तहागयं भिक्खुमणंतसंजयं, अणेलिसं विन्नु चरंतमेसणं । तुदंति वायाहि अभिद्दवं नरा, सरेहिं संगामगयं व कुंजरं ॥ २ ॥

तथाभूतं साधुम्–अनित्यत्वादिवासनोपेतं व्युत्सृष्टगृहबन्धनं त्यक्तारम्भपरिग्रहं, तथाऽनन्तेष्वेकेन्द्रियादिषु सम्यग् यतः संयतस्तम् 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशं 'विद्वांसं' जिनागमगृहीतसारम् 'एषणायां चरन्तं' परिशुद्धाहारादिना वर्त्तमानं,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तमित्थंभूतं भिक्षुं 'नरा': मिथ्यादृष्टयः पापोपहतात्मानः 'वाग्भिः' असभ्यालापैः 'तुदन्ति' व्यथन्ते, पीडामुत्पादयन्तीत्यर्थः, तथा लोष्टप्रहारादिभिरभिद्रवन्ति च, कथमिति दृष्टान्तमाह–शरैः सङ्ग्रामगतं कुञ्जरमिव ॥ २ ॥ अपिच—

तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिए, ससद्दफासा फरुसा उईरिया । तितिक्खए नणि अदुट्ठचेयसा, गिरिव्व वाएण न संपवेयए ॥ ३ ॥

'तथाप्रकारैः' अनार्यप्रायैर्जनैः 'हीलितः' कदर्थितः, कथं ?, यतस्तैः परुषास्तीव्राः सशब्दाः–साक्रोशाः स्पर्शाः–शीतोष्णादिका दुःखोत्पादका उत्–प्राबल्येनेरिता–जनिताः कृता इत्यर्थः, तांश्च स मुनिरेवं हीलितोऽपि 'तितिक्षते' सम्यक्सहते, यतोऽसौ 'ज्ञानी' पूर्वकृतकर्मण एवायं विपाकानुभव इत्येवं मन्यमानः, 'अदुष्टचेताः' अकलुषान्तःकरणः सन् 'न तैः संप्रवेपते' न कम्पते गिरिरिव वातेनेति ॥ ३ ॥ अधुना रूप्यदृष्टान्तमधिकृत्याह—

उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे, अकंतदुक्खी तसथावरा दुही । अलूसए सव्वसहे महामुणी, तहा हि से सुस्समणे समाहिए ॥ ४ ॥

'उपेक्षमाणः'परीषहोपसर्गान् सहमान इष्टानिष्टविषयेषु वोपेक्षमाणो–माध्यस्थ्यमवलम्बमानः 'कुशलैः' गीतार्थैः सह संवसेदिति, कथम् ?, अकान्तम्–अनभिप्रेतं दुःखम्–असातावेदनीयं तद्विद्यते येषां त्रसस्थावराणां तान् दुःखिनस्त्रसस्थावरान् 'अलूषयन्' अपरितापयन् पिहिताश्रवद्वारः पृथ्वीवत् 'सर्वसहः' परीषहोपसर्गसहिष्णुः 'महामुनिः' सम्यग्जगत्त्रयस्वभाववेत्ता तथा ह्यसौ सुश्रमण इति समाख्यातः ॥ ४ ॥ किञ्च—

विऊ नए धम्मपयं अणुत्तरं, विणीयतण्हस्स मुणिस्स झायओ । समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पन्ना य जसो य वड्ढइ ॥५॥

'विद्वान्' कालज्ञः 'नतः' प्रणतः प्रह्वः, किं तत् ?—'धर्मपदं' क्षान्त्यादिकं, किंभूतम् ?—'अणुत्तरं' प्रधानमित्यर्थः,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्य चैवंभूतस्य मुनेर्विगततृष्णस्य ध्यायतो धर्मध्यानं 'समाहितस्य' उपयुक्तस्याग्निशिखावत्तेजसा ज्वलतस्तपः प्रज्ञा यशश्च वर्द्धत इति ॥ ५ ॥ तथा—

दिसोदिसंऽणंतजिणेण ताइणा, महव्वया खेमपया पवेइया । महागुरू निस्सयरा उईरिया, तमेव तेउत्तिदिसं पगासगा ॥ ६ ॥

'दिशोदिश'मिति सर्वास्वप्येकेन्द्रियादिषु भावदिक्षु 'क्षेमपदानि' रक्षणस्थानानि 'प्रवेदितानि' प्ररूपितानि, अनन्तश्चासौ ज्ञानात्मतया नित्यतया वा जिनश्च–रागद्वेषजयनादनन्तजिनस्तेन, किंभूतानि व्रतानि?—'महागुरूणि' कापुरुषैर्दुर्वहत्वात् 'निःस्वकराणि' स्वं–कर्मानादिसम्बन्धात्तदपनयनसमर्थानि निःस्वकराणि 'उदीरितानि' आविष्कृतानि तेजस इव तमोऽपनयनात्त्रिदिशं प्रकाशकानि, यथा तेजस्तमोऽपनीयोर्ध्वाधस्तिर्यक् प्रकाशते एवं तान्यपि कर्मतमोऽपनयनहेतुत्वात्त्रिदिशं प्रकाशकानीति ॥ ६ ॥ मूलगुणानन्तरमुत्तरगुणाभिधित्सयाऽऽह—

सिएहिं भिक्खू असिए परिव्वए, असज्जमित्थीसु चइज्ज पूयणं । अणिस्सिओ लोगमिणं तहा परं, न मिज्जई कामगुणेहिं पंडिए ॥ ७॥

सिताः–बद्धाः कर्मणा गृहपाशेन रागद्वेषादिनिबन्धनेन वेति गृहस्था अन्यतीर्थिका वा तैः 'असितः' अबद्धः–तैः सार्द्धं सङ्गमकुर्वन् भिक्षुः 'परिव्रजेत्' संयमानुष्ठायी भवेत्, तथा स्त्रीषु 'असजन्' सङ्गमकुर्वन् पूजनं त्यजेत्–न सत्काराभिलाषी भवेत्, तथा 'अनिश्रितः' असंबद्धः 'इहलोके' अस्मिन् जन्मनि तथा 'परलोके' स्वर्गादाविति, एवंभूतश्च 'कामगुणैः' मनोज्ञशब्दादिभिः 'न मीयते' न तोल्यते न स्वीक्रियत इतियावत् 'पण्डितः' कटुविपाककामगुणदर्शीति ॥ ७ ॥

तहा विमुक्कस्स परिन्नचारिणो, धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो। विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥८॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'तथा' तेन प्रकारेण मूलोत्तरगुणधारित्वेन विमुक्तो–निसङ्गस्तस्य, तथा परिज्ञानं परिज्ञा–सदसद्विवेकस्तया चरितुं शीलमस्येति परिज्ञाचारी–ज्ञानपूर्वं क्रियाकारी तस्य, तथा धृतिः–समाधानं संयमे यस्य स धृतिमांस्तस्य, दुःखम्–असातावेदनीयोदयस्तदुदीर्णं सम्यक् क्षमते–सहते, न वैक्लव्यमुपयाति नापि तदुपशमार्थं वैद्यौषधादि मृगयते, तदेवंभूतस्य भिक्षोः पूर्वोपात्तं कर्म 'विशुध्यति' अपगच्छति, किमिव ?–'समीरितं' प्रेरितं रूप्यमलमिव 'ज्योतिषा' अग्निनेति ॥ ८ ॥ साम्प्रतं भुजङ्गत्वगधिकारमधिकृत्याह—

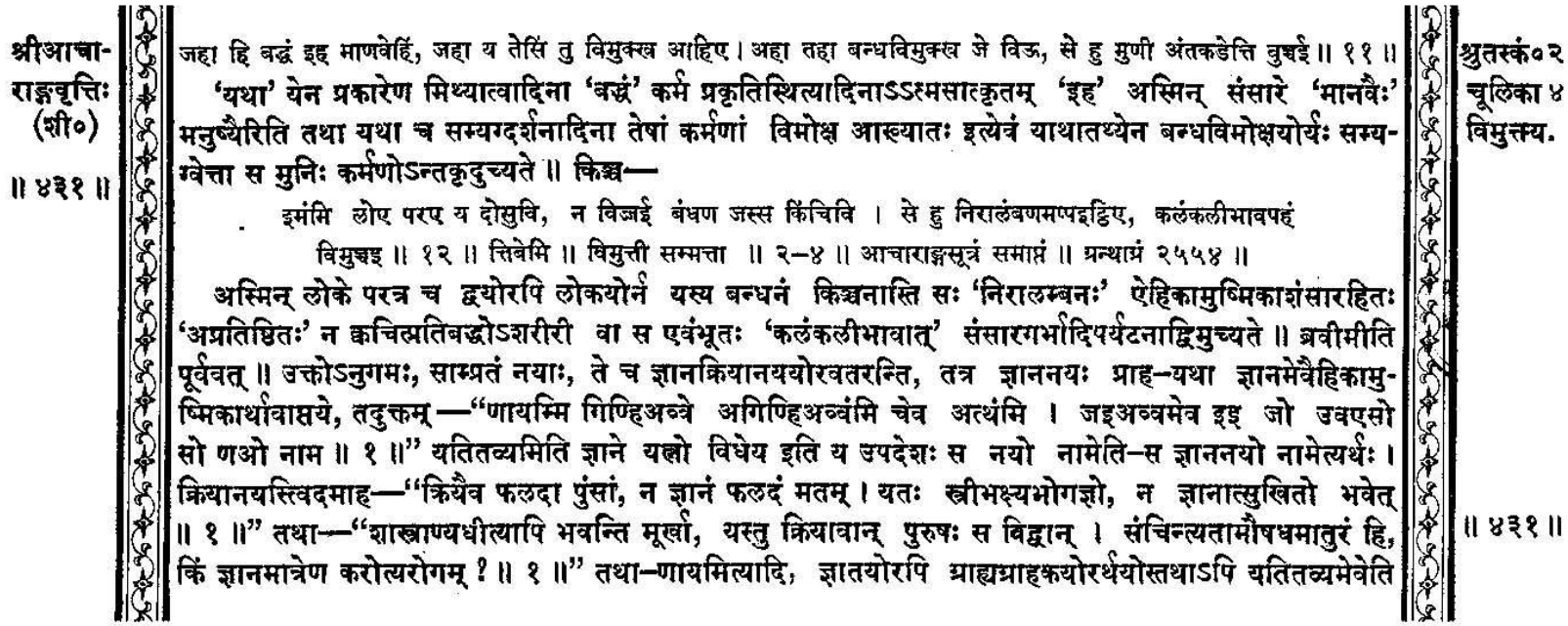
से हु परिन्नासमयंमि वट्टई, निरासंसे उवरय मेहुणा चरे । भुयंगमे जुन्नतयं जहा चए, विमुचई से दुहसिज्ज माहणे ॥ ९ ॥

'स' एवंभूतो भिक्षुर्मूलोत्तरगुणधारी पिण्डैषणाध्ययनार्थकरणोद्युक्तः परिज्ञासमये वर्त्तते, तथा 'निराशंसः' ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः, तथा मैथुनादुपरतः, अस्य चोपलक्षणत्वादपरमहाव्रतधारी च, तदेवंभूतो भिक्षुर्यथा सर्पः कञ्चुकं मुक्त्वा निर्मलीभवति एवं मुनिरपि 'दुःखशय्यातः' नरकादिभवाद्विमुच्यत इति ॥ ९ ॥ समुद्राधिकारमधिकृत्याह—

जमाहु ओहं सलिलं अपारयं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं । अहे य णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चई ॥ १० ॥

'यं' संसारं समुद्रमिव भुजाभ्यां दुस्तरमाहुस्तीर्थकृतो गणधरादयो वा, किम्भूतम् ?–ओघरूपं, तत्र द्रव्यौघः सलिलप्रवेशो भावौघ आस्रवद्वाराणि, तथा मिथ्यात्वाद्यपारसलिलम्, इत्यनेनास्य दुस्तरत्वे कारणमुक्तम्, अथैनं संसारसमुद्रमेवंभूतं ज्ञपरिज्ञया सम्यग् जानीहि प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु परिहर 'पण्डितः' सदसद्विवेकज्ञः, स च मुनिरेवंभूतः कर्मणोऽन्तकृदुच्यते ॥ १० ॥ अपिच—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचाराङ्गवृत्तिः (शी०) ॥ ४३१ ॥

जहा हि बद्धं इह माणवेहिं, जहा य तेसिं तु विमुक्ख आहिए। अहा तहा बन्धविमुक्ख जे विऊ, से हु मुणी अंतकडेत्ति वुच्चई ॥ ११ ॥

'यथा' येन प्रकारेण मिथ्यात्वादिना 'बद्धं' कर्म प्रकृतिस्थित्यादिनाऽऽत्मसात्कृतम् 'इह' अस्मिन् संसारे 'मानवैः' मनुष्यैरिति तथा यथा च सम्यग्दर्शनादिना तेषां कर्मणां विमोक्ष आख्यातः इत्येवं याथातथ्येन बन्धविमोक्षयोर्यः सम्यग्वेत्ता स मुनिः कर्मणोऽन्तकृदुच्यते ॥ किञ्च—

इमंमि लोए परए य दोसुवि, न विज्जई बंधण जस्स किंचिवि । से हु निरालंबणमप्पइट्ठिए, कलंकलीभावपहं विमुच्चइ ॥ १२ ॥ त्तिबेमि ॥ विमुत्ती सम्मत्ता ॥ २–४ ॥ आचाराङ्गसूत्रं समाप्तं ॥ ग्रन्थाग्रं २५५४ ॥

अस्मिन् लोके परत्र च द्वयोरपि लोकयोर्न यस्य बन्धनं किञ्चनास्ति सः 'निरालम्बनः' ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः 'अप्रतिष्ठितः' न क्वचित्प्रतिबद्धोऽशरीरी वा स एवंभूतः 'कलंकलीभावात्' संसारगर्भादिपर्यटनाद्विमुच्यते ॥ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च ज्ञानक्रियानययोरवतरन्ति, तत्र ज्ञाननयः प्राह–यथा ज्ञानमेवैहिकामुष्मिकार्थावाप्तये, तदुक्तम्—"णायम्मि गिण्हिअव्वे अगिण्हिअव्वंमि चेव अत्थंमि । जइअव्वमेव इइ जो उवएसो सो णओ नाम ॥ १ ॥" यतितव्यमिति ज्ञाने यत्नो विधेय इति य उपदेशः स नयो नामेति–स ज्ञाननयो नामेत्यर्थः । क्रियानयस्त्विदमाह—"क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥ १ ॥" तथा—"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् । संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, किं ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ? ॥ १ ॥" तथा–णायमित्यादि, ज्ञातयोरपि ग्राह्यग्राहकयोरर्थयोस्तथाऽपि यतितव्यमेवेति

श्रुतस्कं०२ चूलिका ४ विमुक्त्य. ॥ ४३१ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रियैवाभ्यसनीयेति, इति यो नयः स क्रियानयो नामेति, एवं प्रत्येकमभिसन्धाय परमार्थोऽयं निरूप्यते—'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इति, तथा चागमः—"सव्वेसिंपि नयाणं बहुविहवत्तव्वंय निसामित्ता। तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १ ॥" चरणं–क्रिया गुणो–ज्ञानं तद्वान् साधुर्मोक्षसाधनायालमिति तात्पर्यार्थः ॥

आचारटीकाकरणे यदाप्तं, पुण्यं मया मोक्षगमैकहेतुः। तेनापनीयाशुभराशिमुच्चैराचारमार्गप्रवणोऽस्तु लोकः ॥ १ ॥

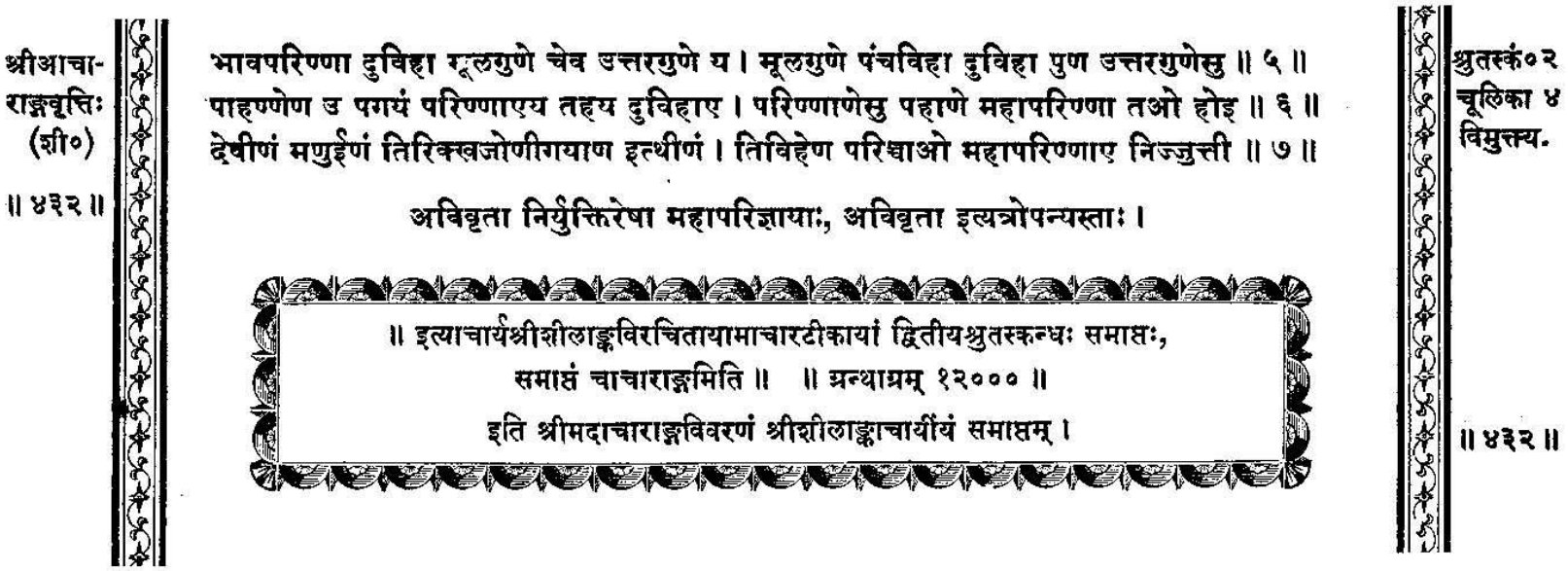
अन्त्ये निर्युक्तिगाथाः—

आयारस्स भगवओ चउत्थचूलाइ एस निज्जुत्ती। पंचमचूलनिसीहं तस्स य उवरिं भणीहामि ॥३४४॥
सत्तहिं छहिं चउचउहि य पंचहि अट्ठट्ठचउहि नायव्वा। उद्देसएहिं पढमे सुयखंधे नव य अज्झयणा ३४५
इक्कारस तिति दोदो दोदो उद्देसएहिं नायव्वा। सत्तयअट्ठयनवमा इक्कसरा हुंति अज्झयणा ॥ ३४६ ॥

॥ इतिश्रीआचाराङ्गनिर्युक्तिः ॥

पाहण्णे महसद्दो परिमाणे चेव होइ नायव्वो। पाहण्णे परिमाणे य छव्विहो होइ निक्खेवो ॥ १ ॥
दव्वे खेत्ते काले भावंमि य होंति या पहाणा उ। तेसि महासद्दो खलु पाहण्णेणं तु निप्फन्नो ॥ २ ॥
दव्वे खेत्ते काले भावंमि य जे भवे महंता उ। तेसु महासद्दो खलु पमाणओ होंति निप्फन्नो ॥ ३ ॥
दव्वे खेत्ते काले भावपरिण्णा य होइ बोद्धव्वा। जाणणओववक्खणओ य दुविहा पुणेक्केक्का ॥ ४ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org



श्रीआचा-राङ्गवृत्तिः (शी०)

॥ ४३२ ॥

भावपरिण्णा दुविहा मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य । मूलगुणे पंचविहा दुविहा पुण उत्तरगुणेसु ॥ ५ ॥
पाहण्णेण उ पगयं परिण्णाएय तहय दुविहाए । परिण्णाणेसु पहाणे महापरिण्णा तओ होइ ॥ ६ ॥
देवीणं मणुईणं तिरिक्खजोणीगयाण इत्थीणं । तिविहेण परिचाओ महापरिण्णाए निज्जुत्ती ॥ ७ ॥

अविवृता निर्युक्तिरेषा महापरिज्ञायाः, अविवृता इत्यत्रोपन्यस्ताः ।

॥ इत्याचार्यश्रीशीलाङ्कविरचितायामाचारटीकायां द्वितीयश्रुतस्कन्धः समाप्तः,
समाप्तं चाचाराङ्गमिति ॥ ॥ ग्रन्थाग्रम् १२००० ॥
इति श्रीमदाचाराङ्गविवरणं श्रीशीलाङ्काचार्यीयं समाप्तम् ।

श्रुतस्कं०२ चूलिका ४ विमुक्त्य.

॥ ४३२ ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचाराङ्गसूत्र श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययननानि ३ से ९ एवं श्रुतस्कन्ध-२ मूलं एवं शीलांकाचार्य रचिता टीका परिसमाप्ता:

मूल संशोधकः सम्पादकश्च पूज्यपाद् आगमोद्धारक आचार्यश्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

किंचित् वैशिष्ट्य समर्पितेन सह पुन: संकलनकर्ता मुनि दीपरत्नसागरजी [M.Com., M.Ed., Ph.D, श्रुतमहर्षि]

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

पूज्य आनंद-क्षमा-ललित-सुशील-सुधर्मसागर गुरूभ्यो नम:

भाग-2

पूज्य आगमोध्धारक आचार्य श्री सागरानंदसूरीश्वरेण संशोधित: संपादितश्च

"आचाराङ्गसूत्र" [मूलं, भद्रबाहूस्वामी रचित निर्युक्ति: एवं शिलांकाचार्य विहित वृत्ति:]

(किंचित् वैशिष्ठ्यं समर्पितेन सह)

मुनि दीपरत्नसागरेण पुन: संकलित:

"आचार" मूलं एवं वृत्ति:" नामेण

श्रुतस्कंध-१,अध्ययन ३-९ एवं श्रुतस्कंध-२ परिसमाप्त:

	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
01	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १,२		३१४
02	आगम ०१ आचार मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- ३ से ९, श्रुतस्कन्ध- २		५८६
03	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन- १ से १३		४९८
04	आगम ०२ सूत्रकृत मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ श्रुतस्कन्ध-१, अध्ययन १४ से १६, श्रुतस्कन्ध-२		३९२
05	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ स्थान- १ से ४		५९४
06	आगम ०३ स्थान मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ स्थान- ५ से १० संपूर्ण		४९४
07	आगम ०४ समवाय मूलं एवं वृत्ति.		३३८
08	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-१ शतक- १ से ६		५९२
09	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-२ शतक- ७ से ११		५५२
10	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ शतक- १२ से २०		५१४
11	आगम ०५ भगवती मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ शतक- २१ से ४१ संपूर्ण		३८४
12	आगम ०६ ज्ञाताधर्मकथा मूलं एवं वृत्ति.		५२२
13	आगम-७,८,९,१०उपासकदशा, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण मूलं एवं वृत्ति.		५३८
14	आगम-११,१२, विपाक, उववाई मूलं एवं वृत्ति.		३८४
15	आगम १३ राजप्रश्नीय मूलं एवं वृत्ति.		३१४
16	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १ से १३८		४८०
17	आगम१४ जीवाजीवाभिगम भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. [प्रतिपत्ति-३-अतर्गत] सूत्र- १३९ से प्रतिपत्ती-१० संपूर्ण		४८८
18	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. पद- १ से ५		४२६
19	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. पद- ६ से २२		५१४
20	आगम १५ प्रज्ञापना भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. पद- २३ से ३६ संपूर्ण		३३६
21	आगम १६ सूर्यप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१०

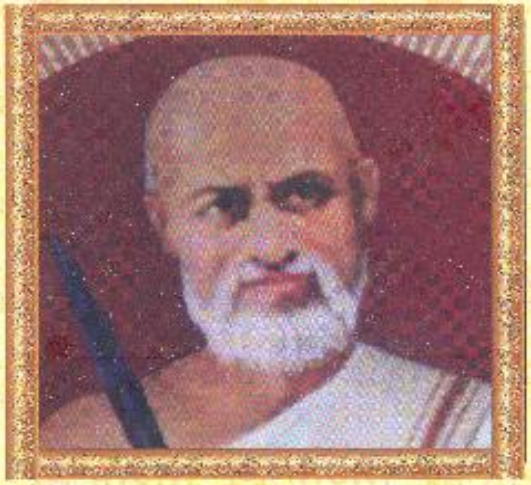
	सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि भाग १ से ४० में कहां क्या मिलेगा?		
भाग	इस भागमे समाविष्ट आगम के नाम और आगम-क्रम		कुलपृष्ठ
22	आगम १७ चन्द्रप्रज्ञप्ति मूलं एवं वृत्ति.		६१४
23	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-१ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- १ एवं २.		३७६
24	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-२ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ३ एवं ४.		४२६
25	आगम१८ जंबूद्विपप्रज्ञप्ति भाग-३ मूलं एवं वृत्ति. वक्षस्कार- ५ से ७.		३४४
26	आगम १९-३२ निरयावलिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, चतु:शरण, आतुरपरत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविदया, देवेन्द्रस्तव मूलं एवं छाया		३१२
27	आगम ३३ थी ३९ मरणसमाधि मूलं एवं छाया, निशीथ, ब्रुहत्कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प/पंचकल्प, महानिशीथ मूलं एव		३३०
28	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, निर्युक्ति- १ से ५२१		४६६
29	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, निर्युक्ति- ५२२ से ९५१		४४२
30	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-३ निर्युक्ति- ९५२ से १२७३ अपूर्ण, [अध्ययन- १ से ४ अपूर्ण]		४६४
31	आगम ४० आवश्यक मूलं एवं वृत्ति, भाग-४ निर्युक्ति- १२७३ अपूर्ण से १६२३, [अध्ययन- ४ अपूर्ण से ६ संपूर्ण]		४२६
32	आगम ४१/१ ओघनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		४७२
33	आगम ४१/२ पिंडनिर्युक्ति मूलं एवं वृत्ति.		३७६
34	आगम ४२ दशवैकालिक मूलं एवं वृत्ति.		५९०
35	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-१, अध्ययन- १ से ५		५२२
36	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-२, अध्ययन- ६ से २१		४८२
37	आगम ४३ उत्तराध्यन मूलं एवं वृत्ति, भाग-३, अध्ययन- २२ से ३६		४६६
38	आगम ४४ नन्दिसूत्र मूलं एवं वृत्ति.		५२८
39	आगम ४५ अनुयोगद्वार् मूलं एवं वृत्ति.		५६०
40	कल्प[बारसा]सूत्र... चतु:शरण, तन्दुलवैचारिक, गच्छाचार मूलं एवं वृत्ति.		३९४


आगम
वाचना शताब्दी वर्ष

नमो नमो निम्मलदंसणस्स

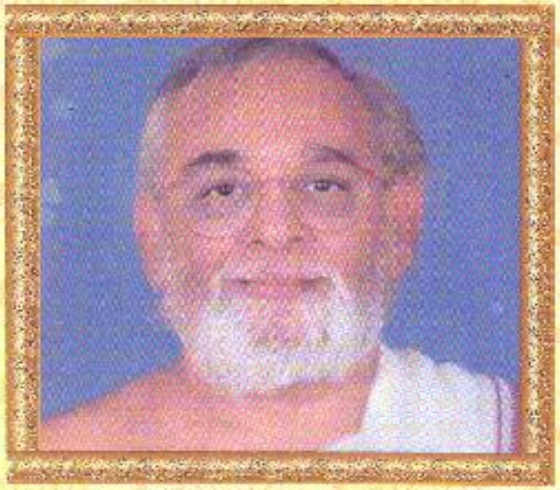
सवृत्तिक-आगम-सुत्ताणि

मूल संशोधक



पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य
श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराज

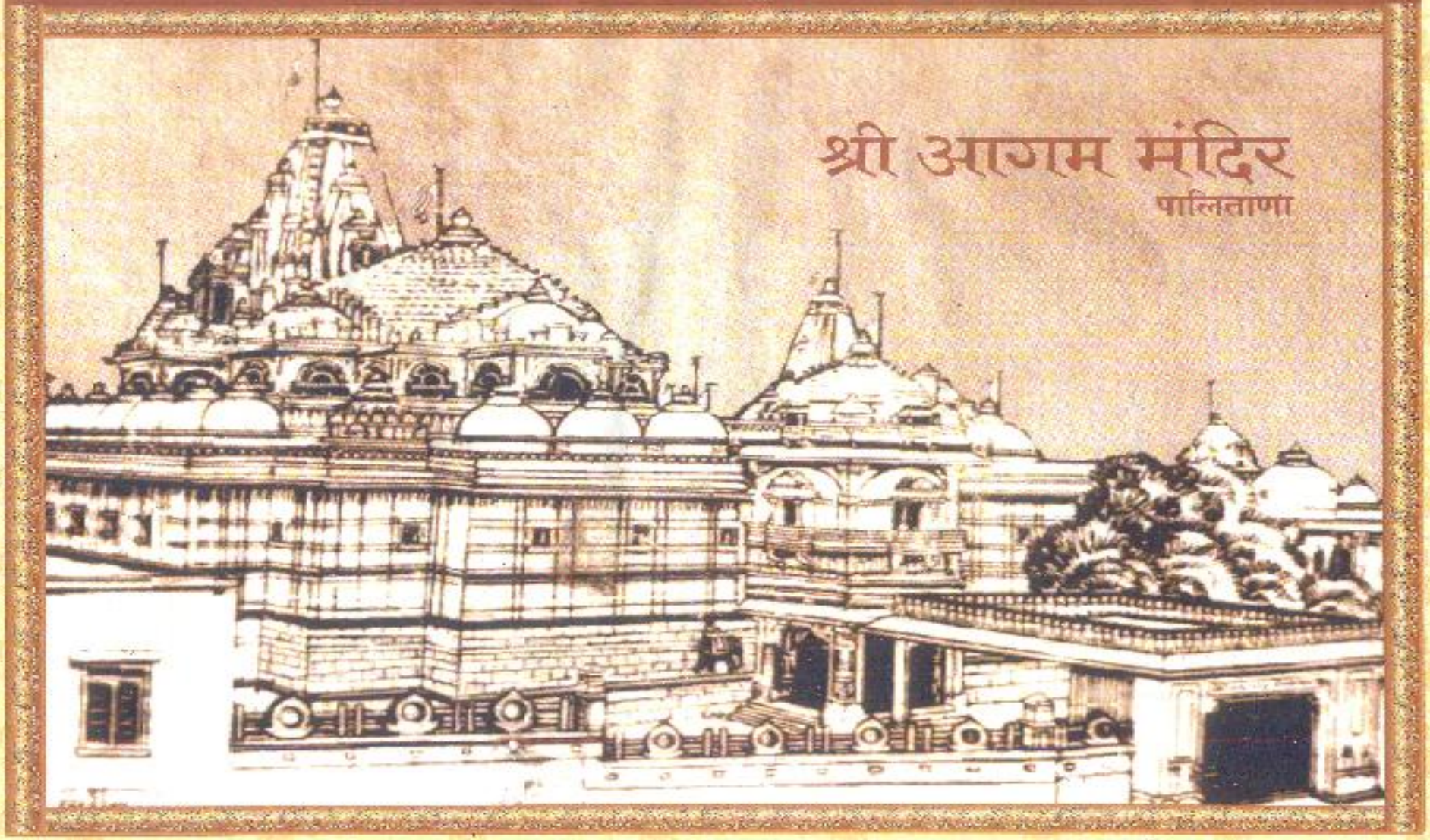
अभिनव-संकलनकर्ता

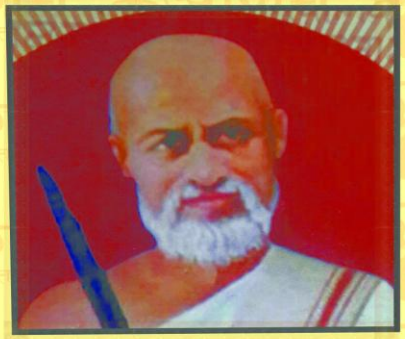


आगम दिवाकर मुनिश्री दीपरत्नसागरजी
[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

प्रत-प्राप्ति और पेज-सेटिंग कर्ता : www.jainelibrary.org के चेरमन श्री प्रवीणभाई शाह, अमेरिका
मुद्रक : नवप्रभात प्रिन्टींग प्रेस अमदाबाद Mo 9825598855 / 9825306275

ईस प्रोजेक्ट के संपूर्ण-अनुदान-दाता





मूल संशोधक

पूज्यपाद आगमोद्धारक आचार्य

श्री आनंदसागरसूरीश्वरजी महाराजसाहेब

आगम - ०१

'आचार' मूलं एवं वृत्तिः २

अभिनव-संकलनकर्ता

आगम दिवाकर **मुनिश्री दीपरत्नसागरजी**

[M.Com., M.Ed., Ph.D., श्रुतमहर्षि]

